काव्यशास्त्र
(Poetics)

एम.ए. संस्कृत (उत्तरार्द्ध)
M.A. Sanskrit (Final)

भाग - सी
Group - C

प्रश्न पत्र - 9
Paper - 9

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

काव्य-शास्त्र

(Poetics)

Paper-IX (Option - C)

एम. ए. संस्कृत (उत्तरार्द्ध)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक—124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
Unit - I	ध्वन्यालोक – प्रथम उद्योत	5
Unit - II	दशरूपक – प्रथम एवं तृतीय प्रकाश	98
Unit - III	काव्यादर्श – प्रथम परिच्छेद	209
Unit - IV	काव्यमीमांसा – 1-5 अध्याय	273
Unit - V	काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय	320

काव्य-शास्त्र

Sanskrit

Option - C

Paper - IX

Full Marks: 100

Time: 3 Hrs.

Unit - I ध्वन्यालोक – प्रथम उद्योत

Dhvanyaloka of Anandavardhana - I Udyota.

Unit - II दशरूपक – प्रथम एवं तृतीय प्रकाश

Dasarupaka of Dhananjya I & III Prakasa

Unit - III काव्यादर्श – प्रथम परिच्छेद

Kavyadarsa of Dandin - I Paricceda

Unit - IV काव्यमीमांसा – 1-5 अध्याय

Kavyamimansa of Rajasekhara Chpts. 1 - 5.

Unit - V काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

Different Schools of Sanskrit Poetics.

Guidelines:—

Unit - I, II & III

(i) Explanations of two Karikas out of four carrying 10 marks each — 10 x 2 x 3 = 60

Unit - IV

(i) One critical question out of two carrying 20 marks should be asked. — 20 x 1 = 20

Unit - V

(i) One critical question out of two carrying 20 marks should be asked — 20 x 1 = 20

Note:— Question/questions worth 20 marks is/are required to be answered in Sanskrit.

इकाई-I आनन्दवर्धनरचित ध्वन्यालोक :

प्रस्तावना

१. ध्वन्यालोक का महत्त्व

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ध्वनि–सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में महनीयतम अंजर और अमर स्थान प्राप्त किया। आनन्दवर्धन के पश्चाद्वर्ती साहित्यशास्त्रियों–अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने आनन्दवर्धन की साहित्यिक मान्यताओं का स्वीकार करके उनके मत का पोषण किया। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में आनन्दवर्धन को वही स्थान प्राप्त है, जो व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य पाणिनि को एवं वेदान्त के क्षेत्र में शंकराचार्य को प्राप्त हुआ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने से प्राचीन युग की साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं और आलोचना के सिद्धान्त के मार्ग को मोड़ कर एक नया मार्ग प्रशस्त किया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने यह ठीक ही कहा है कि ध्वनिकार ने अलङ्कारिकों का मार्ग व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित कर दिया था। (**ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्**–पण्डितराज जगन्नाथ।)

भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रारम्भ अति प्राचीन युग में ही, ६०० ई० पूर्व से पहले ही हो चुका था। तथापि इसका व्यवस्थित रूप आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ होता है। भरत ने भी साहित्यिक आलोचना को अधिक महत्त्व न देकर नाट्य–रचना और अभिनय का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है, यद्यपि रस, अलङ्कार आदि का भी इन्होंने प्रसङ्गवश संकेत किया । भरत के अनन्तर आनन्दवर्धन तक अनेक आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि हुये, जिन्होंने साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया परन्तु इन आचार्यों ने आलोचना का जो मार्ग प्रतिपादित किया, आनन्दवर्धन ने उसको एक नई दिशा प्रदान की। भामह आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर को शब्दार्थ रूप में प्रतिपादित करके, इनको अलंकृत करने वाले शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को, गुणों को, वृत्तियों को और रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपदित किया। इस प्रकार इन आचार्यों ने काव्य के स्थूल शरीर शब्द–अर्थ का प्रतिपादन किया और उसी में काव्य का वास्तविक सौन्दर्य माना। परन्तु काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य को काव्य के आत्मतत्त्व को वे उद्घाटित नहीं कर सके थे। जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मान कर स्थूल शरीर मे चेतना का आधान करने वाले आत्मतत्त्व की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते, उसी प्रकार की स्थिति भामह आदि आलङ्कारिकों की थी। इनके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने ठीक ही लिखा है–जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी स्थूल शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व को स्वीकार करने में विप्रतिपत्ति करते हैं, उसी प्रकार वाच्य अर्थ की वासना से विमोहित हृदय वाले वे आलंकारिक प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ से पृथक् मानने में आपत्ति करते हैं। (**वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे।** –ध्वन्यालोक १.२ की लोचनटीका से।)

जब संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्य के स्थूल शरीर अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ को ही सजाने सँवारने में काव्यत्व की प्रतिष्ठा समझी जाती थी, आचार्य आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया कि काव्य में दो प्रकार के अर्थ सहृदय–श्लाघ्य होते है–वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य अर्थ उपमा आदि अलंकारों द्वारा प्रसिद्ध हो चुका है। प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में उसी प्रकार विलक्षण सौन्दर्य का आधान करता हुआ रहता है, जिस प्रकार 'अङ्गनाओं में लावण्य। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य मुख्य रूप में होता है, वह काव्य सबसे श्रेष्ठ है। उसी को ध्वनि कहते हैं।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि शब्द का प्रयोग और ध्वनि–सम्प्रदाय की स्थापना एक नवीन अद्वितीय महत्त्वशाली कार्य था। ध्वनि की स्थापना का आधार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति आनन्दवर्धन से पूर्वकाल में न मानी गई हो ऐसी बात नहीं है। आनन्दवर्धन से पूर्व भी अलङ्कारिकों ने काव्य में वाच्य अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया था और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के मार्ग का स्पर्श कर लिया था। परन्तु ध्वनि के मार्ग का स्पर्श करके भी उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की और यह कार्य आनन्दवर्धन को करना पड़ा। आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को अपने ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है–

"यद्यपि ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः।

यद्यपि काव्य के लक्षण का विधान करने वाले प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि शब्द का कथन करके गुणवृत्ति या अन्य किसी काव्य के प्रकार को प्रदर्शित नहीं किया, तथापि अमुख्य वृत्ति के द्वारा काव्यों में व्यवहार का प्रदर्शन करते हुये उन्होंने ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श तो किया, परन्तु उसका लक्षण नहीं किया।

प्राचीन आचार्यों ने जिन आक्षेप, समासोक्ति, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, सङ्कर आदि अलंकारों का विवेचन किया था, उन अलङ्कारों में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति भी होती है। इस प्रकार इन आचार्यों ने इन अलङ्कारों का प्रतिपादन करते हुय प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करके ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर ली, परन्तु उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने पर्यायोक्त अलंकार के विवेचन में इस तथ्य को स्पष्ट किया है।

ध्वनिकार से प्राचीन भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया। इतने से ही आधुनिक आलोचकों का यह कहना कि उन्होंने ध्वनि आदियों को स्वीकार नहीं किया, उचित नहीं है। क्योंकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों का निरूपण करने में उन्होंने कितने ही गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ का सारा विस्तार पर्यायोक्त अलङ्कार की कुक्षि में निवेशित कर दिया है। अनुभव सिद्ध अर्थ को बालक भी छिपा नहीं सकता। परन्तु उन्होंने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, परन्तु इतने से उनके द्वारा ध्वनि की अस्वीकृति नहीं कही जा सकती।

(**ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वांचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्ति- व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपकं कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्चः पर्यायोक्तकुक्षी निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्णोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानङ्गीकाशे भवति**–पण्डितराज जगन्नाथ।)

आनन्दवर्धन का यह कथन था कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों का विवेचन करके और उनमें प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करके ध्वनि के मार्ग का स्पर्श तो किया है, परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारों में नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रधान रूप से विवक्षित हो, ऐसा सदा नहीं होता। परन्तु जिन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा प्रधान रूप से होती है, जैसा कि कभी पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में देखा जाता है, वहाँ ध्वनि अवश्य होगी, परन्तु ध्वनि का उनमें अन्तर्भाव नहीं होगा। क्योंकि ध्वनि महाविषय है और उसका अङ्गी रूप से प्रतिपादन अभीष्ट है। (**पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।** –ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति में।)

आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि की चर्चा साहित्यशास्त्रियों मे होती रही होगी। उनसे पूर्व ही ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया जाने लगा था। स्वयं आनन्दवर्धन ने यह लिखा है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में मानने का सिद्धान्त प्राचीन विद्वान् प्रतिपादित करते आये हैं। (*काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।* –ध्वन्यालोक १.१) परन्तु 'ध्वन्यालोक' से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का प्रतिपादन नहीं मिलता और न ही इससे पूर्व का ध्वनि–सिद्धान्त प्रतिपादक कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। सम्भव है कि ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा समालोचना जगत् में मौखिक रूप से प्रचलित रही और आनन्दवर्धन ने इस ध्वनि–सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप में ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया। अभिनवगुप्त का कथन है कि यह ध्वनि सिद्धान्त विद्वानों द्वारा अविच्छिन्न रूप से प्रतिपादित किया जाता रहा था, परन्तु विशिष्ट पुस्तकों में इसका प्रतिपादन नहीं हुआ। (**अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।** –ध्वन्यालोक १.१ की लोचनटीका से।)

ऊपर के विवरण से साहित्यशास्त्र की परम्परा में आचार्य आनन्दवर्धन का एवं उनके 'ध्वन्यालोक' का महत्त्व सुस्पष्ट है। उन्होंने आलंकारिकों को एक नये मार्ग की दिशा का उपदेश दिया और ध्वनि की स्थापना करके समालोचना के मार्ग का समुन्मीलन किया। यदि आनन्दवर्धन को समालोचना के मार्ग का केन्द्रबिन्दु कहा जाये, तो यह अनुचित नहीं होगा। आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती भामह, उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने समालोचना के मार्ग की रचना आरम्भ की थी और आनन्दवर्धन ने उस मार्ग को नई दिशा प्रदान की। आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने इस ध्वनि–सिद्धान्त का प्रतिपादन करके इसको अन्तिम निर्णयात्मक रूप से सुप्रतिष्ठित कर दिया। काव्य में ध्वनि को आत्मा प्रतिपादित करते हुये भी आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्य उपादानों–अलंकारों, गुणों, रीतियों, वृत्तियों आदि की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने इनको भी अपनी काव्य समालोचना पद्धति में समुचित स्थान दिया। इस प्रकार आनन्दवर्धन पहले समालोचक साहित्यशास्त्री हैं, जिनका 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ काव्य–समालोचना के सभी अंगों को यथोचित रूप और अनुपात में प्रस्तुत करने वाला पहला ग्रन्थ है और इनको साहित्यशास्त्र की परम्परा में महनीयतम स्थान दिलाने में समर्थ है।

२. आनन्दवर्धन का समय

'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन काश्मीर के निवासी थे। ये कवि, समालोचक और दार्शनिक थे। अपनी विद्वता के कारण इन्होंने राजानक उपाधि प्राप्त की थी।

आनन्दवर्धन का समय बहुत कुछ निश्चित है। प्रसिद्ध काश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में आनन्दवर्धन का उल्लेख इस प्रकार किया है–

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः। प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।। राजतरंगिणी ५.६४

अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी और आनन्दवर्धन कवि प्रसिद्धि को प्राप्त हुये।

इनका अभिप्राय यह है कि अवन्तिवर्मा के समय में आनन्दवर्धन एक कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बुहलर और जैकोबी ने अवन्तिवर्मा का समय ८५५–८८३ ई० निर्धारित किया है और आनन्दवर्धन का समय नवीं शती के मध्य भाग में निर्धारित किया है। यद्यपि आनन्दवर्धन के समय को निश्चित तिथि के रूप में निर्धारित करना कठिन है, तथापि कल्हण के इस श्लोक से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये ८५५–८८३ ई० के मध्य में अवश्य रहे होंगे।

कुछ विद्वानों के अनुसार अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकर वर्मा (८८३–९०२ ई०) के समय में भी आनन्दवर्धन रहे थे। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में यशोवर्मा के द्वारा रचित 'रामाभ्युदय' नाटक के एक श्लोक को' आंशिक रूप से उद्धृत किया है। इन विद्वानों के अनुसार शंकरवर्मा का ही दूसरा नाम यशोवर्मा था। 'न्यायमञ्जरी' (कवि एम० रामकृष्ण भट्ट ने अपने लेख–"जयन्त एण्ड यशोवर्मन् ऑफ काश्मीर' में जो आचार्य पुष्पाञ्जलि वोल्यूम, कलकत्ता १९४० ई० में प्रकाशित हुआ, यशोवर्मा एवं शंकरवर्मा के एकत्व को सिद्ध किया है – (सुनीलचन्द्र राय के लेख–"दी आइडेन्टिटी आफ दी यशोवर्मन ऑफ सम मिडीविअल कायन्स" में, जो जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी वो० XVII नं० २१५१ में प्रकाशित हुआ, यशोवर्मा और शंकरवर्मा की एकता को प्रतिपादित किया गया है।) – का लेखक जयन्तभट्ट शंकरवर्मा का समकालीन था, उसने ध्वनि सिद्धान्त की जिस ढंग से आलोचना की है, उससे वह आनन्दवर्धन का समकालीन प्रतीत होता है।

(न्यायमञ्जरी की आलोचना इस प्रकार है–

एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः। यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्।।

विधेर्निषेधावगतिर्विधिर्बुद्धिर्निषेधतः।

यथा- भम धम्मिअ वीसत्थो मास्म पान्थगृहं विश। मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्।।

शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा। अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते

विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि।।

–न्यायमञ्जरी पृ० ४५, काशी संस्कृत सीरीज।)

अतः यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन इन दोनों ही राजाओं–अवन्ति और शंकरवर्मा के समकालीन रहे होंगे। इन्होंने अवन्तिवर्मा के समय में कवि के रूप में प्रसिद्धि पाई होगी और जीवन के उत्तरकाल में समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हुये होंगे।

आनन्दवर्धन के समय के सम्बन्ध में जैकोबी महोदय ने एक अन्य संभावना प्रकट की है। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में जयापीड और ललितापीड के समकालीन मनोरथ नामक कवि का उल्लेख किया है। वह श्लोक इस प्रकार है–

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा। बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।। राजतरंगिणी ४.४९७।।

अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में 'ध्वन्यालोक' के वृत्ति भाग के 'अन्येन कृत–एवात्र श्लोकः' के अन्येन पद की व्याख्या इस प्रकार की है–**"तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।"** इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार आनन्दवर्धन और मनोरथ समकालीन थे। जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का समय ७८०–८१३ ई० रहा। अतः आनन्दवर्धन को इसी समय होना चाहिये परन्तु जैकोबी का यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। कल्हण के अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। उनका ललितापीड के समकालीन पहुँचाना सर्वथा असंगत है और परम्पराओं को भंग करना है। इसी श्लोक में वामन का उल्लेख है, जो कि निश्चित रूप से आनन्दवर्धन से प्राचीन है। "राजतरङ्गिणी के इस श्लोक में मनोरथ के उल्लेख का स्पष्टीकरण अनेक प्रकार से हो सकता है–(१) कल्हण ने जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल में मनोरथ का निर्देश करने में गलती की होगी। (२) अभिनवगुप्त ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहने में गलती की होगी। (३) 'राजतरङ्गिणी' में उद्धृत यह मनोरथ एवं अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट मनोरथ दो भिन्न व्यक्ति रहे होंगे।

बाह्य प्रमाणों से भी आनन्दवर्धन का यही समय सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय ८०० ई० के लगभग का है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशंसा की है–

(ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना। आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।

जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' राजशेखर के नाम से उद्धृत।)

राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग का है अतः आनन्दवर्धन के समय को नवीं शताब्दी के मध्य से लेकर समाप्ति तक का सरलता से कहा जा सकता है और विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन का अन्तिम समय ९०२ ई० समझा जा सकता है। (विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोकव्याख्या की प्रस्तावना, पृष्ठ, १५)।

आनन्दवर्धन के वंश एवं जीवन–वृत्तान्त के सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती। उनके ग्रंथ की इंडिया आफिस पांडुलिपि के अंतर्गत अध्याय iii के पृष्ठांत विवरण में उन्हें 'नोणोपाध्यायात्मज' नाम से सम्बोधित किया गया है। अध्याय iv के पृष्ठांत में जोनोपाध्याय रूप हैं, किन्तु पहिला पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। केवल यही जाना जा सकता है कि वे नोण या नोणोपाध्याय के पुत्र थे। 'ध्वन्यालोक' की एक पाण्डुलिपि में तीसरे उद्योत के अन्त में उन्होंने अपने को नोणसुत कहा है। 'काव्यानुशासन' में, हेमचन्द्र ने टीका करते हुए आनन्दवर्धन के 'देवीशतक' का उल्लेख किया है और इनको नोणसुत कहा है। 'देवीशतक' के १०१वें श्लोक में आनन्दवर्धन ने स्वयं को नोणसुत कहा है–

देव्या स्वप्नोगदमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया। देशितानुपमामाधादतो नोणसुतोनुतिम्।। काव्यमाला भाग ६।।

इसी ग्रंथ के अन्तिम श्लेषमय पद्य पर टीका करते हुए कय्यट ने लेखक को नोण पुत्र कहा है।

३. आनन्दवर्धन की रचनायें

'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन न केवल समालोचक ही थे, अपितु कवि और दार्शनिक भी थे। इन्होंने काव्यों और दर्शन–ग्रन्थों की रचना भी की थी।

आनन्दवर्धन ने तीन काव्य लिखे थे–देवीशतक, विषमबाणलीला और अर्जुनचरित। आनन्दवर्धन का 'देवीशतक' भगवती दुर्गा की आराधना के लिए लिखा गया काव्य है। यह काव्य आनन्दवर्धन के विरोधी चरित्र को प्रस्तुत करता है। ध्वनिकार ने एक ओर यह लिखा है कि रस से आक्षिप्त होकर जिन अलंकारों का नियोजन बिना किसी पृथक् यत्न के हो सके, ध्वनि में उनका ही निवेश होना चाहिये, तथा यमक आदि अलंकारों का नियोजन पृथक् यत्न से करना पड़ता है। (ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत कारिका–१६ एवं उसकी वृत्ति) जिस पर टीका करते हुये अभिनवगुप्त का कथन है कि वीर, अद्भुत आदि रसों में भी यमक आदि का नियोजन रसविघ्नकारी है। (ध्वन्यालोक उद्योत–२ कारिका–१६ की लोचनटीका) दूसरी ओर ध्वनिकार ने स्वयं 'देवीशतक' में शब्दालंकारों यमक, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्र, प्रहेलिका, चतुर्थ, श्लेष आदि अलंकारों का नियोजन किया है। इससे इन समालोचकों की कथनी और करनी के भेद का स्पष्टीकरण होता है। हो सकता है कि अलकारवादी आचार्यों की तथा समालोचकों की आलोचना से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया हो अथवा यह भी हो सकता है कि 'देवीशतक' की रचना इनके प्रारम्भिक जीवन में हुई हो तथा प्रौढ़ अवस्था में ध्वनि–सिद्धान्त को मान्यता देने पर इन्होंने ध्वन्यालोक की रचना की हो। महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में आनन्दवर्धन की इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की है।

आनन्दवर्धन की दो रचनाओं का संकेत भी मिलता है–'विषम–बाणलीला' और 'अर्जुनचरित'। इनको इन्होंने स्वयं 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत किया है। 'विषमबाणलीला को द्वितीय उद्योत में–

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्-

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति। रइकिरणानुग्गाहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ।।

–ध्वन्यालोक २.१ की वृत्ति में।।

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य-

तं ताण सिरिसहोअररहरणाम्मि हिअअमेक्कररसम्। बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमाबाणेन।।

–ध्वन्यालोक २.२७ की वृत्ति में।।

तथा 'अर्जुनचरित' को तीसरे उद्योत में उद्धृत किया गया है। (एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम्। –ध्वन्यालोक ३.२५ की वृत्ति में)। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की वृत्ति में (डे के अनुसार पृ० १५२, १७६, २२२) और हेमचन्द्र ने (पृ० १५, २१३ पर) इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

आनन्दवर्धन दार्शनिक भी थे। इन्होंने दर्शन ग्रन्थों की रचना भी अवश्य की होगी। इनकी एक कृति का संकेत 'ध्वन्यालोक' के लक्षण उद्योत की ४८वीं कारिका की वृत्ति में मिलता है, जो कि लक्षण के अनिर्देश्यत्व के प्रसंग में है। बौद्ध दर्शन क्षणभंगवादी दर्शन है। बौद्ध सब पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, अतः उनके अनुसार किसी भी पदार्थ का लक्षण नहीं किया जा सकता तथा वह अनिर्वचनीय अनिर्देश्य है। डे के अनुसार भी आनन्दवर्धन ने पृ० २३३ पर एक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख किया है जो वास्तव में धर्मनीति के प्रमाण विनिश्चय पर धर्मोत्तर टीका है। (**ग्रन्थान्तर इति। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृत्तिरमुना ग्रन्थकृता कृता तथैव तद् व्याख्यातम्।** उपरोक्त पर लोचनटीका)।

आनन्दवर्धन की एक अन्य रचना 'तत्त्वालोक' का उल्लेख अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में किया है। प्रतीत होता है कि ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त दर्शन पर होगा। आनन्दवर्धन ने कुछ और भी दार्शनिक रचनायें एवं काव्य लिखे होंगे, जिनके नाम विदित नहीं हैं। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में ही कुछ श्लोक उदाहरणों के रूप में ऐसे लिखे हैं जिनको वे अपनी रचना बताते हैं। सुभाषितावलियों में भी आनन्दवर्धन के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन एक ओर जहाँ प्रखर समालोचक थे और उन्होंने 'ध्वन्यालोक' जैसा सर्वांगपूर्ण समालोचना ग्रन्थ लिखा, दूसरी ओर वे कवि ओर दार्शनिक भी थे तथा उन्होंने काव्यों और दर्शन–ग्रन्थों की रचना की थी।

४. कारिकाकार और वृत्तिकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में आधुनिक समालोचकों ने एक विवाद उपस्थित किया है। "ध्वन्यालोक' के तीन भाग किये जा सकते हैं–कारिकायें, वृत्ति और उदाहरण। इनमें वृत्ति की रचना और उदाहरणों का संग्रह तो निर्विवाद रूप से आनन्दवर्धन की कृति समझे जाते हैं, परन्तु कारिकाओं की रचना के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ आलोचकों के अनुसार ये कारिकायें आनन्दवर्धन की ही रचनायें हैं तथा कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं। कुछ आलोचकों का विचार है कि कारिकायें आनन्दवर्धन से पूर्व किसी अन्य विद्वान् ने लिखी थीं तथा आनन्दवर्धन ने उन कारिकाओं पर वृत्ति की रचना की। इस प्रकार के ये विद्वान कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। डा० सुशील कुमार डे और पी०वी० काणे दोनों के अनुसार यह निर्णन करना अत्यन्त कठिन है कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति था या भिन्न–भिन्न, क्योंकि दोनों ही पक्ष सबल हैं।

संस्कृत साहित्य की प्राचीन परम्पराओं के अनुसार कारिकाओं तथा वृत्ति के रचयिता एक ही व्यक्ति आनन्दवर्धन हैं। उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों के प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, राजशेखर आदि के वाक्य कारिकाओं तथा वृत्ति का रचयिता आनन्दवर्धन को ही मानते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त की लोचन–टीका के कुछ अंशों ने यह शंका उपस्थित की कि कारिका एवं वृत्ति के रचयिता भिन्न–भिन्न व्यक्ति हैं–

(यथा ममैव–

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा, दृष्टिर्यापरिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं, श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।।

–ध्वन्यालोक ३.४४ की वृत्ति से।

इन विद्वानों के अनुसार लोचन टीका में कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थ कृत् तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् पदों का प्रयोग हुआ है। इस प्रश्न को सबसे पहले डा० बूहलर ने उठाया था तथा कारिकाकार एवं वृत्तिकार के भिन्न व्यक्ति होने की बात कही थी। बाद में बूहलर के कथन का समर्थन प्रो० सोबानी, पी०वी० काणे, एस०के०डे, शिवप्रसाद भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने किया। ("From अभिनवगुप्त's tika it appears that verses (कारिका) are the composition of some older writer, whose name is not given. But it is remarkable that they contain no मङ्गलाचरण। वी०पी० भट्टाचार्य।) इस विषय में पी०वी० काणे का कथन है "इसमें कोई सन्देह नहीं कि वृत्ति और उदाहरण एक ही व्यक्ति की रचना हैं। मूल कठिनाई कारिकाओं तथा वृत्ति के सम्बन्ध में है। कारिकाकार तथा वृत्तिकार की एकता के विषय में अन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार के आधार विशाल परिमाण में हैं। किन्तु यह समस्या अत्यन्त उलझ गई है। अपरिपक्व बुद्धि, स्थूलदर्शी तथा पक्षपातपूर्ण लेखकों ने इसकी कठिनाई को बढ़ा दिया है।" (पृ० २०६, काव्यशास्त्र का इतिहास हिन्दी अनुवाद, १९६६) काणे का यह भी कहना है "मैंने ही सर्वप्रथम बाह्य आधारों को एकत्रित किया और सबने दोनों की एकता को सिद्ध किया है।..... अबभी मेरा यही मत है कि एकता का सिद्धान्त खण्डित कोटि में नहीं आता वह सिद्धि के अत्यन्त निकट है। साथ ही काणे ने लिखा है कि लोचन एकता का समर्थक नहीं है और कहीं–कहीं इसके विपरीत भी है। (पृ० २०७ काव्यशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, १९६६) किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि चर्चा प्रारम्भ करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि लोचन तथा अभिनव भारती से अनेक स्थानों पर यह प्रकट होता है कि कारिकाओं तथा वृत्ति के लेखक भिन्न नहीं हैं। (पृ० २०८ काव्यशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, १९६६) किन्तु काणे लोचन से उन स्थलों को उद्धृत करते हैं जो वृत्तिकार और कारिकाकार

की भिन्नता सिद्ध करते हैं। डा० कृष्णमूर्ति और डा० मुखर्जी के तर्कों का खण्डन करते हुए भी काणे का कथन है कि "लोचन के पाठ भी जब मुकुल के साथ पढ़े जाते हैं तो एक बात का समर्थन करते हैं और जब महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र के साथ तब दूसरी बात का। ऐसी स्थिति में किसी भी निर्णय पर पहुंचना अत्यन्त कठिन है। (पृ० २४३, काव्यशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, १९६६)।

(१) **अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयसंख्या पूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति येऽपीत्यादिना। ...तेनात्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत् इत्यादि।** (लोचन पृ० ७१-७२)।

(२) **न चैतन्मयोक्तम् अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह इति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यपि सम्मतमेवेति भावः।** (पृ० ७३)।

(३) **उक्तमेवं ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति।** (पृ० १४९)।

(४) **एतत्तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेण तु दर्शितं न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः।** (पृ० १५०-१५१)।

(५) **कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। न च सर्वथा न कर्त्तव्योऽपितु बीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण तु अन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः।** (पृ० १६०)।

(६) **प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्** (ध्व० पृ० १६६) **पर लोचनकार का कथन है-अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।**

(७) **एवमादौ च विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे** (ध्व० पृ० १६६-१७०) **पर लोचनकार का कथन है-दर्शितमेवेति कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः।**

(८) अन्तिम पाठ का यह अर्थ है--यदि कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही होता तो वह आगे चर्चा किये जाने वाले प्रसंग के लिए "दर्शितम्" के स्थान पर भविष्यत् काल का प्रयोग करता। किन्तु कारिकाओं का रचयिता वृत्तिकार से भिन्न एवं पूर्ववर्ती है, अतएव वृत्तिकार ने दर्शितमेवाग्रे (कारिकाकारेण) कहा है।

(९) ध्वन्यालोक ४.३ की वृत्ति पर लोचनकार का कथन है--**यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तस्तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति।** कुछ अन्ये पाठ भी ऐसे हैं जहां लोचन ने वृत्तिकार का उल्लेख किया है किन्तु उनमें उपरोक्त पाठों के समान कारिकाकार तथा वृत्तिकार का भेद स्पष्ट नहीं है। सुशील कुमार डे भी अपने काव्य शास्त्र के इतिहास में लिखते हैं "वृत्ति अथवा कारिका की व्याख्या सामान्यतः गद्यमय है, किन्तु उदाहरण पद्यमय है। प्रश्न यह है कि कारिका तथा वृत्ति का लेखक एक ही था अथवा भिन्न-भिन्न थे। परवर्ती अनेक लेखकों ने इस विषय में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। उन्होंने कारिकाकार और वृत्तिकार में स्पष्ट रूप से भेद किया है और उनका विरोध भी किया है। उन्होंने 'वृत्तिग्रन्थ' शब्द को 'कारिका' शब्द से बिल्कुल भिन्न माना है। इन तीन स्थलों (पृ० १२३, १३०-१, अध्याय IV, पृ० २९) पर अभिनवगुप्त ने कारिकाकार और वृत्तिकार के परस्पर विरोधी मतों का समाधान करने का यत्न किया है। सर्वप्रथम बूहलर ने इस तथ्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अभिनवगुप्त के प्रमाण के आधार पर जैकोबी ने यह सुझाव दिया कि कारिका के अनुमानित प्राचीन लेखक, ध्वनिकार, वृत्ति के लेखक आनन्दवर्धन से भिन्न व्यक्ति होने चाहिए। इस सुझाव को पुष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि ग्रन्थ के दोनों भागों में पूर्ण मतैक्य का अभाव है। यद्यपि दूसरा खंड पहले की व्याख्या करता है। इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि कारिकाकार द्वारा संक्षिप्त--पद्य-रचित--सिद्धान्त की रूपरेखा का वृत्तिकार ने पर्याप्त विस्तार से व्याख्या, संशोधन और परिवर्तन किया है। (पृ० ६५-६६)। डे कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानते हुए प्रतीत होते हैं साथ ही लिखते हैं 'कारिकाकार और वृत्तिकार के भेद की समस्या का अभी अंतिम रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता।' (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास--हिन्दी अनुवाद, १९८८ ई०, पृ० ६८)। तथापि प्राचीन लेखों तथा परम्परा पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं--

"Indeed it seems that Anandvardhan in his classical vritti attempted to build up a more or less complete system of poetics upon the loosly joined ideas materials and supplied the brief karikas and his success was probably so marvellous that in course of time, the karikakar receded to the back ground completely over-shadowed by the more important figure of his formidable expounder, and people considered as the Dhvanikar, not the author of the few memorial verses, but the commentator Anandvardhan himself, who for first time fixed the theory in its present form. The term 'Dhvanikar' itself came gradually to be used in the gereric sense of the creator of the Dhavni 'school' and therefore indiscriminately applied by later writers, to Anandvardhan, who, though not himself the founder of the system, came to receive that credit for having first victoriously introduced in the struggle of the school.

कारिकाकार एवं वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये डा० पी०वी० काणे, सोबानी, डा० एस०के०डे० आदि विद्वानों ने अनेक तर्क विस्तार से प्रस्तुत किये हैं परन्तु इस स्थल पर उन सबको विस्तृत रूप से देना सम्भव नहीं होगा। तथापि संक्षेप में उनके कुछ तर्कों को प्रस्तुत किया जा सकता है–

(१) डा० काणे का कथन है कि प्राचीन काल में ग्रन्थों में जहाँ कारिका एवं वृत्ति के रचयिता एक ही हैं, उन्होंने अपने ग्रन्थों में इसका प्रायः निर्देशमात्र दिया है। 'ध्वन्यालोक' से लगभग १०० वर्ष पूर्व वामन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि सूत्र और वृत्ति दोनों उसने लिखे हैं। हेमचन्द्र ने भी इसी प्रकार लिखा है। अर्थशास्त्र के अन्त में विष्णुगुप्त ने भी यही बात प्रकट की है। 'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च। (काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ० २१५)।

(२) ध्वन्यालोक में अनेक परिकर श्लोक हैं, जिनमें से कुछ श्लोक कारिकाओं से भी अधिक सारगर्भित हैं, जैसे–

(क) **विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी। पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।** ध्वन्यालोक ३.५ की वृत्ति में

(ख) **अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संह्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येवावभासते।।**

परिकर श्लोक ३.६ की वृत्ति में

(ग) **अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।** ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति में

यदि कारिकाओं एवं वृत्ति का रचयिता ही व्यक्ति होता, तो वह इन श्लोकों को अप्रधान स्थिति में न रख कर कारिकाओं के अन्तर्गत क्यों नहीं रखता। (काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ० २२६)। अन्य ग्रन्थकारों – मम्मट आदि ने, जो कारिकाकार भी हैं तथा वृत्तिकार भी हैं, ऐसा नहीं किया। अतः कारिकाकार और वृत्तिकार अलग–अलग व्यक्ति हैं।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका २.२६ से पूर्व आये "तथा च" पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

प्रकान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्-तथा चेति।

भाव यह है कि कारिकाकार ने तो शब्दशक्तिमूल एवं अर्थशक्तिमूल दो ही प्रकार की ध्वनि का निर्देश किया था, परन्तु वृत्तिकार तीसरे प्रकार की ध्वनि उभयशक्तिमूल की सूचना देने के लिये साधारण अवतरण पद को दे रहे हैं। काणे महोदय का कहना है कि यदि कारिकाकार एवं वृत्तिकार एक ही होते तो यहाँ मूल कारिका में ही ध्वनि के इन तीनों भेदों की गणना कर ली जाती। यहाँ वृत्ति में तीन भेदों की गणना करने से वृत्तिकार पर जो उत्सूत्र व्याख्यान का दोष लगता है, वह भी नहीं लगता। (काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ० २३०)।

(४) 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं के पूर्व मंगल श्लोक का न होना कारिकाकार और वृत्तिकार की एकता का प्रतिपादन नहीं करता। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण की परम्परा का पालन प्रायः किया करते थे, तथापि सभी प्राचीन लेखकों ने इस प्रथा का सर्वत्र पालन किया हो ऐसा नहीं है। अनेक ग्रन्थकारों ने अपनी रचना के प्रारम्भ में, मंगलाचरण नहीं किया। उदाहरण के लिये शबर ने जैमिनीय सूत्रों के भाष्य के प्रारम्भ में, शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य के प्रारम्भ में, वात्सायन ने न्यायसूत्रों के भाष्य के प्रारम्भ में, उद्योतकर ने न्यायवार्तिकों के भाष्य के प्रारम्भ में और मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' के भाष्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं किया।

मंगलाचरण के सम्बन्ध में साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में भी विभिन्न परम्परायें रहीं हैं। वामन ने सूत्रों के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं किया अपितु वृत्ति के प्रारम्भ में किया है। मम्मट ने कारिकाओं के आरम्भ में मंगल कारिका लिखी, परन्तु वृत्ति के आरम्भ में नहीं लिखी। उद्भट ने अपना अलंकार ग्रन्थ 'काव्यालंकार' बिना मंगल के ही लिखा। 'अलंकारसर्वस्व' के सूत्रों के प्रारम्भ में मंगल नहीं है, अपितु वृत्ति के प्रारम्भ में है। हेमचन्द्र ने सूत्र और वृत्ति दोनों के आरम्भ में मंगल रखा है। अतः ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण का कोई निश्चित अनिवार्य नियम प्राचीनकाल में नहीं था। जैसे पाणिनि ने सूत्रों के प्रारम्भ में 'वृद्धि' पद का प्रयोग करके मंगलाचरण कर दिया था, उसी प्रकार कारिकाकार के 'काव्यास्यात्मा' पद ही मंगलवाची हो गये। अतः मंगलाचरण के आधार पर कारिकाकार एवं वृत्तिकार में अभेद का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

(५) 'स्वेच्छाकेसरिणः' मंगल श्लोक की टीका करते हुए अभिनवगुप्त इसको वृत्तिकार की रचना बताते हैं, (**स्वयमव्युच्छिन्न.. परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः**)। जबकि पहली कारिका उनके अनुसार आदि वाक्य है। (**अथ प्राधान्येन...प्रयोजनं च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह- काव्यस्यात्मेति**)। इससे सिद्ध है कि उनके अनुसार 'काव्यास्यात्मा०' कारिकाकार की प्रथम कारिका है और 'स्वेच्छाकेसरिणः' वृत्तिकार का मंगल श्लोक है। इस प्रकार कारिका एवं वृत्ति के रचयिता भिन्न–भिन्न व्यक्ति हैं।

जबकि डा० काणे आदि विद्वानों ने कारिकाओं और वृत्ति के रचयिताओं को पृथक् माना है तो कारिकाकार कौन था? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। अतः कारिकाओं के रचयिता के नाम पर ही विचार करना शेष रह जाता है। परन्तु इससे भी पहले ग्रन्थ के नाम को लेकर कुछ विवेचन आवश्यक है, जिससे इस प्रश्न पर भी प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन हस्तलिखित पुष्पिकाओं में इस ग्रन्थ को काव्यालोक, सहृदयहृदयालोक काव्यालंकार, ध्वनि आदि अनेक नामों से कहा गया है। लोचनकार ने इसको 'काव्यालोक' कहा है तथा यह तथ्य लोचनटीका के प्रारम्भिक तथा अन्तिम श्लोकों से स्पष्ट होता है–

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या- लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।

यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि- व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्।। लोचनटीका के अन्तिम श्लोकों में।।

'भरतनाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका में अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ को 'सहृदयालोक' कहा था। 'ध्वन्यालोक' की चतुर्थ उद्योत की वृत्ति के अन्तिम से पहले श्लोक के अनुसार मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्य' या 'ध्वनि' रहा होगा। उसकी व्याख्या करने के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम काव्यालोक' या 'ध्वन्यालोक' रखना ठीक होगा। राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की टीका में इस ग्रन्थ को सहृदयालोक कहा था। **(यदुक्तं राजानकानन्दवर्धनैः सहृदयहृदयालोके.....-निबन्धनम्।)।**

कारिकाओं के रचयिताओं का नाम 'सहृदय' था, ऐसी कल्पना डा० काणे, सोबानी आदि विद्वानों ने की है। डा० सोबानी ने इस कल्पना का आधार 'सहृदयालोक' नाम को लिया है– **(स्वशब्दानाभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोचनादवधारणीयम्।** भरत ना० शास्त्र के अ० ७ भाग १ पद पर अभिनवगुप्त की टीका) क्योंकि आनन्दवर्धन की वृत्ति का नाम 'सहृदयालोक' है, अतः मूल कारिकाओं के लेखक का नाम सहृदय हो सकता है। लोचनटीका के मंगल श्लोक में आये पद 'कवि सहृदयाख्यम्' के आधार पर भी वे कारिकाओं के लेखक का नाम सहृदय प्रतिपादित करते हैं। (सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते। लोचनटीका का मंगल श्लोक)।

डा० काणे का कथन है कि कारिकाकार का नाम सहृदय था इसको प्रतिपादित करने के लिए तथ्य अपर्याप्त हैं तथा प्रो० सोबानी ने जिस आधार पर इसको प्रमाणित किया है, उनसे उनका मन्तव्य निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होता। कारिकाकार का नाम अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका (डा० वी०पी० काणे – संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २४५) तथापि इसके लिये कुछ और प्रमाण प्रस्तुत किये–

(१) 'अभिधामातृकावृत्ति' की रचना मुकुलभट्ट ने अभिनवगुप्त से लगभग १०० वर्ष पहले की थी। उसमें लिखा है–

(क) **"लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।"**

अर्थात् आदरणीय सहृदय द्वारा नूतन रूप से प्रभावित ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में ही हो जाता है।

(ख) **"तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।"**

आदरणीय सहृदय ने काव्य के मार्ग में विवक्षितान्यपरताका निरूपण किया था।

इससे सिद्ध होता है कि मुकुलभट्ट से पूर्व सहृदय ने ध्वनि के नये सिद्धान्त को प्रवर्तित किया था।

(२) मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने लिखा है–

'ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र, तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्याजकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः।'

इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि ध्वनि के सिद्धान्त का मूल प्रतिपादक सहृदय रहा होगा तथा कारिकाओं की रचना उसने ही की होगी।

(३) 'ध्वन्यालोक' में स्थान–स्थान पर सहृदय का नाम आदर से लिया गया है। 'सहृदयमनःप्रीतये' की वृत्ति में आनन्दवर्धन ने "सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्" पद लिखकर सहृदय के प्रति आदर व्यक्त किया है। इससे अनुमान लगाया गया है कि आनन्दवर्धन के गुरु सहृदय थे, जिन्होंने कारिकाओं की रचना की एवं आनन्दवर्धन ने उन पर वृत्ति की रचना की।

प्रो० काणे आदि के मत का अन्य समालोचकों ने प्रबल विरोध किया है। डा० संकरन्, डा० सतकारी मुकर्जी, डा० कृष्णमूर्ति आदि विद्वानों का मन्तव्य है कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार एक ही व्यक्ति आनन्दवर्धन थे तथा उनमें भेद मानने का कोई औचित्य नहीं है। इनके मतों और युक्तियों की विस्तृत विवेचना यहाँ सम्भव नहीं होगी, तथापि संक्षेप में अभिन्नता की युक्तियों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है–

(१) संस्कृत साहित्यकारों की प्राचीन परम्परा 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानती है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में, विशेष रूप से काश्मीर में यह परम्परा रही कि एक विद्वान् अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये पहले सूत्र या कारिका की रचना करता था तथा उसको समझाने के लिये बाद में वृत्ति लिखता था। आनन्दवर्धन ने भी इस परम्परा का पालन किया था।

(२) कारिकाकार एवं वृत्तिकार में व्यक्तिभिन्नता का प्रतिपादन मुख्य रूप से अभिनवगुप्त की लोचन टीका के कुछ अशो के आधार पर किया जाता है। परन्तु अभिनवगुप्त ने ही 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका में तथा 'नाट्यशास्त्र' की अभिनव–भारती टीका में ऐसी पंक्तियाँ लिखी हैं, जो कारिकाकार एवं वृत्तिकार के एकत्व को प्रतिपादित करती हैं। जैसे–

(क) **"एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं' प्रपञ्चयितुमाह यस्त्विति।"** ध्वन्यालोक ३.२ कारिका की लोचन टीका

(ख) **"एवं व्यंङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह प्रधानेत्यादिना कारिकाद्वयेन।"** ध्वन्यालोक ३.४१ कारिका की लोचन टीका।

(ग) **स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयमिह तु यथावसर वक्ष्यत एव।"** भ०ना०शा०अ० ७ भा० १ पर अभिनवभारती टीका।

(घ) **"एतमेवार्थं सम्यगानन्दवर्धनाचार्योऽपि विविच्य न्यरूपयत्। ध्वन्यात्मभूते०' (ध्व० २.१७) इत्युक्त्वा क्रमेण 'विवक्षा तत्परत्वेन०'** (ध्व० २.१८) **इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन। तच्चास्माभिः सहृदयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो व्याख्यातम्।**

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ही है तथा कारिकाओं की रचना भी उन्होंने ही की थी।

(४) यदि यह मान भी लिया जावे कि अभिनवगुप्त कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न–भिन्न व्यक्ति मानते थे, तो भी इससे उनका भेद सिद्ध नहीं हो जाता। अभिनवगुप्त का समय आनन्दवर्धन के लगभग १५० वर्ष बाद का था। हो सकता है कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित करने में वे गलत रहे हों। अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों ने और बाद के साहित्यशास्त्रियों ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही माना है। स्वयं अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र के अनुसार कारिकाकार एवं वृत्तिकार एक है; इनके मतों को आगे कहा जा रहा है।

आनन्दवर्धन ने कहीं भी कारिकाकार के नाम का स्वयं उल्लेख नहीं किया। ना ही अभिनवगुप्त ने स्वयं कारिकाकार के नाम का उल्लेख किया है, जबकि वह आनन्दवर्धन का नाम ध्वनिकार के रूप में आदर से लेता है। यदि कारिकाकार एवं ध्वनिकार भिन्न–भिन्न होते तो आनन्दवर्धन या अभिनवगुप्त कारिकाकार का नाम अवश्य उद्धृत करते। यदि कारिकाओं का रचयिता आनन्दवर्धन से अतिरिक्त कोई अन्य है और वे उसका नाम उद्धृत नहीं करते हैं, तो उन पर साहित्यिक चोरी का दोष लगाया जा सकता है।

(५) आनन्दवर्धन ने स्वयं अपने को ध्वनि का प्रतिष्ठाता कहा है और किसी अन्य का नाम वे नहीं लेते। 'ध्वन्यालोक' की एक प्राचीन प्रति में निम्न श्लोक मिलता है–

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी। सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो विस्मार्य्यः।।

इस श्लोक के अनुसार यह 'ध्वन्यालोक' सम्पूर्ण रूप में आनन्दवर्धन की उपज्ञा है अर्थात् उन्होंने ही इसकी प्रतिष्ठा की है। इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' के अन्तिम श्लोक–

सत्काव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्त- कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो- रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।

से भी यही विदित होता है कि सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का (कारिका और वृत्ति का) रचयिता आनन्दवर्धन ही है।

(६) डा० के० सी० पाण्डे का कथन है कि अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलदेव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नामक ग्रन्थ की रचना कारिकाओं में की थी तथा उस पर स्वयं वृत्ति भी लिखी थी। इस पर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिनी' नामक टीका लिखी। इस टीका में अभिनवगुप्त ने कहीं भी यह संकेत नहीं दिया कि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना है। अतः लोचनटीका के आधार पर ध्वन्यालोक की कारिकाओं और वृत्ति के रचयिता को भिन्न व्यक्ति सिद्ध करना उचित नहीं है।

(७) एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि अभिनवगुप्त ने लोचनटीका क्या सम्पूर्ण 'ध्वन्यालोक' पर, कारिका और वृत्ति दोनों पर लिखी थी, या केवल वृत्ति पर लिखी थी ? यदि लोचनटीका कारिका और वृत्ति दोनों पर लिखी गई तो टीका को देखने से स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है कि ये दोनों ही भाग इस टीका में व्याख्या किये गये हैं। अतः कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना है। इस सम्बन्ध में डा० काणे का कथन है कि अभिनवगुप्त ने केवल वृत्ति भाग की ही व्याख्या की है। वे अपनी टीका को 'काव्यालोकलोचन' या 'सहृदयालोकलोचन' कहते हैं और वृत्ति भाग का ही निर्देश करते हैं। यदि कारिकाओं का कहीं व्याख्यान है तो वह निर्देशमात्र है। परन्तु काणे महोदय का यह तर्क कुछ जमता नहीं। लोचनटीका दोनों ही भागों की व्याख्या करती है

(८) एक प्रश्न और भी उपस्थित किया गया है। प्राचीन भारत में ग्रन्थ–रचना के सम्बन्ध में परम्परा थी कि सबसे पहले मंगलाचरण किया जावे और उसके पश्चात् मूल ग्रन्थ को आरम्भ किया जावे। ध्वन्यालोक के वृत्ति भाग में तो 'स्वेच्छाकेसरिण' के रूप में

मंगलाचरण है, परन्तु कारिका भाग के प्रारम्भ में नहीं है। इससे सिद्ध है कि ये दोनों भाग एक ही व्यक्ति की कृति है। आनन्दवर्धन ने मंगलाचरण करके कारिकाओं की तथा तदनन्तर वृत्ति की रचना आरम्भ की थी।

(६) यदि कारिकाओं और वृत्ति की रचना भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने की थी, तो कारिकाकार का नाम जानना भी अनिवार्य है। डा० काणे, प्रो० सोबानी आदि समालोचकों के अनुसार कारिकाओं के रचयिता का नाम सहृदय था। परन्तु साहित्यशास्त्र में सहृदय व्यक्तिवाचक नहीं है, अपितु विशेषण है। अनेक आचार्यों ने सहृदय शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया है। लोचनकार ने सहृदय पद की व्याख्या इस प्रकार की है–

"सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"

अर्थात् काव्यों के अनुशीलन का अभ्यास हो जाने से जिनके मन रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाते हैं, उन मनों में वर्णनीय वस्तु के साथ जिनकी तन्मय हो जाने की योग्यता हो जाती है, अपने हृदय के साथ संवाद (तन्मयता के कारण आनन्द की स्थिति) रखने वाले वे सहृदय हैं।

आनन्दवर्धन ने स्वयं सहृदय पद का प्रयोग काव्यरसज्ञों के लिये किया है–**'वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, "सहृदया एव हिं काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।"** (ध्वन्यालोक, ३.४८ की वृत्ति से)।

आनन्दवर्धन ने सहृदय काव्यरसिकों के आनन्द की प्राप्ति के लिये इस ग्रन्थ की रचना की तथा इसी विशेषता के कारण अभिनवगुप्त ने इनको 'सहृदयचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया। **(यथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधस्य मन-सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत्।** –ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति पर लोचनटीका)। इस प्रकार कारिकाकार को 'सहृदय' नाम देना उचित नहीं है और इस आधार पर इनके व्यक्तित्व को भिन्न भी नहीं माना जा सकता।

(१०) राजशेखर ने काव्यमीमांसा में आनन्दवर्धन को उद्धृत करते हुये लिखा है–

प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तत्राह-'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते'।।

आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत यह पद्य ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति में है।

इसके साथ ही जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर के नाम से एक पद्य है।

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना। आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।

इससे स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक की वृत्ति के रचयिता के रूप में तो प्रसिद्ध हो ही चुके थे, वे ध्वनिकार के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

(११) मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि का समावेश अलंकारों में प्रतिपादित किया है। उसने ध्वनि के तीन भेदों वस्तु, अलंकार, रस को बताकर कहा है कि ये अलंकार ही हैं। प्रतिहारेन्दुराज का कहना है कि 'ध्वन्यालोक' में इन ध्वनियों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे वस्तुतः अलंकारों के हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन करके वे लिखते हैं–

(क) **तत्र हि प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुत्रैविध्यं तैरुक्तं (तैः = सहृदयैः), वस्तुमात्रालंकाररसादिभेदेन। तत्र यत्तावद् वाचकशक्त्याश्रयं व्यङ्ग्यभूतालंकारैकनियतं शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यतया सहृदयैर्व्यञ्जकत्वयुक्तं सर्वैकशरणमक्षयम्' इत्यादौ, तत्र शब्दशक्त्या ये प्रतीयन्ते विरोधादयोऽलंकारास्तत्संस्कृतस्वभावं वाच्यमवगम्यते। अतस्तत्रं वाच्यस्य विवक्षैव।**

(ख) **वाच्यशक्त्याश्रयं (व्यञ्जकत्वय) तु रक्षादि वस्तुमात्रालङ्काराभिव्यक्ति हेतुत्वात् त्रिविधम्।**

(ग) **अत एव सहृदयैर्यत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वं तत्रैव वस्त्वलंकारयोः प्रतीयमानयोर्वाच्येन सह क्रमव्यवहारः प्रवर्तितोऽर्थशक्तिमूलारनुरणरूपव्यंग्यो ध्वनिरित्युक्तं' न तु वाच्यविवक्षायामपि। यत्र च वाच्यस्याविवक्षा पूर्वमुक्ता रामोऽस्मीति सुवर्णपुष्पामिति च तत्र वयमधिकारापेतप्रस्तुतार्थानुबन्धिवस्तूप- निबन्धनादप्रस्तुतप्रशंसाभेदत्वमेव न्याय्यं मन्यामहे।**

प्रतिहारेन्दुराज के इन वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे कारिका और वृत्ति दोनों का रचयिता सहृदय को मानते थे तथा कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही थे। सहृदय पद का प्रयोग आनन्दवर्धन के लिये ही था।

(१२) 'वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही सम्बोधित किया है एवं उनके एक पद्य को रूढ़िवक्रता के रूप में प्रस्तुत करके लिखा है–

ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन।

अतः कुन्तक आनन्दवर्धन को ध्वनिकार मानकर कारिकाकार एवं वृत्तिकार के एकत्व को प्रतिपादित करते हैं।

(१३) काश्मीर निवासी महिमभट्ट लोचनकार अभिनवगुप्त के लगभग समकालीन थे। उन्होंने ध्वनिकार के मत का खण्डन करने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक, नामक ग्रन्थ की रचना की थी। महिमभट्ट ने कारिका एवं वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति को माना है। उन्होंने 'यत्रार्थः शब्दो वा०' (ध्व० १.१३) कारिका को उद्धृत करके उसे ध्वनिकार की रचना बताया है और साथ ही अन्य स्थल पर वृत्ति को उद्धृत करके उसको भी ध्वनिकार की रचना बताया है। इस प्रकार महिमभट्ट कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति को मानते हैं।

(१४) जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है। जयन्त राजा, शंकरवर्मा जो आनन्दवर्धन, के आश्रयदाता अवन्तिवर्मा का उत्तराधिकारी था, की राजसभा में था। अतः जयन्तभट्ट या तो आनन्दवर्धन का समकालीन था, या उनके तुरन्त बाद हुआ था। अपनी आलोचना में जयन्तभट्ट ने ध्वन्यालोक की वृत्ति में एक 'भम धम्मिअ०' पद्य का निर्देश किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि जयन्त की दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त को स्थापित करने वाला तथा 'भम धम्मिअ०' उदाहरण को प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति एक ही है। अतः कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने का कोई औचित्य नहीं है।

(१५) क्षेमेन्द्र ने, 'औचित्यविचारचर्चा' की रचना की थी। उसने 'ध्वन्यालोक' की निम्न कारिका को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है–

"विरोधी वाऽविरोधी वा रसाऽङ्गिनि रसान्तरे।.....विरोधिता।"

जो ध्वन्यालोक में इस प्रकार है–

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे। परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता।। २.२४।।

क्षेमेन्द्र, जो कि अभिनवगुप्त का शिष्य था, उसके कथन को अभिनवगुप्त का ही मत समझा जा सकता है। इस आधार पर भी कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों आनन्दवर्धन ही हो सकते हैं।

(१६) हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में 'ध्वन्यालोक' की कुछ कारिकाओं को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। ये कारिकायें प्रतीयमान "पुनरन्यदेव०" (१/४) ३.३० तथा ३.३६ हैं। अतः हेमचन्द्र की सम्मति में आनन्दवर्धन ही कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता थे।

(१७) उदयोत्तुंग ने 'ध्वन्यालोक' की लोचनटीका की कौमुदी नामक टीका लिखी थी। इस टीका में लोचन के मंगल श्लोक के अन्तिम चरण '**सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते**" की एक व्याख्या उसने इस प्रकार की है–

"यदि वा कविशब्देन सर्वेऽपि कवयः सहृदयाः गृहीता सहृदयशब्देनानन्दवर्धनाचार्यः ततश्च देवतात्मत्वे गुरुनमस्कारोऽपि अनुसहितो भवति।"

इससे प्रतीत होता है कि वे सहृदय पद को आनन्दवर्धन का द्योतक समझते थे और उनकी सम्मति में कारिकाओं का लेखक अन्य कोई सहृदय नहीं है। अतः कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने में कोई औचित्य नहीं है।

(१८) विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" में ध्वन्यालोक की कारिकाओं १.१ एवं १.१२ को ध्वनिकृत् के नाम से उद्धृत किया है। इसके साथ ही उसने वृत्ति के भाग **"न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण"** को भी ध्वनिकारकृत बताया है। अतः वे कारिकाओं और वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं।

(१९) पण्डितराज जगन्नाथ ने भी आनन्दवर्धन को ही ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करने वाला प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं–

"ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्।"

इस प्रकार आनन्दवर्धन के बाद से लेकर विश्वनाथ कविराज तक जितने भी समालोचक और विद्वान् हुये, उन्होंने कारिकाकार एवं वृत्तिकार में भेद का प्रतिपादन नहीं किया और वे आनन्दवर्धन को ही कारिकाओं और वृत्ति का रचयिता मानते रहे। अभिनवगुप्त की लोचनटीका का प्रमाण भी इस भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये असन्दिग्ध नहीं है। इस अवस्था में भारतीय परम्परा के अनुसार आनन्दवर्धन को कारिका एवं वृत्ति दोनों का रचयिता मानने में विशेष दोष दृष्टिगोचर नहीं होता।

इतना होते हुये भी, कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानने वालों की युक्तियां सर्वथा निस्सार नहीं है। इसलिये नितान्त सन्देहरहित होकर किसी पक्ष में निर्णय देना संभव नहीं है। 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या के सम्बन्ध में दो ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है–'ध्वन्यालोक' की चन्द्रिका व्याख्या एवं भट्टनायक का 'हृदयदर्पण'। अभिनवगुप्त से पूर्व ध्वन्यालोक की चन्द्रिकाटीका लिखी जा चुकी थी तथा इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी लोचनटीका में भी किया है। परन्तु इस उल्लेख से कारिकाकार एवं वृत्तिकार में भेद अभेद का स्पष्ट निर्णय नहीं होता। यद्यपि डा० पी०वी० काणे ने इसको अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया है। भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' में जिसको सहृदयदर्पण भी कहा गया है, 'ध्वनिसिद्धान्त की प्रखर आलोचना की थी। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्तों का 'ध्वन्यालोक' 'लोचनटीका' में और 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती टीका' में खण्डन किया। परन्तु वर्तमान

समय में यह 'चन्द्रिकाटीका' तथा 'हृदयदर्पण' दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं। यदि वे ग्रन्थ उपलब्ध हो जायें तो 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार एवं वृत्तिकार भेद–अभेद पर अधिक प्रकाश पड़कर इसका निर्णय निस्सन्दिग्ध रूप में सम्भव हो सकता है। जब तक निस्सन्दिग्ध निर्णय न हो, संस्कृत साहित्य–शास्त्र के समाज में परम्परा के अनुसार आचार्य आनन्दवर्धन को ही कारिकाओं और वृत्ति दोनों का रचयिता समझा जाता रहा है तथा समझा जाता रहेगा।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी भी प्रकार यह मान भी लिया जाये कि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न व्यक्ति हैं और कारिकाओं की रचना किसी अज्ञात मनीषी ने वृत्तिकार आनन्दवर्धन से पहले की थी, तथापि ध्वनिकार का आदरणीय पद आनन्दवर्धन को ही दिया जाता है। ध्वनि के सिद्धान्त की निस्सन्दिग्ध और व्यवस्थित स्थापना निर्विवाद रूप से आनन्दवर्धन ने ही की थी। उत्तरवर्ती मनीषियों ने इन्हीं को ध्वनिकार या ध्वन्याचार्य की आदरणीय उपाधि से विभूषित किया था।

५. ध्वनि-सिद्धान्त की प्राचीनता

ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा का प्रारम्भ 'ध्वन्यालोक' की रचना से पूर्व ही समालोचकों में हो चुका था। इस बात को स्वयं आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है। यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों ने आनन्दवर्धन को ध्वनिकार या ध्वन्याचार्य का पद प्रदान किया, परन्तु उन्होंने स्वयं अपने आपको ध्वनि का प्रतिष्ठाता नहीं कहा। 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति में स्थान–स्थान पर इस प्रकार के वाक्य हैं जो यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्वनि सिद्धान्त का आविर्भाव आनन्दवर्धन से पूर्व हो चुका था।

'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका का पहला पद है–

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"

काव्य की आत्मा ध्वनि है, इस तथ्य को विद्वानों ने, काव्य के तत्त्व को जानने वालों ने पहले ही प्रकट कर दिया था।

इस अंश पर वृत्ति लिखते हुये आनन्दवर्धन कहते हैं–

"बुधैः काव्यतत्त्वविद्भि काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्ताद् म्नातः प्रकटितः।"

बुधों अर्थात् काव्य के तत्त्व को जानने वालों ने काव्य की आत्मा को ध्वनि यह नाम दिया था और जिसको परम्परा से बार–बार प्रकाशित किया था।

इस प्रसग मे अभिनवगुप्त ने निम्न प्रकार से व्याख्या की है–

"बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात् न तु भूयसा तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम् तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः, एतत्त्वादरेणोपदिष्टम् तदाह-सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यते इत्याह, व्याचष्टे च-सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन।"

ध्वनिकार ने 'बुधैः' में बहुचवन का प्रयोग इसलिये किया है, क्योंकि एक बुध का वचन प्रमादयुक्त भी हो सकता था, किन्तु बहुत बुधों के वचन में वह प्रमाद नहीं हो सकता और उनके कथन को हल्केपन से नहीं लिया जा सकता। पुनः उसी की व्याख्या करते हैं परम्परा से। इसका अभिप्राय यह है कि उन विद्वानों ने उस काव्य की आत्मा ध्वनि को भी विच्छिन्न न होने वाले प्रवाह के क्रम से कहा है, यद्यपि उसके विशेष ध्वनिप्रतिपादक पुस्तकों में विनिवेशन नहीं किया है। बहुत में, बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश नहीं करते, और इसका तो उन्होंने आदर से उपदेश किया है। उसी को कहते हैं–पहले से समाम्नात किया है। यहां पूर्व पद का ग्रहण करने से अभिप्राय है कि ध्वनिकार इसका पहले कथन कर रहे हैं, ऐसी सम्भावना नहीं करनी चाहिये। इसकी व्याख्या करते हैं–जिसको कि उन विद्वानों ने अच्छी प्रकार से प्रकट किया है।

'ध्वन्यालोक' की इस कारिका और वृत्ति से तथा इस पर अभिनवगुप्त की टीका से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी विद्वान् समालोचकों में ध्वनि की चर्चा थी और वे ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। हो सकता है कि यह सिद्धान्त मौखिक रूप में प्रचलित रहा हो और यदि कारिकार वृत्तिकार से भिन्न है तो उसने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की। आनन्दवर्धन ने इन विद्वानों की मान्यताओं को पुस्तक के रूप में सम्पादित करके ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति से अन्य स्थलों पर भी ध्वनि की प्राचीनता लक्षित होती है। एक स्थान पर शंका उठाई गई है कि ध्वनि का लक्षण तो पहले ही किया जा चुका है, पुनः यहाँ लक्षण करने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया है–

"लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।' (ध्वन्यालोक १.१६)

यदि अन्य प्राचीन विद्वानों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया हे, तो उससे हमारे पक्ष की सम्यक् प्रकार से सिद्धि ही होती है।

आनन्दवर्धन के अनुसार रसध्वनि का संकेत भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी है, जबकि वे कहते हैं कि रस आदि की व्याख्या के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन करना भरत आदि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' आदि में भी अच्छी प्रकार प्रसिद्ध है। यह रसध्वनि सबसे अधिक श्रेष्ठ है और काव्य निर्माण की कला की आत्मा है। ध्वनिकार ने बताया कि रीतिवादी आचार्यों को भी काव्य की इस ध्वनिरूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था, परन्तु वे इसकी व्याख्या नहीं कर सके तथा उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित कर दिया। रीतिवादियों का यह काव्यतत्त्व अस्पष्ट रूप से आभासित अवश्य था, हमने उसको स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया है, अतः रीतियों का लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है।

आनन्दवर्धन का कथन है कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित नहीं थे, अपितु महान् कवि बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि भी ध्वनि के तत्त्व से परिचित थे, क्योंकि उनके काव्यों में ध्वनि तत्त्व सर्वत्र लक्षित हैं। (**तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम् अणीयसीभिरपि चिरन्तरनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दोमनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।** –ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति से।)।

ध्वनि का आधार प्रतीयमान अर्थ है। इस प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलंकारवादी आचार्य सुपरिचित थे। जिन आचार्यों ने अलंकारों को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जैसे कि भामह उन्होंने भी अनेक अलंकारों में पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया है। इस आधार पर अलंकारवादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था, परन्तु वे इससे मुख्य समस्या का समाधान नहीं कर पाये थे। उद्भट् ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।

ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पहले समालोचकों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी, यह तथ्य इससे भी व्यक्त होता है, क्योंकि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है। आचार्य ने 'ध्वन्यालोक' की पहली ही कारिका में ध्वनि विरोधियों के तीन मतों का–अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का उल्लेख किया, तदनन्तर इनकी युक्तियों का प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार ने किसी अन्य कवि के श्लोक को उद्धृत किया है–

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।।

–ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति से।

जो ध्वनि का प्रबल विरोधी था। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार इस श्लोक के लेखक का नाम मनोरथ था। (अन्यनाम्ना। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना)। प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित सा है। कल्हण ने राजतरङ्गिणी' में मनोरथ का उल्लेख किया है। "राजतरङ्गिणी" के श्लोक ४.४६७ के अनुसार वह राजा जयापीड का मन्त्री था। ४.६७१ के अनुसार उसने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का, उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। अतः मनोरथ का समय ८०० ई० के लगभग रहा होगा। अभिनवगुप्त ने मनोरथ को, जो आनन्दवर्धन का समकालीन बताया है, इसमें उसका भ्रम रहा होगा। मनोरथ के इस श्लोक में ध्वनि का विरोध होने से और ध्वनि विरोधियों का ध्वनिकार द्वारा उल्लेख होने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से बहुत पहले ध्वनि–सिद्धान्त का प्रवर्तन हो चुका था। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना जावे, तो भी ध्वन्यालोक की रचना से बहुत पहले ध्वनि की चर्चा आरम्भ हो गई सिद्ध होती है। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार के व्यक्तित्व को भिन्न भी माना जावे तो भी कारिकाओं की रचना से पहले ध्वनि का प्रवर्तन हो चुका था, यह निश्चित है।

ध्वनिकार से पूर्व ही ध्वनि सिद्धान्त के प्रचलित होने पर भी यह निश्चित है कि इसको व्यवस्थित और निस्सन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। ध्वनिकार ने पहले तो कारिकाओं में ध्वनि का अति संक्षिप्त परिचय दिया तथा इसके बाद वृत्ति और उदाहरण देकर ध्वनि के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की। ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति के अन्तिम श्लोकों में स्पष्ट रूप से कहा है कि उसने ध्वनि के मार्ग का निर्माण नहीं किया, अपितु इसको दिखाया भर है–

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो यस्माद् वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्।।

उसने ध्वनि के तत्त्व की केवल व्याख्या की है–

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्। तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो- आनन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।

परन्तु उसकी यह व्याख्या इतनी सुस्पष्ट और युक्तिसंगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार एवं ध्वन्याचार्य के पद की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

६. ध्वनिविरोधी मत

आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त रूप में स्थापना की थी। परन्तु ध्वनि के सिद्धान्त का विरोध आनन्दवर्धन के पहले भी होता रहा और बाद में भी हुआ। अपने से पूर्व के ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान तो आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं ही कर दिया था, परन्तु उनके पश्चात् जिन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया, उनकी युक्तियों का उत्तर अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने दिया। इसके पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त सर्वमान्य सा हो गया। ध्वनि विरोधियों के मतों का वर्णन करने के लिये उनको दो वर्गों में बांटा जा सकता है–आनन्दवर्धन से पूर्व के ध्वनि–विरोधी मत और आनन्दवर्धन के बाद के ध्वनि–विरोधी मत।

आनन्दवर्धन के पूर्व के ध्वनिविरोधी मत :-

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत की पहली कारिका में ही ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख करके इसकी वृत्ति में उनकी युक्तियां प्रस्तुत की हैं। उस समय तक ध्वनिविरोधियों ने जो युक्तियाँ दी थीं, उनको उसने तीन वर्गों में विभक्त करके ध्वनिविरोधियों के तीन मतों की कल्पना की–अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। यद्यपि 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या के प्रसंग में इनकी युक्तियां तथा उनके खण्डन का विस्तृत विवेचन है, तथापि यहाँ संक्षेप से इन तीनों ध्वनिविरोधियों का पक्ष उपस्थित करना उपयोगी होगा।

(क) अभाववादी – अभाववादी वे हैं, जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते। उनका कहना है कि काव्य में ध्वनि नाम का तत्त्व है ही नहीं। ध्वनिकार ने अभाववादियों के भी तीन पक्ष प्रस्तुत किये हैं–

(i) पहले अभाववादियों का कथन है कि काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ से होती है। अतः इनके सौन्दर्य के आधायक तत्त्व ही आत्मा हो सकते हैं। शब्द के सौन्दर्य को प्रकट करने वाले अनुप्रास आदि अलंकार हैं, तथा अर्थ के सौन्दर्य को प्रकट करने वाले उपमा आदि अलंकार हैं। ये अलंकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रसिद्ध किये जा चुके हैं। वर्णों और संघटना के सौन्दर्य को प्रतिपादित करने वाले माधुर्य आदि गुण भी कहे जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों का और वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन हो चुका है। काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले ये ही तत्त्व हैं तथा इनसे भिन्न अन्य कोई ध्वनि नामक काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं है।

(ii) दूसरे अभाववादियों ने परम्परा का सहारा लिया है। उनका कथन है कि सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते हैं। इस प्रकार से काव्य की रचना एवं सौन्दर्य का यही मार्ग प्राचीन परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। ध्वनि की कल्पना तो अभी ध्वनिवादियों ने की है, परन्तु प्राचीन काल से सहृदय जन काव्य के रस का आस्वादन शब्दों और अर्थों के चारुत्व से करते रहे हैं। इस मार्ग से भिन्न किसी अन्य मार्ग से काव्य का चारुत्व सम्भव नहीं होगा। यदि कोई ध्वनि को मानने वाले दुराग्रही काव्य में ध्वनि के चारुत्व का अन्वेषण भी करें, तो भी सभी विद्वान् उसको स्वीकार नहीं करेंगे।

(iii) तीसरे अभाववादियों का कहना है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ नहीं है। यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ है और वह काव्य के चारुत्व का हेतु है तो उसका अन्तर्भाव पहले कहे गये अलंकार आदि चारुत्व के हेतुओं में किया जा सकता है। अर्थात् यह ध्वनि नाम का एक अलंकार होगा, जो कि काव्य के चारुत्व का हेतु होगा। उन चारुत्व के हेतुभूत अलंकारों में से किसी एक का नाम ध्वनि रख देने से कोई विशेष बात नहीं होगी। यह तो बड़ी तुच्छ सी बात होगी। प्राचीन आलंकारिकों ने वाणी के भेदों के अनन्त होने से अनेक प्रकार के अलंकारों को प्रदर्शित किया है। यदि उन्होंने किसी अलंकार विशेष का नाम न भी रखा हो और उसको ध्वनिवादी ध्वनि नाम दे दें, तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इतनी सी तुच्छ बात को लेकर ध्वनि–ध्वनि का कोलाहल करना व्यर्थ है।

अभाववादियों के इन तीनों मतों तथा उनकी युक्तियों का सारांश यही है कि अभिधा या वाक्यार्थ में ही व्यञ्जना या ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं। उनके अनुसार अभिधा के द्वारा ही सब अर्थों की प्रतीति हो जाती है अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाले सभी अर्थ वाच्य होते हैं।

आनन्दवर्धन ने इन अभाववादियों के मत का उपसंहार करते हुए एक श्लोक दिया है, जो किसी अन्य कवि का लिखा है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसका रचयिता मनोरथ नाम का कवि है।

(ख) भक्तिवादी – ध्वनि विरोधी दूसरा मत भक्तिवादियों का है। ये ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते है। इनके अनुसार व्यञ्जनावादियों के व्यंग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा ही हो जाती है। इनके सम्बन्ध में ध्वनिकार का कथन है कि दूसरे विद्वान् उस ध्वनिकाव्य को भक्ति या गुणवृत्ति कहते हैं। यद्यपि लक्षणावादियों ने ध्वनि शब्द का उच्चारण करके भक्ति या गुणवृत्ति आदि पद उनके लिये नहीं कहे हैं, तथापि उन्होंने काव्यों में लक्षणा व्यापार के व्यवहार का प्रदर्शन करके ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया है। इस प्रकार लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन करके उन्होंने व्यञ्जनावादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा, क्योंकि प्रतिपादित की है, इसलिये ध्वनिकार ने उनके मत को इस प्रकार उपस्थित किया है कि वे ध्वनि को भक्ति मानते हैं।

(ग) अलक्षणीयतावादी – ध्वनिवादियों का तीसरा मत अलक्षणीयतावादियों का है। इनका कथन है कि ध्वनि के तत्त्व को 'वर्ण' से व्याख्या नहीं की जा सकती। वह सहृदयों के हृदयों के द्वारा केवल संवेद्य ही है। अतः ध्वनि की परिभाषा करना उचित नहीं है।

ध्वनिकार के समय में ध्वनि विरोधियों के जो मत थे, इनकी जो युक्तियां थी, उनका उन्होंने तीन विभागों में संग्रह किया और उनका 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में समुचित उत्तर दिया। इनमें अभाववादियों के तीन मत, भाक्तों का एक मत और अलक्षणीयतावादियों का एक मत, इस प्रकार कुल पाँच ध्वनिविरोधी मत हुये।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिविरोधी युक्तियों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन कर देने पर भी इसका विरोध शान्त नहीं हुआ था। ध्वनि के सिद्धान्त का उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने विरोध किया। उनके पक्ष को यहाँ उपस्थित करना उपयोगी होगा।

आनन्दवर्धन के पश्चात् के ध्वनिविरोधी मत :-

आनन्दवर्धन के पश्चात् भी अनेक समालोचकों ने ध्वनि के सिद्धान्त का विरोध किया था। इन परवर्ती विरोधियों में प्रमुख थे–भट्टनायक कुन्तक, महिम भट्ट और क्षेमेन्द्र। ये सब काश्मीरी थे। इनका पक्ष–संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है–

भट्टनायक – भट्टनायक का समय आनन्दवर्धन के बाद का और अभिनवगुप्त से पहले का है। इन्होंने 'हृदयदर्पण', जिसका कि कहीं–कहीं 'सहृदयदर्पण' भी कहा गया है, नाम का ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ में भट्टनायक ने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया था। 'हृदयदर्पण' का उल्लेख अभिनवगुप्त की रचनाओं में यत्र–तत्र मिलता है। इन्होंने भट्टनायक के मन्तव्यों का खण्डन किया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट भी 'हृदयदर्पण' से परिचित थे और वे जानते थे कि इसमें आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया था। ये कहते हैं कि दर्पण देखे बिना ही वे ध्वनि का खण्डन कर रहे हैं तथा उनकी प्रवृत्ति सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः। स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथामिवावद्यम्।।

व्यक्तिविवेककार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ में ध्वनि का प्रबलता से खण्डन है तथा यह ग्रन्थ ध्वनि का ध्वंस करने वाला है। (दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि –व्यक्तिविवेक)। लोचन टीका में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है, जबकि अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के "भम धम्मिअ०" पद पर व्यक्त किये गये विचारों का खण्डन करते हुये लिखा है–"वस्तुध्वनि का तो ये दूषित करते हैं एवं वस्तुध्वनि के अनुग्राहक रसध्वनि का ये समर्थन करते हैं, तब तो यह खूब ध्वनि का ध्वंस है।"

किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। –अभिनवगुप्त

भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नही किया। वे रस के आस्वादन को तो स्वीकार करते थे, परन्तु इसके लिये वे व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता नहीं समझते थे। काव्य में उन्होंने केवल अभिधा वृत्ति की आवश्यकता समझी तथा इसके आस्वादन के लिये भावकत्व और भोजकत्व की शक्ति की उद्भावना की। उनके अनुसार भावकत्व शक्ति से काव्य के पात्रों का साधारणीकरण होता है और भोजकत्व शक्ति के सामर्थ्य से सामाजिक, रस का आस्वादन करता है। भट्टनायक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके इस मन्तव्य का खण्डन किया। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी, भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों का खण्डन किया तथा व्यञ्जना व्यापार से ही रस की प्रतीयमानता तथा आस्वाद्यमानता प्रतिपादित की।

(२) **महिमभट्ट** – आनन्दवर्धन के आलोचकों में महिमभट्ट का स्थान प्रमुख है। इन्होंने व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता को मानने का खण्डन किया और ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा प्रतिपादित की। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना इसीलिये की, जिससे कि वे ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में प्रतिपादित कर सकें।

ध्वनि के विरोधियों का खण्डन करते हुये आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में अनुमितिवादियों का उल्लेख नहीं किया है तथापि तीसरे उद्योत में व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते हुये उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का अनुमान प्रतीति से भिन्न प्रतिपादित करके अनुमितिवाद का खण्डन अवश्य किया है।

महिमभट्ट अभिधावादी थे और उन्होंने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया था। उन्होंने व्यंग्यव्यञ्जकभाव के स्थान पर लिङ्गलिङ्गिभाव का समर्थन किया। महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया तथा "भम धम्मिअ०" उदाहरण में निषेध रूप अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध की।

महिमभट्ट ने सबसे पहले आनन्दवर्धन की ध्वनि की परिभाषा "यत्रार्थः शब्दो वा०" (ध्वन्यालोक १.१३) को लिया और उसके एक एक पद की कड़ी आलोचना की।

यद्यपि 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना में बुद्धि की प्रौढता स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है, तथापि इसको विद्वत समाज में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई, जो कि आनन्दवर्धन को हुई थी। अनुमिति के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में महिमभट्ट अकेले रह गये तथा अन्य समालोचकों का समर्थन वे प्राप्त नहीं कर सके। स्वयं 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार रुय्यक ने अपने अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थ में महिमभट्ट

के मन्तव्य का खण्डन किया था (**यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रतिलिङ्गतया अनुमानान्तर्भावमाख्यातं तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात् अविचारिताभिधानम्। तदेतत् कुशाग्रीयधिष्णेः क्षोदनीयमतिगहनम्-इति नेह प्रतन्यते।। अलङ्कारसर्वस्व।**) और व्यक्तिविवेककार पर कटाक्ष किया था।

महिमभट्ट को मान्यता एवं समर्थन न मिलने के दो कारणों को विष्णुपद भट्टाचार्य ने अपनी ध्वन्यालोक की व्याख्या की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है। प्रथम तो यह कि इन्होंने आनन्दवर्धन जैसे प्रसिद्ध समालोचक की आलोचना की थी और दूसरा यह कि इनकी भाषा अत्यधिक कठिन तथा कठोर थी तथा इसमें आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की भाषा जैसी सरलता एवं ग्राह्यता नहीं थी। तथापि उनका यह कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि महिमभट्ट को यदि अभिनवगुप्त जैसा व्याख्याकार मिल जाता तो उनकी अवस्था कुछ भिन्न ही होती। (विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की प्रस्तावना। पृ० LXIII)

(३) **कुन्तक** – कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ भी ध्वनि की स्थापना के विरोध में लिखा था। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना इतना नहीं था, जितना कि वक्रोक्ति का मण्डन करना था। आनन्दवर्धन की इन्होंने आलोचना नहीं की और ध्वनिसिद्धान्त से परिचित होकर इन्होंने सभी प्रकार की ध्वनियों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार ध्वनि स्वतन्त्र नहीं है, अपितु वक्रोक्ति का ही एक भेद है।

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त 'काव्यालङ्कार' के रचयिता भामह के ही सिद्धान्त का विशद प्रतिपादन है–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। काव्यालङ्कार, २.८५।।

उनके अनुसार अलंकार रूप वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है। वह वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलग महनीय पदार्थ नहीं मानता, जैसे कि ध्वनिकार रसध्वनि या अलङ्कारध्वनि को मानते हैं। उनके अनुसार कवि की विदग्धता, काव्यकौशल द्वारा वक्रोक्ति शब्द और अर्थ में व्याप्त रहती है, तथा उसको अलग नहीं किया जा सकता। अतः कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का प्राण प्रतिपादित करता है। कोई भी काव्य बिना वक्रोक्ति के काव्य नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि में "काव्यस्यायम् अलङ्कारः", इस प्रकार का प्रयोग अयुक्तियुक्त होगा, क्योंकि इससे यह अभिप्राय निकल सकता है कि काव्य अलंकार या वक्रोक्ति के बिना भी रह सकता है।

ध्वनिकार ने काव्य के दो मुख्य भेद–ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य किये थे। तीसरे भेद चित्र को वे वास्तविक काव्य नहीं मानते थे, अपितु उसको काव्य की अनुकृतिमात्र समझते थे। (**रसभावादितात्पर्य रहितं व्यङ्गयार्थविशेषप्रकाशशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयणोप- निबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ।** –ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति से।) काव्य में रस के चमत्कार को स्वीकार करते हुये भी कुन्तक ने उसको ही काव्य का प्राण नहीं माना, किन्तु रस को भी वक्रोक्ति में सम्मिलित करके अलंकार मान लिया। उसके अनुसार काव्य में रस भी उसी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार अन्य अलंकार करते हैं।

कुन्तक ने रस के महत्त्व को अवश्य स्वीकार किया और कहा कि कवियों की वाणियाँ केवल कथामात्र पर ही आश्रित नहीं हैं, अपितु रस की निर्भरता पर आश्रित होकर जीवित रहती हैं। परन्तु उसके अनुसार काव्य में रस की स्थिति वक्रता से भिन्न नहीं है–

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवत् काञ्चित् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।।

यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः। उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते।। 'वक्रोक्तिजीवित १.१३–१७।।

कुन्तक ने आनन्दवर्धन की लक्षणामूलध्वनि के दो भेदों–अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य को उपचारवक्रता में अन्तर्भावित किया है। कुन्तक ने ध्वनि या व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता का खण्डन किया है और वह प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार वाच्य अर्थ और वाचक शब्द ही काव्य में प्रसिद्ध होते हैं और यही परमार्थ रूप से काव्य का निर्माण करते हैं। व्यग्य अर्थ भी वस्तुतः वाच्य ही होता है।

(४) **क्षेमेन्द्र** – काव्य के समालोचकों में क्षेमन्द्र का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसिद्ध समालोचक और टीकाकार अभिनवगुप्त का ही शिष्य था। उसने औचित्य को काव्य का प्राण माना। औचित्य को उसने 'रसजीवितभूत' कहा।

औचित्य का प्रतिपादन क्षेमेन्द्र ने ही सबसे पहले किया हो, ऐसा नहीं है। क्षेमेन्द्र से पूर्व आनन्दवर्धन, महिमभट्ट आदि ने अपनी रचनाओं में औचित्य का प्रतिपादन किया था और कहा था कि इसकी सम्यक् अभिव्यञ्जना के लिये अनुभाव, विभाव और स्थायीभाव के कथन में औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। औचित्य के अभाव में रसभंग का दोष उत्पन्न हो जाता है–

अनौचित्यादृते नान्यद रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।। – ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति से।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी विशेषता यह नहीं है कि उसने काव्य में औचित्य को प्रधानता दी, परन्तु उसकी मुख्य देन यह है कि उसने काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्त्वों–गुण, अलंकार, रस आदि का औचित्य के अन्दर समावेश कर लिया। उसने औचित्य को ही काव्य का जीवित सर्वस्व माना। औचित्य की परिभाषा उसने इस प्रकार की है–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

उसका कथन है कि जिस प्रकार भौतिक अलंकार उचित अंगों में पहने जाकर शरीर का सौन्दर्य बढ़ाते हैं तथा अनुचित अंग पर धारण करने पर कुरूपता उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत गुण और अलंकार काव्य की शोभा के आधायक तभी होते हैं जब वे उचित रूप से नियोजित किये गये हों–

उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः। औचित्यादच्युता नित्यं गुणाः एव गुणाः सदा।।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया और उसको काव्य का प्राण माना।

ध्वनि–सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप समय–समय पर किये जाते रहे होंगे, परन्तु उनके विस्तृत विवरण हमें प्राप्त नहीं है। विरोधियों के आक्षेपों का संकलन जयरथ ने रुय्यक कृत 'अलङ्कार सर्वस्व' की टीका में किया है। इसको इस प्रकरण में संक्षेप से देखना चाहिये। जयरथ ने किसी प्राचीन लेखक की कारिकाओं को इस प्रकार उद्धृत किया है–

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिति द्विधा। अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः।

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्। द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः।।

ध्वनि के सम्बन्ध में १२ प्रकार की विप्रतिप्रत्तियाँ कही जाती है; इनका विवरण निम्न प्रकार से है–

(१) **तात्पर्या** – यह अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का मत है।

(२) **अभिधा** – यह अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का मत है।

(३,४) **लक्षणा** – लक्षणा के दो भेद जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था।

(५,६) **अनुमिति** – अनुमान के दो भेद।

(७) **अर्थापत्ति** – यह अनुमान पक्ष का ही परिष्कार है।

(८) **तन्त्र** – श्लेषालङ्कार के सदृश यह कोई पक्ष है।

(९) **समासोक्ति आदि अलंकार** – ये प्राचीन अलंकारवादी हैं, जिनका खण्डन आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में किया है।

(१०) **रसकार्यता** – यह प्राचीन रसवादी भट्टलोल्लट आदि आचार्यों की मान्यता है, जिनका खण्डन अभिनवगुप्त ने किया है, ये रस की उत्पत्ति मानते हैं।

(११) **भोग** – यह भोगवादी आचार्य भट्टनायक का पक्ष हे, जो रस को भोज्य मानते हैं। इनका खण्डन भी अभिनवगुप्त ने किया है।

(१२) **व्यापारान्तबाधन** – यह पक्ष वक्रोक्तिवादियों का है। परन्तु प्रो० एम०एम० कुप्पुस्वामी शास्त्री का कथन है कि वक्रोक्ति तो अलंकार में ही सम्मिलित है। पुनः 'वक्रोक्तिजीवित' तो ध्वनि को स्वीकार करता है, यद्यपि काव्य की आत्मा के रूप में नहीं करता। अतः शास्त्री महोदय का विचार है कि वह अनिर्वचनीयतावादियों के पक्ष का सूचक है।

इस प्रकार ध्वनि के विरोधी इन पक्षों को देखकर यह विदित होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पूर्व और उनके समय में ध्वनि का प्रबलता से विरोध होता रहा। ध्वनिकार ने इन विरोधी मतों को संकलित करके उनका समुचित रूप से खण्डन किया और ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वनिकार के पश्चात् भी अनेक समालोचकों ने ध्वनि के विरोध में अन्य सिद्धान्त प्रचलित करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो सके। आनन्दवर्धन के अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने इन ध्वनिविरोधी पक्षों का प्रबलता से खण्डन करके ध्वनि–सिद्धान्त को निसन्दिग्ध और निर्विवाद रूप से प्रस्थापित कर दिया।

७. ध्वनिविरोधी मतों का आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायियों द्वारा खण्डन

ऊपर ध्वनि के विरोधी जिन मतों का वर्णन किया गया है, उनका यदि सम्यक्–रूप से विवेचन किया जावे, तो वे तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं–पहले पक्ष में वे समालोचक हैं, जो ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा मानते हैं और उसको वाच्य कहते हैं। दूसरे वे हैं, जो इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करते हैं। तीसरे वे हैं, जो तात्पर्य या अनुमान के द्वारा प्रतीति मानते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तथा उसके बाद अभिनवगुप्त और मम्मट ने विशद रूप से युक्तियाँ देकर इन ध्वनि–विरोधी समालोचकों के पक्ष का खण्डन किया जो इस प्रकार है–

(१) **अभिधा से प्रतीयमान अर्थ के बोध का निवारण** – कुछ आचार्यों का कथन है कि 'भम धम्मिअ वीसत्था' में ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ का बोध अभिधा से ही हो जाता है, अतः पृथक् रूप से व्यञ्जना वृत्ति तथा व्यंग्य अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं

है। किन्तु यदि दोनों ही अर्थों (वाच्य अर्थ विधिरूप, व्यंग्य अर्थ निषेध रूप) को अभिधा वृत्ति से निष्पन्न मानें तो यह दो प्रकार से संभव है, (१) या तो दोनों अर्थ एक साथ अभिधावृत्ति से बोधित हों (२) या पहिले विधिरूप अर्थ, तदनन्तर निषेध रूप अर्थ का बोध हो। प्रथम पक्ष संभव नहीं है क्योंकि दोनों अर्थ परस्पर विरोधी हैं और अभिधावृत्ति से परस्पर विरोधी अर्थ एक साथ बोधित नहीं होते। दूसरी बात इसलिए संभव नहीं है क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'। अतः अभिधा एक अर्थ का बोध कराके दूसरे में नहीं जाती। एक और बात भी है, 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति विशेषणे'। यहाँ प्रस्तुत विधिरूप अर्थ विशेषण और निषेधरूप विशेष्य अर्थ है, अतः विधिरूप अर्थ विशेषण का अर्थ बताने में क्षीण अभिधा का निषेध रूप अर्थ विशेष्य को बताने का सामर्थ्य नहीं है। तीसरे अभिधा संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है। यहाँ संकेतित अर्थ विधिरूप ही है, निषेध रूप नहीं।

(२) **अभिहितान्वयवादियों के मत का निराकरण** – अभिहितान्वयवादी वाक्यार्थ के लिए तात्पर्यवृत्ति को मानते हैं। उनका कथन है कि ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है। इनके मत का मम्मट ने विस्तार से खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में व्यञ्जनावादियों का कथन है कि वे अभिहितान्वयवादी वाक्य के सामान्यभूत पदों के अर्थों के अन्वय को भी अभिधा से प्रतिपादित नहीं कर सकते। वे अतिविशेषभूत प्रतीयमान अर्थ को अभिधा से कैसे प्रतिपादित कर सकते हैं।

(३) **अन्विताभिधानवादियों के मत का निराकरण** – कुमारिल भट्ट के अनुसार वाक्यार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति से होता है परन्तु उनके शिष्य प्रभाकर भट्ट ने इसका खण्डन किया और तात्पर्यवृत्ति को नहीं माना। इनके मतानुयायी अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। इनके अनुसार बालक अपने अनुभव से अखण्ड वाक्य के अखण्ड अर्थ का बोध करता है, अर्थात् वह विशेषान्वित पद के अर्थ का बोध करता है। तदनन्तर वह अपने अनुभव से भिन्न–भिन्न पदों के भिन्न–भिन्न अर्थों का बोध करता है और वाक्य में सामान्यान्वित पदों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। ये पदों के अर्थ सामान्य से अवच्छादित होते हैं और इस सामान्यान्वित अर्थ का पर्यवसान अन्वित विशेष में होता है। अतः इनके मत में अन्वित विशेष तक ही अभिधा की गति रहती है। व्यंग्य अर्थ जो अति विशेष रूप हैं अभिधा से बोधित नहीं हो सकता।

(४) **नैमित्तिकवादी मीमांसकों के मत का निवारण** – कुछ मीमांसकों का मत है कि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति किसी निमित्त से होने से नैमित्तिक है और इस प्रतीति का निमित्त शब्द को ही मानना चाहिए क्योंकि शब्द श्रवण के अनन्तर ही अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द की निमित्तता किसी वृत्ति द्वारा होगी और वह वृत्ति अभिधा ही हो सकती है; अतः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा हो सकती है क्योंकि **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते।'** व्यञ्जनावादियों के कथनानुसार यह युक्ति तर्कसंगत नहीं है। निमित्त दो प्रकार का होता है–कारक और ज्ञापक। शब्द अर्थ का प्रकाशक होने से ज्ञापक नहीं हो सकता। अर्थ का ज्ञापक (प्रकाशक) तभी होता है जब साक्षात् संकेतित होता है। प्रतीयमान अर्थ में शब्द साक्षात् संकेतित नहीं होता अतः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती।

(५) **भट्ट लोल्लट के मत का निवारण** – इन्होंने प्रतीयमान अर्थ को अभिधेय सिद्ध करने के लिए दो युक्तियां दी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और '**सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो अभिधाव्यापारः**'। पहिली युक्ति के अनुसार जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। यदि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए शब्दों का प्रयोग है तो वही अभिधेय मानना चाहिए। मम्मट ने इसका खण्डन विशद रूप से किया है और कहा है कि इन मीमांसकों ने इसका अर्थ ठीक से नहीं समझा। यज्ञीय प्रसंगों में जो वस्तु साध्य या अप्राप्त है, उसी को सिद्ध करने के लिए इस वाक्य का प्रयोग होता है। इस वाक्य का अर्थ है कि वाक्य में जिस क्रिया के साधन के लिए शब्द का प्रयोग होता है उसी को सम्पन्न करने के लिए शब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। प्रतीयमान अर्थ वाच्य से भिन्न है और यह व्यञ्जना वृत्ति से बोधित होता है। दूसरी युक्ति के अनुसार जैसे एक ही बाण शत्रु के कवच को काट देता है, मर्म को भेद देता है और प्राणों का हरण कर लेता है, इसी प्रकार सुकवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा नामक व्यापार से वाच्य अर्थ का बोध कराता है, पदार्थों का अन्वय कराता है, व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराता है। इसके खण्डन के लिए ध्वनिवादियों का तर्क है, क्या यह दीर्घ अभिधा व्यापार एक ही है ? एक है तो भिन्न प्रकृति वाले वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति उससे कैसे हो सकती है और यदि अनेक माना जाये तो व्यञ्जनावादियों का पक्ष सिद्ध होगा क्योंकि वे शब्दवृत्तियों की अनेकता स्वीकार करते हैं। दीर्घ दीर्घतर व्यापार स्वीकार करने पर तो तात्पर्य और लक्षणा वृत्ति की भी आवश्यकता नहीं है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानने पर तो हर्ष, शोक आदि भी वाच्य हो जायेंगे जो कि मीमांसक भी नहीं मानते। भट्ट लोल्लट का सिद्धान्त मानने पर तो श्रुति आदि प्रमाणों से जिन–जिन अर्थों की उपस्थिति को प्रमाणित करना है वह व्यर्थ हो जायेगा। इन प्रमाणों में दुर्बलता तथा बलवत्ता मानना व्यर्थ होगा क्योंकि दीर्घदीर्घतर व्यापार अभिधा द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि स्वतः हो जायेगी।

(६) **लक्षणावादियों का निवारण** – प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा से या विपरीत लक्षणा से हो जाती हैं, ऐसा अनेक आचार्यों का मत है। आचार्य मम्मट ने लक्षणावादियों के इन तर्कों का प्रबलता से खण्डन किया है। जहाँ मुख्य वाच्य अर्थ बाधित हो, मुख्य अर्थ का लक्ष्य से सम्बन्ध हो, रूढ़ि या प्रयोजन हो तो लक्षणा होती है। लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर जो प्रयोजन या

फल की प्रतीति है वह व्यञ्जना द्वारा ही होती है। वह प्रयोजन या फल रूप अर्थ व्यंग्य है; वाच्य या लक्ष्य नहीं जबकि लक्षणावादी उसे लक्षणा प्रतिपाद्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अभिनवगुप्त आदि प्राचीन आचार्यों तथा मम्मट ने इस प्रकार युक्तियां प्रस्तुत की हैं 'गङ्गायां घोषः' आदि वाक्यों में, शीतलत्व, पावनत्व आदि प्रयोजनों की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का उपयोग किया जाता है, किन्तु उस प्रयोजन की प्रतीति शब्द से गम्य है और व्यञ्जना से अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार से उसका बोध नहीं हो सकता। प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती क्योंकि गङ्गादिशब्द शीतलत्वादि प्रयोजन के लिए संकेतित नहीं है। लक्षणा से भी नहीं हो सकती क्योंकि मुख्यार्थबाधादि हेतु यहां नहीं है। इस विषय को आगे विशदता से लिया गया है जहाँ लक्ष्य और व्यंग्य का भेद दिखाया गया है।

(७) **वैयाकरणों और वेदान्तियों के अखण्डार्थवाद का निराकरण** – व्याकरण दर्शन में स्फोट रूप शब्द ब्रह्म का सिद्धान्त है जिसके अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ अखण्ड होते हैं। अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध होता है। वेदान्ती भी अखण्ड वाक्य एवं उसके अखण्ड अर्थ का प्रतिपादन करते हैं जैसे 'तत्त्वमसि' वाक्य को वे अखण्ड ब्रह्म का द्योतक मानते हैं। उनके अनुसार अखण्ड वाक्य का अर्थ वाच्य और वाक्य वाचक होता है। अतः सभी अर्थ वाच्य होंगे, प्रतीयमान मानने की आवश्कता नहीं है। अभिनवगुप्त और मम्मट ने इस तर्क को स्वीकार करते हुए भी कहा है कि सांसारिक व्यवहार की दशा में पद एवं पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है और जब पद और पदार्थ की पृथक्–पृथक् कल्पना होगी तो प्रतीयमान अर्थ भी स्वीकार करना होगा। जो विद्वान् वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड स्फोट रूप कहते हैं, उनको भी सांसारिक व्यवहार की दशा में इस प्रक्रिया का अनुसरण करना ही होगा। अतः संसार में रहते हुए पद एवं पदार्थ की कल्पना एवं प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार करना ही होगा।

(८) **अनुमानवादियों का निराकरण** – महिमभट्ट ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया और व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता का खण्डन किया। उनके अनुसार सभी प्रकार के प्रतीयमान अर्थ–वस्तु, अलंकार और रस अनुमान से ही निष्पन्न हो सकते हैं। व्यक्ति विवेक ग्रन्थ में उन्होंने इसका विशद विवेचन किया है। वे रसादि की प्रतीति में विभावादि को हेतु मानते हैं, रस की सिद्धि के लिए उनका अनुमान वाक्य इस प्रकार होगा 'रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्त्वात्। यो नैवं यथा लक्ष्मणः।" आनन्दवर्धन के उदाहरण भम धाम्मिअ वीसब्धो में निषेध रूप प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अनुमान द्वारा की है। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने महिमभट्ट का प्रबल खण्डन किया है। महिमभट्ट का कथन है कि वाच्य अर्थ से असम्बद्ध व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, यदि ऐसा होने लगे तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार व्यंग्य व्यञ्जक भाव अप्रतिबन्ध से (प्रतिबन्ध–व्याप्ति, अप्रतिबन्ध–जहां व्याप्ति नहीं है) निश्चित रूप से नहीं होता। साध्य नियत (विपक्ष में न रहना) और धर्मनिष्ठ (पक्ष मे रहना) है। इस प्रकार तीन रूप वाले लिंग से निर्मित अनुमान में व्यंग्य व्यञ्जक भाव परिणत हो जाता है। लिंग के तीन रूप हैं (१) सपक्ष में नियत रूप से (व्याप्ति) (२) विपक्ष में नहीं (३) पक्ष में रहता है। अतः उस धूम से पक्ष में साध्य रूप वह्नि का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जक रूप लिंग से व्यंग्य रूप अर्थ का काव्य में अनुमान किया जाता है। व्यंग्य अर्थों के स्थल में व्यञ्जकत्व अवश्य रहता है। वाच्यादि अर्थों में नहीं रहता और जिज्ञासित व्यंग्य स्थल मे व्यञ्जक विद्यमान है। अतः व्यंग्य व्यञ्जक भाव को अनुमाप्यानुमापक भाव समझना चाहिए। 'भम धम्मिअ' की आगे विशद व्याख्या की गई है–यहाँ गोदावरी तीर पक्ष, वन सपक्ष, घर विपक्ष, भयकारणसिंहोपलब्धि लिंग और भीरुश्रमणायोग्यत्व साध्य है। भयकारणसिंहोपलब्धि लिंग के तीन रूप–(१) सपक्ष वन में नियत रूप से स्थित, (२) गृह (विपक्ष में) असत्व, गोदावरी तीर पर है (पक्ष सत्व)। आचार्य मम्मट ने इसका खण्डन किया है कि महिमभट्ट द्वारा कथित हेतु में तीन दोष हैं–अनैकान्तिकता, विरुद्धता और असिद्धता। भीरु व्यक्ति भी गुरु के आदेश या अन्य किसी कारण से भय का कारण होने पर भी भ्रमण कर सकता है अतः अनैकान्तिकता। धार्मिक पुरुष कुत्ते से डरते हुये भी सिंह से न डरे अतः विरुद्धता तथा किसी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं केवल पुंश्चली का कथन अतः असिद्ध। अतः प्रतीयमान अर्थ व्यञ्जना द्वारा ही बोधित होगा, वह वाच्य, लक्ष्य, तात्पर्य या अनुमाप्य नहीं हो सकता। मम्मट का कथन है, **"इति अभिधातात्पर्य-लक्षणात्मक व्यापारत्रयातिवर्तो ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपलपनीय एव।'** (पञ्चम उल्लास)। अब प्रतीयमान अर्थ और ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सामान्य रूप से कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं–

(१) ध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद हैं–अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इनमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल है। यदि प्रतीयमान अर्थ को भी वाच्य मान लें तो अविवक्षितवाच्य ध्वनि का इसमें समावेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभिधा के विफल हो जाने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध होकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है। अतः ध्वनि को अभिधा शक्ति के अन्तर्गत नहीं मान सकते हैं। इसको लक्षणा के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधा के विफल न होने से लक्षणा के प्रयोग का अवसर ही उपस्थित नहीं होता।

(वाच्य और प्रतीयमान में अन्तर)

(२) वाच्य अर्थ और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं होते। अनेक हेतुओं के कारण वे एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। यह भेद बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि के कारण होता है–

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्। आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः।। –साहित्यदर्पण ५.२।।

इन हेतुओं की विवेचना इस प्रकार है–

(क) बोद्धा – बोद्धा के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ भिन्न होते हैं। वाच्य अर्थ का बोध तो शब्द और अर्थ का अनुशासन करने वाले कोश, व्याकरण आदि के ज्ञान से ही हो सकता है, परन्तु प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों को ही होती है।

(ख) स्वरूप – वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर भी कहीं व्यंग्य अर्थ निषेध रूप होता है। कहीं वाच्य अर्थ के निषेध रूप होने पर व्यंग्य अर्थ विधि रूप होता है। कहीं वाच्य के विधि या निषेध रूप होने पर व्यङ्ग्य अर्थ अनुभय रूप होता है। कहीं वाच्य अर्थ के संशयात्मक होने पर व्यङ्ग्य अर्थ निश्चयात्मक होता है।

(ग) संख्या – वाच्य अर्थ सभी श्रोताओं के लिये एक ही होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति विभिन्न श्रोताओं के लिये अलग–अलग हो सकती है। वाच्यार्थ के संकेतित होने के कारण इसका स्वरूप और स्वभाव नियत है, परन्तु प्रकरणादि के कारण व्यङ्ग्य अर्थ अनियत स्वभाव और अनियत स्वरूप होता है।

(घ) निमित्त – वाच्य अर्थ का बोध शब्दज्ञान से और प्रकरण आदि की सहायता से हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रतिभा की निर्मलता से होती है।

(ङ) कार्य – वाच्य अर्थ का कार्य केवल वस्तु का ज्ञानमात्र कराना है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ से आनन्द रूप चमत्कार का आस्वादन होता है।

(च) प्रतीति – वाच्य अर्थ की प्रतीति केवल शब्दबोध मात्र है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शाब्दमय होने के साथ ही चमत्कारमय भी होती है।

(छ) काल – वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति बाद में होती है। यह कालभेद विद्यमान अवश्य होता है, चाहे वह संलक्ष्य हो या असंलक्ष्य।

(ज) आश्रय – वाच्य अर्थ का आश्रय शब्द या पद होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आश्रय शब्द, शब्द का अर्थ, शब्द का एक अंश, संरचना आदि सभी हो सकते हैं।

(झ) विषय – वाच्य अर्थ का विषय नियत होता है। वह संबोध्य व्यक्ति के लिये ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का विषय नियत भी हो सकता है, अनियत भी हो सकता है और सम्बद्ध भी हो सकता है।

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ इन हेतुओं के कारण एक नहीं हो सकते, वे भिन्न ही होते हैं। अतः ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

(३) अभिधा द्वारा अन्वित वाच्य अर्थ का ही बोध होता है, अनन्वित का नहीं। परन्तु प्रतीयमान अर्थ अन्वित भी हो सकता है। जैसे 'रुचिं कुरु' पद में अन्वित वाच्य अर्थ सर्वथा दोषरहित है, परन्तु पदों के मध्य में 'चिंकु' पद से अनन्वित अश्लील अर्थ का बोध होता है, जो प्रतीयमान है।

(४) संयोग आदि द्वारा अभिधा का नियन्त्रण होने से अनेकार्थक शब्दों से एक ही अभिधेय अर्थ का बोध होता है। परन्तु अनेक बार दूसरे अर्थ की भी प्रतीति होती है। यह दूसरा अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत होने के कारण व्यङ्ग्य होता है। भर्तृहरि ने संयोग आदि की गणना इस प्रकार की है–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

(क) संयोग – संयोग का अर्थ है प्रसिद्ध सम्बन्ध। जैसे – हरि शब्द का प्रयोग विष्णु, यम, वायु, शुक, कपि, इन्द्र, सिंह आदि अनेक अर्थों में होता है। परन्तु 'सशंखचक्रः हरिः' में हरि के साथ शंख और चक्र का संयोग होने से इसका वाच्य अर्थ विष्णु ही होगा।

(ख) वियोग – वियोग का अर्थ है प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव। 'अशंखचक्रः हरिः' में भी हरि का वाच्य अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि शंख और चक्र का वियोग विष्णु से ही हो सकता है।

(ग) **साहचर्य** – सदा साथ रहना। 'रामलक्ष्मणौ' पद में राम और लक्ष्मण से दशरथ पुत्र वाच्य अर्थ होंगे। राम के अनेक अर्थ–बलराम परशुराम, सुन्दर और दशरथ पुत्र राम है। लक्ष्मण के भी अनेक अर्थ–दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण, सारस और दशरथ पुत्र लक्ष्मण है किन्तु दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण का साहचर्य प्रसिद्ध होने से वे ही वाच्य अर्थ के रूप में ग्रहण होंगे।

(घ) **विरोधिता** – प्रसिद्ध वैर सम्बन्ध। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' में राम और अर्जुन के अनेक अर्थ होने पर भी यहाँ परशुराम कार्तवीर्य अर्जुन का बैर सम्बन्ध प्रसिद्ध होने से वाच्य अर्थ के रूप में वे ही ग्रहण किये जायेंगे।

(ङ) **अर्थ** – अनन्यथासाध्य फल। 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' में संसार की बाधा का हरण शिव द्वारा ही सम्भव होने से स्थाणु के अनेकार्थक होने पर भी इसका वाच्य अर्थ शिव ग्रहण होगा।

(च) **प्रकरण** – वक्ता और श्रोता की बुद्धि में किसी बात का स्थित रहना। 'सर्वं जानाति देवः' वाक्य में देव शब्द के अनेकार्थक होने पर भी प्रकरण के कारण इसका वाच्य अर्थ सम्मुख स्थित राजा ही होगा, क्योंकि यह अर्थ ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि में स्थित है

(छ) **लिङ्ग** – असाधारण धर्म। 'कुपितो मकरध्वजः' वाक्य में मकरध्वज के अनेकार्थक होने पर भी इसका वाच्य अर्थ कामदेव होगा, क्योंकि कामदेव की ध्वजा में मकर का चिह्न प्रसिद्ध है। कोप कामदेव में ही सम्भव हो सकता है, मकरध्वज के दूसरे अर्थ समुद्र में नहीं।

(ज) **अन्य शब्द की सन्निधि** – अनेकार्थक शब्द – किसी अर्थ का वाचन करने वाले अन्य शब्द का समीप होना। 'देवस्य पुरारातेः' में देव अनेकार्थक है। पुरारति शब्द का अर्थ शिव नियत है। अतः पुरारति शब्द से सान्निध्य के कारण देव का वाच्य अर्थ शिव होगा।

(झ) **सामर्थ्य** – कारणता या समर्थता। 'मधुना मत्तः कोकिलः' में मधु पद के अनेक अर्थ हैं। परन्तु कोकिल को मत्त करने की समर्थता या कारणता केवल बसन्त ऋतु में है। अतः यहाँ मधु का वाच्य अर्थ बसन्त ऋतु होगा।

(ञ) **औचिती** – औचित्य या योग्यता। 'पातुं वो दयितामुखम्' वाक्य में मुख पद के अनेकार्थक होने पर भी इसका वाच्य अर्थ अनुकूलता ही होगा, क्योंकि प्रियतमा की अनुकूलता ही इस प्रेमी की रक्षा करने की योग्यता रखती है।

(ट) **देश** – स्थान विशेष का नाम। 'भात्यत्र परमेश्वरः' वाक्य में परमेश्वर शब्द के अनेकार्थक होने पर इसका वाच्य अर्थ राजा होगा, क्योंकि अत्र पद द्वारा निर्दिष्ट राजधानी में राजा ही शोभायमान हो सकता है।

(ठ) **काल** – दिन, रात्रि आदि समय विशेष। 'चित्रभानु' पद अनेकार्थक है। परन्तु 'चित्रभानुर्विभाति' वाक्य को यदि दिन में कहा जावे तो इस पद का वाच्य अर्थ सूर्य तथा रात्रि में कहा जावे तो वाच्य अर्थ अग्नि होगा।

(ड) **व्यक्ति** – पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग। मित्र पद के अनेक वाच्य अर्थ हैं। परन्तु इसका 'मित्रो भाँति' इस प्रकार पुल्लिंग में प्रयोग करने पर सूर्य अर्थ होगा तथा 'मित्रं भाति' इस प्रकार नपुसंकलिंग में प्रयोग करने पर वाच्य अर्थ सुहृद् होगा।

(ढ) **स्वर** – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। 'इन्द्रशत्रुः' पद को यदि आद्युदात्त रूप से पढ़ा जावे तो इसका वाच्य अर्थ बहुव्रीहि समास में – इन्द्र शत्रुः शातयिता यस्य' होगा। अन्तोदात्त रूप से पढ़ने पर इस पद का वाच्य अर्थ तत्पुरुष समास में 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता होगा।

इस प्रकार प्रकरण आदि द्वारा अभिधा के नियन्त्रित हो जाने से अनेकार्थक शब्दों में वाच्य अर्थ निश्चित हो जाता है। परन्तु व्यञ्जना का नियन्त्रण नहीं होता और इससे दूसरे अर्थ की प्रतीयमान रूप में प्रतीति हो जाती है। इसलिये ध्वनि का समावेश अभिधा के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।

(५) ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये लक्षणा का प्रयोग किया जाता है जैसे 'गङ्गायां घोषः' पद का वाच्य अर्थ 'गंगा का प्रवाह' बाधित है, क्योंकि घोष की स्थिति गंगा के प्रवाह में नहीं हो सकती। अतः वाच्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा 'गंगायाम्' का अर्थ 'गंगातटे' करते हैं। यहाँ 'गंगातटे' न कहकर 'गंगायाम्' कहने का अर्थ लक्षणा प्रयोग करने का एक विशेष प्रयोजन है कि घोष में गंगा के धर्म शीतलत्व, पावनत्व आदि की प्रतीति हो। इस वाक्य में गंगा पद का गंगातट अर्थ तो लक्षणा द्वारा विदित होता है। परन्तु शीतलत्व आदि धर्मों की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती, वह व्यञ्जना द्वारा ही होती है। अतः लक्षणा का प्रयोग सदा प्रयोजन की प्रतीति के लिये होता है तथा वह प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है

यह प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि गंगा पद शीतलत्व आदि अर्थों का साक्षात् संकेत नहीं करता। शीतलत्व आदि अर्थों के बाधित न होने से तथा हेतुमय के विद्यमान न होने से उनकी प्रतीति लक्षणा द्वारा भी नहीं हो सकती–

नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा। लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।। –का० प्र० २ पृ० १६।।

यदि यहाँ प्रयोजन आदि को लक्ष्य अर्थ मान भी लिया जावे, तो अन्य प्रयोयजनों की कल्पना करनी पड़ेगी और इससे अनवस्था दोष होगा–

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।। –का० प्र० २.१७।।

कुछ समालोचक कह सकते हैं कि प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा हो सकता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा हो जाने से ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में हो सकेगा। इसका उत्तर ध्वनिवादी देते हैं–प्रयोजन से युक्त लक्ष्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हों सकती, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान का फल तथा ज्ञान का विषय एक नहीं होते, परन्तु अलग–अलग होते हैं। जिस प्रकार घट ज्ञान का विषय है तथा उसमें उत्पन्न ज्ञातता या संवित्ति ज्ञान का फल है और ये दोनों अलग–अलग हैं, इसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्य अर्थ है और इसका फल प्रयोजन है। लक्ष्य और प्रयोजन क्योंकि अलग–अलग होते हैं–

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते। ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।। –का० प्र० २.१७–१८।।

इसलिये प्रयोजन से विशिष्ट अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं हो सकता।

(लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ का भेद)

(६) लक्ष्य अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ एक नहीं होते, अर्थात् इनमें भेद होता है। इनका भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

(क) यद्यपि लक्ष्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ के समान अनेक प्रकार का होता है, तथापि वह वाच्य अर्थ से सम्बद्ध होता है। वाच्य अर्थ से अनियतसम्बन्ध लक्ष्य अर्थ का बोध नहीं हो सकता। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से नियत–सम्बन्ध, अनियत–सम्बन्ध और सम्बद्ध–सम्बन्ध हो सकता है।

(ख) मुख्यार्थ–बाधा होने पर ही लक्षणा से लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थ बाधा और लक्षणा के अभाव में भी हो सकती है।

(ग) लक्षणा के व्यापार में प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु व्यञ्जना के व्यापार में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये किसी अन्य शक्ति का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती।

(घ) जिस प्रकार अभिधा संकेत पर निर्भर होती है, उसी प्रकार लक्षणा को मुख्यार्थबाधा आदि तीन हेतुओं की अपेक्षा होती है।

(ङ) लक्षणा व्यापार से व्यञ्जना व्यापार सर्वथा भिन्न होता है। व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर ही हो, क्योंकि अभिधा के आश्रय से भी, बिना लक्षणा के ही व्यञ्जना व्यापार से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। लक्षणा और अभिधा के बिना भी, अवाचक वर्णों से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है तथा वर्णों के बिना भी कटाक्ष आदि संकेतों से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

इस प्रकार लक्षणा व्यापार एवं लक्ष्य अर्थ के व्यञ्जना व्यापार एवं व्यङ्ग्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

(७) रस आदि का अनुभव अभिधा तथा लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। इसके अनुभव के लिये व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना ही होगा। अभिधा और लक्षणा से उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, जो प्रत्यय आदि के अनुभव से पूर्वसिद्ध हों। परन्तु रसरूप वस्तु के अनुभव से पहले विद्यमान न होने से उसमें पूर्वसिद्धता न होने के कारण इसका बोध अभिधा और लक्षणा से नहीं हो सकता। लक्षणा से भी केवल उसी अवस्था में लक्ष्य अर्थ का बोध होता है, जब मुख्यार्थबाधा हो। रस की प्रतीति में मुख्य अर्थ की बाधा न होने से लक्षणा का प्रयोग नहीं हो सकेगा–

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे। किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा।। –सा० द० ५.३

अतः अभिधा या लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(८) व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा भी नहीं की जा सकती। अर्थात् प्रतीयमान अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता। अनुमिति के पक्ष का प्रतिपादन महिमभट्ट ने किया था। उनके अनुसार ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा हो जाती है, अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। इसी को सिद्ध करने के लिये उसने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा था–

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। –व्यक्तिविवेक।।

उसने कहा कि ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिये जिस व्यञ्जकता सामग्री को स्वीकार किया था, वही सामग्री अन्ततोगत्वा अनुमिति के पक्ष में सिद्ध होती है।

महिमभट्ट ने ध्वनिकार के 'भम धम्मिअ०' उदाहरण में निषेधरूप अर्थ का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया। इसमें 'गोदावरी तीर' पक्ष 'भीरुभ्रमण का निषेध, साध्य और 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि' हेतु है। महिमभट्ट ने कहा कि 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि' हेतु से 'गोदावरी तीर' पर धार्मिक के भ्रमण के निषेध रूप' साध्य का अनुमान हो सकेगा।

परन्तु महिमभट्ट का यह पक्ष स्वयं खण्डित हो जाता है। वह हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है, जो कि एकान्तिक हो, अविरुद्ध हो, नियत हो और सिद्ध हो। 'भय के कारण सिंह की उपलब्धि रूप' हेतु में अनैकान्तिकता, विरुद्धता, अनियतता और असिद्धता दोषों के होने के कारण इस हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती और इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना होगा।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है कि व्यञ्जना वृत्ति से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ रस आदियों की प्रतीति कराने में अनुमान समर्थ नहीं है। इस के अनुमेय होने में अनुमितिवादियों ने जो हेतु दिये हैं, वे हेतु नहीं हैं अपितु हेत्वाभास हैं। रस का स्मृति का विषय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति तो पूर्व अनुभव का संस्कार रूप प्रबोध है तथा रस साक्षात्स्वरूप होते हैं–

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम्। आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः।। –सा० द० पृ० ।।

प्रतीयमान अर्थ को अनुमान में अन्तर्भावित करने का पहला प्रयत्न महिमभट्ट का नहीं था। आनन्दवर्धन से पूर्व या उनके समय में भी यह प्रश्न उठा था कि प्रतीयमान अर्थ अनुमेय हो सकता है। ध्वनिकार ने तृतीय उद्योत में इस प्रश्न को उठाकर इसका समाधान किया है। वे प्रश्न उठाते हैं'

"यहाँ व्यञ्जकत्व को अस्वीकार करने का अवसर है। शब्दों का जो व्यञ्जकत्व है, वह ही गमकत्व है और वह ही लिंगत्व है। अतः व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लिंगी की प्रतीति है। अतः यहाँ शब्द और अर्थ में लिङ्गलिङ्गिभाव है, व्यङ्ग्य–व्यञ्जकत्वभाव नहीं है। क्योंकि ध्वनिकार द्वारा वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व प्रतिपादित किया गया है और वक्ता का अभिप्राय अनुमेय ही होता है।"

इसका ध्वनिकार उत्तर देते हैं–"यदि ऐसा भी है तो हमारा क्या बिगड़ गया। अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना नाम का व्यापार है, यह हमने स्वीकार किया है। उनको चाहे व्यञ्जकत्व कह लो या लिंगत्व कह लो। प्रसिद्ध अभिधा और लक्षणा से विलक्षण वह शब्द–व्यापार है। अतः हमारा और आपका इस विषय में विवाद नहीं है।"

परन्तु यह उत्तर तो वास्तविक नहीं हुआ। वास्तविक उत्तर ध्वनिकार इस प्रकार देते हैं–"यह बात तथ्य नहीं है कि सब स्थानों पर व्यञ्जकत्व लिंगत्व ही हो और व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्ग की प्रतीति हो। हमने जो यह कहा कि वक्ता का अभिप्राय ही व्यङ्ग्य की प्रतीति है तथा आपने हमारे उस कथन का अनुवाद कर दिया, तो इस विषय में स्थिति इस प्रकार है–

शब्दों के विषय दो प्रकार के होते हैं–अनुमेय और प्रतिपाद्य। इनमें अनुमेय विवक्षारूप है और यह विवक्षा दो प्रकार की होती है–शब्द के स्वरूप के प्रकाशक की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशक की इच्छा। इनमें पहली विवक्षा शब्द के व्यवहार (शाब्दबोध) की अंग नहीं है। प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति ही उसका फल है। दूसरी विवक्षा शब्द विशेष (वाचक आदि शब्द) के अवधारण से व्यवसित (समाप्त) एवं व्यवहित होने पर भी शाब्दबोध के व्यवहार का अंग होती है। शब्दों के ये दोनों विषय अनुमेय होते हैं।

प्रतिपाद्य विषय है–प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ। वह दो प्रकार का होता है–वाच्य और व्यङ्ग्य। प्रयोक्ता कभी तो अपने वाचक शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष के कारण अपने शब्द से अनभिधेय रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है। शब्दों का यह दोनों प्रकार का प्रतिपाद्य विषय अनुमेय रूप से स्वतः प्रकाशित नहीं होता अपितु कृत्रिम सङ्केतादि रूप से और अकृत्रिम अभिधा व्यञ्जना रूप से प्रकाशित होता है। शब्दों के द्वारा इस अर्थ का विवक्षा विषयत्व तो अनुमेय रूप में प्रतीत हो सकता है, परन्तु इस अर्थ का स्वरूप से प्रतीत नहीं होता।

यदि अर्थ के विषय में शब्दों का व्यापार अनुमान के रूप में हों, तो शब्दों के अर्थ करने में सम्यक्, मिथ्या आदि प्रतीति के विवाद प्रवर्तित न हों, जिस प्रकार धूम से अग्नि के अनुमान करने में वे प्रवर्तित नहीं होते। परन्तु क्योंकि वे विवाद होते हैं, अतः शब्दों के अर्थ सदा अनुमेय नहीं होते।

व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण वाच्य के समान ही शब्द का भी सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध साक्षात् रूप से या असाक्षात् (परम्परा) रूप से हो सकता है। व्यञ्जकत्व का आश्रय वाच्यवाचकभाव होता है। जब यह सम्बन्ध साक्षात् रूप से है, तब अर्थ अनुमेय हो सकता है, जब सम्बन्धान्तर हो तो यह व्यङ्ग्य ही होगा।

काव्यों में व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर उसके सत्य और असत्य की परीक्षा, असत्य प्रमाणों से नहीं की जाती। अतः लिङ्गी की प्रतीति ही सब स्थानों पर व्यङ्ग्य की प्रतीति है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

शब्दों की व्यञ्जकता अनुमेय रूप व्यङ्ग्य का विषय है, यह बात ध्वनि के व्यवहार की प्रयोजक नहीं है। इसके अतिरिक्त शब्द अर्थ के सम्बन्ध को औत्पत्तिक (नित्य) मानने वाले मीमांसकों को भी शब्दों के व्यञ्जकत्व रूप व्यापार को स्वीकार करना चाहिये यह व्यञ्जकत्व कभी तो लिङ्गी रूप से और कभी अन्य रूप से (अभिव्यक्ति रूप से) वाचक और अवाचक सभी शब्दों का होता है इस हमको स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय प्रतिपादित करने का खण्डन किया। आनन्दवर्धन के पश्चात् महिमभट्ट ने जो अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया था, उसका खण्डन मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य की समालोचना में जिस ध्वनि के मार्ग को प्रवर्तित किया था, उसका समर्थन तथा उनके विरोधियों का खण्डन होकर ध्वनि के सिद्धान्त को सर्वसम्मत रूप से स्वीकार कर लिया गया।

८. ध्वनि की मूल प्रेरणा

ध्वनि के सिद्धान्त की मूल प्रेरणा ध्वनिकार ने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से ग्रहण की थी। ध्वनि के लक्षण (१.१३) में **'सूरिभिः कथितः'** पदों की व्याख्या करते हुये आनन्दवर्धन का कहना है कि यह ध्वनि का सिद्धान्त यों ही अप्रामाणिक रूप से प्रचलित नहीं हो गया है, परन्तु विद्वानों ने इस उक्ति को प्रारम्भ किया था। सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण हैं। वे सुनाई देने वाले वर्णों में ध्वनि संज्ञा का व्यवहार करते हैं। वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थतत्त्वविद् समालोचकों ने उनके अनुसार ही वाच्य, वाचक, सम्मिश्र (व्यङ्ग्य अर्थ), व्यञ्जना व्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा है।

वैयाकरणों से ही ध्वनिवादियों ने ध्वनि के सिद्धान्त को ग्रहण किया था, इसकी पुष्टि आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में की। 'बुधैः कथितः' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा—बुध का अभिप्राय वैयाकरणों से है। उन्होंने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य को व्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले दूसरे साहित्यशास्त्रियों ने भी वाच्य अर्थ का तिरस्कार करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा।

> **इदमितिकाव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।** —काव्यप्रकाश १.४ की वृत्ति।।

प्राचीन काल से ही व्याकरण को शास्त्रों का मूल कहा जाता रहा है और किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य रहा है। भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण सब शास्त्रों का दीपक है। इन वैयाकरणों ने सुनाई देने वाले शब्दों को ध्वनि माना तथा ध्वनिवादियों ने शब्दार्थयुगल को।

ध्वनि का आधार 'स्फोटवाद' से प्रारम्भ होता है। स्फोट पद की व्युत्पत्ति है—**"स्फुटयति अर्थः यस्मादिति स्फोटः।"** अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है, वह स्फोट है। स्फोटवाद एक दर्शन कहा जाता है। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रारम्भ कब हुआ। तथापि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सूत्र 'अवङ्—स्फोटायनस्य' (६.१.१२३) के द्वारा स्फोटायन आचार्य को प्रथम प्रतिपादक कहा जाता है। स्फोटायन की व्याख्या 'काशिका' की 'पदमञ्जरी' टीका में हरदत्त ने इस प्रकार की है—**"स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।"**

स्फोटवाद के अनुसार शब्द नित्य है। पाणिनि, यास्क, कात्यायन और पतञ्जलि ने भी शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है। वैयाकरण शब्द को नित्य, एक और अखण्ड मानते हैं।

पतञ्जलि के अनुसार शब्दों का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है और श्रोत्र के द्वारा प्राप्त होता है जो कि आकाश का स्थान है। **(श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।** —महाभाष्य आह्निक—२।।) हमारे कर्णप्रदेश में जो आकाश है, उसी में शब्द की प्राप्ति होती है। परन्तु इस प्रसंग में एक प्रश्न उत्पन्न होता है। किसी भी शब्द की रचना वर्णों द्वारा होती है। शब्द का उच्चारण करने पर क्रमशः वर्णों का उच्चारण होता है और वे वर्ण क्रमशः कर्ण के आकाश देश में पहुँचते हुये बुद्धि द्वारा गृहीत होते हैं। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुँचने के पश्चात् द्वितीय वर्ण के पहुँचने पर प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द का उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण ही शेष रह जाता है। इस अन्तिम वर्ण से शब्द के अर्थ की प्रतीति कैसे हो ? यदि यह कहा जाये कि इस अन्तिम वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति होती है, तो पूर्व वर्णों की व्यर्थता सिद्ध होती है; तथा यह कहा जावे कि सभी वर्णों के समुदाय से अर्थ की प्रतीति होती है, तो शब्द का उच्चारण करने पर सब वर्ण उपस्थित नहीं रहते। उदाहरण के रूप मे "गौः" शब्द को ले सकते हैं।

'गौः' पद में तीन वर्ण हैं 'ग', 'औ', और 'विसर्ग (:)'। उच्चारण करने पर इनकी स्थिति एक साथ नहीं हो सकती। 'ग्' का उच्चारण करने के बाद 'औ' वर्ण का उच्चारण करने पर 'ग्' वर्ण नष्ट हो जाता है तथा विसर्ग (:) का उच्चारण करने पर 'औ' वर्ण नष्ट हो जाता है। इस विसर्ग से अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर 'स्फोटवाद' द्वारा दिया गया है। शब्द क्योंकि बुद्धि से ग्रहण किये जाते हैं, अतः 'ग्' और 'औ' का उच्चारण करने के अनन्तर 'विसर्ग (:)' का उच्चारण करने पर इन पहले वर्णों के नष्ट हो जाने पर भी इनका संस्कार बुद्धि में बना रहता है। अन्तिम वर्ण का अनुमान पूर्व वर्णों के संस्कारों के साथ मिलकर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। पतञ्जलि के अनुसार यह शब्द स्फोट है तथा ध्वनि उसका गुण है। आचार्य भर्तृहरि ने ग्रहीता शब्दों में दो शब्द माने हैं, एक तो निमित्त है तथा दूसरा अर्थ को प्रयुक्त करता रहता है—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः। एकौ निमित्तं शब्दानामपरेऽर्थो प्रयुज्यते।।

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरूपजन्यते। सः स्फोटः शब्दजाशब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।। –वाक्यपदीय

अभिप्राय यह है कि श्रोता की बुद्धि में अन्तिम वर्ण सहित सम्पूर्ण शब्द स्फोट रूप में विद्यमान रहता है, यह ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है, यह ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक है अर्थ का बोध कराती है। स्फोट व्यंङ्ग्य होता है तथा ध्वनि व्यञ्जक है। यदि इसको सूक्ष्मता से देखा जाये तो अन्तिम वर्ण का अनुरणन ही ध्वनि है, जो कि पूर्व वर्णों के संस्कार सहित अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ सम्पूर्ण शब्द के अर्थ का बोध कराती है।

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप को भर्तृहरि ने और भी अधिक स्पष्ट किया है–

"जो इन्द्रियों के (जिह्वा आदि के) संयोग और वियोग से उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है और इस स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं।

इसको हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। शब्दों की उत्पत्ति इन्द्रियों के संयोग या वियोग से होती है। मुख में जिह्वा, तालु, दांत आदि इन्द्रियों के परस्पर टकराने या अलग होने से शब्द उच्चरित होते हैं। परन्तु जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह श्रूयमाण नहीं होता। उच्चरित शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होने से पूर्व यह तरंगों के रूप में एक नये शब्द को उत्पन्न कर देता है, जो कि चारों ओर फैल जाती है। यह नष्ट होकर और अधिक व्यापक शब्द तरंग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इन शब्द तरंगों का विस्तार क्रमशः बढ़ता जाता है, जो कि अन्त में श्रोता के कर्णविवर में प्रवेश करती है। यह स्थिति उसी प्रकार की है, जैसे जल में पत्थर फैंकने पर एक जलतरंग का घेरा उत्पन्न होता है, वह घेरा और बडी जलतरंग के घेरे को उत्पन्न करता है और अन्त में वर्तुलाकार जलतरंग सम्पूर्ण सरोवर को व्याप्त कर लेती है। इसको 'वीचीसन्तानन्याय; कहते हैं। इस प्रकार स्फोट के अनुरणन रूप यह ध्वनि स्फोट रूप शब्द के अर्थ को प्रकट करती है। इसी को भर्तृहरि ने और भी स्पष्ट किया है –

प्रत्ययैयरनुपाख्येयैग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।। – वाक्यपदीय।

अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा स्फोट रूप शब्द के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि स्फोट श्रूयमाण वर्णरूप ध्वनियों से ग्रहण के अनुकूल है और अनिर्वचनीय प्रत्ययों द्वारा ग्रहण करके प्रकाशित किया जाता है और इससे स्फोट के स्वरूप का अवधारण होता है। इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं। स्फोट व्यंङ्ग्य है एवं ध्वनि व्यञ्जक है।

स्फोट की स्थिति बुद्धि में उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि स्थित रहती है। जिह्वा, कण्ठ, तालु आदि इन्द्रियों के संयोग एवं वियोग से अभिव्यक्त होकर यह ध्वनि की स्थिति में आता है। जिस प्रकार काष्ठ की रगड़ से उत्पन्न अग्नि स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा व्यञ्जित स्फोट अपने को प्रकाशित करके अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य है, इसीलिये विशिष्ट ध्वनि से विशिष्ट स्फोट रूप शब्द का प्रकाशन होता है। स्फोट में स्वयं में क्रम तथा भेद नहीं होता, इसमें क्रम और भेद की प्रतीति ध्वनि द्वारा होती है।

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद किये हैं प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि मौलिक ध्वनि है और वैकृत ध्वनि उसका अनुरणन रूप है। प्राकृत ध्वनि में वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि स्वरूप रहते हैं, परन्तु उसमें कालभेद का आरोप वैकृत ध्वनि से होता है। कभी शब्द को तीव्र गति से (द्रुत), कभी मध्यम गति से (मध्य) और कभी धीरे–धीरे (विलम्बित) पढ़ा जाता है। ये द्रुत, मध्य और विलम्बित गतियां वैकृत ध्वनि के रूप में होती है। प्राकृत ध्वनि से स्फोट का ग्रहण होता है, जो कि काल भेद से रहित है तथा इसको स्फोट का प्रतिबिम्ब कहा गया है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् उत्पन्न होने वाली काल भेद से युक्त वैकृत ध्वनि उत्पन्न होती है।

इस प्रकार वैयाकरणों ने स्फोट रूप शब्द को अभिव्यक्त करने वाले ध्वनिरूप शब्द को, जो कि प्राकृत और वैकृत दो प्रकार का है, ध्वनि कहा है–

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते। वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।। –वाक्यपदीय

उनका अनुकरण करते हुये साहित्याचार्यों ने प्रसिद्ध अभिधा एवं लक्षणा नामक व्यापारों से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यञ्जक व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि कहा। इसके साथ ही वाचक शब्द, वाच्य अर्थ एवं व्यङ्ग्य अर्थ द्वारा भी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यञ्जना करने के कारण इनको ध्वनि कहा है। काव्य में क्योंकि ये सभी तत्त्व समुदाय रूप में रहते हैं, अतः उसको भी ध्वनि कहा गया है;

६. ध्वनि शब्द का अर्थ

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है–

(१) **ध्वनति इति ध्वनिः।** (२) **ध्वन्यते इति ध्वनिः।** (३) **ध्वननं ध्वनिः।**

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंग्य अर्थ ध्वनि है और तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियाँ क्योंकि काव्य में रहती हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को ध्वनि नाम दिया है–

> **वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।** –ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति से।

इन पाँच प्रकार की ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"इसलिये वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वनन व्यापार करता है। विभाव–अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है "शब्दनं शब्दः', अर्थात् शब्द का व्यापार भी ध्वनि है, जो कि अभिधा आदि के स्वरूप वाला नहीं है, अपितु आत्मभूत है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त ध्वनि के चारों प्रकार निहित रहते हैं–

> **तेन वाच्योऽपिध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः ध्वन्यते इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः न चासावभिधारूपः, अपित्वात्मभूतः सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्।।** –ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति की लोचनटीका से।।

इस प्रकार यहाँ ध्वनि की संज्ञा केवल काव्य को नहीं, अपितु शब्द, अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचों को दी गई है। आचार्य विश्वेश्वर ने इन पाँचों में ध्वनित्व की व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखाई है–

(१) **ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः** – जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

(२) **ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः** – जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

(३) **ध्वन्यते इति ध्वनिः** – जो ध्वनित किया जावे वह ध्वनि है। इसमें रस, अलंकार और वस्तु – व्यंग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

(४) **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः** – जिसके द्वारा ध्वनित किया जावे, वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार, व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(५) **ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः** – जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहतें हैं।

शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचों को ध्वनि संज्ञा से व्यवहृत करते हुये भी ध्वनिकार ने ध्वनि की परिभाषा में काव्य को मुख्य बताया है। इनका कथन है कि जहाँ वाचक शब्द स्वयं को और अपने अर्थ को तथा वाच्य अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहते हैं। ध्वनिकार के इस प्रतिपादन का समर्थन उत्तरवर्ती मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया। इन आचार्यों के अनुसार ध्वनि वह काव्य होता है, जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय (आधिक्य) होता है। ध्वन्यालोक के ध्वनिकाव्य के लक्षण (१.१३) की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त ने भी काव्य को ही मुख्य रूप से ध्वनि प्रतिपादित किया है–

> **अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।**
> –ध्वन्यालोक १.१३ वृत्ति पर लोचनटीका।

इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार वाचक शब्द, अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पाँचों को ध्वनि कहा गया है। इनमें भी काव्य को मुख्य रूप से ध्वनि कहा गया है।

१०. ध्वनिकाव्य का लक्षण

ध्वनिकाव्य की परिभाषा सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने की थी जो इस प्रकार है :–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

इसी की आगे वे व्याख्या करते हैं–यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

जहाँ वाचक शब्द अपने आपको तथा अपने अर्थ को और वाच्य अर्थ अपने स्वरूप को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ का अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का लक्षण प्रतीयमान और वाच्य अर्थ के अतिशय के आधार पर किया जाना चाहिये। काव्य में दो प्रकार के अर्थ होते हैं–वाच्य और प्रतीयमान। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित है, तब वह काव्य ध्वनि होगा। यदि वह अतिशयित नहीं, तब वह काव्य ध्वनि नहीं होगा, उसको गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहेंगे। यद्यपि वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही अर्थ सहृदयश्लाघ्य हैं, तथापि इन दोनों में प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्त्व है। यह काव्य के प्रसिद्ध अंग शब्द और अर्थ से भिन्न कोई अलौकिक ही वस्तु है, जो कि काव्य में उसी प्रकार निहित रहता है, जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य निहित है–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। –ध्वन्यालोक १.४।।

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ में चमत्कार का, चारुत्व का अतिशय होता है। इसको ध्वनिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।"

वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में प्रधानता या अतिशयता उनके चारुत्व के अतिशय के कारण होती है। अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक हो वहाँ वाच्य अर्थ अतिशयित होता है और जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ का चारुत्व अधिक हो, वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है।

ध्वनिकार ने इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर काव्य के दो मुख्य भेद किये–ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य। उन्होंने यह भी बताया कि जिस काव्य में प्रतीयमएन अर्थ की विवक्षा नहीं है, अपितु शब्दालंकारों या अर्थालंकारों का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये कवि काव्य की रचना करता है, वह चित्रकाव्य होता है। वस्तुतः आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को काव्य की संज्ञा नहीं देना चाहते उसको वे काव्य की अनुकृतिमात्र समझते हैं तथा ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य को ही काव्य प्रतिपादित करते हैं–

ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्याप्रख्य यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।। –ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति से

आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार ध्वनि का लक्षण किया, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने उसका प्रायः अनुकरण किया। इनमें मम्मट ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार किया–

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद ध्वनिर्बुधैः कथितः। काव्यप्र० १.४।

जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है, तो यह उत्तम काव्य कहलाता है। इसी को विद्वान् मनुष्य ध्वनि कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुये वे कहते हैं–**"न्यग्भावितवाच्य- व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्यध्वनिरिति व्यवहारः कृतः"**। अर्थात् वाच्य अर्थ को तिरस्कृत करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ को व्यञ्जित करने में समर्थ शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा जाता है

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये हैं। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित है, वह उत्तम ध्वनि काव्य है। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित नहीं होता, अर्थात् वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक है या दोनों अर्थों का चारुत्व समान है, वह मध्यम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है– **(अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।।** –काव्यप्रकाश १.५।।) जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है, शब्दालंकार या अर्थालंकार के चमत्कार को प्रदर्शित किया गया है, उसको चित्रकाव्य कहते हैं, जो शब्दचित्र एवं वाच्यचित्र दो प्रकार का है और अधम कहा गया है।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।। –काव्यप्रकाश १.५

इस प्रकार मम्मट ने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर काव्य के स्पष्ट रूप से तीन भेद–ध्वनि (उत्तम काव्य), गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) तथा चित्र (अधम) काव्य स्वीकार किये हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेद प्रदर्शित करने में प्रतीयमान अर्थ का आधार लेकर मम्मट का अनुसरण तो किया, परन्तु कुछ भेद भी कर दिया है। उन्होंने काव्य के तीन के स्थान पर चार भेद किये। जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी अपूर्व अर्थात् चमत्कारी अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह प्रथम उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य है।

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार को उत्पन्न करता है, वह दूसरा उत्तम गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है। जहाँ व्यङ्ग्य के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलंकार चमत्कृति का हेतु है, यह तीसरा मध्यम अर्थचित्र काव्य है। जहाँ अर्थ के चमत्कार उपस्कृत शब्दालंकार की चमत्कृति है, वह चौथा अधम शब्दचित्र काव्य है।'

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्। यत्रव्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्। यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्। यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्। -रसगंगाधर प्रथम आनन।

विश्वनाथ ने भी काव्य के भेद प्रतिपादित करने में आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुये प्रतीयमान अर्थ को आधार बनाया। उसके अनुसार उत्तम काव्य वह है, जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अतिशयित होता है। उसी को ध्वनि कहते हैं। (**वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।।** –सा० द० ४.२) दूसरा काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य है, जहाँ कि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं है। (**अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।** –सा० द० ४.१३)।

विश्वनाथ के अनुसार काव्य वह वाक्य है, जो रसात्मक है। (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।। –सा० द० १.३)। चित्रकाव्य में अलंकारों का ही चमत्कार होने के कारण रसात्मकता नहीं होती। अतः उन्होंने चित्रकाव्य में काव्यत्व नहीं माना। परन्तु ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य, इन दोनों प्रकार के काव्यों में रस के व्यङ्ग्य होने से रसात्मकता विद्यमान रहती है, अतः इन दोनों में काव्यत्व निहित रहता है। इस प्रकार काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य, इन दो भेदों के करने में विश्वनाथ ने ध्वनिकार का ही आश्रय लिया है।

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है तथा उसके ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो भेद किये हैं। अर्थात् इन दोनों ही काव्यों में रसात्मकता होती है। इन पर यह आक्षेप किया जाता है कि जिस काव्य में वाक्य का जीवनाधायक तत्त्व रस है, उसमें व्यङ्ग्य के वाच्य की अपेक्षा अतिशयित होने या न होने की बात निस्सार सी है। वह काव्य स्वयं ही रसाभिव्यञ्जक होने के कारण चाहे ध्वनि कहा जाये या गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जावे सहृदयाह्लादक होगा। अतः विश्वनाथ द्वारा काव्य के इन दो भागों का प्रतिपादन प्राचीन काव्यशास्त्र की परम्परा का अनुसरण मात्र ही है। वस्तुतः रस आदि के तात्पर्य से जब काव्य का निबन्धन किया जाता है तो गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनिकाव्य में भेद ही क्या रह जाता है। रसादि के तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को भी आनन्दवर्धन ने ध्वनि रूप ही कहा है–

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्। धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।। –ध्वन्यालोक ३.४१

ध्वनि के तीन भेद हैं–वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। आनन्दवर्धन की दृष्टि में काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि से ही हो सकते हैं। जहाँ रसध्वनि है, अर्थात् जिस काव्य की रचना रसादि के तात्पर्य से नियोजित होती है, वह सदा ध्वनि होता है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य का जो लक्षण किया, उसी का अनुसरण उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया तथा उनके अनुसार ध्वनिकाव्य वह है, जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय अभिव्यंजित होता है। यह अतिशय चारुत्व के उत्कर्ष की अपेक्षा से विवक्षित होता है। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का चारुत्व अधिक है, वह काव्य ध्वनिकाव्य कहलाता है। परन्तु जो काव्य रसादि के तात्पर्य से निबन्धित होता है, वह सदा ध्वनिरूप ही होता है।

११. ध्वन्यालोक ग्रन्थ का स्वरूप तथा इसका प्रतिपाद्य विषय

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ को चार विभागों (उद्योतों) में विभक्त किया गया है। विषय के प्रतिपादन के लिये इसका लेखन तीन प्रकार से है–कारिकायें, वृत्ति और उदाहरण। 'ध्वन्यालोक' में कितनी कारिकायें हैं, यह विवादास्पद है। अनेक पाठभेद मिलते हैं। कारिका और वृत्ति के शुद्ध पाठों के सम्बन्ध में मतभेद हैं। काव्यमाला प्रथम संस्करण के अनुसार इसमें १२६ कारिकायें हैं। पी०वी० काणे के अनुसार निर्णय सागर प्रैस से काव्यमाला सीरीज में ध्वन्यालोक लोचन के ६० वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था जो तीन हस्तलिखित प्रतिलिपियों पर आधारित था, उसका मूल पाठ एवं लोचन दोनों ही अशुद्ध थे। कलकत्ता संस्कृत सीरीज ने समस्त ध्वन्यालोक मधुसूदन मिश्र द्वारा विरचित अवधान नामक टीका के साथ प्रकाशित किया किन्तु वह काव्यमाला संस्करण की ही प्रतिलिपि जान पड़ता है। जैकोबी ने जर्मन भाषा में अनुवाद किया उनकी पाठ शुद्धि तथा अन्य बातों के लिए सुझाव उत्तरवर्ती विद्वानों ने स्वीकार कर लिये हैं। काव्यमाला में कुछ श्लोकों के विषय में मूल कारिका होने में अनेक विद्वानों को सन्देह है। प्रो० भट्टाचार्य का कथन है कि चतुर्थ उद्योत की कारिकाएं बाद में जोड़ी गई हैं, द्वितीय उद्योत के १८–२० श्लोकों को भी मूलकारिकाओं में रखना उचित नहीं जान पडता। निर्णय सागर द्वारा प्रकाशित तीन उद्योतों में जो ११२ श्लोक हैं उनमें उपरोक्त आठ को छोड़कर शेष सभी अनुष्टुब छन्द में हैं, किन्तु चतुर्थ उद्योत के १७ श्लोकों में अन्तिम तीन क्रमशः रथोद्धता, मालिनी तथा शिखरिणी छन्दों में हैं इसके अतिरिक्त काव्यमाला संस्करण के पृष्ठ २६७ पर एक खण्डित प्राकृत गाथा छपी है। डा० दे द्वारा सम्पादित संस्करण और ध्वनिगाथा पञ्जिका (हस्तलिखित ग्रन्थ,

भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट) में टीका नहीं है। भारत में उपलब्ध समस्त हस्तलिखित प्रतिलिपिया क आधार पर एक नये संस्करण की महती आवश्यकता है।' (काव्यशास्त्र का इतिहास, १९६६, पृष्ठ २०५–२०६। परन्तु चौखम्बा सस्कृत सीरीज के संस्करण में ११६ कारिकायें व्यवस्थित की गई हैं। इनमें चौखम्बा संस्करण अधिक शुद्ध और मान्य रहा है। इसके अनुसार प्रथम उद्योत में १६, द्वितीय उद्योत में ३३, तृतीय उद्योत में ४७ तथा चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकायें हैं।

'ध्वन्यालोक' में मूल सिद्धान्त कारिकाओं में दिये गये हैं। इन सिद्धान्तों की व्याख्या तथा विवेचना वृत्ति में दी गई है और उनका उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है। वृत्ति भाग में कुछ स्थानों पर परिकर श्लोक, संक्षेप श्लोक और संग्रह श्लोक भी हैं। इनमें वृत्ति भाग के व्याख्यात अंश को पुनः कहा गया है।

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करना है। इसमें ध्वनिकार ने काव्य के एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ध्वनि के सिद्धान्त में उपस्थित हो सकने वाली सभी आपत्तियों का निवारण करके ध्वनि क सिद्धान्त की स्थापना की। उनकी मान्यता है कि काव्य में वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो अर्थ होते हैं। काव्य में वास्तविक सौन्दर्य प्रतीयमान अर्थ का है। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में अधिक चारुत्व की निष्पत्ति होती है, वह काव्य ध्वनि कहलाता है। इस ग्रन्थ में ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण तथा भेदों प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया है तथा बताया है कि यह ध्वनिकाव्य ही सहृदयों के हृदयों को आकर्षित करने वाला है।

ध्वनि की स्थापना करते हुये ध्वनिकार ने इस ग्रन्थ में प्रसंग से प्राप्त कुछ अन्य अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्तों--गुण, रीति, अलंकार पदसंघटना आदि पर भी विचार किया है। यहाँ उद्योतों के क्रम से ध्वन्यालोक के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करना उपयोगी होगा।

'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थापना करने के लिये सबसे पहले ध्वनि को काव्य की आत्मा बताकर ध्वनिविरोधियों के तीन मुख्य पक्षों को प्रस्तुत किया--अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। पुनः अभाववादियों के तीन पक्ष कहे गये हैं। ध्वनि के इन विरोधियों की युक्तियों को कहकर ध्वनिकार ने उनका खण्डन किया है और बताया है कि ध्वनि का अन्तर्भाव अभिधा में, अलंकारों में या लक्षणा में नहीं किया जा सकता। ध्वनि का क्योंकि लक्षण किया गया है। अतः इसको अलक्षणीय या अनिर्देश्य भी नहीं कह सकते।

काव्य में दो प्रकार के अर्थ होते हैं--वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का बोध शब्दशास्त्र के ज्ञान से होता है तथा प्रतीयमान अर्थ सहृदयसंवेद्य है। यह अर्थ ही काव्य में अधिक चारुत्व का हेतु है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ, वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान अतिशयित या चारुत्व के आधिक्य से युक्त होता है, उस काव्य को ध्वनि कहते हैं। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है--वस्तु, अलंकार और रस। यद्यपि अनेक अलंकार ऐसे हैं, जिनमें प्रतीयमान अर्थ भी होता है परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव उनमें नहीं हो सकता। उन समासोक्ति, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, विशेषोक्ति आदि अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ के होते हुये भी वाच्य अर्थ की प्रधानता होती है, अतः वहाँ ध्वनि नहीं होती। यदि किसी अलंकार में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता हो भी, जैसे कि पर्यायोक्त अलंकार में कभी होती है, तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु ध्वनि का उसमें नहीं।

ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद हैं--अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि है, जहां वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल है। इसमें वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी अन्य प्रतीयमान अर्थ का प्रधान रूप से बोध कराता है।

द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेदों का स्वरूप उदाहरण सहित बताया गया है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं– अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं--असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के भेद से अनेक प्रकार की है। इनमें भी रसों और भावों के भेद से यह पुनः 'असंख्य प्रकार की हो जाती है। इसी प्रसंग में ग्रन्थकार ने गुणों और अलंकारों के स्वरूप को बताकर उनके भेद को भी बताया है।

इस प्रकरण में आनन्दवर्धन ने प्राचीन गुणसम्बन्धी मन्तव्यों का तिरस्कार करके गुणों की संख्या तीन निर्धारित की और रसों के आश्रित एवं उपकारक प्रतिपादित किया। उन्होंने यह भी बताया कि कौनसा गुण किस रस के आश्रित रहता है। ध्वनिकार के अनुसार जब रसादि प्रधान रूप से अभिव्यक्त होते हैं तो वहाँ रसादि ध्वनि होती है और जब ये अप्रधान या अंगरूप होते हैं तो रसवदादि अलंकार होते हैं। रसादि ध्वनि के प्रसंग में ही यह भी बताया गया है कि इनकी योजना में अलंकारों का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण करके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण किया गया है। यह दो प्रकार की होती है--शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का भी संयोजन इसमें किया, परन्तु आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के ये ही दो मुख्य भेद बताये। परन्तु कारिका २.२३ में तथा उसकी वृत्ति में उभयशक्त्युद्भव

ध्वनि का संकेत अवश्य है–

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः। यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः।। –ध्वन्यालोक २२३।।

उभयशक्त्या यथा। २२३ की वृत्ति से।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि में आचार्य ने अनेक अलंकारध्वनियों के उदाहरण दिये हैं, परन्तु वस्तुध्वनि का निर्देश नहीं किया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्त्युद्भव के दो भेद–वस्तुध्वनि एवं अलंकार ध्वनि किये।

अर्थशक्तिमूल के प्रमुख भेद हैं–प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर और स्वतःसम्भवी। प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न भी दो प्रकार का है–कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर। इनके भी वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि भेद से दो–दो भेद हो सकते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रसंग में ग्रन्थकार ने श्लेष और शब्दशक्तिमूल ध्वनि का भेद प्रदर्शित किया है सभी ध्वनियों की सोदाहरण व्याख्या की है।

ध्वनिकार ने तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेदों की व्याख्या व्यञ्जक के भेद से की है, जबकि द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के भेद से की है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो भेद हैं–पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध से होती है। यहाँ यह बताया गया है कि किस प्रकार के वर्णों से, पदों से, पदों के अवयवों से तथा वाक्यों से रसादि की अभिव्यक्ति होती है।

अब ध्वनिकार ने संघटना व्यञ्जकता का विस्तार से वर्णन किया है। संघटना तीन प्रकार की होती है–असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। यह संघटना गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसों को अभिव्यक्त करती है। यहाँ आचार्य ने बताया है कि गुणों और संघटनाओं का क्या सम्बन्ध है तथा संघटना का आधार वक्ता, अर्थ, विषय तथा रस की अनुरूपता है। ध्वनिकार के अनुसार रसबन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है।

संघटना की प्रकाश्यता का वर्णन करके प्रबन्ध की प्रकाश्यता का विस्तार से वर्णन है। रस आदि की व्यञ्जकता के अनुसार प्रबन्धरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का नियोजन किस प्रकार करना चाहिये, इस तथ्य को यहाँ भली प्रकार समझाया गया है। इस प्रकरण में रसों की अभिव्यक्ति तथा चर्वणा; विभिन्न रसों में सहायक अलंकार, कथावस्तु और उसका रस के साथ सम्बन्ध, विभक्ति, क्रिया, वचन, सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति), कारक, कृत्, तद्धित और समास की अलक्ष्यक्रमद्योत्यता, रसाभिव्यक्ति के विरोध का परिहार; काव्य में रस का प्रधान होना तथा अन्य रसों का उसके अंग रूप में रहना; तथा रस के अनुगुण शब्दार्थ योजना करना; इन विषयों का सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।

ध्वनिकार ने अब रस आदि अनुगुण वृत्तियों के प्रयोग का वर्णन किया है। ये दो प्रकार की होती हैं। वाच्य अर्थ के आश्रय से कैशिकी आदि वृत्तियाँ रहती हैं तथा वाचक शब्द के आश्रय से उपनागरिका आदि वृत्तियों का नियोजन किया जाता है। इसी प्रसंग से गुणवृत्ति और व्यङ्ग्य में भेद की तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव और अनुमान में भेद की व्याख्या की गई है।

ध्वनिकाव्य का विस्तार से वर्णन करके आचार्य ने गुणीभूत–व्यङ्ग्य काव्य की व्याख्या की है। वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अतिशय न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। ध्वनिकार का इस प्रसंग में यह भी कथन है कि यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की योजना रसादि के तात्पर्य से की जाती है तो यह भी ध्वनि रूप ही होता है।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का विशद चित्रण करके चित्रकाव्य का निदर्शन किया गया है। यह दो प्रकार का होता है–शब्दचित्र और अर्थचित्र। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता या अप्रधानता हो, वहाँ ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होते हैं, परन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा न हो, केवल शब्दालंकारों या अर्थालंकारों का वैचित्र्य हो, वहाँ चित्रकाव्य होता है। आचार्य के अनुसार काव्य वस्तुतः दो ही प्रकार के–ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य होते हैं। चित्रकाव्य वस्तुतः काव्य नहीं हैं, अपितु वह काव्य की अनुकृतिमात्र है।

ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्यों के स्वरूप का निरूपण करके आचार्य ने बताया है कि इन काव्यों के परस्पर मिश्रण से ध्वनि के असंख्य भेद और प्रभेद हो सकते हैं तथा सत्काव्य को जानने के लिये ध्वनि का स्वरूप जानना आवश्यक है। तदनन्तर रीतियों और वृत्तियों के सम्बन्ध में संक्षेप से ध्वनिकार ने अपना मन्तव्य दिया है।

चतुर्थ उद्योत में ध्वनिकार ने प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से वर्णन किया है। साधारण वस्तु भी कवि की कल्पना के चमत्कार से अपूर्व नवीन रूप धारण कर लेती है। यद्यपि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव अनेक प्रकार का है, तथापि कवि को रसादिमय काव्य की रचना करने में सावधान रहना चाहिये। रामायण करुण रस प्रधान काव्य है। महाभारत में शास्त्रत्व और काव्यत्व दोनों निहित हैं तथा उसमें

शान्त रस की प्रधानता है। यद्यपि परम्परा से असंख्य काव्यों की रचना होती आई है, तथा कविता का क्षेत्र अनन्त है। कवियों के काव्यों में संवाद (साम्य) भी हो सकता है जो कि तीन प्रकार का होता है–प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान, चित्र आकार के समान और तुल्यशरीर के समान। इनमें प्रथम दो प्रकार का साम्य त्याज्य होता है तथा अन्तिम प्रकार का ग्राह्य होता है। अक्षर ही हैं नवीन अक्षरों की योजना वाचस्पति भी नहीं कर सकते। नवीन काव्य में ये ही अक्षर और पद नवीनता का आधान करते हैं।

अन्त में ध्वनिकार यह कहकर कि भगवती सरस्वती ही कवि की सहायक होती है और उन्होंने सहृदयों की उन्नति के लिये उत्तम काव्य की रचना के लिये ध्वनि के मार्ग का उन्मीलन किया है, इस ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

१२. परिकर, संग्रह और संक्षेप श्लोक

'ध्वन्यालोक' में कारिकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्यानात्मक पद्य हैं, जो कि वृत्ति के भाग में दिये गये हैं। इनको ध्वनिकार ने परिकर संग्रह और संक्षेप श्लोक कहा है। 'परिकर' श्लोकों का उपयोग ध्वनिकार ने कारिकाओं के विषय की अधिक व्याख्या करने के लिए तथा उनसे अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये किया है। अभिनवगुप्त ने परिकर श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है–

परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।

परिकर के लिये अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक विस्तार करके लिये, कारिका से अधिक अर्थ कहने के लिए जिस श्लोक की रचना की जाती है, वह परिकर श्लोक कहा जाता है। यह श्लोक वृत्ति के अन्तर्गत मूल की व्याख्या करता है, जैसे तृतीय उद्योत में निम्न परिकर श्लोक है–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।। –ध्वन्यलोक ३.६ की वृत्ति से।

अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष कवि की शक्ति (प्रतिभा) के द्वारा ढक जाता है, परन्तु अशक्ति के कारण जो दोष उत्पन्न होता है, वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है। ध्वनिकार इस प्रकरण में संघटना में उत्पन्न दोषों की व्याख्या कर रहे हैं। दोष दो प्रकार का होता है–अव्युत्पत्तिकृत और अशक्तिकृत। काव्य की रचना में कवि की शक्ति (प्रतिभा) मुख्य है। कारिका में इस बात को नहीं कहा गया था। अतः कारिका के अर्थ से अधिक अर्थ को प्रकट करने वाला यह श्लोक परिकर श्लोक है।

परिकर श्लोक के अतिरिक्त कुछ संग्रह तथा संक्षेप श्लोक हैं। ध्वनिकार ने कारिकाओं तथा वृत्ति में विस्तार से जिन तथ्यो और युक्तियों को कहा, उनको एक साथ संक्षेप में संग्रहीत करके इन श्लोकों की रचना की गई। जैसे कि प्रथम उद्योत में अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, यह विवेचना करके निम्न श्लोकों में ध्वनिकार ने सम्पूर्ण विवेचना को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया–

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः। समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः।

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा। न ध्वनिर्यत्र, वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ। ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।

–ध्वन्यालोक ११३ की वृत्ति से।

परिकर एवं संग्रह श्लोकों के आधार पर विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वनि कारिकाओं के लेखकत्व पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में आये संक्षेप श्लोक वृत्तिकार की रचना हैं। संग्रह श्लोकों में से कुछ के पहले वृत्तिकार ने 'मया उक्तम' कहा है तथा कुछ से पहले नहीं कहा। जिनसे पहले 'मया उक्तम्' कहा है। उनके विषय में अभिनवगुप्त की टिप्पणी है कि ये वृत्तिकार की स्वयं की रचना हैं। जिनके पहले इस प्रकार नहीं कहा गया, उनके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त मौन रहते हैं। इसी प्रकार से परिकर श्लोकों के लेखकत्व के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कोई टिप्पणी नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि संग्रह श्लोकों में से कुछ की रचना वृत्तिकार की है तथा कुछ की नहीं है। इसके अतिरिक्त परिकर श्लोकों की रचना वृत्तिकार से भिन्न किसी अन्य विद्वान् ने की होगी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कारिकाकार और वृत्तिकार के मध्य लम्बे समय का व्यवधान रहा होगा और इस बीच में किसी अन्य विद्वान् ने इसकी रचना की होगी। (विष्णुपद भट्टाचार्यकृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की भूमिका पृ० XXXV-XXXVI।

विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन अत्यधिक भ्रामक ही है। कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति मानकर ही यह अनुमान लगाया गया है। पहले तो यही सिद्ध करना है कि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न व्यक्ति थे। जब तक यह सिद्ध नहीं होता, तब तक इन संग्रह श्लोकों तथा परिकर श्लोकों को किसी अन्य विद्वान् की रचना कैसे कहा जा सकता है ?

१३. ध्वन्यालोक की टीकायें

'ध्वन्यालोक' की रचना के अनन्तर इसके विषय के गाम्भीर्य की व्याख्या करने के लिये अनेक टीकाय और व्याख्यायें प्राचीनकाल में लिखी जाती रही हैं। इनका संक्षिप्त परिचय देना यहाँ उपयोगी होगा।

आचार्य अभिनवगुप्त की लोचनटीका

ध्वन्यालोक की टीकाओं में सबसे प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीका अभिनवगुप्त की लोचनटीका समझी जाती है। हस्तलिखित प्रतियों में इस टीका के अनेक नाम मिलते हैं– सहृदयालोकलोचन, ध्वन्यालोकलोचन, अथवा काव्यालोचन। परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त का लोचनकार के नाम से स्मरण किया है। साहित्यशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन टीका' का वही महत्त्व है, जो पाणिनीय अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' का है तथा ब्रह्मसूत्रों पर 'शाङ्करभाष्य' का है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं इस टीका को 'लोचन' नाम दिया और इसको ध्वन्यालोक (आलोक) के रहस्य का उन्मूलन करने वाला बताया–

किं लोचनं बिनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि। तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।

(१) **अभिनवगुप्त** – आचार्य अभिनवगुप्त यद्यपि काश्मीर के थे, तथापि इनके पूर्वजों का मूल स्थान काश्मीर नहीं था। अभिनवगुप्त का समय ९५० ई० से १०२५ ई० तक निश्चित किया गया है। इससे लगभग २०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी में इनके पूर्वज कन्नौज से काश्मीर गये थे। राजतरङ्गिणी के अनुसार आठवीं शताब्दी में कन्नौज का राजा यशोवर्मा (७३०–७४०) था और काश्मीर का राजा मुक्तापीड या ललितादित्य (७२५–७६१) था। दोनों के मध्य युद्ध हुआ, जिसमें कन्नौज का राजा पराजित हुआ। उस समय अन्तर्वेदी (गंगा–यमुना के मध्य का देश) में अत्रिगुप्त नाम के विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता से ललितादित्य बहुत प्रभावित हुआ तथा उनको उसने काश्मीर में बसाया।

अभिनवगुप्त के प्राचीन पूर्वजों का उल्लेख नहीं मिलता। अभिनवगुप्त के दादा वराहगुप्त थे। वराहगुप्त के पुत्र नृसिंहगुप्त हुये तथा नृसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्त के चाचा का नाम वामनगुप्त था। अभिनवगुप्त के अनेक चचेरे भाई क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त थे। इनकी माता का नाम विमला या विमलाकला था।

अभिनवगुप्त की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माण किया। इनकी कुछ रचनाओं को तन्त्रों के वर्ग में, कुछ को स्तोत्रों के वर्ग में, कुछ को काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के वर्ग में तथा कुछ को शैवाद्वैतदर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन) के वर्ग में रखा जा सकता है। अपने विभिन्न ग्रन्थों में अभिनवगुप्त ने अपने गुरुओं का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। विभिन्न गुरुओं से इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनके साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टेन्दुराज ने ही अभिनवगुप्त को सम्भवतः 'ध्वन्यालोक' की शिक्षा दी थी। 'लोचनटीका' में अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार भट्टेन्दुराज का स्मरण किया है इससे कुछ आलोचकों ने अनुमान लगाया है कि भट्टेन्दुराज ने भी 'ध्वन्यालोक' पर कोई टीका लिखी होगी।

अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत भी थे। इनसे इन्होंने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। नाट्यशास्त्र की 'अभिवनवभारती' टीका के अन्त में इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है–

द्विजवरतौत निरूपितसन्ध्यध्यायार्थतत्त्वघटनेयम्। अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन।।

भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जिस पर अभिनवगुप्त ने 'विवरण' नाम से टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने 'लोचनटीका' में शान्त–रस के नियोजन की उपयोगिता को बतलाते हुये किया है। **(मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्दुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना।** ध्वन्यलोक ३.२६ कारिका की वृत्ति की लोचनटीका से)।

प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने परिवार का कोई उल्लेख नहीं किया। ये शिव के परम भक्त थे तथा इन्होंने अपने गुरु उत्पलगुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास किया था। काशी की एक परम्परा के अनुसार अभिनवगुप्त अपने १२०० शिष्यों सहित भैरवी स्तोत्र का पाठ करते हुए एक गुफा में प्रविष्ट हुए तथा अन्तर्धान हो गये। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार यह गुफा श्रीनगर से २४ मील दक्षिण पश्चिम की ओर है और वीरु नामक स्थान (प्राचीन नाम बहुरूपा) में स्थित है।

'ध्वन्यालोक' पर लोचनटीका से उसके रहस्य की तथा मन्तव्यों की समुचित रूप से व्याख्या होती है। इसमें अभिनवगुप्त ने अनेक आचार्यों तथा कवियों का उल्लेख किया है। टीका के अन्त में उन्होंने यह ठीक ही लिखा है–आनन्दवर्धन के विवेक से विकसित काव्यालोक के अर्थों के तत्त्वों की घटना करने से जिसके सार का अनुमान किया जा सकता है, जो प्रकाशमान सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करने वाला है, वह अभिनवगुप्त का विशिष्ट "लोचन" व्यापारित हुआ है–

१२३. **आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्। यल्लोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशिव्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्।।**

(२) **चन्द्रिकाटीका** – अभिनवगुप्त से पूर्व 'ध्वन्यालोक' पर चन्द्रिका नाम की एक व्याख्या लिखी जा चुकी थी। अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में कई स्थानों पर इस टीका का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह भी प्रतीत होता है कि यह टीका इनके किसी पूर्वज ने लिखी होगी। ये उल्लेख डॉ०काणे द्वारा इस प्रकार उद्धृत किये गये हैं–

(१) **यस्तु व्याचष्टे...इत्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन।** पृष्ठ–(१५०–२५१)।

(२) **यस्तु व्याचष्टे...एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो....इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुधा संलापेन।** (पृष्ठ २१६–२१७)।

(३) **यत्तु त्रिष्वपि लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म स देवं विक्रीय तद् यात्रोत्सवमकार्षीत्...इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन।** (पृष्ठ २६६)।

अभिनवगुप्त द्वारा प्रथम तथा तृतीय उद्योत के अन्त में जो श्लोक लिखा गया है, (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी० वी० काणे (१९६६) पृ० १५८।।) इससे भी यह प्रतीत होता है कि उसने लोचन टीका को लिखने में चन्द्रिका टीका की सहायता ली थी। यह इस प्रकार है–

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।

जिस प्रकार चाँदनी के होते हुये भी चन्द्रमा बिना आँखों के प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चन्द्रिका नाम की टीका से शोभित होते हुये भी यह 'ध्वन्यालोक' लोचनटीका के बिना शोभायमान नहीं होता।

लोचनकार के इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि उनसे पूर्व चन्द्रिका नाम की टीका उनके किसी पूर्वज ने की थी। अभिनवगुप्त ने इस टीका से सहायता लेते हुए भी अनेक स्थानों पर अपना मतभेद प्रकट किया है।

चन्द्रिका टीका से, 'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिमभट्ट जो कि अभिनवगुप्त से पहले हुये, परिचित रहे होंगे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इस टीका का उल्लेख प्रस्तावना के पांचवें श्लोक में किया–

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्या पदे सुलभम्। रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव।।२।।

अतः चन्द्रिका टीका की रचना का समय ६००–६५० ई० के मध्य माना जा सकता है।

(३) **कौमुदी टीका** – प्राचीन टीकाओं में कौमुदी नामक टीका भी प्रसिद्ध है। यह टीका साक्षात् रूप से 'ध्वन्यालोक' पर न लिखी जाकर 'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका पर लिखी गई है। इस टीका को केरल निवासी उदयोत्तुङ्ग नामक विद्वान् ने लिखा था। यह टीका केवल प्रथम उद्योत तक ही उपलब्ध होती है, जिसको सबसे पहले महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी तथा उनके दो सहयोगियों ने मिलकर १९४४ ई० में प्रकाशित कराया था। कौमुदीकार ने 'मयूर सन्देश' नामक काव्य की भी रचना की थी। इसके आधार पर समालोचकों ने उदयोत्तुङ्ग का समय १४८० ई० निर्धारित किया है।

(४) **रत्नाकर** ने अपनी 'ध्वनिगाथापञ्चिका' में 'ध्वन्यालोक' की प्राकृत गाथाओं की व्याख्या की है। रत्नाकर का समय अभिनवगुप्त के बाद रहा होगा, क्योंकि इन्होंने इस व्याख्या में अभिनवगुप्त का अनुकरण किया है। 'ध्वन्यालोक' में ४६ प्राकृत गाथायें हैं।

ध्वन्यालोक की कुछ आधुनिक टीकायें इस प्रकार हैं-

(५) डॉ० जैकोबी ने 'ध्वन्यालोक' का तृतीय उद्योत तक का भाग जर्मन भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित कराया था।

(६) चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से सम्पूर्ण 'ध्वन्यालोक' एवं उसकी 'लोचनटीका' आधुनिक बालप्रिया एवं दिव्याञ्जना टीका सहित १९४० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने किया था। पुनः प्रकाशन में पं० बदरीनाथ झा की दीधिति टीका केवल मूल 'ध्वन्यालोक' पर प्रकाशित हुई थी।

(७) डॉ० के० कृष्णमूर्ति ने 'ध्वन्यालोक' अंग्रेजी अनुवाद भूमिका सहित किया था, जो कि १९५५ ई० में पूना से प्रकाशित हुआ।

(८) डॉ० विष्णुपद भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत व्याख्या सहित किया, जिसमें लोचनटीका तथा कौमुदीटीका का पूरा उपयोग किया गया है। इसमें विस्तृत भूमिका भी दी गई है, इसके प्रथम उद्योत का पहला संस्करण १९५३ में प्रकाशित किया गया।

(९) आचार्य विश्वेश्वर ने 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या भूमिका सहित लिखी। इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी द्वारा किया गया। प्रथम संस्करण २०१९ वि० में प्रकाशित हुआ।

(१०) 'ध्वन्यालोक' की अन्य व्याख्यायें भी लिखी गईं और प्रकाशित हुई। इनमें आचार्य जगन्नाथ पाठक की व्याख्या अच्छी है। यह कि 'ध्वन्यालोक' एवं 'लोचनटीका' दोनों पर है। इसका प्रथम संस्करण २०२१ वि० में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से हुआ।

१३. 'ध्वन्यालोक' का युगप्रवर्तन एवं परवर्ती साहित्यशास्त्र पर प्रभाव

साहित्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक युगप्रर्वतक ग्रन्थ रहा। संस्कृत के समालोचना जगत् में इस ग्रन्थ ने आमूलचूल परिवर्तन उपस्थित किया और प्राचीनकाल से चली आ रही समालोचनागत रूढ़ियों और सिद्धान्तों को नये सांचे में ढाल दिया। आनन्दवर्धन

ने समालोचना के जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया था, उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनको स्वीकार करके उन्हीं के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना की थी। 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं के अनुसार यह सत्य है कि 'ध्वन्यालोक' से पूर्व भी ध्वनि की विद्वानों में चर्चा होती थी और इस सिद्धान्त को कुछ समालोचकों ने स्वीकार कर लिया था, तथापि आनन्दवर्धन ही पहले आचार्य थे, जिन्होंने व्यवस्थित रूप में इस सिद्धान्त को ग्रन्थ के रूप में निबद्ध किया। आनन्दवर्धन ने इससे भी बढ़कर एक कार्य यह किया कि अपने से पहले प्रचलित काव्यशास्त्रीय समालोचना के सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन किया और अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, दोष, रस आदि से सम्बन्धित विचारधाराओं को ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया। इन पर एक–एक करके विचार करना उपयोगी होगा।

'ध्वन्यालोक' की रचना से पहले काव्यों में रस को बहुत महत्त्व दिया गया था। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा थ–**"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"।** रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं होता। 'ध्वन्यालोक' की रचना के पश्चात् भी काव्य में रस का महत्त्व व्यापक एवं असन्दिग्ध रूप से स्थापित रहा। 'ध्वनिकार ने रस का समावेश ध्वनि के अन्दर कर लिया। उसने कहा कि ध्वनि तीन प्रकार की है वस्तु–ध्वनि, अलंकार और रस ध्वनि।

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने रस के महत्त्व को कुछ कम कर दिया। वस्तुतः वे इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे। रस को प्रतीयमान अर्थ का ही एक रूप देकर उन्होंने रस की अद्वितीयता प्रतिपादित की। भरत ने काव्यों में रस की अनिवार्यता तो प्रतिपादित की, परन्तु यह नहीं बताया कि काव्य में उसका नियोजन किस प्रकार करना चाहिये। आनन्दवर्धन ने यह निर्देशित किया कि रस को स्वशब्दवाच्य न होकर प्रतीयमान अर्थ के रूप में होना चाहिए। यह ही रस ध्वनि होती है और यह ही मुख्य रूप में काव्य की आत्मा है।

रस का ध्वनि में समावेश करके और ध्वनि के तीन भेद करके भी आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया था और उसी को मुख्य रूप से काव्य की आत्मा कहा था। उनका मन्तव्य था कि वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ भी रस के प्रति पर्यवसित होती हैं। अतः सामान्यतः जब ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है तो वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण करते हुये आनन्दवर्धन ने अपने इस अभिप्राय को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, जबकि वे कहते हैं कि रसादि के तात्पर्य से नियोजित किये जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भी ध्वनिरूप होता है। रसादि की योजना काव्य में न होने पर वे उस रचना को काव्य ही नहीं मानते–

> **यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुमसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते।**

इस कारण उन्होंने चित्रकाव्य न कहकर काव्य की अनुकृति कहा।

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यों में अलंकारों को अधिक महत्त्व प्राप्त था। अलंकारवादियों ने रस आदि को भी अलंकारों में अन्तर्भावित करके रसवदलङ्कार आदि का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार काव्य में जब रस की स्थिति है तो रसवदलंकार है तथा भाव की स्थिति होने पर प्रेयोऽलंकार होता है। आनन्दवर्धन ने रस को अलंकारों की जकड़ से मुक्त किया और कहा कि जहाँ काव्य की रचना रस के तात्पर्य से होती है और रस प्रधान होता है, वहाँ रसध्वनि होती है–

> **वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्। रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो भवेत्।।** –ध्वन्यालोक २.४।।

और जहाँ रस अप्रधान रूप से रहता है, वहाँ रसवदादि अलंकार होते हैं–

> **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।।** –ध्वन्यालोक २.५।।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि–सिद्धान्त में अलंकारों का भी समावेश कर लिया था। उन्होंने कहा कि उपमा, रूपक आदि अलंकारों का काव्य में नियोजन रस की अपेक्षा से करना चाहिये। जो अलंकार बिना किसी अन्य प्रयास के स्वाभाविक रूप से आक्षिप्त विभाव आदि की रचना में आ जाता है, वह ही अलंकार मान्य होता है। इससे भिन्न अलकार की योजना काव्य नहीं है, अपितु उक्तिवैचित्र्यमात्र है। इसी कारण उन्होंने चित्रकाव्य को नहीं माना। द्वितीय उद्योत में ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य में अलंकारों की योजना के कुछ विशेष नियमों का निर्देश किया है–

> **विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। काले च ग्रहणत्यागो नातिनिर्वहणैषिता।।**
>
> **निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।।** –ध्वन्यालोक २.१८–१९।।

रसों की योजना के अनुसार ही अलंकारों का निवेशन करना चाहिये तभी वे काव्य के सौन्दर्य के हतु होते हैं, यह ध्वनिकार का मन्तव्य था। उन्होंने यमक आदि क्लिष्ट और प्रयत्नसाध्य अलंकारों के नियोजन का ध्वनिकाव्य में निषेध किया था–

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्। शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। –ध्वन्यालोक ३.५ ।

तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव।। –ध्वन्यालोक २.१६ पर लोचनटीका ।

उन्होंने कहा कि ये अलंकार काव्य के शरीर शब्द–अर्थ को उसी प्रकार सुशोभित करते हैं, जिस प्रकार युवती के शरीर को कुण्डल आदि अलंकार सुशोभित करते हैं। अलंकारों के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की स्थापना को उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया।

गुणों के सम्बन्ध में भी ध्वनिकार ने नई दिशा प्रदर्शित की। प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों–दण्डी, भामह, वामन आदि ने गुणों को काव्य में यद्यपि महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था, तथापि वे अलंकारों से अधिक भिन्न नहीं समझे गये थे। वे शब्द और अर्थ के सौन्दर्य में उसी प्रकार से वृद्धि करते थे, जिस प्रकार अलंकार। यद्यपि काव्य में उनका अलंकारों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध समझा गया था।

काव्य में अलंकारों और गुणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्राचीन काल से विवाद चला आ रहा था। भामह ने अलंकार एवं गुण के इस सम्बन्ध पर विचार किया और कहा कि इनको बहुत भिन्न नहीं समझना चाहिए। ओज आदि गुणों तथा अनुप्रास एवं उपमा आदि अलंकारों की स्थिति काव्य में समवाय रूप से ही रहती है। दोनों में भेद कहना ठीक नहीं। भेड़चाल के कारण ही लोगों ने इनमें भेद कहना प्रारम्भ कर दिया है–

भामह के काव्यालंकार पर भट्टोद्भट की विवरण टीका को उद्धृत करते हुए मम्मट ने इस प्रकार लिखा–**"एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या च हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैषां भेद इत्यभिधानमसत्।** –काव्यप्रकाश ८.६७ की वृत्ति।

इसी प्रकार वामन ने अलंकारों और गुणों का सम्बन्ध इस प्रकार बताया कि काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले अलंकार हैं, तथा सौन्दर्य का अतिशय करने वाले गुण हैं। (**काव्यशोभायाः कर्तारो गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।** –वामन)

ध्वनिकार ने प्राचीन आचार्यों के इन मन्तव्यों का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि अलंकार तो काव्य के सौन्दर्य के बाह्य उपादान हैं तथा गुण अन्तरंग उपादान हैं, गुण तो प्रधानभूत रस का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं और अलंकार अङ्गभूत शब्द और अर्थ का आश्रय लेते हैं। जिस प्रकार शरीर में शौर्य आदि गुण आत्मा के आश्रय में रहते हैं, उसी प्रकार काव्य में रस आदि अंगों का आश्रय लेकर गुणों की स्थिति होती है और जिस प्रकार शरीर के अंगों की शोभा बढ़ाने वाले अलंकार उन अंगों के आश्रय से रहते हैं, उसी प्रकार अलंकार काव्य के अंग शब्द–अर्थ का आश्रय लेकर रहते हैं। (**ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्य-वाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।** –२.६ की वृत्ति।)

गुणों और अलंकारों के इस सम्बन्ध को मम्मट ने भी स्वीकार किया। उसने कहा कि गुण तो काव्य के आत्मरूप अंगी रस के धर्म हैं तथा उसका निश्चय रूप से उत्कर्ष करते हैं। काव्य में इनकी स्थिति इस प्रकार है, जैसे आत्मा में शौर्य आदि गुणों की–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। –काव्यप्रकाश ८.६६ ।

इसके विपरीत अलंकार काव्य के शरीर शब्द–अर्थ के आश्रय से रहते हैं। वे रस का उपकार भी कर सकते हैं, नहीं भी कर सकते। परन्तु जब उपकार करते हैं तो शब्द अर्थ के द्वारा ही करते हैं–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। –काव्यप्रकाश ८.६७ ।

'साहित्यदर्पण' में भी गुणों और अलंकारों के इसी सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है।

काव्य में गुणों की स्थिति का प्रतिपादन करके आनन्दवर्धन ने यह भी बताया कि किस गुण का आश्रय कौन–सा रस है। इनकी स्थिति इस प्रकार है–

मधुर – संयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार, करुण और शान्त।

शृङ्गारे एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।।

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्। माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।। –ध्वन्यालोक २.७८ ।

ओज – रौद्र आदि (रौद्र, वीर और अद्भुत)।

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः। तद्व्यक्तिहेतु शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।। –ध्वन्यालोक २.६ ।

प्रसाद– सभी रस।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति। स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।। –ध्वन्यालोक २.१०।।

उत्तरवर्ती आचायो ने गुणों के इस रसाश्रयत्व को स्वीकार कर लिया। आनन्दवर्धन ने न केवल गुणों और अलंकारों के परस्पर सम्बन्ध तथा गुणों के आश्रयत्व पर ही नवीन सिद्धान्त स्थिर किये, अपितु गुणों की संख्या पर भी विचार किया। उसने गुणों की संख्या केवल तीन निर्धारित की–माधुर्य, ओज और प्रसाद। गुणों की संख्या को निर्धारित करने में आनन्दवर्धन ने भामह का अनुसरण किया था–

एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्रास्वादमयाः तत आस्वाद्ये उपचारिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम्।। –ध्वन्यालोक २.१० पर लोचनटीका

यद्यपि गुणों की प्रकृति के निर्धारण में भामह से उनका मतभेद था। वामन ने दस शब्दगुण और दस अर्थगुण बताये थे, परन्तु ध्वनिकार ने काव्य में तीन गुण ही माने। बाद में मम्मट ने वामन के दस अर्थगुणों का खण्डन किया और दस शब्दगुणों को इन गुणों में ही अन्तर्भावित किया।

माधुर्यौजप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।। –का० प्र० ८.६८।।

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।

तेन नार्थगुणाः वाच्याः।। –का० प्र० ८.७२–७३।।

आनन्दवर्धन ने दोष, रीति, वृत्ति आदि काव्य–तत्त्वों पर भी नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। प्राचीन भामह आदि आचार्यों ने दोषों के जो दो विभाग–नित्यदोष और अनित्यदोष किये थे, आनन्दवर्धन के अनुसार यह विभाजन रसध्वनि के आधार पर ही हो सकता है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था। उसने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली तीन रीतियाँ प्रतिपादित करके उनमें गुणों की स्थिति सिद्ध की थी। (**रीतिरात्मा काव्यस्य।। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।। सा त्रिधा-वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च।। समग्रगुणोपेता वैदर्भी।। ओजः कान्तिमती।। गौडीया। माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।।** वामन।।) परन्तु ध्वनिकार ने रीतियों को काव्य का बहिरंग तत्त्व बताया है। इनका नियोजन रस की दृष्टि से करना चाहिये। प्राचीन वामन आदि आचार्य इस ध्वनिरूप काव्यतत्त्व की ठीक प्रकार से व्याख्या नहीं कर पाये थे, अतः उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित किया था–

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। –ध्वन्यालोक ३.४७।।

अब काव्य के तत्व को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाने के कारण रीतियों का लक्षण देने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

'ध्वन्यालोक' से पूर्व काव्यों में वृत्तियों का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया था। ये दो प्रकार की थीं–अर्थवृत्तियाँ और शब्दवृत्तियाँ। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में भारती, आरभटी, सात्वती और कैशिकी ये चार प्रकार की वृत्तियाँ बताई हैं, जो कि अभिनयात्मक होती हैं। दशरूपककार के अनुसार पात्रों का व्यवहार वृत्ति है। ध्वनिकार ने भी व्यवहार को वृत्ति कहा है– (व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते।। –ध्वन्यालोक ३.२३ की वृत्ति।)। इन वृत्तियों का सम्बन्ध अर्थ से है, अतः इनको अर्थाश्रित वृत्ति कहा गया है। उद्भट आदि विद्वानों ने उपनागरिका आदि चार प्रकार की वृत्तियाँ प्रतिपादित की हैं, जिनका सम्बन्ध शब्दयोजना से है। आनन्दवर्धन ने इनको शब्दाश्रित वृत्ति माना है। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इनकी पृथक् रूप से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। वृत्तियों की व्याख्या करने का प्रयोजन यही था कि सहृदयों के हृदयों में चमत्कारविशेष का अनुभव उत्पन्न हो सके। ध्वनि का प्रयोजन भी यही है। अतः काव्य के लक्षणरूप इस ध्वनि के जान लेने पर शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित वृत्तियों के स्वरूप की व्याख्या करने की आवश्कता नहीं रही, वे स्वयं प्रकाशित हो जाती है।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः। वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे।। –ध्वन्यालोक ३.४८।।

ध्वनिकार ने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करके पूर्ववर्ती समालोचकों की मान्यताओं और सिद्धान्तों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही कर लिया। रस को प्रतीयमान प्रतिपादित करके उन्होंने इसका अन्तर्भाव भी यद्यपि ध्वनि के अन्तर्गत किया था, तथापि वे भरत के रससिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक थे। ध्वनि के तीन भेदों–वस्तुध्वनि, अलंकार–ध्वनि और रसध्वनि का विभाजन करके भी उन्होंने रसध्वनि को ही सबसे मुख्य काव्य की आत्मा माना। वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि की योजना भी रस के अभिप्राय से ही होती है ऐसा उनका मत था।

ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ध्वनिकार ने जिन मन्तव्यों का प्रतिपादन किया, रस, अलंकार, गुण, दोष, रीति, वृत्ति आदि के सम्बन्ध में उन्होंने जो धारणायें स्थिर कीं, उत्तरवर्ती आचार्यों–अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने उनका समर्थन किया और अपने समालोचना ग्रन्थों में उनको आधार बनाया। 'ध्वन्यालोक' की रचना के बाद भी ध्वनि के सिद्धान्त पर अनेक आपत्तियों का निवारण करके ध्वनि–सिद्धान्त की निर्विघ्न तथा निस्सन्दिग्ध स्थापना की। पण्डितराज जगन्नाथ ने सत्य ही उनको आलंकारिकों के ध्वनि मार्ग की व्यवस्था करने वाला कहा है।

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः।।

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के लिए मंगलाचरण के रूप में भगवान् का स्मरण अपेक्षित है। संस्कृत में ग्रन्थ को निर्विघ्न लिखने और निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण करने की परम्परा रही है। यह मंगलाचरण तीन रूपों में किया जा सकता है–आशीर्वाद रूप में, नमस्कार रूप में या वस्तु निर्देश रूप में। ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण किया गया है, किन्तु यह कारिका के प्रारम्भ में न होकर वृत्ति के प्रारम्भ में किया गया है, ऐसा माना जाता है। यह आशीर्वादात्मक मंगलाचरण है क्योंकि इसमें विष्णु से रक्षा की कामना की गई है।

अन्वय – स्वेच्छाकेसरिणः मधुरिपोः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः प्रपन्नार्तिच्छदः नखाः वः त्रायन्ताम्।

हिन्दी अर्थ – अपनी इच्छा से ही (न कि किसी अन्य के कहने से) सिंह (नृसिंह) का रूप धारण करने वाले मधु नामक असुर के शत्रु, भगवान् विष्णु के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को पीड़ित (तिरस्कृत) करने वाले और शरण में आने वालों के कष्टों का काट देने वाले, नाखून तुम सबकी (व्याख्याताओं और श्रोताओं की) रक्षा करें।

स्वेच्छाकेसरिणः – स्वस्य इच्छया केसरिणः। – नृसिंहस्यरूपधारिणः।

स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः – स्वच्छया स्वस्य निजस्य, कान्त्या, तिरस्कृतः, छायया आयासितः चन्द्रमा इन्दुः यै ते

मधुरिपोः – मधोः एतन्नाम्नोऽसुरस्य रिपोः।

प्रपन्नार्तिच्छिदः – प्रपन्नानाम्, शरणागतानां, आर्तिं, पीडां, छिन्दन्ति कृन्तन्ति इति ते।

लोचनकार अभिनवगुप्त के अनुसार आचार्य आनन्दवर्धन ने यहाँ तीनों प्रकारों के प्रतीयमान अर्थों – रस, वस्तु और अलंकार को ध्वनित किया है।

रस – मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतॄंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्। सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थ। त्राण चाभीष्टलाभ प्रति सहायकाचरणं, तच्च प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राणं विवक्षितम्। नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसंमोहाध्यवसाययोगित्वेन उत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते।

मधु नामक असुर का विनाश करने वाले भगवान् विष्णु के नख तुम सब व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें क्योंकि वे ही सम्बोधन के योग्य हैं। 'युष्मद्' का अर्थ सम्बोधन का सार है। अभीष्ट के लाभ के प्रति रक्षा करना सहायता करना है, और यह रक्षा प्रतिद्वन्द्वी विघ्नों को दूर कर देने आदि से ही होती है, तथा यही रक्षा यहाँ विवक्षित है। नित्य उद्योग करने वाले भगवान् विष्णु के सम्मोह से रहित होने और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण यहाँ उत्साह की प्रतीति होती है और इससे वीर रस ध्वनित होता है।

वस्तु – नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षविरहः। मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः। कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वच्छया केसरिणः। न तु कर्मपारतन्त्र्येण नाप्यन्यदीयेच्छया। अपितु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतसिंह– रूपस्येत्यर्थः। कीदृशाः नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये च्छिन्दन्ति। नखानां छेदकत्वमुचितम्। आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः। ....किं च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन, स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव, स्वच्छया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासिताः खेदितः इन्दुर्यैः। अत्र अर्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते।

नख प्रहार के साधन हैं और प्रहार का साधन रक्षा के कर्तव्य को पूरा करता है, अतः नख नियत रूप से रक्षा के साधन हैं। इससे उनमें शक्ति का अतिशय सूचित होता है। इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् विष्णु को अपने से भिन्न किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है।। मधुरिपु शब्द से यह प्रकट होता है कि भगवान् विष्णु सदा ही संसार के त्रास को दूर करने में उद्यमशील रहते हैं। स्वेच्छाकेसरिणः शब्द से व्यक्त होता है कि भगवान् विष्णु ने न तो कर्मों के बन्धनों के कारण और न ही किसी अन्य की इच्छा से

नृसिंह रूप धारण किया था, अपितु उन्होंने विशेष दानव हिरण्यकशिपु का वध करने के लिये उचित प्रकार के सिंह के रूप को स्वीकृत किया था। नाखून कैसे हैं ? जो कि शरण में आये हुओं के कष्टों को काटते हैं। नाखूनों में छेदकता का कथन करना उचित है। यद्यपि कष्टों को काटना, यह सम्भव नहीं है, तथापि उन नखों के अपनी इच्छा से निर्मित होने के औचित्य से यह सम्भव हो सकता है। ....क्योंकि वे नख अपनी निर्मलता से, वक्र और सुन्दर रूप वाली आकृति से चन्द्रमा को लज्जित करते हैं, अतः यहाँ अर्थशक्तिमूल ध्वनि से चन्द्रमा का बालत्व ध्वनित होता है।

अलंकार – किञ्चाहं पूर्वमेक एव असाधारणवैशद्यह्रद्याकारयोगात् समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखा दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन् बालेन्दुरविरतमायामसमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षाऽपह्नुतिध्वनिरपि।

पहले मैं अकेला ही असाधारण स्वच्छता और सुन्दरता के कारण सभी मनुष्यों की अभिलाषाओं का पात्र था, आज पुनः इस प्रकार के ये दश नख, जोकि बालचन्द्र के आकार के हैं तथा दुःखों और कष्टों को काटने में कुशल हो गये हैं, और संसार उनका ही बालचन्द्र के रूप में बहुत आदर करता है, मेरा नहीं, इस प्रकार बालचन्द्रमा मानो निरन्तर खेद का अनुभव करता है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की ध्वनि है तथा स्वच्छता और वक्रता में मेरे समान होने पर भी ये नख शरणागत का कष्ट निवारण करने में कुशल हैं। मैं नहीं, यहां व्यतिरेक अलंकार भी ध्वनि हो रही है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त का कथन है कि इस श्लोक में हमारे गुरु जी द्वारा वस्तु, अलंकार और रस भेद से तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या की गई है। तीन प्रकार की ध्वनियाँ इस प्रकार हैं :–

१. **वस्तु ध्वनि** – भगवान् को अन्य साधन की अपेक्षा नहीं, वक्रता और नैर्मल्य से बालेन्दु के आयासन से इन्दु की मलिनता और अह्रद्यता की।

२. **अलंकार ध्वनि** – सुन्दरता और वक्रता में तुल्य होने पर भी वे पीड़ा–निवारण में समर्थ हैं, मैं नहीं, व्यतिरेक अलंकार रूप अलंकार ध्वनि, आयासमनुभवतीव, उत्प्रेक्षा अलंकार ध्वनि, उन्हें ही लोग बालेन्दु समझ लेंगे, मुझे नहीं, अपह्नुति रूप अलंकार ध्वनि।

३. **रस ध्वनि** – नृसिंह भगवान् के लोक रक्षा हेतु निरन्तर उद्योगशील होने से उत्साह रूप वीर रस ध्वनि।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व- स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।१।।

अन्वय – काव्यस्य आत्मा ध्वनिः इति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः अपरे तस्य अभावं जगदुः, अन्ये तं भाक्तम् आहुः, केचित् तदीयं तत्त्वं वाचाम् अविषये स्थितम् ऊचुः। तेन सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

अनुवाद – काव्य की आत्मा ध्वनि है, इस प्रकार विद्वानों ने जिस ध्वनि को पहले अच्छी प्रकार प्रकट किया, दूसरे विद्वान् उस ध्वनि का अभाव कहते हैं। अन्य विद्वान् उस ध्वनि को भाक्त (लक्षणा का विषय) कहते हैं। कुछ विद्वान उस ध्वनि के तत्त्व को वाणी का विषय नहीं है इस प्रकार कहते हैं। इस कारण से सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिये उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं।। १।।

समाम्नातपूर्वः – सम् = सम्यक्, आ = समन्तात्, म्नातः प्रकटितः पूर्वं यः सः। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त को अपने से पूर्ववर्ती स्वीकार किया है। परन्तु आनन्दवर्धन से पूर्व यह सिद्धान्त किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। सम्भवतया आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त मौखिक रूप में प्रचलित रहा होगा। कुछ आचार्य इसका प्रतिपादन करते होंगे तथा कुछ इसका विरोध करते होंगे। आनन्दवर्धन ने सबसे पूर्व इस सिद्धान्त को लिखित रूप में प्रतिपादित किया तथा ध्वनि के विरोध में जो युक्तियाँ दी जाती थीं, उन सबका संकलन करके इन विरोधी युक्तियों का खण्डन किया और इस प्रकार ध्वनि–सिद्धान्त की असंदिग्ध रूप से स्थापना की।

आनन्दवर्धन से पूर्व भरत, भामह, उद्भट, वामन और रुद्रट प्रसिद्ध काव्यशास्त्री हुये। इन आचार्यों ने ध्वनि का न तो कहीं प्रतिपादन किया और न कहीं खण्डन ही किया। आचार्य आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि के सम्बन्ध में काफी वादविवाद प्रचलित थे। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त का पक्ष लेकर उसकी प्रतिष्ठा के लिये ग्रन्थ की रचना की और ध्वनि के विरोधियों की युक्तियों का खण्डन किया। इसीलिए आनन्दवर्धन को ध्वनिकार कहा जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि–विरोधी मतों को तीन वर्गों में विभाजित किया–(१)अभाववादी, (२) भक्तिवादी और (३) अलक्षणीयतावादी।

(१) अभाववादी – जो ध्वनि का अभाव मानते हैं।

(२) भक्तिवादी – जो ध्वनि को भक्ति का विषय मानते हैं।

(३) अलक्षणीयतावादी – जो ध्वनि को अनिर्वचनीय, शब्द से अनाख्येय मानते हैं।

(१) **अभाववादी** – नास्त्येव ध्वनिरिति। तत्र समयापेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्त नास्त्येव व्यङ्ग्यम। ध्वनि नहीं है। समय (संकेत) की अपेक्षा के द्वारा शब्द से अर्थ का प्रतिपादन होता है। अतः वाच्य से अतिरिक्त शब्द व्यङ्ग्य अर्थ नहीं है।

(२) **भक्तिवादी** – भक्तिरेव ध्वनिरिति। सदपि वा तदभिधावृप्याक्षिप्तं शब्दावदर्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्। भक्ति ही ध्वनि है। यदि व्यङ्ग्य अर्थ है भी तो वह अभिधा वृत्ति से आक्षिप्त अर्थ के सामर्थ्य से उत्कृष्ट होता है, इस कारण भक्ति (गौण, लक्षणागम्य) है।

(३) **अलक्षणीयतावादी** – अनिर्वाच्यो ध्वनिरिति। तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्वित्सु। ध्वनि अनिर्वाच्य है। यदि वह आक्षिप्त न भी माना जावे तो भी वाणी द्वारा उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार कुमारी कन्यायें पति के सुख के विषय में नहीं कह सकतीं।

आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के मतों को इन तीन वर्गों में विभक्त करके उनका खण्डन किया है। परन्तु जयरथ ने रुय्यककृत 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थ की अपनी विमर्शिनी नामक टीका में ध्वनिकार के समय में ध्वनिविरोधी १२ मतों का उल्लेख किया है

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणाऽनुमिति द्विधा। अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः।।

रसस्य कार्यताभोगो व्यापारान्तरबाधनम्। द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः।।

हिन्दी अर्थ – (१) तात्पर्य शक्ति (२) अभिधा (३, ४) लक्षणा (५, ६) दो प्रकार की अनुमिति (७) अर्थापत्ति (८) तन्त्र (९) समासोक्ति आदि अलंकार (१०) उस की कार्यता (११) भोग (१२) व्यापारान्तर बाधन।

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः।

तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

अनुवाद – बुधै विद्वान् अर्थात् काव्य तत्त्व को जानने वालों के द्वारा काव्य की आत्मा ध्वनि इस प्रकार जो संज्ञा दी गई और जो समाम्नातपूर्वः अर्थात् अच्छी प्रकार से, विशद रूप से प्रकट की गई है, सहृदय लोगों के मन में प्रकाशित होते हुए भी दूसरे लोगों ने उसका अभाव बताया है।

तो अभाववादियों के ये विकल्प हो सकते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के इस वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि उनसे पूर्व ध्वनि की चर्चा होने लगी थी और इसको अनेक विद्वान काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर चुके थे, तथापि इस विषय पर किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना नहीं हुई थी। सहृदय मनुष्यों के मनों में यह सिद्धान्त प्रकाशित है, प्रकट है। 'व्यक्तिविवेक' में काव्य के दोषों के उदाहरण के रूप में महिमभट्ट ने निम्न श्लोक दिया है-

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त– कल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्।

तद् व्याकरोत् सहृदयलाभहेतो– रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।

महिमभट्ट के अनुसार यह कारिका चतुर्थ उद्योत के अन्त में है। इससे प्रतीत होता है कि ध्वनि का सिद्धान्त यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व प्रचलित हो चुका था तथापि उसको ग्रन्थ के रूप में उसने ही सबसे प्रथम निबद्ध किया।

सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्य – सहृदयानां जनानां मनःसु प्रकाशमानस्य। 'ध्वन्यालोक' में सहृदय शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग है। प्रो० सोवानी का अनुमान है कि इस ग्रन्थ की कारिकाओं की रचना सहृदय नामक किसी विद्वान् ने की थी तथा वृत्ति की रचना आनन्दवर्धन ने की परन्तु यह अनुमान भ्रामक है। वास्तव में सहृदय वे हैं जो कि काव्य के मर्म को अच्छी प्रकार से अनुभव कर सकते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार–'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः अर्थात् काव्य के अनुशीलन का अभ्यास करने के कारण जिनके स्वच्छ हुये मन रूपी दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो जाती है, अपने हृदय के साथ संवाद (आनन्द की स्थिति) को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति सहृदय हैं। जैसा कि कहा गया है–

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः। शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।।

जो अर्थ हृदय के साथ संवाद को प्राप्त करने वाला है, उसका ही भाव रस रूप अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वह सहृदय के शरीर को उसी प्रकार व्याप्त कर लेता है, जिस प्रकार सूखे काष्ठ को अग्नि व्याप्त करती है।

ध्वनि के विरोधी मतों को ध्वनिकार ने तीन वर्गों में विभक्त किया है। उनमें पहला मत अभाववादियों का है। ध्वनिकार के अनुसार अभाववादियों के तीन विकल्प हो सकते हैं। पहला विकल्प इस प्रकार है–

तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

हिन्दी अर्थ – इस विषय में कुछ अभाववादियों ने कहा है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित है। उसमे शब्द की चारुता (सुन्दरता) सौन्दर्य के हेतु अनुप्रास आदि अलंकार प्रसिद्ध ही हैं। अर्थगत सौन्दर्य के हेतु उपमा आदि अलंकार हैं। वर्णों की संघटना के धर्म, जो माधुर्य आदि गुण हैं, वे भी प्रतीत होते हैं। उन अलंकारों और गुणों से अभिन्न रहने वाली जो उपनागरिका आदि वृत्तियाँ किन्हीं विद्वानों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। इन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन सी है ?

ध्वनिकार ने अभाववादियों के प्रथम मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है। काव्य का तत्त्व उसमें निहित सौन्दर्य ही है। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित होता है, अतः शब्द और अर्थ के सौन्दर्य के हेतु ही काव्य के तत्त्व या आत्मा होंगे। शब्दों का सौन्दर्य अनुप्रास आदि अलंकारों से होता है और अर्थों का सौन्दर्य उपमा आदि अलंकारों से। शब्दों की रचना वर्णों से होती है और वर्णों का सौन्दर्य माधुर्य आदि गुणों से। कुछ समालोचकों ने उपनागरिका, परुषा, ग्राम्या तीन वृत्तियों को, जो कि वर्णों के सौन्दर्य को ही प्रदर्शित करती है, काव्य की आत्मा माना है। अन्य विद्वानों ने रीतियों को काव्य की आत्मा माना है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अभाववादियों के प्रथम विकल्प के चार मत प्रस्तुत किये हैं–अलंकारवादी, गुणवादी, वृत्तिवादी तथा रीतिवादी। इन विद्वानों के अनुसार इनको ही काव्य की आत्मा स्वीकार करना चाहिये। इससे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है।

काव्य और शरीर – अधिकांश आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों को अथवा अर्थ से युक्त शब्द को काव्य स्वीकार किया है। जैसे दण्डी ने–"शरीरं तावदिष्टार्थ–व्यवच्छिन्ना पदावली" और पण्डितराज जगन्नाथ ने–"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" कहकर अर्थ से युक्त शब्द को काव्य माना है। भामह ने–"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" और मम्मट ने–"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" कहकर शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का शरीर स्वीकार किया है। इसमें आनन्दवर्धन को भी कोई आपत्ति नहीं है।

अलंकारवादी – दण्डी आदि विद्वानों ने अलंकारों को काव्य की शोभा का आधायक माना है–

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।।

गुणवादी – कुछ आचार्यों का कथन है कि काव्य में गुण चमत्कार के आधायक हैं। प्राचीन आचार्यों में वामन ने २० गुणों की (१० शब्दगत गुण और १० अर्थगत गुण) गणना की थी। भोज ने २४ गुण बताये। परन्तु मम्मट ने इन सब गुणों को माधुर्य, ओजः और प्रसाद में अन्तर्भावित करके तीन गुण कहे। शब्दों का संघटन वर्णों से होता है तथा वर्णों का सौन्दर्य गुणों द्वारा प्रकट होता है।

वृत्तिवादी – कुछ प्राचीन आचार्यों ने वृत्तियों को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। ये वृत्तियाँ तीन हैं–परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। इन्हीं को नागरिका, ललिता या कोमला कहा गया है। उद्भट के अनुसार इन वृत्तियों के लक्षण इस प्रकार हैं–

परुषा – शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता। परुषा नाम वृत्तिः स्यात् हहलह्माद्यैश्च संयुता।।

उपनागरिका – सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः। स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः।।

ग्राम्या – शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया। ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।।

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में पाँच प्रकार की वृत्तियाँ कही हैं तथा उनको अनुप्रास का ही भेद कहा है–

"अनुप्रासस्य पञ्चवृत्तयो भवन्ति। मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च।

आनन्दवर्धन का कथन है कि ये वृत्तियाँ अलंकारों और गुणों से पृथक् नहीं हैं। "तदनतिरिक्तवृत्तयः" पद के द्वारा उन्होंने वृत्तियों तथा अलंकारों में एकता प्रतिपादित की है।

रीतिवादी – वामन आदि आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। वामन का कथन है–"रीतिरात्मा काव्यस्य"। अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति का लक्षण वे करते हैं–"विशिष्टपदरचना रीतिः"। पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है। वामन ने तीन रीतियाँ प्रतिपादित कीं–वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में इनका संकेत किया है। परन्तु इनको रीति न कहकर मार्ग कहा है। उत्तरकाल में चार रीतियाँ–वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी कही गई। रीतिवादियों का कथन है कि काव्य की आत्मा रीति ही है तथा ध्वनि नाम की अन्य वस्तु नहीं है।

अन्ये ब्रूयुः - नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

हिन्दी अर्थ – दूसरे अभाववादी कह सकते हैं–ध्वनि नहीं है। प्रसिद्ध स्थान (काव्य का मार्ग) का उल्लंघन करने वाले अर्थात् प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न काव्य के प्रकार से काव्यत्व की हानि होगी। सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से निर्मित होना ही काव्य का लक्षण है और कहे गये मार्ग का उल्लंघन करने वाले काव्य के मार्ग में यह काव्य का लक्षण सम्भव नहीं हो सकता और उस सम्प्रदाय के अन्तर्गत किन्हीं को सहृदय मानकर उनके अनुसार प्रसिद्ध करके ध्वनि में काव्य नाम प्रवर्तित होने पर भी वह सभी विद्वानों के मनों को स्वीकार नहीं हो सकता। अर्थात् वह सभी विद्वानों के मनों को आकृष्ट नहीं कर सकेगा।

अभाववादियों के प्रथम विकल्प का कथन करके ध्वनिकार ने दूसरे विकल्प का कथन किया है। काव्य के अलंकारादि मार्ग प्रसिद्ध हैं। इन प्रसिद्ध मार्ग का उल्लंघन करके अन्य किसी वस्तु, ध्वनि में काव्यत्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य, शब्द और अर्थ से निर्मित है। जो शब्द और अर्थ सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करते हैं, उन्हीं में काव्यत्व होता है। इसी मार्ग का स्वीकार करना चाहिये। इनसे भिन्न मार्ग में काव्यत्व हो ही नहीं सकता। यदि कुछ व्यक्ति ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और अपने को सहृदय समझते हैं तथा इस प्रकार से प्रसिद्ध करके ध्वनि को काव्य का नाम देते हैं, तो इस नाम को प्रचलित कर देने पर भी सभी विद्वानों को उनका यह मन्तव्य स्वीकार नहीं हो सकता।

प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः – प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम्। प्रसिद्धं सकललोकविदित यत प्रस्थानं मार्गः शब्दार्थौ तद्गुणालङ्कारश्चेति तस्य व्यतिरेकिणः अतिक्रमणं कुर्वाणस्य।

सहृदयहृदयाह्लादि – सहृदयानां काव्यरसाभिज्ञानां जनानां हृदयानि आह्लादयति इति तत्।

उक्तप्रस्थानातिरेकिणः – उक्तस्य पूर्वम् अलंकारादिरूपेण कथितस्य प्रस्थानस्य काव्यमार्गस्य अतिरेकिणः।

तत्समयान्तःपातिनः – तस्य ध्वनिवादिभिः कथितस्य समयस्य संकेतितस्य ध्वनिमार्गस्य अन्तःपातिनः अन्तर्वर्तिनः।

काव्यव्यपदेशः – काव्यस्य व्यपदेशः नामकरणम्।

सकलविद्वन्मनोग्राहिताम् – सकलेषां विदुषां मनोभिः ग्राहिताम्।

ध्वनिकार द्वारा अभावादियों के दूसरे विकल्प का कथन इस वाक्य में किया गया हैं। प्राचीन आचार्यों–दण्डी, भामह, रुद्रट, वामन आदि विद्वानों ने अलंकार आदि में काव्यत्व को स्वीकार किया है। काव्य का सौन्दर्य–अलंकारों, गुणों, वृत्तियों और रीतियों से निष्पन्न होता है। जहाँ इनका अस्तित्व होगा, वहीं काव्यत्व होगा। इनसे भिन्न स्थान पर काव्यत्व नहीं होगा। यदि काव्य वहाँ माना भी जायेगा तो इससे काव्यत्व की हानि होगी। जैसे कि "गतोऽस्तमर्कः" वाक्य में वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ प्रधान है और ध्वनिवादियों के अनुसार यह ध्वनि है। इसमें अलंकार आदि के न होने पर भी ध्वनिवादियों के अनुसार काव्यत्व मानना होगा। परन्तु वस्तुतः यहाँ काव्यत्व नहीं है। यह तो वार्तामात्र हे, यदि ध्वनिवादी इसमें काव्यत्व को स्वीकार भी करेंगे, तो भी अन्य सब विद्वान् इसमें काव्यत्व का किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। अतः ध्वनि को किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कमनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात्।

हिन्दी अर्थ – अन्य तीसरे अभाववादी उस ध्वनि के अभाव को अन्य प्रकार से कह सकते हैं। ध्वनि नाम की किसी अपूर्व वस्तु का होना सम्भव नहीं है। कमनीयता का अतिक्रमण करने वाला उस ध्वनि का इसलिए अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों द्वारा पहले कहे गये गुण, अलंकार आदि चारुत्व के हेतुओं में ही हो जायेगा। उस गुण, अलंकार आदि में से किसी एक का ही अपूर्व नामकरण ध्वनि के रूप में कर देने मात्र से कौन–सा कथन होगा। अर्थात् यह बड़ा तुच्छ सा कथन होगा।

अभाववादियों के दो विकल्पों का कथन करके आचार्य आनन्दवर्धन ने तीसरे विकल्प का कथन किया है कि तीसरे अभाववादी ध्वनि के अभाव को अन्य प्रकार से कहते हैं। वे ध्वनि का अन्तर्भाव पहले कहे गये चारुता के हेतुओं–गुणादि में कर लेते हैं। उनका कहना है कि काव्य की आत्मा वही है, जो उसमें चारुत्व या कमनीयता का आधान कर सके। ध्वनिवादी भी इसको स्वीकार करते हैं। सबके अलंकार आदि तत्त्व कमनीयता के हेतु हैं तथा ध्वनि भी कमनीयता की हेतु है, तो ध्वनि का अन्तर्भाव भी अलकार आदि चारुत्व हेतु ओं में हो जावेगा। यह कोई नया पदार्थ नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने अनेक अलंकारों का नामकरण किया है। उनमें यदि ध्वनि का नहीं गिनाया है तो इस नये नामकरण को करने में, जिसका कि अन्तर्भाव अलंकार आदि चारुत्व हेतुओं में है, कौन–सा विशेष कथन हो जायेगा। अतः ध्वनि को पृथक् रूप से मानना आवश्यक नहीं है।

किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीक-सहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिता प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्यक्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।

हिन्दी अर्थ – कथन की शैलियों के अनन्त होने के कारण, लोक में प्रसिद्ध काव्य लक्षणकारों के द्वारा जिसको प्रकाशित नहीं किया गया, ऐसे तुच्छ से प्रकार के सम्भव होने पर भी, यह ध्वनि है, यह ध्वनि है, इस प्रकार से यह जो मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखों को बन्द करके नाच रहे हैं, अर्थात् अत्यधिक उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं इसका हम कोई कारण नहीं जान रहे हैं। दूसरे महात्मा विद्वानों ने हजारों अलंकारों के प्रकार निश्चय ही प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। परन्तु उनकी ऐसी दशा नहीं सुनी जा रही है। इस कारण से यह ध्वनि प्रवादमात्र है। इस ध्वनि में विचार करने योग्य कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसको प्रकाशित किया जा सके।

वाग्विकल्पानाम् – वक्ति इति वाक् = शब्दः। उच्यते इति वाक् = अर्थः। उच्यतेऽनया इति वाक् = अभिधाव्यापारः। वाक् शब्द से शब्द, अर्थ और अभिधा वृत्ति इन तीनों का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि वाणी की, शब्द–अर्थ–अभिधाव्यापार की शैलियाँ अनन्त होती हैं।

अलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैः – अलीकस्य सहृदयत्वस्य भावनया मुकुलितानि लोचनानि येषां तैः।

सहस्त्रशो हि अलङ्काराः प्रकाशिताः – आचार्यों का कथन है कि अलंकारों के अनेक भेद हैं, जिनमें से कुछ कह दिये हैं, कुछ की स्वयं कल्पना करनी चाहिये। जैसे–

दण्डी – काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति।।

भामह – इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतय मया। बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च।।

प्रवादमात्रं ध्वनिः – इस शब्द के द्वारा आचार्य ने अभाववादियों के कथन का उपसंहार किया है कि वे ध्वनि को बकवास मात्र समझते हैं और यह आलोचना की कसौटी पर नहीं ठहर सकती। इसमें जरा सी भी तत्त्व की बात नहीं है, जिसको प्रकाशित किया जा सके।

तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः -

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।।

हिन्दी अर्थ – और इस विषय में किसी दूसरे के द्वारा रचित श्लोक इस प्रकार है–

जिस काव्य में अलंकारों से युक्त और मन को आह्लादित करने वाली कोई वस्तु (काव्यतत्त्व) नहीं है, जो काव्य व्युत्पन्न वचनों से नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से रहित है, वह काव्य ध्वनि से युक्त है, इस प्रकार से प्रेम से प्रशंसा करते हुए मूर्ख किसी बुद्धिमान् मनुष्य द्वारा ध्वनि का स्वरूप पूछे जाने पर वह क्या कहेगा, यह हम नहीं जानते।

कहने का भाव यह है कि ध्वनि में मन को आह्लादित करने वाले न तो अर्थालंकारों का न शब्दालंकारों का चमत्कार है, न गुणों से युक्त उत्कृष्ट संघटना है तो ध्वनि का स्वरूप क्या है ? यह पूछे जाने पर ध्वनि की प्रशंसा करने वाला नहीं बता सकता। व्यंग्यपूर्वक ध्वनि को मानने वाले को जड़ कहा है।

अन्येन कृतः – अभिनवगुप्त का कथन है कि यहाँ अन्य शब्द का अभिप्राय मनोरथ नाम के कवि से है। यह श्लोक आनन्दवर्धन के समकालीन कवि मनोरथ की रचना है। वे लिखते हैं –

तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।

सालंकृति – इस पद से अर्थालंकारों का अभाव कहा गया है।

व्युत्पन्नैः वचनैः – इन पदों से शब्दालंकारों का अभाव कहा गया है।

वक्रोक्तिशून्यम् – वक्रोक्तिः उत्कृष्टा संघटना। इस पद से शब्द और अर्थ के गुणों का अभाव कहा गया है।

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः

हिन्दी अर्थ – दूसरे विद्वान् उसे, ध्वनि को भाक्त अर्थात् भक्ति का विषय कहते हैं। अन्य विद्वान ध्वनि नाम वाली काव्य की आत्मा को गुणवृत्ति है, इस प्रकार से कहते हैं।

आहुः – ध्वनिकार ने कारिका में अभाववादियों के लिए 'जगदुः' तथा अलक्षणीयतावादियों के लिये 'ऊचुः', इस प्रकार भूतकालवाचक लिट् लकार का प्रयोग किया है परन्तु भक्तिवादियों के लिये वे वर्तमानकाल वाचक लट् लकार का प्रयोग करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अभाववादी तथा अलक्षणीयतावादी, ये दोनों पक्ष सम्भावित पक्ष हैं, जिनका विवेचन अन्य ग्रन्थों में नहीं है परन्तु भक्तिवादी पक्ष अविच्छिन्न रूप से पुस्तकों में, भामह के 'काव्यालंकार', उद्भट के 'भामहविवरण' आदि ग्रन्थों में विद्यमान है। अतः इसके लिये लट् लकार का प्रयोग उचित है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने लिखा है–

"अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेषु इत्यभिप्रायेण 'भाक्तमाहुरिति' नित्यप्रवृत्तमानापेक्षतयाभिधानम्।

भाक्तम् – भाक्त पद की व्युत्पत्ति अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मः अभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः।"

जो पद के अर्थ के द्वारा सेवित होता है, प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित होता है, वह भक्ति है, वह अभिधावृत्तिप्रतिपाद्य अर्थ के द्वारा बोधित सामीप्य आदि धर्म है। अभिधावृत्तिप्रतिपाद्य अर्थ से प्रतीत वह लाक्षणिक अर्थ भाक्त है। यह लक्षणा पाँच प्रकार की है

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः। वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।।

अभिधेय के द्वारा सामीप्य सम्बन्ध से, सारूप्य सम्बन्ध से, समवाय सम्बन्ध से, वैपरीत्य सम्बन्ध से और क्रिया के योग से सम्बन्ध से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है।

आलंकारिकों के अनुसार मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, रुढि या प्रयोजन ये तीन स्थितियाँ विद्यमान होने पर लक्षणा होती है। उदाहरण के लिये "गंगायां घोषः" पद है। यहाँ "गंगायाम्" पद का मुख्य अर्थ (अभिधेय) गंगा का प्रवाह है। गंगा के प्रवाह में घोष की स्थिति असम्भव होने से मुख्यार्थबाध होता है। अतः इस पद का अर्थ गंगातट किया जाता है, जो कि मुख्य अर्थ के प्रवाह के समीप होने से उससे सम्बन्धित है। अतः मुख्यार्थयोग की स्थिति है। 'गंगातटे' न कहकर 'गङ्गायाम्' कहने का प्रयोजन यह है कि घोष में गंगा के पावनत्व आदि गुणों की प्रतीति हो सके। इस प्रकार इस पद में मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन इन तीन स्थितियों के होने के कारण 'गंगायाम्' पद से अभिधा द्वारा मुख्य अर्थ 'गंगा का प्रवाह' बोधित न होकर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ 'गङ्गातट' बोधित होता है।

आलंकारिकों ने लक्षणा दो प्रकार की कही है–शुद्धा और गौणी। सादृश्य से भिन्न सामीप्य आदि सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा होती है और सादृश्य से गौणी लक्षणा होती है। 'गंगाया घोषः' में सामीप्य सम्बन्ध के होने से शुद्धा लक्षणा है। 'गौर्वाहीकः' पद में गौणी लक्षणा है।

मीमांसकों ने गौणी वृत्ति को अलग रूप से स्वीकार किया है। 'भक्ति' पद से अलंकारिकों की लक्षणा वृत्ति (शुद्धा और गौणी) का तथा मीमांसकों की गौणी वृत्ति का, दोनों का ग्रहण होता है। लक्षणा के लिये तीन स्थितियाँ अनिवार्य होने से 'भक्ति' पद की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है–

(१) मुख्यार्थस्य भङ्गः भक्तिः। मुख्य अर्थ का बाधित होना भक्ति है। इससे मुख्यार्थबाध सूचित होता है।

(२) भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मः भक्तिः। पद के अर्थ के द्वारा सामीप्य आदि धर्म का सेवित होना भक्ति है। इससे मुख्यार्थयोग सूचित होता है।

(३) प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः भक्तिः। प्रतिपादनीय सामीप्य, तीक्ष्णता आदि धर्म में अतिशय श्रद्धा का होना भक्ति है। इससे प्रयोजन सूचित होता है।

इस प्रकार 'भक्ति' पद से लक्षणा के लिये तीनों अनिवार्य अवस्थायें मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ योग और प्रयोजन सूचित हो जाती हैं। भक्ति पद की व्युत्पत्ति है–

"भक्त्या आगतः भाक्तः"

जो अर्थ भक्ति से अर्थात् मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग एवं प्रयोजन से प्रतीत हो, वह भाक्त है। लक्षणावादी विद्वान् ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत कर लेते हैं, अतः वे ध्वनि को भाक्त कहते हैं।

ध्वनि – जिस प्रकार भक्ति पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गई है, उसी प्रकार ध्वनि पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की गई है–

(१) ध्वनति इति ध्वनिः। इससे व्यञ्जक शब्द सूचित होता है।

(२) ध्वन्यते इति ध्वनिः। व्यङ्ग्य अर्थ सूचित होता है।

(३) ध्वन्यते अनया इति ध्वनिः। इससे व्यञ्जना वृत्ति सूचित होती है।

इस प्रकार ध्वनि पद–व्यञ्जक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जना व्यापार तीनों का सूचक है। जिस काव्य में ध्वनि का प्राधान्य होता है उस काव्य को ध्वनि नाम दिया गया है।

काव्यात्मानम् – काव्य की आत्मा।

गुणवृत्तिम् – जिस प्रकार भक्ति और ध्वनि पद शब्द, अर्थ एवं व्यापार तीनों के सूचक हैं, उसी प्रकार गुणवृत्ति पद भी तीनों की सूचना देता है–

(१) गुणैः सामीप्यादिभिस्तैक्ष्ण्यादिभिर्वोपायैरर्थान्तरे वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्तिः शब्दः। जो शब्द सामीप्य आदि या तैक्ष्ण्य आदि उपायों से दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वह गुणवृत्ति शब्द है।

(२) तैरुपायैः शब्दस्य वृत्तिर्यत्र सोऽर्थो गुणवृत्तिः। जो अर्थ इन सामीप्य आदि और तैक्ष्ण्य उपायों से बोधित होता है, वह गुणवृत्ति अर्थ है।

(३) गुणद्वारेण वर्तनं वा गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः। जो व्यापार गुण के द्वारा प्रवर्तित होता है, वह अमुख्य अभिधा व्यापार गुणवृत्ति है।

इस प्रकार लक्षणावादी विद्वान् व्यंग्य अर्थ को लक्षणा द्वारा ही बोधित मान कर ध्वनि को लक्षणाप्रतिपाद्य सिद्ध करते हैं।

इस वाक्य में 'भाक्तम्' और 'तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानम्, पदों में समान विभक्ति–वचन–लिङ्ग का प्रयोग करके इनको समानाधिकरण रखा गया है। इन पदों को समानाधिकरण रखने का अभिप्राय यह है कि भक्तिवादी भक्तिप्रतिपाद्य अर्थ तथा ध्वनि का तादात्म्य या अभेद रूप प्रतिपादित करते हैं। जिस प्रकार 'नीलम् उत्पलम्' को समान अधिकरण में कहने से नील और उत्पल में अभेद या तादात्म्य प्रतिपादित होता है।

यद्यपि ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथाऽपि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् भाक्तमाहुस्तमन्ये।

हिन्दी अर्थ – यद्यपि काव्य का लक्षण करने वाले विद्वानों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके 'गुणवृत्ति' अथवा अन्य किसी प्रकार को प्रकाशित नहीं किया है, तो भी काव्यों में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार प्रदर्शित करते हुए ध्वनि के मार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया। इस प्रकार की कल्पना करके ही हमने कहा–दूसरे इस ध्वनि को भाक्त कहते हैं।

यहाँ ध्वनिकार के कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भट्टोद्भट, वामन आदि ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने ध्वनि काव्य गुणवृत्ति काव्य है, इस प्रकार नहीं कहा है। तथापि इन्होंने स्वीकार किया है कि काव्यों में मुख्य अभिधा व्यापार के अतिरिक्त एक अन्य अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति व्यापार भी है। भामह ने "शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः" की व्याख्या के प्रसंग में अमुख्य वृत्ति को स्वीकार किया है। भट्टोद्भट ने "शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारे मुख्यो गुणवृत्तिश्च" कहकर यह प्रतिपादित किया है कि शब्दों का अर्थ मुख्य अभिधा व्यापार से तथा अमुख्य गुणवृत्ति से किया जाता है। वामन ने भी कहा है–"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"। सादृश्य से जो लक्षणा होती है, वह वक्रोक्ति कहलाती है।

इस प्रकार ये आचार्य काव्यों में अभिधा व्यापार मुख्यवृत्ति से आगे गुणवृत्ति अमुख्य व्यापार तक पहुँच गये थे तथा इन्होंने ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श करके उसका कुछ उन्मीलन किया था। परन्तु वे ध्वनि का लक्षण नहीं कर पाये। उन्होंने अमुख्य व्यापार लक्षणा तो स्वीकार कर लिया, परन्तु उससे आगे के व्यञ्जना व्यापार का विरोध किया और ध्वनि के मार्ग का यत्किञ्चित स्पर्श करके भी वे उसका लक्षण नहीं कर सके। ध्वनि को लक्षणावृत्ति प्रतिपाद्य अर्थात् भाक्त कहने लगे।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

हिन्दी अर्थ – काव्य के लक्षण करने में अप्रगल्भ बुद्धि वाले कुछ विद्वानों ने ध्वनि के तत्त्व को वाणी से अगोचर, केवल सहृदयों के हृदय द्वारा संवेद्य कहा है। अर्थात् सहृदय केवल ध्वनि का अनुभव कर सकते हैं उसे शब्दों से नहीं कहा जा सकता।

इस कारण इस प्रकार की विभिन्न विपरीत मतियों के स्थित होने पर हम सहृदयों के मनों की प्रसन्नता के लिये उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा बाद का मत अधिक श्रेष्ठ है। वे लिखते हैं–

"एते च त्रय उत्तरोत्तर भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ताएव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते। अन्त्यास्त्वनपह्नवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञान– प्राधान्यमेतेषाम्"।।

अर्थात् ये तीनों मत उत्तरोत्तर अधिक श्रेष्ठ बुद्धि वाले हैं। पहले अभाववादी विपर्यय बुद्धि वाले हैं अर्थात् वे ध्वनि के तत्त्व को जानते ही नहीं हैं। दूसरे भक्तिवादी ध्वनि के रूप को जानते तो हैं, परन्तु सन्देह के कारण उसको छिपाते हैं। तीसरे अलक्षणीयतावादी ध्वनि को छिपाते तो नहीं परन्तु उसका लक्षण करना नहीं जानते। इस प्रकार इन मतों में क्रमशः विपर्यय, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है।

ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधियों के विभिन्न मतों को प्रस्तुत करके कहा कि वस्तुतः काव्य की आत्मा ध्वनि ही है। इस ध्वनि का स्वरूप हम यहाँ बता रहे हैं। ध्वनि के स्वरूप को कहने का प्रयोजन यह है कि सहृदयों में प्रसन्नता का उद्भव हो सके।

तेन – क्योंकि ध्वनि के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, अतः यहाँ बहुवचन अपेक्षित था। परन्तु ध्वनि के सम्बन्ध में उसकी तीनों विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करके ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रतिपादन के लिये तीनों को एक–एक करके हेतु माना है, अतः 'तेन' में एकवचन का प्रयोग किया गया है।

विमतिषु – विरुद्धा मतिः विप्रतिपत्तिः संशयः विमतिः तासु। ध्वनि का विरोध करने वाले अनेक विरोधी संशयात्मक मत विद्यमान हैं, अतः ध्वनिकार अपने मत को प्रस्तुत करने से पूर्व उन संशयात्मक मतों को प्रस्तुत करते हैं। नैयायिकों के अनुसार किसी भी सिद्धान्त की परीक्षा के लिये पहले उससे सम्बन्धित संशयात्मक मतों की परीक्षा करनी चाहिये। जैसे कि न्यायसूत्र के भाष्य में कहा गया है –

यत्र तत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, यत्र तत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति। अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति। –न्यायसूत्र २.१.७ का वात्सायन भाष्य।

विमतिषु स्थितासु – यहाँ 'यतश्च निर्धारणम्' में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ निर्धारण में सप्तमी है।

सहृदयमनः प्रीतये – काव्य के अनेक प्रयोजनों में सद्यःपरनिर्वृत्ति, आनन्द की प्राप्ति सबसे मुख्य प्रयोजन माना गया है। अतः ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करने में ध्वनिकार का उद्देश्य सहृदयों के मनों में प्रसन्नता का आधान करना है। सहृदय से कारिकाकार के नाम का भी अभिप्राय लिया गया है।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम् अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।।१।।

हिन्दी अर्थ – उस ध्वनि का स्वरूप निश्चय से सभी श्रेष्ठ कवियों के काव्यों का उपनिषदभूत है अर्थात् परम रहस्य है अत्यधिक रमणीय है और प्राचीन काव्य–निर्माताओं की अतिसूक्ष्म बुद्धियों द्वारा भी उसका पहले उन्मीलन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण और महाभारत आदि लक्ष्य–ग्रन्थों में सभी स्थानों पर इसके प्रसिद्ध व्यवहार को लक्षित करने वाले सहृदयों के मन में आनन्द प्रतिष्ठा को प्राप्त करे, इस उद्देश्य से ध्वनि के स्वरूप को प्रकाशित किया जा रहा है।।१।।

कहने का भाव है ध्वनि का स्वरूप सभी श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का सारभूत तत्त्व है और पूर्ववर्ती काव्यलक्षण निर्माताओं ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि से भी इसे प्रकट नहीं किया है, ऐसे सहृदयों के हृदयों में आनन्द प्राप्त हो, अतः ध्वनि का स्वरूप प्रकट किया जा रहा है।

उपनिषद्भूतम् – इस शब्द का अर्थ है–सभी काव्यों का जो सारभूत छिपा हुआ तत्त्व है। इस शब्द की व्याख्या बालप्रिया टीका में इस प्रकार की गई है–'उपनिषद्भूतेति'। काव्यतत्त्वानभिज्ञैर्दुर्ज्ञेयत्वादतिरहस्यभूतेत्यर्थः"। 'उपनिषद्भूत' पद का अभिप्राय है कि जो काव्य तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिये कठिनाई से जाना जा सकने के कारण अत्यधिक रहस्यभूत है।

लक्षयताम् – लक्षणद्वारेण निरूपयताम्। लक्षण के द्वारा जिन सहृदयों ने ध्वनि का निरूपण किया है, उनका। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्ष्यं लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति इति तेषाम् लक्षणद्वारेण निरूपयताम्।

आनन्दः मनसि प्रतिष्ठां लभताम् – 'आनन्द' पद में श्लेष है। इसका पहला अर्थ है सहृदयों के मन में काव्य रचना का आनन्द प्रतिष्ठित होवे। काव्य के अनेक उद्देश्य हैं, इनमें आनन्द की प्राप्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। वह आनन्द सहृदयों को तभी प्राप्त होता है जबकि वे ध्वनि के मर्म को समझने में समर्थ होते हैं। यह आनन्द जीवन के चार पुरुषार्थों धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष से भी चमत्कारी है। 'वक्रोक्तिजीवित' में कहा गया है–

चतुर्वर्गफलस्वादमप्यातिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।१.५।।

भामह ने काव्यालंकार में लिखा है–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।। १.२।।

इन प्रयोजनों में भी प्रीति को सबसे प्रधान कहा गया है।

कवि कर्णपूर ने 'काव्यकौस्तुभ' में लिखा है–

यशःप्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते। निर्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु।।

चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु यः। स एव परमो लाभः स्वादकानां तथैव सः।। १.७।।

आनन्द पद से दूसरा अभिप्राय यह है कि ध्वनि तीन प्रकार की है–वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों में आनन्दरूप रसध्वनि सबसे प्रधान है।

आनन्द पद से तीसरा अभिप्राय ग्रन्थ के रचयिता से है। इस ग्रन्थ में ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार आनन्दवर्धन सहृदयों के मनों में प्रतिष्ठित होकर शाश्वत यश को प्राप्त करना चाहते हैं। क्योंकि यह कहा गया है–

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्। आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।।

उत्तम निबन्धों की रचना करने वाले कवियों के स्वर्ग में पहुँच जाने पर भी उनका काव्यमय शरीर बिना कष्ट के विद्यमान ही है।

ध्वनिकार ने इस वाक्य के द्वारा ध्वनिविरोधियों के मतों का निराकरण भी किया है। ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधियों के ५ मत–तीन अभाववादियों के, एक भक्तिवादियों का और एक अलक्षणीयतावादियों का प्रस्तुत किये हैं। "तस्य हि ध्वनेः स्वरूपम्..."। इस वाक्य से ध्वनि का जो रूप प्रस्तुत किया गया है, उससे इन पाँचों मतों का निराकरण होता है। यह इस प्रकार से है–

(१) 'सकल' और 'सत्कवि' शब्द के द्वारा उन अभाववादियों के मत का खण्डन होता है जो कि "कस्मिंश्चित् प्रकारलेशे" पक्ष के हैं।

(२) 'अतिरमणीयम्' पद से भक्तिवादियों के मत का खण्डन किया गया है। लक्ष्य अर्थ से व्यंग्य अर्थ अधिक रमणीय होता है।

(३) 'उपनिषद्भूतम्' पद से अभाववादियों के इस मत का खण्डन किया गया है जो कि 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे' की युक्ति पर आधारित है।

(४) 'अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्' पदों से उन अभाववादियों के मत का खण्डन किया गया है, जो ध्वनि को गुण–अलंकार आदि में अन्तर्भावित करते हैं।

(५) 'अथ च...सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयताम्' पदों से अलक्षणीयतावादी मत का खण्डन किया गया है।

ध्वनि का लक्षण करने से पूर्व आनन्दवर्धन ने जो यह प्रसंग भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है, इससे अनुबन्ध चतुष्टय का बोध भी होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय का–प्रयोजन, विषय, अधिकारी और सम्बन्ध का, कथन किया जाना चाहिये, जैसे कि श्लोकवार्तिक में लिखा है–

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।१.१७।।

आनन्दवर्धन ने भी इस परम्परा का पालन करते हुए अनुबन्ध–चतुष्टय को सूचित किया है –

(१) प्रयोजन – 'विमतिषु स्थितासु सहृदयमनः प्रीतये"। इन पदों से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का प्रयोजन विमतियों को दूर करना तथा सहृदयों के मन को प्रसन्न करना है।

(२) विषय – "तत्स्वरूपं ब्रूमः"। इन पदों से स्पष्ट है कि ध्वनि के स्वरूप का वर्णन करना इस ग्रन्थ का विषय है।

(३) अधिकारी – "सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्"। इन पदों से यह सूचित होता है कि सहृदय जन इस ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी हैं।

(४) सम्बन्ध – इस ग्रन्थ में शास्त्र और विषय का प्रतिपाद्य–प्रतिपादक सम्बन्ध है तथा शास्त्र और प्रयोजन का साध्य–साधन सम्बन्ध है।।१।।

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते-

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।२।।

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेश चारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्यः वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।।२।।

हिन्दी अर्थ – ध्वनि का ही लक्षण आरम्भ करने के लिए उसकी भूमिका की रचना के लिये ही यह कहा जाता है–

अन्वय – *यः अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा इति व्यवस्थितः, तस्य वाच्यप्रतीयमानाख्यौ उभौ भेदौ स्मृतौ।*

जो अर्थ सहृदयों के द्वारा प्रशंसनीय है तथा जो काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं ।।२।।

(गुण और अलंकारों से सुन्दर) तथा उचित रसादि के योग्य रचना के कारण रमणीय काव्य का शरीर के आत्मा के समान सार रूप में स्थित एवं सहृदय द्वारा प्रशंसित जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान इस प्रकार से दो भेद हैं।।२।।

इस कारिका में ध्वनिकार ने काव्य में दो प्रकार के अर्थों का कथन किया है तथा दोनों अर्थों को काव्य की आत्मा रूप तथा सहृदयों से प्रशंसित बताया है। इस प्रकार ध्वनिकार के कथन में ही परस्पर विरोध प्रतीत होता है। ध्वनिकार पहले तो ध्वनि, जो कि प्रतीयमान अर्थ है, को काव्य की आत्मा बताते हैं। (काव्यास्यात्मा ध्वनिः)। अब वे वाच्य अर्थ को भी काव्य की आत्मा कह रहे हैं। इस प्रकार

ध्वनिकार के पहले कथन "तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्" और इस कारिका में परस्पर असंगति उत्पन्न हो जाती है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में ध्वनिकार के इस कथन में पूर्वापर विरोध दिखाया है–

"यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्–

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।

तत्र वाच्यस्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।"

परन्तु यह असंगति वास्तविक नहीं है। ध्वनिकार ध्वनि को ही काव्य का सारभूत तत्त्व मानते हैं। वाच्य यहाँ ध्वनि के लक्षण की भूमिका को बनाने के लिये किया है। वाच्य ध्वनि में भूमिका रूप है। वाच्य अर्थ के बिना व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि व्यंग्य अर्थ के बोध के लिये पहले वाच्य अर्थ का जानना अनिवार्य है, इसलिए ध्वनिकार ने वाच्य अर्थ का यहाँ उल्लेख किया है। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"ननु" ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का संगतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य संगतिं कर्तुमवतरणिकां करोति–ध्वनेरेवेति।"

भूमिकाम् – भूमिरिव भूमिका (लोचनटीका)। भूमिका भूमि (नींव) के समान होती है। जिस प्रकार किसी प्रासाद की रचना करने से पूर्व उसकी मजबूत भूमि (नींव) बनाई जाती है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करने के लिये उसकी भूमि के रूप में वाच्य अर्थ का निरूपण आवश्यक है। वाच्य अर्थ का अच्छी प्रकार से बोध होने पर ही प्रतीयमान अर्थ का विवेचन सम्भव होगा। यहां प्रतीयमान के साथ वाच्य को इसलिये रखा गया है कि कहीं उसका काव्य में अपह्नव (निषेध) न कर दिया जावे।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ – वाच्यश्च प्रतीयमानश्च। द्वन्द्व समास। द्वन्द्व समास उभयपदप्रधान है। इससे सिद्ध है कि काव्य में वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थों का अस्तित्व रहता है। किसी का भी अपह्नव (निषेध) नहीं किया जा सकता।

स्मृतौ – 'स्मृतौ' पद से यह अभिप्राय है कि ध्वनिकार इस विषय में कोई नई बात नहीं कह रहे, अपितु प्राचीनकाल से काव्य में प्रतीयमान अर्थ माना जाता रहा है। इससे ध्वनिकार के 'समाम्नातपूर्वः' कथन की भी पुष्टि होती है।

सहृदयश्लाघ्यः – पहले कहा गया है–"शब्दार्थशरीरं काव्यम्।" काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित है। अर्थ को सहृदयों से श्लाघनीय काव्य की आत्मा के रूप में कहा गया है। इसमें भी असंगति प्रतीत होती है। वस्तुतः शब्द शरीर के सदृश है, इसका सभी व्यक्ति अनुभव कर सकते हैं। परन्तु अर्थ का ज्ञान सब मनुष्यों को नहीं होता। अर्थ का, विशेष रूप से प्रतीयमान अर्थ का बोध सहृदयजन ही कर पाते हैं। अतः सहृदय श्लाघ्य अर्थ प्रतीयमान ही है। इसको दो विभागों वाच्य और प्रतीयमान में करने का यही अभिप्राय है कि प्रतीयमान अर्थ को जानने के लिये वाच्य अर्थ का भी जानना आवश्यक है।

ललितोचितसन्निवेशचारुणः – ललितेन उचितेन च सन्निवेशेन चारुणः। यहाँ ललित का अभिप्राय गुणालंकारयुक्त रचना से है और उचित शब्द से रसविषयक औचित्य का ग्रहण किया जाता है, जैसे कि अभिनवगुप्त का कथन है–

"ललितशब्देन गुणालंकारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रैव उद्घोष्यतइति।"

अर्थात् ललित पद से गुणों और अलंकारों का अनुग्रह (सहायकत्व) कहा है। उचित शब्द से रसविषयक औचित्य ही होता है, इस प्रकार प्रदर्शित करते हुये रसध्वनि काव्य का जीवन है, यह सूचित करते हैं। उस रस के अभाव में किस अपेक्षा से सब स्थानों पर औचित्य को उद्घोषित किया जा सकता है ?

आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये ध्वनि को मुख्य कहकर भी औचित्य के महत्त्व का समर्थन किया है। उनका कहना है कि रस का सन्निवेश करते हुये औचित्य का ध्यान रखना चाहिये। औचित्य के न रहने पर रस का भङ्ग हो जाता है

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्याबन्धस्तु रहस्योपनिषत् परा।। तृतीय उद्योत।।

औचित्य के अतिरिक्त रस के भंग का दूसरा कारण नहीं है। प्रसिद्ध औचित्य का नियोजन ही रस का परम रहस्य है।

औचित्य को महत्त्व देते हुये भी आनन्दवर्धन ने उसको रस के ऊपर प्रस्थापित नहीं किया। उसने रसध्वनि को ही काव्य का परम तत्त्व माना है–

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।।४, ५।।

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के अनेक प्रकार से सम्भव होने पर भी कवि को चाहिये कि वह एक रसादिमय भेद में ही ध्यान देने वाला हो

रस के नियोजन में अनौचित्य की कड़ी आलोचना ध्वनिकार ने की है। इस सम्बन्ध में वे कालिदास को भी नहीं छोड़ते। एक ओर तो कालिदास ने शिव और पार्वती की संसार के माता–पिता के रूप में वन्दना की है, (जगतः पितरौ वन्दे पार्वती–परमेश्वरौ।। रघुवंश १.१।।) दूसरी ओर उन्होंने 'कुमारसम्भव' में उनके नग्न शृंगार का चित्रण किया है।

"तथाहि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसंभोगशृंङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा 'कुमारसम्भवे' देवी सम्भोगवर्णनम्"।। (–ध्वन्यालोक कारिका–३.६ की वृत्ति।।)

महाकवियों का भी उत्तम देवता विषयक प्रसिद्ध संभोग शृंगार का नियोजन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण ग्राम्यत्व रूप से प्रतिभासित नहीं होता। जैसा कि 'कुमारसम्भव' में देवी पार्वती के सम्भोग का वर्णन है।

आनन्दवर्धन ने रस के औचित्य के लिये विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी–भावों में भी औचित्य का प्रतिपादन किया है–

विभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः।

विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ।।३.१०।।

शृंगार रस के स्थायीभाव रति के औचित्य के सम्बन्ध में वे लिखते हैं–

रतिहि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः।...

तथाहि अधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता।

तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनंतत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्। यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृत्वात् न लक्ष्यत इत्युक्तमेव।

इस प्रकार 'ललितोचितसन्निवेशचारुणः' पद से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है कि काव्य को गुणों और अलंकारों से विभूषित होना चाहिये तथा उसमें रस के औचित्य का समायोजन होना चाहिये। तभी वह काव्य चारु होता है।।२।।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।

बहुधाः व्याकृतः सोऽन्यैः।

काव्यलक्ष्मविधायिभिः।

ततो नेह प्रतन्यते।। ३।।

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगम्।। ३।।

अन्वय – तत्र वाच्यः यः। उपमादिभिः प्रकारैः प्रसिद्धः, सः अन्यैः बहुधा व्याकृतः।

हिन्दी अर्थ – उन दोनों प्रकारों के अर्थों में से वाच्य अर्थ जो उपमा आदि प्रकारों के द्वारा प्रसिद्ध है, उसकी अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है।

अन्यैः का अभिप्राय है काव्य का लक्षण करने वाले आचार्यों के द्वारा। इसलिए उसका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे।।३।।

अर्थात् वह वाच्य अर्थ यहाँ आवश्यकता के अनुसार केवल अनूदित किया जा रहा है।।२।।

प्रतन्यते, अनूद्यते – अज्ञात अर्थ का ज्ञापन अर्थात् उसके लक्षण का प्रतिपादन प्रतनत कहलाता है। (अज्ञातज्ञापनलक्षणं प्रतिपादनं हि प्रतनतम्) और दूसरे प्रमाणों से अवगत अर्थ का शब्दों के द्वारा कथन करना अनुवाद कहलाता है (प्रमाणान्तरावगतार्थस्य शब्देन संकीर्तनमात्रमनुवादः)।

आनन्दवर्धन का भाव यह है....वाच्य अर्थ, जो कि उपमा आदि अलंकारों से विशिष्ट है, उसका विस्तृत वर्णन प्राचीन आचार्यों ने किया है। अतः उसको प्रतिपादित करने की हमें आवश्यकता नहीं है। हम उसको उसी प्रकार से स्वीकार करते हैं तथा उसका प्रतिपादन करके केवलमात्र कथन करते हैं।

प्रसिद्धः – प्रसिद्ध का अर्थ लौकिक है। "वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिवद्लौकिक एवेत्यर्थः" (लोचन)। भाव यह है कि वाच्य अर्थ को ध्वनिकार ने वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि के समान लौकिक कहा है तथा व्यंग्य रस को अलौकिक माना है।

प्रकारैरुपमादिभिः – वाच्य अर्थ की शोभा अलंकारों से होती है। इनमें उपमा सबसे प्रमुख है। जैसा कि वामन का कथन है "सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमा इति। सैव विचार्यते।।" काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४.२.१।।

इसी तथ्य की पुष्टि अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा में की है'

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्। रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतांसि।।

अन्यैः – ध्वनिकार का अन्य पद से अभिप्राय प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों भामह, दण्डी, उद्भट आदि से है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ४।।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् तत् सहृदयप्रसिद्ध प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्नासु। यथा ह्यङ्नासु पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

अन्वय – महाकवीनाम् वाणीषु तत् प्रतीयमानं पुनः अन्यद् एव वस्तु अस्ति। यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् अङ्गनासु लावण्यम इव विभाति।

हिन्दी अर्थ – महाकवियों की वाणियों में रचनाओं में वह प्रतीयमान अर्थ पुनः कुछ और ही वस्तु है, जो कि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रसिद्ध काव्य–अवयवों, गुणालंकार आदि से भिन्न है और उसी प्रकार शोभायमान है जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य शोभायमान होता है।।४।।

पुनः यह प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ से भिन्न अन्य और कोई ही वस्तु है। यह प्रतीयमान इस प्रकार का है जो कि सहृदय जनों में प्रसिद्ध है, और लोकप्रसिद्ध अलंकारों से तथा प्रतीत होने वाले अन्य काव्य–अवयवों से भिन्न होता हुआ उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य प्रकाशित होता है। जिस प्रकार अङ्गनाओं में पृथक् रूप से दिखाई देता हुआ सौन्दर्य उसके सभी अंगों से पृथक् होकर सहृदयों की आँखों के लिये अमृतरूप कोई और ही दूसरा तत्त्व है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ है। कहने का भाव यह है कि जैसे सुन्दर स्त्रियों में लावण्य हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि से भिन्न प्रतीत होता है उसी प्रकार प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ महाकवियों की वाणियों (रचनाओं) में वाच्य अर्थ, जो कि अभिधा से बोधित होने वाला है से भिन्न होता है और यह प्रतीयमानार्थ, काव्य के विभिन्न प्रसिद्ध अवयव अलंकार, गुण, रीति आदि से भिन्न प्रतीत होता है

ध्वनिकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न है और यही अर्थ काव्य का सारभूत तत्त्व है। उन्होंने काव्य की उपमा नारी से दी है। जिस प्रकार नारी के शरीर के विभिन्न अंग दोषरहित होते हैं तथा विभिन्न अलंकारों से अलंकृत होते हैं तथा वह इस कारण आकर्षक प्रतीत होती है। परन्तु इन सबसे भिन्न उसका लावण्य पृथक् रूप से शोभा का आधायक होकर सहृदय जनों के मन को आह्लादित करता है, उसी प्रकार से काव्य दोषरहित होकर और गुण–अलंकारों से अलंकृत होकर आकर्षक तो होता है, परन्तु इससे भिन्न प्रतीयमान अर्थ यदि उसमें है तो वह सहृदय जनों के मन को आह्लादित करने वाला होता है

महाकवीनाम् – यहाँ बहुवचन के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ सभी महाकवियों के–व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि के काव्यों में व्यापक रूप में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन कवियों में प्रतीयमान अर्थ व्यापक रूप से रहता है, उनको ही महाकवि कहा जा सकता है।

प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् – प्रसिद्धेभ्यः सर्वलोकप्रतीतेभ्यः अवयवेभ्यः (काव्यांग–भूतेभ्यः गुणालंकारप्रभृतिभ्यः) अतिरिक्तं पृथग्भूतं सत्। वह प्रतीयमान अर्थ लोकप्रसिद्ध काव्य के अवयव गुण–अलंकार आदि से भिन्न हैं।

विभाति – ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व (सत्ता) को सिद्ध करना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने 'विभाति' पद का प्रयोग किया है। दर्शनशास्त्र के अनुसार जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसका भान होता है तथा जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं है, उसका भान नहीं होता। इसी को लोचनकार ने इस प्रकार कहा है–

"यदेवंविधमस्ति तद्भाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्। तेन यद् भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति।"

जो इस प्रकार की वस्तु है, उसका भान होता है। क्योंकि अत्यन्त असत् का भान उत्पन्न नहीं होता। इसलिये जिसका भान होता है, उसका अस्तित्व है, यह अर्थ कहा गया है।

लावण्यम् – ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ को अंगनाओं के लावण्य के समान बतलाया है। यह लावण्य अंगना के आभूषणों से पृथक् होता है और शारीरिक दोषों से विमुक्त होता है। अभिनवगुप्त ने लावण्य की परिभाषा इस प्रकार की है–

"लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम् पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलंकृतायामपि लावण्यशून्येयमिति अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।'

लावण्य तो शरीर के अंगों के संघटन से अभिव्यक्त होने वाला, परन्तु अंगों से भिन्न कोई दूसरा ही धर्म है। अवयवों का दोषरहित होना या अलंकारों से युक्त होना ही लावण्य नहीं है। पृथक् दिखाई देते हुये काणत्व आदि दोषों से रहित तथा इस प्रकार न होती हुई भी कोई अंगना सहृदयों के लिये लावण्य रूपी अमृत की चन्द्रिका हो सकती है।

'शब्दकल्पद्रुम' में लावण्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

मुक्ताफलेषुच्छायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।।

परन्तु कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा दी गई लावण्य–प्रतीयमान अर्थ की समानता का विरोध किया है। उसने काव्य के तीन मार्ग बताये हैं–सुकुमार, विचित्र और मध्यम। उसके अनुसार लावण्य तो सुकुमार का एक गुण है। उसने लावण्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

वर्णविन्यासविच्छित्ति पदसन्धानसम्पदा। स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते।। वक्रोक्तिजीवित ६.१.३२।।

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलङ्काररसादयश्चेत्यनेक-प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथाहि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपो, यथा-

हिन्दी अर्थ – वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त (प्रस्तुत, बोधित) वह प्रतीयमान अर्थ वस्तुमात्र, अलंकार और रस आदि के भेद से अनेक भेद का दिखाया जायेगा। उन सभी प्रकारों में उसकी (प्रतीयमान अर्थ की) वाच्य से भिन्नता होती है। जैसे कि, पहला वस्तुमात्र नामक भेद (वस्तुध्वनि) वाच्य अर्थ से अत्यन्त भिन्न है। वह कभी वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर भी प्रतिषेध रूप होता है। जैसे कि–

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति यद्यपि वाच्य अर्थ के माध्यम से होती है, वाच्य अर्थ के ज्ञात होने पर ही तदनन्तर प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है, तथापि वह वाच्य अर्थ से भिन्न है। इस प्रतीयमान अर्थ के ध्वनिकार ने तीन मुख्य भेद किये हैं–वस्तु अलंकार और रस। इन तीनों भेदों के पुनः अनेक भेद हो सकते हैं, जिनका कि ध्वनिकार आगे वर्णन करेंगे। ये सभी भेद वाच्य अर्थ से अतिरिक्त होते हैं। प्रतीयमान अर्थ की वाच्य अर्थ से भिन्नता आचार्य मम्मट ने इस प्रकार से प्रतिपादित की है–

"नाभिधा समयाभावात्"।

वाच्य अर्थ का बोध संकेत के द्वारा अभिधा व्यापार से होता है। प्रतीयमान अर्थ में संकेत का अभाव होने से उसकी प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती।

इस प्रतीयमान अर्थ के भेदों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से की है–

तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ–लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः – यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्। स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कार–ध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न शब्दवाच्यो न लौकिक–व्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचित– प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग–सुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः। स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च ध्वनिरेवेति। स एव मुख्यतयात्मेति।

प्रतीयमान अर्थ के दो भेद हैं–लौकिक और एकमात्र काव्य के व्यापारों से गोचर होने वाला। लौकिक प्रतीयमान अर्थ वह है जो कभी–कभी स्वशब्दवाच्यता को प्राप्त करता है और वह विधि, निषेध आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता हुआ वस्तु शब्द के नाम से कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का होता है। एक तो वह, जो पहले कहीं किसी वाक्यार्थ में उपमा आदि के रूप में अलंकारभाव को प्राप्त हो चुका है और अब अनलंकाररूप ही है, क्योंकि अन्यत्र (वाक्यार्थ में) जो उसका गुणीभाव हो जाता था, अब वह नहीं है। पूर्व प्रत्यभिज्ञान के कारण ब्राह्मणश्रमण न्याय से उसको अलंकारध्वनि के नाम से कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी ब्राह्मण के बौद्ध भिक्षु (श्रमण) हो जाने पर वह ब्राह्मण नहीं रह जाता परन्तु पूर्व पहचान के कारण उसे ब्राह्मण श्रमण कह देते हैं, इसी प्रकार प्रतीयमान होने पर उपमा आदि अलंकार नहीं रह जाते, परन्तु पुरानी पहचान के कारण उनको अलंकार कह दिया जाता है। जहाँ उपमा आदि अलंकारों का रूप उपलक्षित नहीं होता, उसको वस्तुमात्र कहा जाता है। वस्तु के साथ मात्र पद का प्रयोग करने से यह स्पष्ट है कि अलंकार आदि के रूप को वस्तुध्वनि नहीं कहेंगे। जो प्रतीयमान अर्थ स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता और जो लौकिक व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आता, अपितु शब्दों के द्वारा समर्पित किये जाने वाले और सहृदयों के हृदय के साथ संगति रखने वाले सुन्दर विभावों और अनुभावों के द्वारा समुचित रूप से पहले ही हृदयों में निविष्ट रत्यादि वासनाओं के द्वारा सुकुमार सहृदयों के हृदय (मन) में आनन्दमय चर्वणा (आस्वादन) रूप व्यापार से आस्वादन के योग्य है, वह रस हैं। वह एकमात्र काव्य के व्यापारों द्वारा गोचर होता है, और उसको रसध्वनि कहते हैं। वह रसध्वनि ही होता है और वह ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को लौकिक सिद्ध करके रसध्वनि को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा कहा है इस प्रकार ध्वनिवादी वस्तु और अलंकार को भी ध्वनि में परिगणित करते हैं। प्रतीयमान अर्थ के तीन भेदों का कथन करके ध्वनिकार इनका वाच्य अर्थ से क्रमशः विभेद प्रदर्शित करते हैं। पहली वस्तुध्वनि वाच्य अर्थ से बिल्कुल भिन्न है।

यद्यपि वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता के अनेक हेतु हैं तथापि इस प्रसंग में ध्वनिकार स्वरूप के भेद से प्रतीयमान वस्तुध्वनि का वाच्य अर्थ से भेद प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्हीं स्थलों पर वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर भी उससे आक्षिप्त प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप हो सकता है। यथा--

भम धम्मिअ बीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण। गोलाणइकच्छकुङ्गवासिणा दरिअसीहेण।।

(भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन। गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।)

हिन्दी अनुवाद -- हे धार्मिक पुरुष ! अब तुम निश्चिन्त होकर घूमो क्योंकि गोदावरी नदी के किनारे के कुञ्जो मे रहने वाले दृप्त (उद्धत) सिंह के द्वारा आज उस कुत्ते को मार डाला गया है।

हाल की गाथासप्तशती की इस गाथा का अभिप्राय यह है कि गोदावरी नदी का तट किसी पुंश्चली (चरित्रहीन) नायिका का संकेत स्थान है, जहाँ वह अपने प्रेमी से मिलने के लिये जाती है। उस स्थल की मनोरमता के कारण एक धार्मिक पण्डित वहाँ सन्ध्योपासना या भ्रमण के लिये आता है। इससे उस पुंश्चली नायिका के प्रेम--मिलन में विघ्न उत्पन्न होता है और वह चाहती है कि वह धार्मिक वहाँ न आये। उस स्थान पर एक कुत्ता आया करता था, जिससे कि वह धार्मिक व्यक्ति दुःखी था। धार्मिक को गोदावरी के तट पर आने से रोकने के लिये वह स्त्री उस पुजारी को इस प्रकार कहती है। अब उस कुत्ते को गोदावरी नदी के किनारे के कुञ्ज मे रहने वाले मदमत्त सिंह ने मार डाला है, अतः आप यहाँ निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिये। वह पुंश्चली यह जानती है कि धार्मिक व्यक्ति जो कि एक कुत्ते से भी डरता है, सिंह का नाम सुनकर अवश्य डर जायेगा तथा भविष्य में उस सिंह के भय से गोदावरी के तट पर नहीं आयेगा। इससे उसके प्रेम--मिलन में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होगा। सिंह की भयङ्करता के अतिशय को प्रदर्शित करने के लिये वह 'कच्छकुञ्जवासिना' तथा 'दृप्त' पदों का प्रयोग करती है। अर्थात् सिंह उसी कुञ्ज में रहता है, जहाँ कि वह धार्मिक घूमता है और पत्र--पुष्प तोड़ता है और वह सिंह दृप्त है। उसको किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता।

इस वाक्य में 'भ्रम' पद का वाच्यार्थ विधि रूप है। वह पुंश्चली उस धार्मिक व्यक्ति को निश्चिन्त होकर भ्रमण करने (घूमने) के लिए कहती है। परन्तु उस पुंश्चली का कहने का अभिप्राय यही है कि वह धार्मिक पुरुष वहाँ भ्रमण न करे। सिंह की भयकरता धार्मिक व्यक्ति के वहाँ भ्रमण करने का निषेध करती है। प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप है।

संस्कृत भाषा में लिङ्, लोट् और तव्यत् आदि कृत्य प्रत्यय विधि प्रत्यय कहलाते हैं। इनके प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि कहने वाला सुनने वाले को कार्य में प्रवृत्त करा रहा है। श्रोता को कार्य में प्रवर्तित करना ही वक्ता का अभिप्राय है। परन्तु यहाँ यह 'पुंश्चली' धार्मिक को आदेश नहीं दे रही कि वह भ्रमण करे। उसका भ्रमण करना तो स्वतः सिद्ध है। पुंश्चली तो धार्मिक व्यक्ति के उस भय को दूर कर रही है जो कि कुत्ते के कारण उत्पन्न हुआ है। अतः विधि यहाँ प्रतिषेध का अभाव रूप या अतिप्रसव रूप है। इस प्रकार यहाँ लोट् लकार का प्रयोग "प्रेषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च (पा० ३--३--१ २) सूत्र के अतिसर्ग (कामाचार, स्वेच्छाचार) और प्राप्तकाल अर्थ में हुआ है, आदेश देने के अर्थ में नहीं।

कुछ समालोचकों का कथन है कि यहाँ 'भ्रम' शब्द के वाच्य और निषेध दोनों अर्थ वाच्य माने जा सकते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त के कथन है विधि और निषेध अर्थ परस्पर विरोधी हैं, अतः यह न तो एक साथ और न ही क्रमशः वाच्य हो सकते हैं--

"तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। "विशेष्यं नाभिधागच्छेत्" इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।"

विधि और निषेध में परस्पर विरोध होने के कारण वे दोनों न तो एक साथ वाच्य हो सकते हैं और न क्रमशः वाच्य हो सकते हैं क्योंकि अभिधा का बार--बार विराम हो जाने के पश्चात् पुनः व्यापार नहीं होता। यहाँ अभिधा का वाच्य अर्थ को संकेतित करने के पश्चात् विराम हो जाता है और क्षीणशक्ति होने से उसका पुनः प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने के लिये व्यापार नहीं हो सकता।

महिमभट्ट ने व्यञ्जना व्यापार का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। उनके कथनानुसार व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा बोध्य प्रतीयमान अर्थ का बोध अनुमान के द्वारा ही हो सकता है। महिमभट्ट ने इस गाथा की व्याख्या की है और इस प्रतिषेध रूप अर्थ की प्रतीति को अनुमान गम्य सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि के अनेक उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अनुमान के तीन मुख्य अंग हैं--साध्य, व्याप्ति और हेतु। इस गाथा में गोदातट का 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व' साध्य है 'यत्र--यत्र सिंहत्वं तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्' यह व्याप्ति है तथा 'सिंहवत्त्वात्' हेतु है। इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता

है–'गोदावरीतीरं धार्मिकभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्।"

परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि ने उचित तर्क देकर महिमभट्ट की इस मान्यता का खण्डन किया है।

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपो यथा-

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि। मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि।।

(श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय। मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निर्मक्ष्यति।।)

हिन्दी अर्थ – कहीं वाच्यार्थ के निषेधरूप होने पर व्यंग्य अर्थ विधिरूप होता है जैसे–

हे पथिक ! मेरी सास यहां सोती है और मैं वहाँ सोती हूँ, दिन में ही देख लो। रात्रि में अन्धे (रतौंधी से पीड़ित अर्थात् जिसे रात में दिखाई नहीं देता) ! तुम कहीं मेरी शय्या पर ही न गिर जाना।

यह आर्या गाथासप्तशती (७.६७) की है। एक विवाहित महिला का पति परदेश गया हुआ है। उसके घर एक पथिक अतिथि रूप में आता है। उस महिला के प्रति वह आकर्षित होता है तथा वह महिला भी पथिक से मिलने के लिये उत्सुक है। परन्तु महिला की सास की उपस्थिति उसके मिलने में बाधक है। इस गाथा के रूप में वह महिला उस पथिक को रात्रि में मिलने के लिये निमन्त्रण देती है। वह दिन में उस पथिक को अपनी तथा सास की शय्या की पहचान करा देती है। इसके साथ ही वह 'निमज्जति' पद के द्वारा यह भी सूचित करती है कि वह वृद्धा सास रात्रि में गहरी नींद में निमग्न हो जाती है। वह मिलन का समय रात्रि का सूचित करती है कि रात्रि में तुम मुझसे मिलना। यहाँ 'मम शय्यायां मा निर्मक्ष्यसि' मेरी शय्या में मत गिर जाना यह वाच्य प्रतिषेध रूप है। परन्तु इसमें प्रतीयमान अर्थ है–रात्रि में मेरी शय्या में अवश्य गिर जाना, विधि रूप है। वाच्य प्रतिषेध रूप से प्रतीयमान विधि रूप अर्थ बिल्कुल भिन्न है।

इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"काञ्चित् प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृत्तमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाऽभ्युपगम्यते इति निषेधाभावोऽत्र विधिः। न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्त–प्रवर्तनस्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनप्रसङ्गात्। अत एव रात्र्यन्धेति समुचितसमय– संभाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्। भावतदभावयोश्च साक्षाद् विरोधाद् वाच्याद् व्यङ्ग्यस्य स्फुटवाच्यत्वम्।"

किसी प्रोषितपतिका (जिसका पति परदेश चला गया है) तरुणी को देखकर कोई पथिक विशेष रूप से काम से आसक्त हो गया। उस समय इस निषेध के द्वारा उस तरुणी ने उस पथिक को रात्रि में मिलने के लिये वचन दिया। इस प्रकार यहाँ निषेधाभाव रूप विधि है। अप्रवृत्त में प्रवृत्त होने के स्वभाव का निमन्त्रण रूप नहीं है। क्योंकि इससे उस तरुणी के सौभाग्य के अभिमान का खण्डन हो सकता है। 'रात्र्यन्ध' पद के द्वारा पथिक के मन का उस समय के योग्य संभावित विकारों से व्याकुल होना ध्वनित होता है। भाव और अभाव इन दोनों से साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य और व्यङ्ग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है।

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा-

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअब्बाइं। मः तुज्झ वि तीअ विणा दक्खिण्ण अस्स जाअन्तु।।

(ब्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि। मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।।)

हिन्दी अर्थ – कहीं वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभयात्मक (न विधिरूप और न निषेधरूप) होता है। जैसे–तुम जाओ ! मुझ अकेली के ही निःश्वास और रुदन हों। दाक्षिण्य के कारण तुमको भी कहीं उसके विरह में ये सब न भोगने पड़ें।

एक नायिका का प्रेमी किसी दूसरी तरुणी से भी प्रेम करता है और उससे मिलने के लिये जाता रहता है। परन्तु वह अपनी पहली प्रेमिका के प्रति भी कठोर आचरण न करके प्रेम प्रदर्शित करता है। दूसरी प्रेयसी से मिलकर वह जब पहली प्रेमिका के पास आता है, तो उसके शरीर पर संभोग के चिह्न स्पष्ट हैं, जिनको देखकर वह खण्डिता नायिका इस प्रकार कहती है कि अब तुम वहीं जाओ। मेरे भाग्य में तो निःश्वासों को लेना और रोना तो लिखा ही है। उसको मैं भोगूँगी ही। कहीं ऐसा न हो कि तुम मेरे प्रति अनुकूलता दिखाते रहो और इस अपनी प्रेयसी के विरह में निःश्वासों और रोने का कष्ट भोगो।

यहाँ 'ब्रज' का वाच्य अर्थ विधिरूप है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ नायिका का प्रगाढ़ मन्यु प्रतीत होता है, जो न जाने के अभावरूप निषेध को और नाहीं जाने रूप विधि को प्रदर्शित करता है। अतः यह अनुभय रूप है।

इस गाथा की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"अत्र ब्रजेति विधिः। न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपितु गाढ़ानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च। केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः। तत्सर्वथा शठोऽसीति, गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र

प्रतीयते। न चाऽसौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः।

यहाँ 'जाओ' यह विधि है। दूसरी नायिकाओं से तुम्हारा मिलना प्रमादवश ही नहीं है, अपितु प्रगाढ़ अनुराग के कारण है, क्योंकि तुम्हारे मुख का राग कुछ दूसरी प्रकार का है और तुम नाम के उच्चारण में स्खलित हो रहे हो। पहले किये गये वचन का पालन करने रूप एकमात्र दाक्षिण्य के अभिमान के कारण तुम यहाँ आ गये हो। तो तुम सर्वथा धूर्त हो। इस प्रकार यहाँ खण्डिता नायिका का प्रगाढ़ क्रोध प्रतीयमान अर्थ है। न तो यह गमन का अभावरूप निषेध अर्थ है और नाही विधिनिषेध का अभाव रूप विधि ही है।

खण्डित नायिका – पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता।।

जिसका प्रिय दूसरी के साथ संभोग के चिह्न वाला समीप में जाता है, वह ईर्ष्या से युक्त खण्डिता नायिका कही गई है।

दक्षिण नायक – एक से अधिक महिलाओं में समान राग वाला दक्षिण नायक कहा गया है।

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा-

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्णाविलुत्ततमणिवहे अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे।।

(प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे। अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे।।)

हिन्दी अर्थ – कहीं वाच्य अर्थ के प्रतिषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप होता है। जैसे–

मैं प्रार्थना करता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ। लौट आओ। मुख रूपी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाली हे हताशे! तुम दूसरी अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न उत्पन्न कर रही हो।

इस गाथा की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है–

(१) नायिका अपने प्रेमी के घर आई। परन्तु नायक के गोत्रस्खलन आदि किसी अपराध से नाराज होकर वह लौटने के लिए उद्यत हुई। तब नायक उसके रूप की प्रशंसा करके उसको लौटाने के लिए इस प्रकार कहता है–तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान आलोकित है। इससे तुम न केवल अपने सुख में ही विघ्न डाल रही हो, अपितु अन्य अभिसारिकाओं के भी सुख में विघ्न डाल रही हो। यहाँ नायक का नायिका के प्रति चाटुकारिता व्यङ्ग्य है। इस प्रकार वाच्य अर्थ 'मत जाओ' निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ न तो निषेधरूप है और न विधि रूप है।

(२) दूसरी व्याख्या के अनुसार यह उक्ति नायिका की सखी ने उससे कही है। नायिका अभिसार के लिये जाना चाहती है। सखी उसे समझाती है। परन्तु सखी द्वारा समझाने पर भी जब नायिका जाने को उद्यत होती है, तो वह उससे कहती है–तुम अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार का विनाश करके न केवल अपने ही सुख में विघ्न डाल रही हो, अपितु अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में विघ्न डाल रही हो। इस प्रकार सखी का नायिका के प्रति चाटुकारिता विशेष व्यङ्ग्य है। 'मत जाओ' इस वाच्य अर्थ के निषेधरूप होने पर भी वह व्यंङ्ग्य अर्थ न तो निषेधरूप है और न विधिरूप।

(३) आचार्य अभिनवगुप्त ने इस गाथा की ऊपर कही गई दोनों व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। परन्तु वे इनको ध्वनि का उचित उदाहरण नहीं मानते। उनका कथन है–

"अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात् प्रतीपगमनात् प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यमदस्य प्रेयोरसवदलंकारस्योदाहरणमिदं स्यात् न ध्वनेः।"

भाव यह है कि पहली व्याख्या में नायकगत चाटु अभिप्राय और दूसरी व्याख्या में सखीगत चाटु अभिप्राय व्यङ्ग्य है। परन्तु पहली व्याख्या में पुनः प्रियतम के घर के प्रति गमन करना और दूसरी व्याख्या में प्रियतम के घर जाने से लौट आना। इन वाच्य अर्थों में ही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्त हो जाता है। अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ अधिक मनोग्राही होने से यह उदाहरण गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रेयोलंकार का तथा रसवदलंकार का उदाहरण हो सकता है। इस अवस्था में यह ध्वनि का उदाहरण नहीं होगा। इसलिए इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये–

कोई नायिका अपने प्रियतम के घर की ओर तेजी से जा रही है। उसी समय नायक भी अपनी प्रियतमा के घर की ओर आ रहा है। वह नायिका को न पहचानने के बहाने से उसकी इस प्रकार से प्रशंसा करता है और अपनी पहचान कराने के लिये 'हताशे' पद का प्रयोग करता है। वह कहता है कि जब दूसरी अभिसारिकाओं के लिये विघ्न उत्पन्न कर रही हो, तो तुम्हारी आशा कैसे पूर्ण होगी। इसलिये तुम लौट चलो। (मत जाओ)। यहाँ लौट चलने से अभिप्राय है कि या तो तुम मेरे घर चलो या हम दोनों तुम्हारे घर चलें। यहाँ यही अर्थ व्यङ्ग्य है। यह न तो विधिरूप है और न निषेधरूप। इस प्रकार वाच्य अर्थ प्रतिषेधरूप है और प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है, अतः दोनों अत्यन्त भिन्न हैं।

क्वचिद् वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा-

कस्स वा ण होइ रोसो दटठूण पियाएँ सव्वणं अहरम्। सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एहिणम्।।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम। सभ्रमरपद्मांघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम।।)

हिन्दी अर्थ – कहीं पर व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न विषय में व्यवस्थित हो सकता है जैसे–

अथवा प्रिया के व्रण (छवि) से युक्त अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अरी भ्रमर से युक्त कमल को सूँघने वाली और रोकने पर भी विपरीत आचरण करने वाली अब तू इसको सहन कर।

पिछले चारों उदाहरणों में वाच्य और प्रतीयमान अर्थ दोनों ही एक विषय से, श्रोता से सम्बन्ध रखते हैं, जो कि क्रमशः धार्मिक, पथिक, प्रियतम और अभिसारिका के लिये हैं। इस प्रकार इन चारों उदाहरणों में ध्वनिकार ने विषय का ऐक्य होते हुये भी स्वरूप के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता प्रदर्शित की है। अब इस उदाहरण में उन्होंने यह दिखलाया है कि विषय के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में भिन्नता हो सकती है। अर्थात् वाच्य अर्थ किसी एक व्यक्ति के प्रति है और प्रतीयमान अर्थ किसी अन्य व्यक्ति के लिये है। अतः वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों भिन्न हैं।

एक दुराचारिणी नायिका किसी परपुरुष से रति करके आई है तथा इस कारण उसके अधर में व्रण हो गया है। जब उसका पति यह देखेगा तो वह समझ जायेगा कि इसने दुराचरण किया है और वह अप्रसन्न होगा। नायिका की सखी उसके पति को कहीं समीप जानकर यह वाक्य उस दुराचारिणी से इस प्रकार कहती है कि उसका पति भी इसे सुन ले। इससे वह यह समझेगा कि मेरी पत्नी का अधर भ्रमर से काटा हुआ है किसी परपुरुष द्वारा नहीं और वह उसके प्रति रुष्ट नहीं होगा।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ दुराचारिणी नायिका के प्रति है कि मैंने इस प्रकार की धृष्टता करने के प्रति तुमको अनेक बार रोका, परन्तु तुम नहीं मानी। अब अपनी धृष्टता का फल भोगो। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का विषय नायिका का पति है जिसके प्रति वह इस व्यङ्ग्य अर्थ को बोधित कराती है कि तुम्हारी पत्नी का अधर भ्रमर के द्वारा दंष्ट है, किसी परपुरुष द्वारा नहीं। अतः तुम इसको निरपराध समझो। इस प्रकार वाच्य अर्थ का विषय नायिका और प्रतीयमान अर्थ का विषय उसका पति है, इसलिये ये दोनों अर्थ नितराम् भिन्न हैं।

इस उदाहरण में प्रतीयमान अर्थ के प्रतिवेशी, सपत्नी, स्वयं नायिका, नायिका का जार, तटस्थ विदग्ध जन आदि अनेक विषय हो सकते हैं। इनके प्रति व्यङ्ग्य अर्थ इस प्रकार होगा–

प्रतिवेशी के प्रति – सखी प्रतिवेशियों को यह जताना चाहती है कि यदि नायिका का पति नायिका को बहुत अधिक उलाहना दे तो भी इसका अपराध नहीं समझना चाहिये।

सपत्नी के प्रति – ईर्ष्या करने वाली सपत्नी को वह सखी यह जताना चाहती है कि इसका अधर प्रियतम ने नहीं काटा, अपितु भ्रमर ने काटा है, अतः तुमको इसके सौभाग्य से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। साथ में 'प्रियायाः' पद का प्रयोग करके उसने अपनी सखी के सौभाग्य–अतिशय को सपत्नियों में प्रकट किया है।

स्वयं नायिका के प्रति – वह नायिका को यह प्रकट करती है कि आज तो इस प्रकार मैंने तुम्हारी रक्षा कर ली, परन्तु भविष्य में पुनः ऐसा कार्य मत करना।

नायिका के जार (उपपति) के प्रति – वह नायिका के जार को यह जताती है कि आज तो तुम्हारी गुप्त प्रणयिनी की मैंने रक्षा कर ली, परन्तु भविष्य में तुम कभी इसके अधर को स्पष्ट रूप से मत काट लेना।

तटस्थ विदग्ध जन के प्रति – तटस्थ विदग्ध जनों को वह अपनी चतुराई प्रदर्शित करती है कि मैंने किस प्रकार झूठ बोलकर अपनी सखी की रक्षा कर ली है।

इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ के अन्य अनेक विषय और भी हो सकते हैं। इसलिये विषय भेद से भी प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न है।

अन्ये चैवंप्रकाराः वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः' सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्।

हिन्दी अर्थ – इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ के और भी अनेक भेद वाच्य अर्थ से भिन्न सम्भव हैं। यहाँ उनका यह दिग्दर्शनमात्र किया है। अर्थात् थोड़ा सा दिखाया है।

स्वरूप और विषय के भेद से प्रतीयमान अर्थ का वाच्य अर्थ से विभेद ध्वनिकार ने यहाँ प्रदर्शित किया है। तदनन्तर उन्होंने कहा है कि इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ के अनेक भेद वाच्य अर्थ से भिन्न हो सकते हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस भिन्नता के अनेक हेतुओं का परिगणन किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यह भिन्नता निम्न हेतुओं से हो सकती है–

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः।। साहित्यदर्पण ५ ४

बोद्धृ, स्वरूप संख्या, निमित्त, कार्य प्रतीति काल, आश्रय, विषय आदि के भेद से व्यङ्ग्य अर्थ अभिधेय अर्थ से भिन्न होता है

इस प्रकरण में इन हेतुओं का संक्षेप में स्पष्टीकरण उपयोगी होगा–

(१) **बोद्धृ भेद** – वाच्यार्थ को जानने वाले व्यक्तियों से व्यङ्ग्य अर्थ को जानने वाले व्यक्ति भिन्न ही होते हैं। वाच्य अर्थ का जानने की निपुणता पद और उसके अर्थ को जानने वाले वैयाकरणों में होती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का बोध काव्य–भावना में निपुण सहृदयों को ही होता है। जैसे कि ध्वनिकार ने एक कारिका में कहा है–

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते। वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।। १७।।

(२) **स्वरूप भेद** – प्रतीयमान और वाच्य अर्थ के स्वरूप से भेद के उदाहरण ध्वनिकार ने अनेक दिये हैं। कहीं वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप, कहीं वाच्य अर्थ के निषेध होने पर प्रतीयमान अर्थ विधिरूप, कहीं वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप और कहीं वाच्य अर्थ के निषेधरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप।

(३) **संख्या भेद** – एक वाक्य का वाच्य अर्थ एक ही होता है, जबकि प्रतीयमान अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है। 'गतोऽस्तमर्क' वाक्य का वाच्य अर्थ एक ही है–सूर्य अस्त हो गया है। परन्तु इसका प्रतीयमान अर्थ विभिन्न श्रोताओं के लिये विभिन्न प्रकार का है। जैसे, दुकानदारों के लिये–विक्रेय वस्तुओं को समेट लो, अभिसारिका के लिये–प्रिय मिलन का समय आ गया है श्रमिकों के लिये–कार्य करने का समय पूरा हो गया है, धार्मिक के लिये–सन्ध्यावन्दन का समय उपस्थित हो गया है, ग्वाले के लिये–गौओं को घर लौटा ले चलो, धूप से पीड़ित के लिये–अब संताप नहीं रहेगा, प्रोषितपतिका के लिये–तुम्हारा प्रियतम आज भी नहीं आया आदि।

(४) **निमित्त भेद** – वाच्य अर्थ का बोध शब्द के उच्चारणमात्र से होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का बोध सहृदयों की निर्मल प्रतिभा के द्वारा होता है। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार स्वयं कहते हैं–

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्। बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।। १२।।

मम्मट ने भी कहा है–

शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य। –काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास

(५) **कार्यभेद** – वाच्य अर्थ का कार्य केवल अर्थ की प्रतीति करना है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का कार्य चमत्कार को उत्पन्न करना है

(६) **प्रतीतिभेद** – वाच्य अर्थ की प्रतीति केवल शब्दबोधरूप है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति चमत्कृतिमय होती है। (कार्यभेद और प्रतीति भेद एक समान से हैं।)

(७) **कालभेद** – वाच्य अर्थ का बोध पहले होता है और व्यङ्ग्य अर्थ का उसके बाद होता है।

(८) **आश्रयभेद** – वाच्य अर्थ का आश्रय केवल शब्द ही है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आश्रय शब्द, शब्द का एक भाग (प्रकृति–प्रत्यय) शब्द का अर्थ, वर्ण और संघटना हैं। इसी को मम्मट ने इस प्रकार कहा है–

"शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य।" –काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास।

(९) **विषयभेद** – वाच्य अर्थ का विषय सम्मुख उपस्थित श्रोता होता है, जबकि व्यङ्ग्य अर्थ अप्रत्यक्ष श्रोताओं के प्रति भी हो सकता है। जैसा कि ध्वनिकार ने "कस्स वा ण होई रोसो" उदाहरण में स्पष्ट किया है जहाँ वाच्य अर्थ का विषय नायिका है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के विषय उस नायिका का पति, सपत्नी, गुप्त प्रणयी आदि अनेक हैं।

इस प्रकार वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता अनेक हेतुओं से स्पष्ट होती है।

प्रतीयमान अर्थ की वाच्य अर्थ से भिन्नता प्रदर्शित करते हुये अभिनवगुप्त ने तथा उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्यों ने उन अनेक मतों के खण्डन किया है, जो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अन्य किसी शब्दशक्ति से या अनुमान प्रमाण आदि से करते हैं।

इति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपलपनीय एव। –काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास

द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् भिन्न एव। तथाहि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्याद्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभाद रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषा प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्यादर्शनात्। न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि

विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीति तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्त्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येनत्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।।४।।

हिन्दी अर्थ – ध्वनि का दूसरा भेद (अलंकारध्वनि) भी वाच्य अर्थ से भिन्न है, इसको विस्तार से आगे (द्वितीय उद्योत में) दिखायेंगे।

अलंकार ध्वनि वाच्य अर्थ से भिन्न है, इस तथ्य को ध्वनिकार प्रतिपादित करना चाहते हैं। परन्तु जिस प्रकार वस्तुध्वनि को विधि, निषेध एवं विधिनिषेधानुभय रूप से यहाँ संक्षेप से कह दिया गया है, इस प्रकार अलंकारध्वनि को नहीं कहा जा सकता। वस्तुध्वनि की अपेक्षा अलंकारध्वनि के भेद बहुत अधिक हैं तथा वह अधिक जटिल हैं, इसलिये इसको विस्तार से कहना होगा। इसका विस्तृत वर्णन ध्वनिकार ने द्वितीय उद्योत में किया है।

हिन्दी अर्थ – ध्वनि का तीसरा रसादि लक्षण भेद वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त–प्रस्तुत (बोधित) होकर प्रकाशित होता है, वह साक्षात् शब्द के व्यापार (अभिधा) का विषय नहीं है। इसलिये वह वाच्य अर्थ से भिन्न ही है। क्योंकि यदि उसको वाच्य मान भी लिया जावे तो उसकी वाच्यता दो प्रकार से हो सकती है–या तो वह स्वशब्दवाच्य हो, अर्थात् उसको रस आदि शब्दों से या शृङ्गार आदि शब्दों से कहा जाये अथवा विभाव आदि के द्वारा उसका प्रतिपादन किया जावे। पहले पक्ष में (अर्थात् स्वशब्द निवेदिता मानने पर) स्वशब्दनिवेदितत्व का अभाव होने पर, अर्थात् रस आदि या शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग न किया जाने पर रस आदियों की प्रतीति न होने का प्रसंग प्राप्त होगा, रस आदियों की अनुभूति नहीं होगी। परन्तु जहाँ रस आदियों की प्रतीति होती है, वहाँ सब स्थानों पर ये स्वशब्द निवेदित नहीं हैं। जहाँ स्वशब्दनिवेदित होने पर भी इनकी प्रतीति होती भी है, वहाँ भी विशिष्ट विभाव आदि द्वारा प्रतिपादित होने पर ही होती है। स्वशब्द से अर्थात् रस, शृङ्गार आदि पदों से तो वह केवल अनूदित होती है, तत्कृत नहीं होती अर्थात् रस आदि शब्दों से केवल कही जाती है न कि उत्पन्न होती है। क्योंकि दूसरे स्थानों पर, जहाँ केवल स्वशब्द का प्रयोग है और विभाव आदि नहीं है, रसादि की प्रतीति का दर्शन नहीं होता। क्योंकि जिस काव्य में केवल शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, परन्तु विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं है, वहाँ रसवत्ता की प्रतीति थोड़ी सी भी नहीं होती और अपने कथन के बिना केवल विशिष्ट विभावादि (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों) से रसादि की प्रतीति होती है। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि रस आदि अभिधेय (वाच्य अर्थ) के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, वे किसी भी प्रकार अभिधेय नहीं होते। अन्वय व्यतिरेक – यत् सत्त्वे सत्त्वं अन्वय, यदभावे अभावः व्यतिरेक, जिसके होने पर हो अन्वय, जिसके न होने पर न हो व्यतिरेक। विभावादि होते हैं तो रसप्रतीति होती है, अन्वय। विभावादि न होने पर रस प्रतीति नहीं होती, व्यतिरेक। इस प्रकार ध्वनि का तीसरा भेद रसादि ध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही है, यह निश्चित है। वाच्य के साथ इसकी प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसको आगे दिखाया जायेगा।

यहाँ ध्वनिकार ने वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि से रसादिध्वनि का भेद दिखाया है। रसध्वनि वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होती है और यह कभी भी वाच्य नहीं होती, अभिधा के व्यापार का विषय नहीं होती। इससे ध्वनिकार यह कहना चाहते हैं कि वस्तु और अलंकार तो कभी वाच्य हो सकते हैं, परन्तु रस कभी वाच्य नहीं होता। इस तथ्य को 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

'सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्र विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यं, तथापि ब्राह्मण–श्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते। तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव।

संक्षेप में इस ध्वनि के तीन भेद हैं, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ तीन प्रकार का होता है। जैसे कि–कोई व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन करता है, कोई नहीं करता। वाच्यतासह व्यङ्ग्य दो प्रकार का है–अविचित्र और विचित्र। अविचित्र व्यङ्ग्य वस्तुमात्र है तथा विचित्र व्यङ्ग्य अलंकाररूप है। यद्यपि अलंकारध्वनि अलंकार नहीं है, अलंकार्य है, तथापि ब्राह्मणश्रमण न्याय से उसको अलंकारध्वनि कह दिया जाता है। रसादि लक्षणरूप व्यङ्ग्य अर्थ स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता। उसको रसादि शब्द से या शृङ्गारादि शब्द से कहा जाता है। परन्तु अभिधा द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि रस आदि शब्दों का प्रयोग होने पर एवं विभाव आदि का प्रयोग न होने पर रस की प्रतीति नहीं होती और रस आदि शब्दों का प्रयोग न होने पर एवं विभाव आदि का प्रयोग होने पर रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि रस प्रतीति विभाव आदि द्वारा ही होती है। अतः रस आदि ध्वनि व्यङ्ग्य ही हैं।

स्वशब्द – यहाँ स्वशब्द का अभिप्राय शृङ्गारादि हैं। अभिनवगुप्त का कथन है–

"स्वशब्देति। शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदितत्वेन"

उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में रस को स्वशब्दवाच्य भी कहा है। उद्भट के इस मत को विष्णुपद भट्टाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' की टीका में स्पष्ट किया है–

यह तथ्य प्रदर्शित करना रोचक होगा कि जबकि ध्वनिवादी रसभाव आदि को सदा व्यङ्ग्य मानते हैं, 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' के आदरणीय लेखक रस को स्वशब्द वाच्य भी मानते हैं। उद्भट के अनुसार रस की प्रतीति पाँच प्रकार से हो सकती है–स्वशब्द स्थायिभाव, संचारिभाव; विभाव और अभिनय। उसके अनुसार यदि किसी रस को रस शब्द या शृङ्गार, करुण आदि शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, तो उससे इसकी प्रतीति में बाधा नही होती। उनका कथन है–

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्। स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्।।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृता।। –काव्यालंकारसारसंग्रह ४ ३ ९

इसके उदाहरण के रूप में उद्भट ने अपने 'कुमारसम्भव' (जो कि अब उपलब्ध नहीं है) से यह उदाहरण दिया है–

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्। सम्भृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्।।

स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्। कदम्बलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम्।।

क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्। क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्यास्यमभूष्यत्।।

यहाँ भगवान् शिव का पार्वती विषयक विप्रलम्भ शृङ्गार अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ रतिविशेष वाचक कन्दर्प शब्द स्थायिभाव का स्वशब्द है। औत्सुक्य, चिन्ता, हर्ष आदि सञ्चारिभाव स्वशब्दवाच्य हैं। स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभव स्वशब्दवाच्य हैं। भावयत आदि 'पार्वतीगुण' पदों से विभाव निर्दिष्ट है। अपाङ्ग आदि का अभिनय निर्दिष्ट है। इस प्रकार पाँच प्रकार से शृङ्गार रस अभिव्यक्त हुआ है।

परन्तु कुन्तक ने 'व्यतिरेक' में उद्भट के इस मत का, रस आदि की स्वशब्दवाच्यता का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है और कहा है कि रस आदि कभी भी स्वशब्द वाच्य नहीं हो सकते। 'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट ने तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने रस आदि की निष्पत्ति में स्वशब्दवाच्यता को दोष माना है–

व्यभिचारिरसस्थायिंभावानां शब्दवाच्यता।। काव्यप्रकाश।। ७.६०।।

क्योंकि उद्भट का यह कथन ध्वनिवादियों के मत के सर्वथा विपरीत जाता है। अतः यह सम्भव है कि ध्वनिकार ने यहाँ उद्भट के मत का खण्डन करने के लिये ही यह कहा है कि रस आदि कभी भी स्वशब्द से अभिधेय नहीं होते।

विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेन – विशिष्टैः विभावादिभिः प्रतिपादनमुखेन। सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि रस की प्रतीति विभाव आदि द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पहला सूत्र भरतमुनि का है–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।।"

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च। रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।।

लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी भाव हैं, उनको नाट्य और काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इन विभाव आदियों से व्यक्त स्थायी भाव रस कहलाता है।

शृङ्गारादिशब्दभाजि – शृङ्गारादीन् शब्दमात्रान् भजते इति तस्मिन्। काव्य और नाटक में शृङ्गार आदि नौ रस कहे गये हैं

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नव रसाः स्मृताः।।

अभिनवगुप्त, मम्मट आदि नाट्य में आठ रस मानते हैं तथा शान्त रस को नाट्य से भिन्न काव्यों का रस स्वीकार करते हैं।

वाक्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते – अभिधामूल ध्वनि दो प्रकार की कही गई है–संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इनमें पहली ध्वनि के अन्तर्गत वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि और दूसरी ध्वनि के अन्तर्गत रसादि ध्वनि है। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से आक्षिप्त होता है अतः दोनों में क्रम है। वाच्य अर्थ पहले तथा व्यङ्ग्य अर्थ बाद में प्रतीत होता है। संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य का यह क्रम लक्षित हो जाता है। परन्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में यह क्रम लक्षित नहीं होता। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ के साथ ही निष्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। 'सहेव' की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

सहेवेति। इव शब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यते इति तद्दर्शयति अग्र इति। –द्वितीयोद्योते।

ध्वनिकार ने दूसरे उद्योत में कहा है–

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः। ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। २–३।।

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।

इस तथ्य को मम्मट ने इस प्रकार कहा है–

न खलु विभावानुभाव्यभिचारिण एव रसः अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः, स तु लाघवान्न लक्ष्यते।

–काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास ।। ४।।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ५।।

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेर्निहत- सहचरीविरहकातर- क्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

अन्वय – काव्यस्य आत्मा स एव अर्थः। तथा च पुरा आदिकवेः क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः' श्लोकत्वम् आगतः।

हिन्दी अर्थ – काव्य का आत्मा वह ही प्रतीयमान अर्थ है। जैसा कि प्राचीन काल में आदिकवि बाल्मीकि का क्रौञ्च युगल के वियोग से उत्पन्न शोक (करुण रस का स्थायी भाव) श्लोक (काव्य) के रूप में परिणत हुआ।।३।।

अनेक प्रकार के वाच्य अर्थ, वाचक शब्द और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का सारभूत तत्त्व वह प्रतीयमान अर्थ ही है। जैसे कि–आदि कवि वाल्मीकि का मारी गई सहचरी के वियोग से विह्वल क्रौञ्च पक्षी के करुण रुदन से उत्पन्न शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हुआ।

काव्यस्यात्मा स एवार्थः – वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। स एव इस पद से स्पष्ट है कि ध्वनिकार ने तीन प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि को ही सबसे श्रेष्ठ सारभूत काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

शोकः श्लोकत्वमागतः – इस पद के द्वारा ध्वनिकार ने रसध्वनि के उदाहरण के रूप में आदिकवि की रचना 'रामायण' को प्रस्तुत किया है। इससे यह भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार सभी रसों में करुण रस को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं तथा उनके अनुसार रामायण करुणरस प्रधान काव्य है। उन्होंने लिखा है–

"रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः–"शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।" –चतुर्थ उद्योत।।

इस शोक के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि यह शोक मुनि का नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार पक्षी के दुःख से सन्तप्त होने पर मुनि द्वारा श्लोक–रचना अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इससे रस की आत्मत्व की अवस्था भी नहीं हो सकेगी। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार होगी–शोक ऋषि द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि ने उसको चित्तद्रुति के द्वारा करुण रस की स्थिति में अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति है। इसके अनन्तर वह करुण रस छन्दोमयी वाणी में प्रकट हुआ।

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः –विविधानां वाच्यानां वाचकानां रचनानां च प्रपञ्चेन चारुणः। इस पद से ध्वनिकार यह सूचित करना चाहते हैं कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ सारभूत होने पर भी उसमें अर्थालंकारों, शब्दालंकारों और संघटना का भी सौन्दर्य होना चाहिये। इनसे विभूषित रस और भी अधिक आह्लादक होता है।

निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः – निहता या सहचरी तस्याः विरहे कातरस्य कौञ्चस्य आक्रन्देन जनितः।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

शोको हि करुणरसस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।। ५।।

हिन्दी अर्थ – हे बहेलिये ? तू अनन्त काल तक कभी प्रतिष्ठा को प्राप्त मत हो, क्योंकि तूने कौञ्च पक्षियों के जोड़े में से एक कौञ्च को, जो कि काम से मोहित था, मार डाला है।

शोक करुण रस का स्थायी भाव है। यद्यपि प्रतीयमान अर्थ के अन्य भी अनेक भेद (वस्तु और अलंकार) दिखाये गये हैं, तथापि रस भाव द्वारा यहाँ जो उपलक्षण किया गया है, वह रसध्वनि के सबसे प्रधान होने के कारण दिया गया है।

आनन्दवर्धन ने यहाँ क्रौञ्चवध की जिस घटना के द्वारा रामायण काव्य के उद्भव का संकेत किया है, वह घटना इस काव्य के प्रारम्भ में है। ध्वनिकारकृत क्रौञ्चवध की घटना की व्याख्या "निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः" से यह प्रतीत होता है कि निषाद

ने मादा क्रौञ्ची पक्षी का वध किया था और उसके विरह मे क्रौञ्च पक्षी रुदन कर रहा था। अभिनवगुप्त की टीका 'क्रौञ्चस्य द्वन्द्वियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन" से भी मादा पक्षी के वध की सूचना मिलती है। इसके साथ ही राजशेखर की काव्यमीमांसा मे "निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानम्" पद के द्वारा क्रौञ्ची के वध का उल्लेख किया गया है।

क्रौञ्ची के वध का यह उल्लेख 'वाल्मीकि रामाण' के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें नर क्रौञ्च पक्षी के वध का वर्णन है तथा उसके विरह में मादा क्रौञ्ची रुदन करती है। क्रौञ्ची का यह वध अगले श्लोक से और भी स्पष्ट हो गया है–

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले। दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा।।

इस समस्या का समाधान विभिन्न विद्वानों ने इस प्रकार किया है–

(१) 'रामायण' से विरोध होने पर भी ध्वनिकार का पाठ ही ठीक है। 'ध्वन्यालोक' ध्वनिप्रकार ग्रन्थ है, अतः इसमें रामायण की कथा की भावना अभिव्यक्त की गई है। क्रौञ्चयुगल से राम और सीता का युगल ध्वनित होता है, निषाद पद से रावण ध्वनित होता है। निषाद द्वारा क्रौञ्ची के वध से रावण द्वारा सीता का हरण द्योतित होता है तथा विरहकातर क्रौञ्च के रुदन स विरहकातर राम का रुदन ध्वनित होता है।

(२) दीधितिकार ने ध्वनिकार एवं लोचनकार के पाठों को ही परिवर्तित कर दिया है। उनका पाठ है "निहतसहचरविरहक्रौञ्च्याक्रन्दजनितः।"

(३) कुछ विद्वानों ने मूल में परिवर्तन न करके ध्वनिकार के पद की व्याख्या इस प्रकार की है–"निहतसहचरीविरहकातरः च यः क्रौञ्च तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृकः यः आक्रन्दः तज्जनितः शोकः।" इस व्याख्या में क्रौञ्च के दो विशेषण–'निहत और सहचरीविरहकातर हो गये हैं। इस व्याख्या से रामायण के विरोध का परिहार भी हो जाता है तथा मूल पाठ में परिवर्तन भी नहीं करना पड़ता है।

प्रतीयमानस्य.....प्राधान्यात् – प्रतीयमान अर्थ के दो अन्य भेद वस्तु और अलंकार हैं तो, परन्तु ध्वनिकार काव्य म रस–भाव आदि को ही प्रधान मानते हैं। यहाँ रसाभास, भावाभास आदि भी ग्रहण किये जाते हैं। आलंकारिकों द्वारा प्राचीनकाल स ही रस को काव्य में सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने चतुर्थ उद्योत में पुनः की है–

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।। ४ ५।।

वे कहते हैं कि कवियों का रस आदि के अतिरिक्त अन्य में तात्पर्य नहीं होता–

"यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।"

भरत नाट्यशास्त्र की ६.४२ कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने रस को ही सब भावों का मूल कहा–तदेव मूल बीजस्थानीयात्क (यः क) विगतो रसः। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यं पुष्पादि स्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वाद । तेन रसमयमेव विश्वम्।।

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं तथा। तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।।५।।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्। अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।६।।

अन्वय – महतां कवीनां सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना अलोकसामान्यं परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् अभिव्यनक्ति।।५।।

हिन्दी अर्थ – महाकवियों की वाणी (रचना) आस्वादमय रसभाव रूप उस अर्थरूप तत्त्व को प्रभावाहित करने वाली और परिस्फुरित होती हुई प्रतिभा के विशेष को अभिव्यक्त करती है।। ६।।

अर्थवस्तु – लोचनकार के अनुसार यहाँ 'अर्थवस्तु' में वृत्ति में अर्थ की वस्तु द्वारा और वस्तु की तत्त्व द्वारा व्याख्या की है। भाव यह है कि वस्तु, अलंकार और रसरूप अर्थों में जो तत्त्व रूप है।

परिस्फुरन्तम् अभिव्यनक्ति – इसका भाव अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–सहृदयों में वह प्रतिभा अनुमीयमान नहीं होती अपितु उसके आवेश से भासित होती है। अर्थात् नायक, कवि और श्रोता सभी को उनका समान रूप से अनुभव होता है

प्रतिभाविशेषम् – अभिनवगुप्त ने प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है– प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्या विशेषः रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्"।

अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। उसका विशेष है–रस के आवेश के कारण विशद और सौन्दर्य के साथ काव्य के निर्माण की क्षमता।

प्रतिभा का लक्षण किया गया है–"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः।"

वामन ने प्रज्ञा और प्रतिभा में इस प्रकार विभेद किया है–

द्वे वर्त्मनी गिरा देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च। प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिदोद्भवमन्तिमम्।।

इस प्रकार उसके अनुसार प्रज्ञा से शास्त्रों की रचना होती है और प्रतिभा से काव्य की।

भट्टतौत ने इस सम्बन्ध में स्मृति, मति, बुद्धि, प्रज्ञा और प्रतिभा के लक्षण करके उनमें भेद बताकर प्रतिभा को काव्य का हेतु कहा है–

स्मृतिव्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा। बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।

तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्....।।

भूतकाल का स्मरण करनेवाली स्मृति है, भविष्य का बोध मति से होता है। तत्काल ज्ञान बुद्धि से होता है और प्रज्ञा से तीनों का बोध होता है। नव–नव ज्ञान को उन्मेषित करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। उस प्रतिभा से अनुप्राणित होकर वर्णन करने में निपुण व्यक्ति कवि होता है। तथा उस कवि का कार्य काव्य कहलाता है।

तद् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।।६।।

हिन्दी अर्थ – उस वस्तुतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महान् कवियों की वाणी परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा के विशेष को अभिव्यक्त करती है। जिसके कारण इस अतिविचित्र कवियों की परम्परा को वहन करने वाले संसार में कालिदास आदि दो तीन या पाँच, छः ही महाकवि गिने जाते हैं।।६।। (अर्थात् ऐसे महाकवि बहुत कम होते हैं जिनमें यह प्रतिभा का विशेष प्रकट होता है।

कालिदासप्रभृतयो.....गण्यन्ते – कालिदास की महाकवि रूप में प्रशंसा प्रायः सभी समालोचकों और कवियों ने की है और उनका उल्लेख बहुत आदर से किया है। समालोचकों का कथन है कि कालिदास के समान दूसरा कवि आज तक नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में एक सूक्ति है–

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।।

द्वित्राः पञ्चषाः – द्वयो वा त्रयो वा द्वित्राः। पञ्च वा षड् वा पञ्चषाः। यहाँ "संख्ययाऽव्यासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" (पा० २.२.२५) से बहुब्रीहि समास होकर "बहुब्रीहि संख्येये डचबहुगणा–त्' (पा० ५.४.७३) सूत्र से डच् प्रत्यय हुआ।।६।।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्-

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेण न वेद्यते। वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्।। ७।।

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात् तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।।७।।

हिन्दी अर्थ – प्रतीयमान की सत्ता को सिद्ध करने वाला यह दूसरा और प्रमाण है–

अन्वय – स शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेण एव न वेद्यते, तु केवलं काव्यार्थतत्वज्ञैः एव वेद्यते।

हिन्दी अर्थ – वह प्रतीयमान अर्थ केवलमात्र शब्दशास्त्र (व्याकरण) आदि और अर्थशास्त्र (कोश) आदि के जानने से विदित नहीं होता, अपितु केवल काव्य के अर्थ के तत्त्व को जानने वालों को ही विदित होता है।।७।।

क्योंकि इस प्रतीयमान अर्थ को केवल काव्य के अर्थ के तत्त्व को जानने वाले ही जान सकते हैं। यदि यह अर्थ वाच्य रूप ही होता, तो वाच्य और वाचक के स्वरूप के ज्ञान से ही उसकी प्रतीति हो जाती और भी, केवलमात्र वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) के लक्षण को जानने में ही परिश्रम करने वाले तथा काव्य के तत्त्व रूप प्रतीयमान अर्थ की भावना से विमुख रहने वाले व्यक्तियों को वह प्रतीयमान अर्थ उसी प्रकार अविदित रहता है, जिस प्रकार उत्कृष्ट गाने का अभ्यास न करने वाले एवं संगीतशास्त्र (गान्धर्वशास्त्र) के लक्षणों का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों को स्वर, श्रुति आदि के लक्षण (रहस्य) अविदित रहते हैं।।७।। कहने का भाव है कि जिस प्रकार जिसको गाने का अभ्यास न हो और वह संगीत के लक्षण का ज्ञान कर ले उसे स्वर, श्रुति आदि का रहस्य ज्ञात नहीं होता इसी प्रकार वाच्य अर्थ और वाचक शब्द को ही समझने वालों को प्रतीयमान अर्थ ज्ञात नहीं होता।

अप्रगीतानाम् – प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः गातुं वा प्रारब्धा इत्यादि कर्मणिक्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्ता लक्ष्यते। न प्रगीता अप्रगीताः, तेषाम् जिनका गाना उत्कृष्ट नहीं है।

कुछ संस्करणों में –प्रगीतानाम्' पाठ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी–गातुं प्रारब्धाः प्रगीताः। जिन्होंने अभी गाना प्रारम्भ ही किया है। यहाँ "आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च" (पा० ३.४.७१) सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ।

स्वरश्रुत्यादिलक्षणम् – स्वर और श्रुति गन्धर्वशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। स्वर की व्युत्पत्ति है–"स्वतः सहकारिकारणानपेक्षः रञ्जयति श्रोतुश्चित्तम् अनुरक्तं करोतीति स्वरः।" जो अन्य सहकारी कारण की अपेक्षा किये बिना ही श्रोताओं के मन को अनुरञ्जित करता है, वह स्वर है।

स्वरों की संख्या सात गिनाई गई है–'स्वराः षड्जादयः।" भरत ने ये सात स्वर इस प्रकार कहे हैं–

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्त ते स्वराः।।

'संगीतरत्नाकर' के अनुसार इन सात स्वरों का अभ्यास तथा उच्चारण "स रे ग म प ध नी" इस प्रकार से किया जाता है।

स्वर के प्रथम अवयव को श्रुति कहते हैं। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–

"श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणास्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिधा"। शब्द का जो विलक्षणमात्र उत्पन्न करने वाला रूपान्तर है, उसके परिमाण की श्रुति होती है वह स्वर, स्वर के अन्तराल और उभयभेद से २२ प्रकार की होती है। स्वर और श्रुति के लक्षण के सम्बन्ध में 'संगीतरत्नाकर' में इस प्रकार कहा गया है–

प्रथमश्रवणाच्छन्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः। स श्रुति सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा।।

श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धो नु रणनात्मकः। स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते।।

श्रुतिभ्यः स्युः स्वरा षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः। पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते।।

तेषां संज्ञाः स रि ग म प ध नीत्यपरा मताः। द्वाविंशति केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।

षट्षष्ठिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति।।

स्वर श्रुत्यादि में आदि पद से लोचनकार ने गान्धर्वशास्त्र के जात्यंशक, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, आन्तरभाषा दशा, मार्ग आदि पारिभाषिक शब्दों का संकेत किया है।

काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानाम् – काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम। यहाँ भावना का अभिप्राय है–वाच्य से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का निरन्तर आस्वादन करना।।७।।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति-

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन। यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः'।।८।।

स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण।।८।।

हिन्दी अर्थ – इस प्रकार वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ के अस्तित्व का प्रतिपादन करके यह प्रदर्शित करते हैं कि काव्य में प्रधानता भी इस व्यङ्ग्य अर्थ की ही है।

अन्वय – सः अर्थः तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी च कश्चन शब्दः तौ शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ।।८।।

हिन्दी अर्थ – वह प्रतीयमान अर्थ और उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य से युक्त जो कोई विशेष शब्द है, ये दोनों शब्द और अर्थ को महाकवि को यत्नपूर्वक पहचानना चाहिये।।८।

वह व्यङ्ग्य अर्थ है और उस व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ कोई विशेष शब्द है, केवल शब्दमात्र नहीं है। उन दोनों को शब्द और अर्थ को महाकवि को पहचानना चाहिये। उत्तम प्रकार से प्रयुक्त किये गये व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द से ही महाकवियों को महाकवित्व की प्राप्ति होती है, केवल वाच्य और वाचक की रचनामात्र से नहीं। कहने का अभिप्राय है कि जो महाकवि होना चाहता है उसे व्यङ्ग्य अर्थ और उस व्यङ्ग्य अर्थ को व्यञ्जित करने वाले शब्द को यत्नपूर्वक जानना चाहिये

पूर्व कारिका में ध्वनिकार ने अन्तिम रूप से वाच्य से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को प्रमाणित किया है। इस कारिका में उनका कथन है कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ ही प्रधान होता है। उस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यञ्जक शब्द से होती है। अतः महाकवि को चाहिये कि वह व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ को भली प्रकार पहचान ले। काव्य में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का सुन्दर प्रयोग करने से ही महाकवि को महाकवित्व की प्राप्ति होती है।

प्रत्यभिज्ञेयौ – इस प्रसंग में 'प्रत्यभिज्ञेय' पद के प्रयोग पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित है। अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञेय पद की जो टीका की है, उसको आधार मानकर इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

(१) "प्रत्यभिज्ञेयावित्यार्हार्थे कृत्यः। सर्वो हि यथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाणमुक्तम्।" "प्रत्यभिज्ञेय" पद में अर्ह अर्थ में 'कृत्य' प्रत्यय हुआ है। इससे अर्थ बोधित होता है कि सब महाकवियों को व्यङ्ग्य–व्यञ्जक को जानने का यत्न करना चाहिये, क्योंकि इनकी प्रधानता होने पर ही इसको सहृदयों ने सिद्धप्रमाण कहा है। कवि को सहृदय जन तभी महाकवि कहते हैं, जबकि वह काव्य में व्यङ्ग्य–व्यञ्जक भाव की प्रधानता देकर उनका सुन्दर प्रयोग करता है।

(२) "नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रमः उक्तः"। कृत्य प्रत्यय का प्रयोग शिक्षा अर्थ में भी हो सकता है। इस अवस्था में 'प्रत्यभिज्ञेय' पद का अर्थ होगा कि आचार्य कवि को व्यङ्ग्य–व्यञ्जक भाव की शिक्षा देता है तथा कवियों को आचार्य से उसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। यद्यपि आचार्यों द्वारा यह कहा गया है–

"काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः"

यद्यपि काव्य कवि के हृदय में स्वयं परिस्फुरित होता है, तथापि शिक्षा प्राप्त करने से यह सहस्र शाखाओं के समान विकसित होता है।

(३) प्रत्यभिज्ञा पद काश्मीर के प्रसिद्ध 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' का भी द्योतक है। इसका विशेष प्रतिपादन अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलपादाचार्य ने किया था। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है–तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा। तत्ता अर्थात् तद्देशीय और तत्कालीन एवं इदन्ता अर्थात् एतद्देशीय और एतत्कालीन सम्बन्ध का अवगाहन कराने वाली प्रतीति प्रत्यभिज्ञा है। जैसे–'सोऽयं देवदत्तः' पद में सो पद तत्ता और 'अयम्' पद इदन्ता के बोधक हैं। देवदत्त में इन दोनों के बोधन से यह प्रतीति प्रत्यभिज्ञा है। दार्शनिकों ने इस प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग परब्रह्म के साक्षात्कार में किया है और इसके अनुसार 'सोऽहम्' एवं 'तत्त्वमसि' आदि पदों की व्याख्या की है। परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रयोग के सम्बन्ध में उत्पलाचार्य का कथन है–

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो। नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।।

जिस प्रकार से कोई रमणी अनेक प्रकार की प्रार्थनाओं से समीप आये हुये और पास में स्थित होते हुये भी, पति को, उस रूप में नहीं पहचान पाने और अन्य पुरुषों के समान समझने के कारण रमण का सुख प्राप्त नहीं कर पाती, उसी प्रकार संसार के अपने आत्मभूत विश्ववेश्वर परमात्मा का भी हम तब तक आनन्दानुभव नहीं कर सकते, जब तक कि उसको पहचान न लें। तो उस परमात्मा को पहचानने के लिये यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा गया है। अतः यहाँ ज्ञात वस्तु का भी अनुसंधान रूप से विशेष प्रकार का निरूपण ही प्रत्यभिज्ञान हुआ, केवल उसका यह वही है इस रूप का ज्ञान मात्र नहीं।

महाकवेः – अर्थात् जो महाकवि बनने की अभिलाषा करता है।

इस प्रकार व्यञ्जक शब्द व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जना व्यापार तीनों ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननं, व्युत्पति से (कर्त्ता, कर्म और भाव में प्रत्यय करने पर) ध्वनि कहलाना ठीक है।

इस प्रकार इस प्रसंग में ध्वनिकार ने यह कहा है कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक की प्रत्यभिज्ञा से महाकवि पद प्राप्त होता है।।८।।

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद् वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह-

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः। तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।।९।।

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया। नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकः सम्भवति। तद्वद् व्यङ्गमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः।।९।।

हिन्दी अर्थ – अब इस स्थिति में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के काव्य में प्रधान होने पर भी जो कविगण वाच्य और वाचक का ग्रहण पहले करते हैं, वह भी ठीक है। इसलिए कहा गया है–

अन्वय – आलोकार्थी जनः यथा तदुपायतया दीपशिखायां यत्नवान् तद्वत् वाच्ये अर्थे तदादृतः।।९।।

हिन्दी अर्थ – प्रकाश को चाहने वाला व्यक्ति, जिस प्रकार उसका उपाय होने के कारण दीपक की शिखा के लिये प्रयत्न करता है, उसी प्रकार उस प्रतीयमान अर्थ के प्रति आदर से युक्त कवि उसका उपाय होने के कारण, वाच्य अर्थ का उपादान करने के प्रति आदरवान् होता है।।९।।

जिस प्रकार प्रकाश की इच्छा करता हुआ व्यक्ति दीपक की शिखा के लिए प्रयत्न करता है, क्योंकि प्रकाश का उपाय दीपक की शिखा है। दीपक की शिखा के बिना प्रकाश का होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार से व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आदर से युक्त होता हुआ

भी कवि वाच्य अर्थ के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि वाच्य अर्थ के बिना व्यङ्ग्य अर्थ सम्भव नहीं। इसके द्वारा प्रतिपादक कवि का व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया है।

इस प्रसंग में यह शंका हो सकती है–जिसका प्रथम कथन किया जाता है, वह प्रधान होता है और जिसका कथन बाद में किया जाता है, वह अप्रधान है। यहाँ वाच्य का प्रथम कथन करने से उसके प्राधान्य की आशंका उत्पन्न हो सकती है। उसी प्रश्न का उत्तर इस कारिका में ध्वनिकार ने दिया है–यद्यपि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव काव्य में प्रधान होता है, तथापि उसका बोध क्योंकि वाच्य- वाचक भाव से होता है अतः कविजन उपाय के रूप में वाच्य–वाचक भाव का उपादान पहले करते हैं यह स्वाभाविक नियम है कि उपाय और उपेय में उपेय प्रधान है। परन्तु उपाय के बिना उपेय की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः उपाय को पहले प्रस्तुत करना पड़ता है

इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने आलोक और दीपशिखा के उदाहरण से की है, जिस प्रकार आलोक (प्रकाश) की उपलब्धि दीपशिखा के बिना नहीं हो सकती, अतः आलोक को प्राप्त करने के लिये दीपशिखा को प्राप्त करना पड़ता है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य–व्यञ्जक की उपलब्धि वाच्य–वाचक भाव से होती है। इस कारण काव्य में कवि वाच्यवाचक भाव का उपादान पहले करता है। आलोक पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"आलोकः आलोकनम् ! वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः। तत्र चोपायो दीपशिखा।" देखना ही आलोक है। अर्थात वनिता के मुखरूपी कमल आदि का देखना और उसके लिये उपाय दीपशिखा है इसका भाव यह है कि अंधेरे में अपनी प्रेमिका के सुन्दर मुख कमल को देखने के लिये कोई व्यक्ति पहले दीपक की शिखा प्रज्वलित करता है। उस समय यद्यपि प्रेमिका के मुख का देखना ही प्रमुख है, दीपक की शिखा अप्रधान है, तथापि उपाय होने से दीपक की शिखा का उपादान पहले करना पड़ता है, इसी प्रकार वाच्यवाचक के अप्रधान तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जक के प्रधान होने पर भी वाच्यवाचकभाव का उपादान इस कारण पहले किया जाता है क्योंकि उसके द्वारा ही व्यङ्ग्यव्यञ्जक की प्रतीति हो सकती है।

इस प्रकार कारिका द्वारा ध्वनिकार ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि कवि की दृष्टि में व्यङ्ग्य अर्थ का महत्त्व सदा ही वाच्य अर्थ से अधिक होता है।

आदृतः – आदरवान्। यहाँ "कर्तृ कर्मणोः कृः" नियम से क्त प्रत्यय है। 'आदृतौ सादरार्चितौ" इत्यमरः।।९।।

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह-

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते। वाच्यार्थपूर्विकातद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।।१०।।

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिः।।१०।।

हिन्दी अर्थ – प्रतिपाद्य (वाक्यार्थ) के भी उस व्यापार को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं–

अन्वयः – यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते। तद्वत् वाच्यार्थपूर्विका तस्य वस्तुनः प्रतिपत्।।१०।।

हिन्दी अर्थ – जिस प्रकार पदों के अर्थों के द्वारा वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति में पूर्व वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है।

इस प्रसंग में आनन्दवर्धन यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि यद्यपि वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति बाद में होती है, इस प्रकार उनमें क्रम है, तथापि सहृदय द्वारा वाच्य अर्थ के तुरन्त बाद व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति में वह क्रम बाधित नहीं होता। इस तथ्य को उन्होंने पदार्थ और वाच्यार्थ के उदाहरण से स्पष्ट किया है। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

'अनेन श्लोकेन अत्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैषः स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। यथाऽत्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सत्रपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसवेंद्य इति दर्शितम।

भाव यह है कि सहृदय व्यक्ति को वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ में क्रम होते हुये भी लक्षित नहीं होता। जिस प्रकार, जो पदों के अर्थों को अच्छी प्रकार से नहीं जानता है, वह पहले पदों का अर्थ करके बाद में वाक्य का अर्थ करता है, और उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ में क्रम लक्षित होता है। परन्तु जो पदों के अर्थों के ज्ञान में कुशल है, उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ में क्रम होते हुए भी यह क्रम लक्षित नहीं होता। उसी प्रकार, जो सहृदय हैं, उनके लिये वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम होते हुए भी लक्षित नहीं होता परन्तु जो हृदय नहीं हैं उनको वाच्य और व्यंग्य में क्रम लक्षित होता है।।२०।।

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेः, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न विलुप्येत तथा दर्शयति-

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि। यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।।११।।

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न विभाव्यते विभक्ततया।।११।।

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो। वाच्यार्थविमुखात्मनाम्। बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।१२।।

हिन्दी अर्थ – उस प्रतीयमान अर्थ के वाच्यार्थपूर्वक प्रतीत होने पर भी कहीं व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता लुप्त न होवे, उसको दिखाते हैं–

अन्वयः – यथा स्वसामर्थ्यवशेन एव वाक्यार्थं प्रथयन् अपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न विभाव्यते।।११।।

हिन्दी अर्थ – जिस प्रकार पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य अर्थात् अर्थ व्यापार द्वारा वाक्य अर्थ को प्रकट करता हुआ भी व्यापार के निष्पन्न हो जाने पर अलग से प्रतीत नहीं होता है।।११।।

जिस प्रकार पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य (आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि) द्वारा ही वाक्य के अर्थ को प्रकट करता हुआ भी व्यापार के निष्पन्न हो जाने पर पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होता।।११।।

अन्वय : – तद्वत् सः अर्थ वाच्यार्थविमुखात्मनां सचेतसां तत्त्वार्थदर्शिन्यां बुद्धौ झटिति एव अवभासते।।१२।।

हिन्दी अर्थ – उसी प्रकार वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से विमुख रहने वाले सहृदयों की तत्त्वार्थ का दर्शन करने में समर्थ बुद्धि में तुरन्त ही प्रकाशित हो जाता है।।१२।।

प्राधान्यं यथा न विलुप्यते – यह सत्य है कि वाच्यार्थ का कथन पहले होता है और व्यङ्ग्य अर्थ उसका अनुसरण करता है, परन्तु सहृदयों को यह क्रम अवभासित नहीं होता। सहृदयों का हृदय व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति रणरणक (उत्सुक) रहता है और यही उत्सुकता व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता प्रतिपादित करती है। इसको अभिनवगुप्त इस प्रकार स्पष्ट करते हैं–

"प्राधान्यादेव हिं तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वते इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः।"

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य के कारण ही उस व्यङ्ग्य अर्थ पर्यन्त अनुसरण करने के रणरणक (उत्सुकता) से त्वरित होते हुये सहृदय जन बीच में विश्राम नहीं करते। इस प्रकार क्रम के होते हुये भी यह लक्षित नहीं होता, यही व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य का हेतु है।

स्वसामर्थ्यवशेन – स्वसामर्थ्यमाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधयः। योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है। इसके अभाव में पदसमूह वाक्य नहीं कहलायेगा। पदों का वाच्यार्थ होने पर भी इनका परस्पर अन्वय आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से होकर वाक्य का अर्थ संगत होता है। अतः पदार्थ के स्व–सामर्थ्य का अर्थ है–आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा।

न विभाव्यते – न विभक्ततया प्रतीयते। पदों का अर्थ वाक्य के अर्थ से विभक्त रूप से प्रतीत नहीं होता। यद्यपि पदों का अर्थ अलग है और वाक्य का अर्थ अलग है, तथापि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण वे अलग–अलग प्रतीत नहीं होते।

झटित्येवावभासते – इससे यह सूचित किया गया है कि यद्यपि वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ से भिन्न है और उनमें पूर्वपश्चाद्भाव का क्रम विद्यमान है, तथापि वाच्य अर्थ के तुरन्त बाद ही व्यङ्ग्य अर्थ के अवभासित हो जाने के कारण यह क्रम लक्षित नहीं होता।।१२।।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः, स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।१३।।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

हिन्दी अर्थ – इस प्रकार वाच्य अर्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ के सद्भाव (अस्तित्व और प्रधानता) का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग दिखलाते हुये कहते हैं–

अन्वयः – यत्र अर्थः शब्दः वा उपसर्जनीकृतस्वार्थौ तम् अर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषः सूरिभिः ध्वनिः इति कथितः।।१३।।

हिन्दी अर्थ – जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस विशेष काव्य को विद्वान् लोग ध्वनि इस प्रकार से कहते हैं।।१३।।

जहाँ अर्थ वाच्यविशेष या शब्द वाचकविशेष उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं, वह विशेष काव्य ध्वनि है।

सद्भावम् – अभिनवगुप्त ने सद्भाव का अर्थ दो प्रकार से किया है–

"सद्भावमिति सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थ। द्वयं हि प्रतिपादयिषितम्।।

सद्भाव के यहाँ दो अर्थ हैं–सत्ता अर्थात् अस्तित्व और साधुभाव अर्थात् प्राधान्य। ध्वनिकार इन दोनों को ही यहाँ प्रतिपादित करने की इच्छा रखते हैं।

प्रकृते – प्रकृत का अभिप्राय प्रस्तुत ध्वनि के लक्षण से है। ध्वनि काव्य का लक्षण करने में ध्वनिकार व्यङ्ग्य अर्थ का उपयोग कर रहे हैं।

उपसर्जनीकृतस्वार्थौ – उपसर्जनीकृतः स्वः स्वार्थश्च याभ्यां तौ। जिन्होंने कि अपने को और अपने अर्थ को गुणीकृत कर दिया है अप्रधान बना दिया है। भाव यह है कि अर्थ अपने स्वयं को गुणीकृत करता है और शब्द अपने अर्थ को गुणीकृत करता है। जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनिकाव्य होता है। ध्वनिकाव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुये मम्मट ने भी यही कहा है–

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

काव्य में जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अधिक चमत्कार होता है तो इसको उत्तम काव्य कहते हैं, तथा विद्वानों ने इसे यह ध्वनि कहा गया है।

ध्वनि के इस लक्षण में यह भी कहा गया है कि अर्थ अपने को या शब्द अपने अर्थ को उपसर्जनीकृत करते हैं इससे स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों से होती है।

व्यङ्क्तः – 'व्यङ्क्तः' में द्विवचन है इस पर आपत्ति यह की जाती है कि यदि शब्द या अर्थ इन दोनों में से कोई एक व्यङ्ग्य अर्थ का व्यञ्जक है जैसे कि कारिका के 'वा' पद से प्रकट है, तो यहाँ द्विवचन क्यों है ? 'व्यनक्ति' इस प्रकार एकवचन ही होना चाहिये अभिनवगुप्त के अनुसार–

'व्यङ्क्तः, द्विवचन के प्रयोग से यह अभिप्राय है कि यद्यपि अविवक्षितवाच्यध्वनि में शब्द ही व्यञ्जक है तथापि अर्थ को सहकारित है, नहीं तो अज्ञात अर्थ वाला शब्द भी उसका व्यञ्जक हो जाये। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अर्थ की प्रधानतया व्यञ्जकता होने पर भी शब्द की सहकारिता होती है, क्योंकि विशिष्ट शब्द की अभिधेयता के बिना वह अर्थ व्यञ्जक नहीं होगा। अतः सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है। भट्टनायक ने जो द्विवचन का प्रयोग दोषयुक्त बताया है वह बिना विचार किए बताया है। अर्थः शब्दो वा में विकल्प का कथन प्राधान्य के अभिप्राय से कहा गया है। अर्थात् कहीं अर्थ की प्रधानता होगी शब्द सहकारी रूप में होगा और कहीं शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक होगा अर्थ की सहकारिता होगी।

साहित्य दर्पण के अनुसार–

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।।२.१८।।

मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' में अर्थ के व्यञ्जकत्व में शब्द की तथा शब्द के व्यञ्जकत्व में अर्थ की सहकारिता को स्वीकार किया है–

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः। अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।। काव्यप्रकाश।।३.३।

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा। अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।।२.१५।।

स काव्यविशेषः – कारिका में 'स' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने विशेष रूप से की है। इस पद का अर्थ है–अर्थौ वा शब्दौ वा व्यापारो वा। अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जना व्यापार, ये तीनों ही ध्वनि हैं। यद्यपि ये तीनों पृथक् पृथक् रूप से भी ध्वनि हैं, तथापि कारिका में इन तीनों के समुदाय रूप काव्य को ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में 'ध्वनि संज्ञा' का प्रयोग निम्न के लिये किया जा सकता है–(१) व्यञ्जक शब्द, (२) व्यङ्ग्य अर्थ, (३) व्यञ्जना व्यापार और इनका समुदाय रूप काव्य।

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्।

हिन्दी अर्थ – ध्वनि के इस लक्षण द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द के चारुत्व क हेतु उपमा आदि तथा अनुप्रास आदि अलंकारों से ध्वनि का विषय भिन्न है।

आनन्दवर्धन ने पिछले प्रकरण में यह प्रतिपादित किया था कि वस्तु (वाच्य अर्थ) में प्रतीयमान अर्थ भिन्न है। अब इस वाक्य का लेखन का उनका यह प्रयोजन है कि इस लक्षण के द्वारा वाच्य अर्थ को अलंकृत करने वाले उपमा आदि अलंकारों तथा वाचक शब्द को अलंकृत करने वाले अनुप्रास आदि अलंकारों को भी ध्वनि से पृथक् रूप वाला ही समझना चाहिये। उपमा आदि एवं अनुप्रास आदि अलंकार केवल वाच्य और वाचक को अलंकृत करते हैं। परन्तु ध्वनि का स्थान इनसे उच्च है और अलंकारों के अन्तर्गत ध्वनि का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसमें ध्वनिकार ने ध्वनिविरोधी अभाववादियों के इस प्रथम मत का खण्डन किया है कि ध्वनि का विषय प्राचीन प्रसिद्ध अर्थालंकारों और शब्दालंकारों से अतिरिक्त नहीं हो सकता।

ध्वनेर्विषयः – ध्वनि का विषय। 'विषय' शब्द की निष्पत्ति 'विस् बन्धने' धातु से है। "विशेषण सिनोति बध्नाति स्वसम्बन्धिन पदार्थमिति विषयः"। जो अपने से सम्बन्धित पदार्थ को विशेष रूप से बाँध लेता है, वह विषय है। इस व्युत्पत्ति से वाच्यवाचकचारुत्वहेतु भी से ध्वनि को पृथक् कह दिया गया।

यदप्युक्तम्-'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति', तदप्युक्तम् यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रेदर्शयिष्यामः।

हिन्दी अर्थ – यह जो कहा गया है प्रसिद्ध प्रस्थान (प्राचीन प्रसिद्ध शब्दार्थ–शरीरं काव्यम् वाला मार्ग) को अतिक्रमण करने वाले से काव्यत्व की हानि होती है, इसलिये ध्वनि नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह ध्वनि का मार्ग केवल लक्षण करने वालों के लिये ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु लक्ष्य ग्रन्थों की परीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि वह ध्वनि ही सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य का सारतत्त्व है। उससे भिन्न (काव्य जो कि ध्वनि से रहित है) केवल चित्रकाव्य ही है, इस बात को आगे दिखलायेंगे।

यहां पर ध्वनिकार अब अभाववादियों के दूसरे विकल्प का खण्डन कर रहे हैं जो यह कहते हैं कि प्राचीन प्रसिद्ध अलंकार, रीति, गुण आदि मार्गों से भिन्न अन्य किसी मार्ग से काव्यत्व नहीं होगा अतः ध्वनि नहीं है। आनन्दवर्धन का कहना है कि ध्वनि का लक्षण करने वाले आचार्य ही उस ध्वनि को नहीं अनुभव करते, परन्तु उत्तम ध्वनि काव्यों, रामायण आदि की इस दृष्टि से परीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि उनमें ध्वनि ही काव्य का सारभूत तत्त्व है, जो सहृदयजनों के हृदयों को आह्लादित करने वाला है। इससे भिन्न जिन काव्यों में ध्वनि नहीं है, केवल अलंकारों का बोझ है, उनको चित्रकाव्य कहा जाता है, जिनका वर्णन ध्वनिकार ने आगे तीसरे उद्योत में किया है।

चित्रमेव – व्यङ्ग्य अर्थ से रहित अलंकारमात्र की शोभा से युक्त काव्य को चित्रकाव्य कहा गया है। यह दो प्रकार का है–अर्थालंकारों से युक्त अर्थचित्र और शब्दालंकारों से युक्त शब्दचित्र। इनको ध्वनिकार ने इस प्रकार कहा है–

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते। काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।।

चित्रशब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किञ्चित्शब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।। ध्वन्यालोक २.४२–४३।।

आचार्य मम्मट ने भी चित्रकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।। –काव्यप्रकाश १.५।।

यदप्युक्तम्-"कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तलङ्कारादिप्रकारेष्यन्तर्भावः" इति, तदप्यसमीचीनम्। वाक्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।। परिकरश्चात्रश्लोकः :-

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः। वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः।।

हिन्दी अर्थ – और यह जो कहा गया है–कमनीयता का अतिक्रमण न करने वाले उस ध्वनि का पहले कहे गये अलंकार आदि के प्रकारों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, यह बात ठीक नहीं है। अलंकार आदि का मार्ग भी केवलमात्र वाच्य और वाचक के आश्रय से होता है और ध्वनि की स्थिति व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के आश्रय से होती है, तो उस मार्ग में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? इसके विपरीत वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु अलंकार तो उस ध्वनि के अंगभूत हैं तथा वह ध्वनि अंगीरूप है, इस तथ्य को हम आगे प्रतिपादित करेंगे। इस सम्बन्ध में यह परिकर श्लोक है–

ध्वनि का निबन्धन व्यङ्ग्यव्यञ्जक सम्बन्ध से होने के कारण उसका अन्तर्भाव वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतुओं, अलंकार आदियों में कैसे हो सकता है।

अभाववादियों के पहले दो मतों का खण्डन करके ध्वनिकार अब तीसरे मत का, जो कि ध्वनि का समावेश अलंकार आदि में करते हैं, खण्डन कर रहे हैं।

उपमा और अनुप्रास आदि अलंकार सदा वाच्य और वाचक को ही अलंकृत करते हैं, अर्थात् उनके आश्रय आदि में रहते हैं। परन्तु ध्वनि की स्थिति वाच्य–वाचक के आश्रय से न होकर व्यङ्ग्य–व्यञ्जक के आश्रय से होती है। व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति सदा व्यञ्जना व्यापार से होती है। इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। ध्वनिकाव्य में ध्वनि सदा अंगीरूप (आत्मतत्त्व के रूप में प्रधानभूत) होती है तथा उपमा एवं अनुप्रास आदि अलंकार वाच्य एवं वाचक को अलंकृत करके ध्वनि के अंगरूप में (गुणीभूत रूप में) रहते हैं। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में कैसे हो सकता है ?

अङ्गाङ्गिभाव – काव्य में जो प्रधान है, आत्मतत्त्व के रूप में है, उसको 'अङ्गी' कहते हैं। जो वस्तु उस आत्मतत्त्व को अलंकृत करने वाली है, गौणरूप में है, उसको 'अङ्ग' कहते हैं।

ध्वनिकार के इस कथन का समर्थन विद्याधर ने 'एकावली' में इस प्रकार किया है–

"गुणेषु न तावद् ध्वनेरन्तर्भावः। नाप्यलङ्कारेषु। वाच्यमात्रविश्रान्तेषु श्लेषादिषु व्यभिचारात्।"

'अलङ्कारसर्वस्व' में रुय्यक भी इस कथन का समर्थन करते हैं–

"तस्माद्विषय एवं व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालङ्कारकृतपरिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूताः नालङ्कार्याः वाच्याः अलङ्काराणामुपस्कारकत्वात् रसानां च प्राधान्येन उपस्कार्यत्वात् प्रतिपादिष्यमाणत्वात्"–आगे प्रतिपादित किया जाने के कारण।

परिकर श्लोक – जिस अर्थ का कारिका में अधिक स्पष्टीकरण नहीं है, उस अपेक्षित अर्थ को कहने वाला श्लोक परिकर श्लोक कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया–

"परिकरार्थं कारिकार्थस्य अधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।"

परिकर के लिये, कारिका के अर्थ का अधिक आवाप करने के लिये जो श्लोक होता है वह परिकर श्लोक है।

ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः, स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" इति अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिष्विति।

हिन्दी अर्थ – यहाँ कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नहीं होती, वह ध्वनि का विषय न हो, परन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है, जैसे कि समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति दीपक, संकर अलंकार आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव हो जायेगा। इत्यादि के निराकरण करने के लिये ध्वनि के लक्षण में लिखा है–"उपसंर्जनीकृतस्वार्थौ"। जहाँ अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके या शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके दूसर अर्थ प्रतीयमान का अभिव्यक्त करता है, वह ध्वनि है। इसलिये इन अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। ध्वनि निश्चय से वहीं होता है जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो। परन्तु समासोक्ति आदि अलंकारों में ऐसा नहीं है।

ध्वनि–सिद्धान्त का विरोध करने वाले यह युक्ति दे सकते हैं–प्राचीन भामह, उद्भट आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि वे ध्वनि या व्यङ्ग्य अर्थ से परिचित नहीं थे। उनके द्वारा प्रतिपादित समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ स्पष्ट रूप से आभासित होता है जो कि वस्तु, रस या अलंकार के रूप में हो सकता है। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलंकारों में ही मानना चाहिये, इसको पृथक् रूप में मानने की आवश्यकता नहीं है। इस युक्ति का खण्डन करने के लिये ही ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण में 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद लिखा है।

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने पर भी ध्वनि वहीं होती है, जहाँ वाच्य अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके या वाचक शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं। अर्थात् प्रतीयमान अर्थ के प्रधान होने एवं वाच्यवाचक के गुणीभूत होने पर ही काव्य ध्वनिकाव्य होगा। यदि प्रतीयमान अर्थ के होने पर भी काव्य में वाच्यवाचक की प्रधानता है, अर्थ की विश्रान्ति वाच्यवाचक में होती है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा। इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार दो प्रकार के हो सकते हैं–एक तो वे जिनमें प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। दूसरे अलंकार वे हैं, जिनमें प्रतीयमान अर्थ भी अभिव्यक्त होता है, परन्तु इनमें यह अर्थ प्रधान न होकर गौण रूप से रहता है। समासोक्ति आक्षेप आदि अलंकार इस वर्ग के हैं। ध्वनिकार का कथन है कि इन अलंकारों में हम ध्वनि नहीं मान सकते, अपितु इनको गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जा सकता है। इन अलंकारों की गुणीभूतव्यङ्ग्यता ध्वनिकार ने तीसरे उद्योत की ३७वीं कारिका में इन पंक्तियों में प्रतिपादित की है–

"येषु चालङ्कारेषु, सादृश्यमुखेन तत्वप्रतिलम्भः, यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु, तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशायि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव।"

इस प्रकार ध्वनिकार ने उन अलंकारों को, जिनमें प्रतीयमान अर्थ अभिव्यक्त तो हुआ है, परन्तु वह प्रधान नहीं है, गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

अब ध्वनिकार समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन कर रहे हैं।

समासोक्तौ तावत्-

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्। यथा समस्तं तिमिराशुकं तथा पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्

इत्यादौ व्यङ्गयेनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते। समारोपितनायिकानायकव्यवहारोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्।

समासोक्ति अलंकार में ध्वनि का निराकरण-

समासोक्ति में तो-

अन्वय – उपोढ़रागेण शशिना विलोलतारकं निशामुखं तथा गृहीतं यथा रागात् तथा पुरः अपि गलितं समस्तं तिमिरांशुक न लक्षितम्।

हिन्दी अर्थ – सन्ध्याकालीन लालिमा को धारण करने वाले चन्द्रमा ने चञ्चल तारों से युक्त रात्रि के मुख (प्रारम्भ) को इस प्रकार ग्रहण कर लिया कि लालिमा के कारण उस रात्रि ने पूर्व दिशा में ढले हुये भी अपने तिमिर के वस्त्र को लक्षित नहीं किया।

हिन्दी अर्थ – इत्यादि काव्य में व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य अर्थ ही प्रधान रूप से प्रतीत हो रहा है क्योंकि जिन पर नायिका और नायक के व्यवहार का आरोप किया गया है, वे निशा और शशि ही वाक्य अर्थ हैं।

इस पद्य में प्रस्तुत निशा और शशि के वृत्तान्त से किसी नायिका और नायक का अप्रस्तुत वृत्तान्त भी अभिव्यक्त हो रहा है। वह इस प्रकार है–

जिसका राग (प्रेमोन्माद) बहुत अधिक बढ़ा हुआ है ऐसे शशि नामक नायक ने चञ्चल ताराओं (पुतलियों) वाली निशा नामक नायिका के मुख को इस प्रकार पकड़ लिया (चुम्बन के लिये) कि प्रेमोन्माद (राग) के कारण उस नायिका ने सामने भी गिरे हुये अपने तिमिर सदृश नील वस्त्र को लक्षित नहीं किया।

इस पद्य में समान विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत शशि एवं निशा के वृत्तान्त से प्रेमोन्मत्त नायक–नायिका वृत्तान्त अभिव्यक्त होने से समासोक्ति अलंकार है। समासोक्ति अलंकार का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है–

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः। सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः।। काव्यालंकार ७.७६।।

जिस उक्ति में समान विशेषणों के कारण प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अन्य अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, विद्वानों द्वारा उसको समासोक्ति अलंकार कहा गया है। संक्षेप में कहा जाने के कारण यह समासोक्ति है।

मम्मट के अनुसार समासोक्ति का लक्षण है, परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।' (काव्यप्रकाश १०–१४१) अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य से श्लिष्ट विशेषणों द्वारा अप्रकृत अर्थ का अभिधान है, वह संक्षेप से दो अर्थ का कथन करने से समासोक्ति है।

प्रस्तुत उदाहरण में कवि ने रात्रि के प्रारम्भ के समय के चन्द्रोदय का वर्णन किया है। यहाँ कवि को शशि और निशा का वर्णन करना अभिप्रेत है। परन्तु शशि और निशा के कार्य के रूप में जिन विशेषणों 'उपोढरागेण' निशामुखम्, विलोलतारकम्, रागात्, तिमिरांशुकम्' का वर्णन किया गया है, ये सब श्लिष्ट हैं। इनके सामर्थ्य से निशा और शशि में समान लिंग वाले नायिका एवं नायक का व्यवहार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा व्यञ्जित हो जाता है। उपोढरागेण=उपोढः रागः सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च यस्य तेन। विलोलतारकम्=विलोलाः तारकाः ज्योतींषि तारके कनीनिके वा यस्य तादृशम्। निशामुखम्=निशायाः रात्र्याः एतदुपलक्षणभूतायाः नायिकाया वा मुखं प्रारम्भः वदनं वा। यथा झटिति प्रेमरसभरेण वा। रागात् सान्ध्यारुण्यात् स्नेहाद् वा। पुरः पूर्वस्यां दिशि अग्रे वा। तिमिरांशुकं चन्द्ररश्मिसंवलितं तमः नीलवस्त्रं वा। गलितं प्रशान्तं पतितं वा।

रात्रि का आरम्भ होते ही पूर्व दिशा में चन्द्रमा का उदय हुआ तो उस समय आकाश में तारे झिलमिला रहे थे। अन्धकार से चन्द्रमा की किरणों का सम्मिश्रण होने से पूर्व दिशा में लालिमा छाने लगी और यह विदित ही नहीं हुआ कि किस समय रात्रि के अन्धकार का आवरण ढल गया। कवि यहाँ इस प्रकार चन्द्रोदय के वर्णन के प्रति उत्सुक है। परन्तु कवि के इस कथन से समान विशेषणों द्वारा यह अर्थ भी व्यञ्जित होता प्रतीत होता है–

प्रिय से मिलने के लिये निशा नाम की नायिका उपस्थित हुई। प्रेम से उन्मत्त नायक ने चुपके से आकर नायिका के मुख को थामकर चुम्बन करना प्रारम्भ कर दिया। नायिका भी प्रेमरस से विभोर हो गई। उसके मुख का नीला आवरण (घूंघट) सामने ही नीचे गिर गया। परन्तु प्रेमरसविभोर नायिका ने यह जाना ही नहीं कि उसका आवरण कब गिरा ?

यद्यपि इस काव्य में निशा–शशि वाच्य अर्थ द्वारा नायिका–नायक का व्यवहार भी व्यञ्जित होता है, परन्तु यहाँ कवि रात्रि के प्रारम्भ में चन्द्रोदय का वर्णन करने के लिये ही उत्सुक है और यह वर्णन ही प्रधान है। अतः व्यङ्ग्य अर्थ यहाँ गुणीभूत होगा। वाच्य अर्थ के प्रधान होने तथा व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभूत होने से यह काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलायेगा।

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं। प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छाया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्।

आक्षेप अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध–

हिन्दी अर्थ – आक्षेप अलंकार में भी व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप करने वाला होते हुये भी वाच्य अर्थ की ही चारुता है क्योंकि प्रधान रूप से वाक्य का वही अर्थ है। यह तथ्य आक्षेप की उक्ति के सामर्थ्य से जान लिया जाता है। क्योंकि वहाँ आक्षेप अलंकार में शब्द से गृहीत विशेष बात को अभिधा द्वारा कहने की इच्छा से प्रतिषेध रूप जो आक्षेप हैं, वह ही व्यङ्ग्यविशेष का आक्षिप्त करता है और वह मुख्य काव्यशरीर है।

ध्वनि को अलंकार के अन्तगर्त सिद्ध करने के लिये दूसरा उदाहरण आक्षेप अलंकार का दिया गया है। भामह ने आक्षेप अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। वक्ष्यमाणोक्तविषयः सः आक्षेपो द्विधा मतः।। काव्यालंकार २.६८।

मम्मट के अनुसार भी 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। लक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।। (१०–१०२)

जहाँ किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से इष्ट वस्तु का निषेध किया जाता है, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। यह निषेध दो प्रकार का होता है–(१) वक्ष्यमाण (आगे कही जाने वाली) बात का पहले ही निषेध कर देना और (२) उक्तविषय, पहले कही गई बात का पीछे निषेध कर देना। वक्ष्यमाण का उदाहरण भामह ने निम्न दिया है–

अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः। इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते।। काव्यालंकार २.६९।।

नायिका नायक से अपनी प्रेमभावना का निवेदन कर रही है–यदि मैं तुमको क्षण भर के लिये न देखूँ तो उत्कण्ठित होती हुई इतना ही रहने दो। इसके बाद की तुम्हें अप्रिय बात को कहने से क्या लाभ है ?

नायिका नायक से यह कहना चाहती है कि यदि मैं तुमको क्षणभर के लिये भी नहीं देखूँगी तो मर जाऊँगी। इस प्रकार मर जाऊँगी यह वक्ष्यणमाण विषय है। इस वक्ष्यमाण विषय का निषेध कर दिया जाने से यहाँ आक्षेप अलंकार है। अलंकारवादियों का कथन है कि यह वक्ष्यमाणविषय प्रतीयमान अर्थ है, अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में ध्वनिकार का उत्तर वही है, जो समासोक्ति अलंकार में दिया गया है। ध्वनि वहीं होती है, जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो। यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ तो है, परन्तु वह प्रधान नहीं है। यह वाच्य अर्थ को अलंकृत करके उसकी चारुता का प्रतिपादित करता है। अतः इसको गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने उक्त विषय आक्षेप का निम्न उदाहरण दिया है–

भो भोः किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति– स्तत्तादृक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽय जल गूहत

अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रति क्रुध्य भो– स्त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः।।

हे पथिक ! तुम तो अयोग्य स्थान पर क्यों आ पहुँचे हो ? उस प्रकार से प्यास से व्याकुल होते हुये मैं और क्या करता ? यह दुष्टबुद्धि वाला तो जल को छिपा लेता है। तुम गलत स्थान पर उत्पन्न होने वाली और असमय में सुलभ प्यास के प्रति क्रोध करो। पुन इस मरुभूमि के मार्ग के प्रभाव की महिमा तो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।

कोई सेवक अपने कंजूस स्वामी के पास प्राप्तव्य धन को पाने की आशा से पहुँचता है। इसके द्वारा धन देने से निषध करने पर अन्य व्यक्ति इस आक्षेप द्वारा उसको प्रतिबोधित करता है। इस पुरुष की सेवा करना व्यर्थ है, इस निषेध रूप आक्षेप के द्वारा वाच्य का ही चमत्कारित्व प्रधान रूप से है, जो कि दुष्ट पुरुष की सेवा और इसकी विफलता से उत्पन्न उद्वेग के रूप मे है तथा शान्त रस के स्थायी भाव निर्वेद के विभाव के रूप से चमत्कारी है।

वामन ने आक्षेप का लक्षण दिया है–"उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः" (काव्यालङ्कार–सूत्र ४.३.२७)। इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की गई है–(१) उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः। उपमान का प्रतिषेध करना उपमानाक्षेप है। (२) उपमानस्य आक्षपत प्रतिपादनं आक्षेपः द्वारा उपमान का बोध होना उपमानाक्षेप है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः निम्न हैं–

(१) तस्याश्चेन्मुखमस्ति सोम्य सुभगं किं पार्वणेनेन्दुना सौन्दर्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः

किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः।।

यदि उसका सौम्य और सुन्दर मुख है, तो पूर्णिमा के चन्द्रमा से क्या लाभ ? यदि सौन्दर्य के स्थानभूत उसकी दोनों आंखें हैं तो नीले कमलों से क्या लाभ ? यहाँ उसके अधर के होने पर कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या लाभ ? हाय ! एक बार निर्मित वस्तु के

को दुबारा बनाना आरम्भ करने में विधाता का अपूर्व आग्रह है। यहाँ उपमान 'पार्वणेन्दु' आदि के निषेध द्वारा उपमा यद्यपि व्यञ्जित होती है, तथापि यह वाच्य अर्थ की ही उपकारक है। यहाँ यह आक्षेप वाच्य होकर ही चमत्कार का आधायक है।

(२) ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्। प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।।

पाण्डु वर्ण के मेघ के द्वारा ताजे नखक्षत की आभा वाले इन्द्रधनुष को धारण करती हुई और कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ऋतु ने सूर्य के ताप को और भी अधिक बढ़ा दिया।

यहाँ आक्षेप द्वारा शरद् से नायिका, इन्दु से नायक और रवि से खलनायक इन उपमानों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार इस आक्षेप में प्रतीयमान अर्थ है। परन्तु यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ को ही अलंकृत करता है, अतः इसमें ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोति इत्येषा तु समासोक्तिरेव।

इस उदाहरण में वामन के अनुसार आक्षेप अलंकार है, परन्तु भामह ने तथा उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इसमें समासोक्ति अलंकार माना है। वामन के द्वारा प्रतिपादित प्रथम प्रकार के आक्षेप को उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने प्रतीप अलंकार माना है और दूसरे प्रकार के आक्षेप में भामह के सदृश ही समासोक्ति अलंकार माना है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने समासोक्ति और आक्षेप अलंकारों में व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर भी उसके प्रधान रूप से चमत्कारी न होने एवं वाच्य अर्थ के प्रधान होने के कारण इनको ध्वनि स्वीकार नहीं किया। ध्वनिकार का कथन है कि काव्य में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में जो अधिक चारु होता है, उसकी ही प्रधानता होती है। इसको वे इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं–

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययो प्राधान्ये विवक्षा यथा-

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः। अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः।।

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

हिन्दी अर्थ – वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में प्राधान्य की विवक्षा उनके चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है। जैसे–

सन्ध्या (सन्ध्याकाल अथवा सन्ध्या नाम की नायिका) अनुरागवती (सान्ध्यकालीन लालिमा से युक्त अथवा प्रेम से भरी हुई) है और दिवस (दिन या दिवस नाम का नायक) तत्पुरस्सरः उस सन्ध्या के सम्मुख आ रहा है। अहो, भाग्य की गति कैसी विचित्र है कि तो भी उनका मिलन नहीं होता।

यहाँ अनुरागवती सन्ध्या एवं पुरस्सर दिवस के वृत्तान्त से नायक–नायिका का वृत्तान्त व्यञ्जित होता है। सन्ध्याकाल और दिवस का मिलन तो प्राकृतिक कारणों से नहीं होता; परन्तु नायिका और नायक का मिलन गुरुजनों के बन्धन के कारण नहीं हो रहा। यहाँ यद्यपि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति तो है, परन्तु वाच्य अर्थ का चारुत्व अधिक होने से वह ही प्रधान रूप से विवक्षित है। अतः यह काव्य ध्वनि नहीं होगा।

इस स्थल की व्याख्या के प्रसंग में अभिनवगुप्त का कथन है कि वामन के अनुसार यहाँ आक्षेप अलंकार है और भामह के अनुसार समासोक्ति। इस आशय को मन में रखकर समासोक्ति एवं आक्षेप दोनों में ही एक साथ ध्वनि का खण्डन करने के लिये ध्वनिकार ने यह उदाहरण दिया है। इसमें आलंकारिक चाहे समासोक्ति माने या आक्षेप मानें, इससे कुछ नहीं होता। सर्वथा अलंकारों में व्यङ्ग्य गुणीभूत होता है यही हमारा साध्य है और यह तथ्य इससे सिद्ध हो जाता है।

दीपक एवं अपह्नुति अलंकारों के समान ही पूर्वोक्त अलंकारों में ध्वनि का निराकरण–

यथा च दीपकपह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

हिन्दी अर्थ – और जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति अलंकार में व्यङ्ग्य रूप में उपमा की प्रतीति होने पर भी उसके प्रधान रूप से विवक्षित न होने के कारण उपमा से कथन नहीं किया जाता, दीपक एवं अपह्नुति की प्रधानता होती है, उसी प्रकार यहाँ समासोक्ति और आक्षेप अलंकारों में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता से विवक्षा न होने से वाच्य अर्थ की ही प्रधानता होती है, ऐसा समझना चाहिये।

दीपक – 'काव्यप्रकाश' में दीपक का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

"सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्। सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।। काव्यप्रकाश १०.१०३।।

जहाँ उपमेय और उपमान में एक धर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया जावे अथवा अनेक क्रियाओं में एक कारक कहा जावे, वहाँ दीपक अलंकार है।

लोचनकार ने दीपक का भामहकृत लक्षण दिया है–

"आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।।" काव्यालंकार २.१५

आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से दीपक तीन प्रकार का है। इसका निम्न उदाहरण अभिनवगुप्त ने दिया है

मणिः शाणोल्लोढः समरविजयी हेतिदलितः कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बाललालना।

मदक्षीणो नागः शरदि सरिताश्यानपुलिना तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जना।।

सान पर निखारी हुई मणि, शस्त्रों से घायल युद्धविजयी, कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा, सुरत में मसली गई किशोरी, मद के बहने से क्षीण हाथी, शरद ऋतु में सूखे पुलिन वाली नदी और याचकों को दान देने के कारण क्षीण धन वाले मनुष्य अपनी कृशता से ही शोभित होते हैं।

यहाँ 'क्षीणविभव पुरुष' प्रकृत तथा 'शाणोल्लीढ मणि' आदि अप्रकृत हैं। इन प्रकृत–अप्रकृतों में एक ही धर्म का सम्बन्ध तनिम्ना शोभन्ते का कथन किया जाने से दीपक अलंकार है। यद्यपि इस अलंकार में प्रकृत एवं अप्रकृत से उपमान–उपमेय व्यंग्य है, तथापि दीपक का अधिक चारुत्व होने से वह ही प्रधान है।

प्रस्तुत उदाहरण में यद्यपि उपमा भी (साम्य) व्यंग्य है कि जिस प्रकार शाण पर घर्षित मणि, अस्त्रों से घायल युद्ध विजेता, कलामात्र से अवशिष्ट चन्द्रमा और रतिक्रीड़ा से मृदित नवयौवना तथा मद बहने से क्षीण हाथी और शरद ऋतु में सूखे हुए रेतील किनार वाली नदी क्षीणता से शोभित होती है उसी प्रकार याचकों को धन देकर क्षीण सम्पत्ति वाले पुरुष शोभित होते हैं। तथापि प्रकृत और अप्रकृत में एक धर्म रूप दीपक ही प्रधान है।

अपह्नुति–अभिनवगुप्त ने भामहकृत अपह्नुति का यह लक्षण उद्धृत किया है–

"अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा"। काव्यालंकार ३.२१।।

अभीष्ट का निषेध करना, जिसमें कि उपमा कुछ अन्तर्गत होती है, अपह्नुति अलंकार है। काव्य प्रकाश के अनुसार 'प्रकृत यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुति'। प्रस्तुत का निषेध कर अप्रस्तुत को सिद्ध करना अपह्नुति है। (१०/१०६) जैसे--

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः। अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः।।

यह मद से मुखर भौरों की पंक्ति गुञ्जार नहीं कर रही, अपितु यह खींचे जाते हुए कामदेव के धनुष की ध्वनि है। यहा प्रकृत भौरों की गुञ्जार का निषेध कर अप्रकृत कामदेव के धनुष की ध्वनि की स्थापना की गई है।

यद्यपि यहाँ भौरों के गुञ्जन एवं कामदेव के धनुष की ध्वनि में उपमान–उपमेयभाव व्यंग्य है, तथापि अर्थ का चमत्कार वाच्य अपह्नुति अलंकार में ही है।

इस सम्बन्ध में ध्वनिकार का कथन है कि जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति अलंकारों में उपमा के व्यंग्य होने पर भी वाक्य में दीपक एवं अपह्नुति अलंकारों की ही उनके चारुत्व के कारण प्रधानता है, उसी प्रकार से समासोक्ति और आक्षेप अलंकारों में भी व्यंग्य होने पर भी उन वाच्य अलंकारों की प्रधानता है। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलंकारों में नहीं किया जा सकता।

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ-

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि। गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति।।

इत्यादौ व्यंग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम्।। न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन–

हिन्दी अर्थ – अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी– सहायकों द्वारा पुकारा जाता हुआ भी, 'हीं' इस प्रकार का कहकर नींद का त्याग देने पर भी, जाने की इच्छा वाला भी पथिक अपने संकोच को छोड़ ही नहीं रहा है।

इत्यादि उदाहरणों में प्रकरण के सामर्थ्य से व्यंग्य की प्रतीतिमात्र है। परन्तु उस प्रतीति के निमित्त से किसी चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती। इसलिये यहाँ उस व्यंग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है।

अभिनवगुप्त ने विशेषोक्ति का भामहकृत लक्षण उद्धृत किया है–

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता।। काव्यालंकार ३.

एक देश में न रहने पर विशेष अर्थ को प्रसिद्ध करने के लिये जो गुणान्तर का कथन किया जाता है वह विशेषोक्ति अलंकार कहा गया है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशेषोक्ति का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। आचार्य मम्मटकृत लक्षण इस प्रकार से है–

"विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।" काव्यप्रकाश १०.१६२।।

सम्पूर्ण कारणों के विद्यमान रहने पर भी फल का कथन न करना विशेषोक्ति है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की है।–अचिन्त्यनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्त निमित्ता। अचिन्त्यनिमित्ता (जिसका निमित्त सोचा भी न जा सके) और उक्तनिमित्ता (जिसका निमित्त कह दिया जाये) में व्यंग्य अर्थ ही नहीं होता, अतः उनमें ध्वनि होने का प्रश्न ही नहीं है। जैसे–

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण–

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्।।

वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है, शिवजी ने जिस कामदेव के शरीर को नष्ट करके भी बल नष्ट नहीं किया। इस विशेषोक्ति में अशरीरी कामदेव द्वारा तीनों लोकों को जीत लेने के निमित्त को 'उसके बल का हरण न किया जाना' अचिन्त्य रूप से कह देने से यहाँ व्यंग्य अर्थ नहीं है।

उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण–

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने। नमोऽस्त्वनार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे।।

कर्पूर के समान जला हुआ भी जो कामदेव जन–जन के प्रति शक्तिमान् है, अवार्य पराक्रम वाले उस कामदेव के लिए नमस्कार है। यहां अवार्य वीर्याय से निमित्त कह दिया गया है। इस उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी व्यंग्य अर्थ का अस्तित्व नहीं है। विशेषोक्ति के इन दोनों भेदों में व्यंग्य अर्थ के अस्तित्व के न रहने के कारण ध्वनिकार ने इनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये, अपितु व्यंग्य अर्थ के विद्यमान रहने के कारण अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति के उदाहरण "आहूतोऽपि सहायैः" में संकोच के शिथिल न करने के निमित्त की कल्पना व्यंग्य है। इस सम्बन्ध में भट्टोद्भट ने "शीत" के आधिक्य को निमित्त माना है। परन्तु दूसरे रसिक इसमें निमित्त की इस प्रकार कल्पना करते हैं–

वह पथिक प्रिया से मिलने के लिए जा रहा है। परन्तु गमन की अपेक्षा स्वप्न में प्रियामिलन को सुगम उपाय समझकर वह संकोच को नहीं छोड़ रहा है और सिकुड़ा हुआ शय्या पर पड़ा है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इनमें से चाहे किसी को भी निमित्त समझा जावे, वह चारुत्व का हेतु नहीं है। ध्वनिकार के अनुसार प्रकरण के सामर्थ्य से इस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु इस प्रतीति के द्वारा किसी चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती। अतः यहां व्यंग्य अर्थ की प्रधानता न होने से ध्वनि नहीं हो सकती।

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध–

हिन्दी अर्थ – पर्यायोक्त अलंकार में भी यदि व्यंग्य अर्थ की प्रधानता है तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो सकता है। परन्तु ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि ध्वनि तो महाविषय एवं अंगीरूप है, इसको प्रतिपादित किया जायेगा। पुनः, भामह ने जो पर्यायोक्त का उदाहरण दिया है, उसके सदृश उदाहरणों में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है। वहां वाच्य अर्थ का उपसर्जनीभाव (गौणत्व) विवक्षित नहीं है। अर्थात् वहां वाच्य अर्थ की प्रधानता होने से उसको ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

पर्यायोक्त का भामहकृत लक्षण इस प्रकार है–

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। काव्यालंकार ३.८।।

जब किसी अन्य प्रकार से, जहां वाच्य–वाचक व्यापार न हो, कथन किया जाता है तो वहां पर्यायोक्त अलंकार होता है। 'साहित्यदर्पण' एवं काव्यप्रकाश में भी पर्यायोक्त के लक्षण इसी प्रकार दिये गये हैं–

"पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते"।। साहित्यदर्पण १०.६०।।

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।। काव्यप्रकाश १०.११।।

जब प्रकारान्तर से वाच्य–वाचकत्व के बिना कोई कथन किया जाता है, तो उसको पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब प्रकारान्तर से अवगत अर्थ को अभिधा द्वारा कहा जाता है, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है। जैसे–

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः। रामस्यानेन धनुषा दैशिता धर्मदेशना।।

शत्रु के विनाश करने की दृढ़ इच्छा वाले और उच्छृंखल मार्ग पर गमन करने वाले परशुराम क लिए इस भीष्म धनुष न तम क उपदेश दे दिया।

यहाँ भीष्म ने युद्ध में परशुराम को पराजित कर दिया', यह अर्थ व्यंग्य है। प्रकारान्तर से गम्यमान इस अर्थ को कवि न दूसर प्रक से कहा है, अतः यहां पर्यायोक्त अलंकार है। इस पर्यायोक्त में व्यंग्य अर्थ तो है, परन्तु यह प्रधान नहीं है और वाच्य का ही अलंकृत करता है। इसलिये यहां ध्वनि नहीं हो सकती।

पर्यायोक्त अलंकार के सम्बन्ध में ध्वनिकार का कथन है कि इसमें दो प्रकार की स्थितियां हो सकती हैं – (१) इसम यग्य अ की प्रधानता हो सकती है। (२) व्यंग्य अर्थ गौण रूप से निहित होकर वह वाच्य का उपकारक हो सकता है। पहल प्रकार की स्थिति में पर्यायोक्त अलंकार का ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायेगा। परन्तु ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नहीं होगा। कारण यह है कि वहां जहाँ ध्वनि हो, वहाँ–वहाँ पर्यायोक्त अलंक्रार भी हो, ऐसा नहीं है, इसके विपरीत व्यंग्य अर्थ–प्रधान पर्यायोक्त म ध्वनि हो सकती है और उसका अन्तर्भाव ध्वनि में ही हो सकता है। ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में नहीं हो सकेगा। ध्वनिकार न ध्वनि का महाविषय=व्यापक रूप में और अंगीरूप में प्रतिपादित किया है।

ध्वनिकार का यह भी कथन है कि पर्यायोक्त अलंकार के कुछ उदाहरणों में व्यंग्य अर्थ अवश्य ही प्रधान रूप मे निहित रहता है परन्तु सब उदाहरणों में ऐसा नही है। स्वयं भामह द्वारा उदाहृत पद्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है।

अभिनवगुप्त के अनुसार यदि भामह के उदाहरण को अनादृत कर 'भमधम्मिअ उदाहरण दिया जाता है तो वह हमारे मतानुसार होगा किन्तु अनुचित ढंग से शिक्षित करने में अनार्य आचरण होगा। पर्यायोक्त अलंकार के उदाहरण रूप में यह उदाहरण भी दिया गया है। इस उदाहरण में निश्चय रूप से निषेध रूप व्यंग्य अर्थ की प्रधानता है। अतः इसको ध्वनि का उदाहरण कहा गया है। भामह ने पर्यायोक्त अलंकार का निम्न उदाहरण दिया है–

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्जमहे यदधीतिनः। विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये।।

स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण जिस अन्न को नहीं खाते, हम घरों में एवं मार्गों में रसदान की निवृत्ति के लिये उस अन्न को नहीं खाते हैं

भगवान् कृष्ण का यह वचन पर्याय द्वारा (हम नहीं खाते यह वाच्य रूप में कहकर व्यंग्य रूप) विषदान का निषेध करता है जिस आगे 'रसदान निवृत्तये' से कह दिया है। यहाँ विषदान निषेध रूपी व्यंग्य में चारुत्व नहीं है। अपितु इस व्यंग्य से मिश्रित विप्रभोजन के बिना भोजन न करना ही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होता हुआ प्राकरणिक भोजनार्थ 'अधीतियों से बचे हुए अन्न का खाता है–इस प्रकार के अर्थ को अलंकृत करता है। 'कृष्ण का भोजन विष रहित हो जाए यह व्यंग्य विद्यमान होते हुए भी अभीष्ट नहीं है

इस कारण पर्यायोक्त अलंकार में जहाँ व्यंग्य अर्थ की प्रधानता है। जैसे–'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः' में, वहाँ ध्वनि हो सकती है। परन्तु जहां व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ का उपकारक होगा और वाच्य अर्थ की प्रधानता होगी, वहां वाच्य पर्यायोक्त अलंकार ही होगा

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

अपह्नुति और दीपक अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध–

हिन्दी अर्थ –अपह्नुति और दीपक अलंकारों में पुनः वाच्य अर्थ की प्रधानता और व्यंग्य अर्थ का वाच्यानुगामी होना प्रसिद्ध ही है

अपह्नुति और दीपक अलंकारों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है–यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यंग्यत्वेनोपमाया प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तथा व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।" इस प्रसंग में ध्वनिकार यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि दीपक और अपह्नुति में यद्यपि उपमा व्यंग्य है, तथापि उसमें चारुत्व की विश्रान्ति न होने से वह प्रधान रूप में विवक्षित नही है, अत उन अलंकार में ध्वनि नहीं है। पहले इन अलंकारों का उल्लेख करने पर भी यहाँ पुनः उल्लेख क्रम से प्राप्त होने के कारण किया गया है, क्योंकि "समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्करादौ" वाक्य में पर्यायोक्त अलंकार के बाद अपह्नुति और दीपक अलंकार का कथन किया गया है।

सङ्करालङ्कारेऽपि यदाऽलङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न, ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदाऽसोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

संकर अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध-

हिन्दी अर्थ – संकर अलंकार में भी जब एक अलंकार दूसरे अलंकार के सौन्दर्य को पुष्ट करता है, तब व्यंग्य अर्थ के प्रधान रूप से विवक्षित न होने का कारण यह ध्वनि का विषय नहीं होता। दो अलंकारों की सम्भावना होने पर वाच्य और व्यंग्य को समान प्रधानत

होती है, अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती। यदि इसमें वाच्य के उपसर्जनीभूत होकर व्यंग्य की स्थिति हो तो वह भी ध्वनि का विषय हो सकता है। परन्तु वह ही ध्वनि है, यह नहीं कहा जा सकता, पर्यायोक्त में कहे गये न्याय से ही। अर्थात् पर्यायोक्त के विषय में जो विवेचन किया गया है वह सब यहां भी समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि संकर अलंकार में कहीं भी (अर्थात् कहीं भी या संकरालंकार के सभी भेदों में) संकर शब्द का कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

लक्षण ग्रन्थों में विभिन्न अलंकारों के पृथक–पृथक लक्षण कहे गये हैं। परन्तु अनेक बार ये परस्पर मिश्रित भी हो सकते हैं। यह स्थिति दो प्रकार से हो सकती है–संसृष्टि और संकर। जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है–

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः संकरस्तथा।।

काव्यप्रकाश के अनुसार–

"सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।। १०.२०७।।
अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः। १०.२०८।।

अर्थात् जो इन अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति होती है वह संसृष्टि मानी गई है। अपने स्वरूप में निरपेक्ष भाव से पर्यवसित न होने वाले उपर्युक्त अलंकारों का अंग तथा अंगी रूप से स्थित होना संकर अलंकार है। **'तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः।।** १०.२११ तो यह अनुग्राह्य–अनुग्राहक, सन्देह, एकपद प्रतिपाद्य व्यवस्थित होने से तीन प्रकार का है।

संकर अलंकार के तीन भेद आलंकारिकों ने किये हैं–अंगांगिभाव संकर, एकाश्रयानुप्रवेश संकर और सन्देहसंकर। भामह आदि ने एकाश्रयानुप्रवेश संकर के पुनः दो भेद किये हैं–एकवाक्यप्रवेश और एकवाक्यांश प्रवेश। ध्वनिकार ने इनमें ध्वनि का निषेध किया है, केवल अंगांगिभाग संकर में ही कहीं–कहीं ध्वनि का विषय सम्भव माना है। इन अलंकारों में व्यंग्य की स्थिति एवं उनमें ध्वनि का निषेध या प्रतिपादन इस प्रकार है–

(१) **सन्देह संकर** -

सन्देह संकर का लक्षण भामह ने इस प्रकार दिया है–

विरुद्धालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे। एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः।।

परस्पर विरुद्ध दो अलंकारों के उपस्थित होने पर और दोनों की उपस्थिति साथ सम्भावित न होने पर किसी एक के ग्रहण करने एवं दूसरे को छोड़ने में युक्ति या दोष न होने पर संकर अलंकार होता है।

काव्य प्रकाश के अनुसार–

"एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः।। १०.२०६

दो या बहुत से अलंकारों का एक स्थल में समावेश होने पर विरोध होने के कारण जहां एक साथ होना सम्भव नहीं होता और एकतर के स्वीकार में साधक अथवा इतर के त्याग में बाधक प्रमाण नहीं होता, जिससे उनमें से एक को स्वीकार कर लिया जाय वह निश्चयाभाव रूप सन्देह संकर होता है।

इसके उदाहरण के रूप में लोचनकार ने स्वरचित श्लोक दिया है–

शशिवदनाऽसितसरसिजनयनासितकुसुमदशनपंक्तिरियम्। गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना।।

चन्द्रमुखी, नीलकमलनयनी और शुभ्रकुसुमदशनावली इस नायिका को विधाता ने आकाश–थल और जल में उत्पन्न होने वाले सुन्दर पदार्थों के आकार वाला बनाया है।

इस श्लोक में नायिका के 'शशिवदना' आदि विशेषण कहे गये हैं। इसमें "शशी एव वदनं यस्या सा शशिवदना" और "शशी इव वदनं यस्याः सा", इस प्रकार दो प्रकार से विग्रह करने पर रूपक या उपमा अलंकार हो सकता है। यहां इन दोनों अलंकारों में से किस अलंकार की उपस्थिति मानी जाये, इस सम्बन्ध में युक्तियों और दोषों के अभाव के कारण निश्चय नहीं हो सकता। अतः रूपक और उपमा दोनों अलंकारों की समान रूप से प्रधानता है। यह निश्चय करना भी कठिन है कि इन दोनो में से कौनसा अलंकार व्यंग्य है और कौनसा वाच्य है। इस कारण यह सन्देहसंकर अलंकार ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। सन्देह संकर अलंकार में ध्वनि का निषेध करने के लिए ही ध्वनिकार ने लिखा–"अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्।"

(२) **एकाश्रयानुप्रवेश संकर-**

जहाँ एक ही स्थल में दो अलंकार रहते हैं वह एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। भामह ने इसके दो भेदों का वर्णन किया है-

शब्दार्थबर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र वर्त्तिनः। सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते।।

शब्दालंकार और अर्थालंकार जहां एक ही वाक्य में स्थित हों, तब एकवाक्यप्रवेश और एकवाक्यांशप्रवेश के भेद से दो प्रकार का संकर होता है।

एकवाक्यप्रवेश का उदाहरण--

"स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्।"

कामदेव के सदृश उस प्रिय का स्मरण करो, जिसके आलिंगन से तुम रमण करती हो।

यहां 'स्मर, स्मर' पद की आवृत्ति से यमक अलंकार है और 'स्मरमिव में उपमा अलंकार है। इन दोनों अलंकारों की स्थिति एक वाक्य में होने से यह एकवाक्यप्रवेश संकर है। इस संकर में कोई भी अलंकार प्रतीयमान नहीं है, दोनों ही वाच्य हैं। अतः इनमें गौण या प्रधान का भाव न होने से ध्वनि नहीं हो सकती।

एकवाक्यांशप्रवेश का उदाहरण--

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति। वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमो गुहाम्।।

सूर्य और दिन का उदय और अवसान तुल्य होने के कारण, सूर्य के अस्त हो जाने पर खिन्न होता हुआ दिन निवास करने के लिये मानो अन्धकार रूपी गुफा में प्रवेश कर रहा है।

यहाँ 'इव' पद से उत्प्रेक्षा अलंकार है और 'तमोगुहाम्' पद में एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार है। यह अलंकार "सूर्य की विपत्ति में दिन का अन्धकार रूपी गुफा में प्रवेश, स्वामी की विपत्ति में समुचित व्रतग्रहण में प्रयत्नशील कुलपुत्र" का रूपण करता है। यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक दोनों ही वाच्य होने से ध्वनि नहीं हो सकती।

(३) **अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर -**

जहाँ अलंकार परस्पर एक दूसरे का उपकार करके स्थित होते हैं, वह अंगांगिभाव संकर है। अभिनवगुप्त ने इसका चौथा प्रकार करके लिखा है। भामह ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–

परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः। स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः।।

जहाँ अनेक अलंकार परस्पर उपकार के भाव से स्थित होते हैं और स्वतन्त्र रूप से आत्मलाभ प्राप्त नहीं करते, वह भी संकर है। जैसे –

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषं अधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या। तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः।

यह 'कुमारसम्भव' का श्लोक (१.४६) है। उस दीर्घ लोचनों वाली पार्वती ने तेज वायु से हिलते हुये नील कमलों के सदृश अधीर दृष्टिपात को क्या मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया था, अथवा मृगाङ्गनाओं ने पार्वती से उसे ग्रहण किया था ?

यहां सन्देह अलंकार वाच्य है तथा उससे पार्वती की दृष्टि एवं मृगाङ्गनाओं की दृष्टि, यह उपमा व्यंग्य होती है। परन्तु उपमाजनित चमत्कार सन्देह की शोभा का ही पोषण करता है। अतः व्यंग्य उपमा के गुणीभूत हो जाने से यहां ध्वनि नहीं है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने यह प्रदर्शित किया है कि संकर अलंकार के किसी भी भेद में ध्वनि नहीं होती। परन्तु यदि कहीं वाच्य अलंकार गुणीभूत होकर व्यंग्य अलंकार प्रधान रूप से स्थित हों, तो वहां ध्वनि हो सकती है। जैसे–

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धिसरणाणम्। किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे।।

(भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्। किं प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे ।।

केवल प्रसिद्धि को ही चाहने वाले दुष्ट मनुष्यों को गुणों के प्रति अनुराग नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर ही द्रवित होती है, प्रिया के मुख को देखकर नहीं।

इस पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार वाच्य है एवं व्यतिरेक और अपह्नुति अलंकार व्यंग्य है। व्यंग्य अलंकारों के प्रधान होने से चमत्कारजनक होने से यहां ध्वनि होगी।

जिन स्थलों में व्यंग्य अलंकारों की प्रधानता होगी वहां ध्वनि होगी, इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने "सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु" कहकर की है। परन्तु संकर में सब स्थानों पर ध्वनि उसी प्रकार से नहीं हो सकती, जैसा कि पर्यायोक्त अलङ्कार के प्रसंग में प्रतिपादित किया गया है। ध्वनि के महाविषय होने के कारण और अंगी होने के कारण इस प्रकार के संकर के स्थलो में ध्वनि तो हो सकती है, परन्तु उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

ध्वनिकार की यह भी मान्यता है कि संकरालंकार में ध्वनि की स्थिति कहीं भी नहीं हो सकती। इसमें संकर शब्द की उपस्थिति ही ध्वनि का निराकरण कर देती है। संकीर्णता का अभिप्राय लोली भाव अर्थात् परस्पर मिलकर एकाकार हो जाना है। तो उनमें गुणप्राधान्यभाव नहीं हो सकता और किसी अलंकार के गौण या प्रधान न रहने के कारण ध्वनि भी नहीं हो सकती। 'होइ ण गुणाणुराआ' जैसे उदाहरणों में संकर में ध्वनि प्रदर्शित की गई है। परन्तु इनको संकर का उदाहरण समझना ही उचित नही है। यह ध्वनि के दूसरे भेद अलंकारध्वनि का उदाहरण है।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः।

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तः प्रातः। इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में ध्वनि का निषेध–

हिन्दी अर्थ – *अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में भी जब सामान्य–विशेषभाव से अथवा निमित्त–निमित्तिभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है,तब अभिधीयमान अप्रस्तुत एवं प्रतीयमान प्रस्तुत दोनों की प्रधानता समान होती है। और जब अभिधीयमान सामान्य अप्रस्तुत का प्रतीयमान विशेष प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है, तब विशेष की प्रतीति की प्रधानता होने पर भी उस विशेष का सामान्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होता है जब विशेष सामान्यनिष्ठ होता है, तब सामान्य के प्राधान्य होने पर भी, समस्त विशेषों का अन्तर्भाव होने के कारण विशेष की भी प्रधानता होती है। निमित्तमिमित्तिभाव में भी यह नियम रहता है।*

जब सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत और प्रस्तुत का सम्बन्ध होता है, तब अभिधीयमान सदृश अप्रस्तुत का प्राधान्य की विवक्षा न होने पर इसका अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है। अन्यथा (प्राधान्य की विवक्षा होने पर) वह एक प्रकार का अलंकार ही होगा।

यद्यपि पहले वृत्ति में ध्वनिकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का उल्लेख नहीं किया था, तथापि 'सङ्करालङ्कारादौ, पद में आदि पद से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का ग्रहण करके वे इस अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध कर रहे हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वाच्य अप्रस्तुत के द्वारा व्यंग्य प्रस्तुत का आक्षेप किया जाने से इस अलंकार में प्रतीयमान अर्थ नियत रूप से रहता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का लक्षण भामह ने निम्न किया है–

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता।।

अधिकार से रहित अन्य वस्तु का जब कथन होता है, उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यह अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है– सामान्य विशेष भाव से, निमित्तनिमित्ति भाव से और सामीप्य से। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति–सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च।

इनमें सामान्यविशेषभाव के दो भेद हैं – (१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और (२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप।

निमित्तनिमित्तिभाव के दो भेद होते हैं–(१) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत निमित्ति का आक्षेप और (२) अप्रस्तुत निमित्ति से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप।

सारूप्य के तीन भेद होते हैं–(१) श्लेषनिमित्तक, (२) समासोक्तिनिमित्तक और (३) सादृश्यमात्रनिमित्तक। परन्तु सारूप्य भेद से अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद कम ही प्रदर्शित किये जाते हैं। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के मुख्य रूप से निम्न पांच भेद किये गये हैं–

(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप।

(२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप।

(३) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत निमित्ति का आक्षेप।

(४) अप्रस्तुत निमित्ति से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप।

(५) अप्रस्तुत सदृश वस्तु से प्रस्तुत सदृश वस्तु का आक्षेप।

आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण करते हुए ऊपर कहे गये प्रकार से ही इस अलंकार के भेद प्रदर्शित किये हैं-

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया। कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते यदि।।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा। काव्यप्रकाश १०.६८ - ९

अप्रस्तुत अर्थ द्वारा प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। वह पांच प्रकार का होता है–(१) अप्रस्तुत निमित्त से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप, (२) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप, (३) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप (४) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और अप्रस्तुत तुल्य से प्रस्तुत तुल्य का आक्षेप।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुतप्रशंसा के पहले चारों भेदों सामान्य और विशेष एवं निमित्त और निमित्ति में वाच्य और व्यंग्य अर्थ में समप्राधान्य मानकर इनमें ध्वनि के विषयत्व का खण्डन किया है। परन्तु सारूप्य भेद में यदि व्यंग्य अर्थ में अधिक चमत्कार है तो वह ध्वनि का विषय हो सकता है, और यदि उसमें वाच्य अर्थ की अपेक्षा चमत्कार नहीं है, तो वह अलंकारमात्र है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के इन भेदों के उदाहरण देकर उनमें ध्वनि के विषयत्व की विवेचना की जाती है।

(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप-

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्। अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः।।

संसार की निर्दयता आश्चर्यजनक है। आपत्तियों की दुष्टता आश्चर्यजनक है, स्वभाव से कुटिल विधाता की गतियों का पार न पा सकना आश्चर्यजनक है।

'सर्वत्र विधि की ही प्रधानता है।' इस अप्रस्तुत सामान्य से किसी प्रस्तुत विनाशरूप विशेष वस्तु का आक्षेप होता है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य सामान्य और प्रस्तुत प्रतीयमान विशेष, इन दोनों अर्थों के समप्राधान्य होने से यह ध्वनि का विषय नहीं है।

(२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप-

एतत्तस्य मुखात् कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो। यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जड़ः श्रण्वन्यदस्मादपि।।

अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः। कुत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा।।

उसके मुख से यह कितनी सी बात निकली थी कि उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए पानी के कण को मोती समझ लिया अब उससे आगे की बात भी सुनो। उस मोती को जो धीरे से अंगुली के अगले भाग से उठाने लगा और उस क्रिया से वह मोती विलुप्त हो गया, तो मेरा वह मोती उड़कर न जाने कहां चला गया है, अन्तःकरण के इस शोक से उसको नींद नहीं आती है।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य जलबिन्दु में 'मोती की सम्भावना', इस विशेष से प्रस्तुत प्रतीयमान, अयोग्य स्थान पर महत्त्व की सभावना- इस सामान्य का आक्षेप होता है। परन्तु वाच्यविशेष और प्रतीयमान सामान्य दोनों के समप्रधान होने से यहाँ ध्वनि नहीं है।

(३) अप्रस्तुत निमित्त में प्रस्तुत निमित्ति का आक्षेप-

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च। ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः।।

जो उन्नति होने पर प्रसन्न होते हैं और आपत्ति आने पर छोड़ते नहीं हैं, वे ही बन्धु हैं और वे ही मित्र हैं। दूसरे लोग स्वार्थी हैं।

यहां अप्रस्तुत 'सुहृदबान्धव रूप निमित्त' से प्रस्तुत 'सज्जनों के गौरव के प्रति श्रद्धारूप कार्य' की अभिव्यक्ति होती है। इन दोनों अप्रस्तुत निमित्त तथा प्रतीयमान कार्य के समप्राधान्य होने से यहाँ ध्वनि नहीं है।

(४) अप्रस्तुत निमित्ति से प्रस्तुत निमित्त का आक्षेप-

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्। सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम

(स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीरहितं मधुसूदनस्य उरः। स्मरामि मदनरिपोरमुग्धचन्द्रं च हरजटापभारम।।

समुद्रमन्थन से पूर्व के पारिजात से रहित स्वर्ग को, कौस्तुभ एवं लक्ष्मी से रहित विष्णु के वक्षःस्थल को तथा चन्द्रमा से रहित शिव की जटाओं के भार को स्मरण करता हूँ।

यहाँ अप्रस्तुत वाच्य 'कौस्तुभ, लक्ष्मीरहित विष्णु के वक्षःस्थल आदि के स्मरण रूप कार्यों के द्वारा जाम्बवान् ने प्रस्तुत प्रतीयमान कारण अपने गुण जो मन्त्रित्व के लिये उपादेय हैं, बृद्ध सेवा, चिरजीवित्व, व्यवहारकौशल आदि को सूचित किया है। इस पद्य में अप्रस्तुत वाच्य कार्य एवं प्रस्तुत प्रतीयमान कारण, इन दोनों के समान रूप से चमत्कारी होने के कारण ध्वनि नहीं है।

(५) अप्रस्तुत सदृश-वस्तु से प्रस्तुत सदृश वस्तु का आक्षेप-

अप्रस्तुत प्रशंसा के सारूप्य भेद में ध्वनिकार के अनुसार दो स्थितियां हो सकती हैं। यदि प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ में अप्रस्तुत वाच्य अर्थ की अपेक्षा से प्रधानता नहीं है, तो यहाँ ध्वनि नहीं होगी। यदि अप्रस्तुत वाच्य की अपेक्षा प्रस्तुत प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारी है, तो यह ध्वनि का विषय होगा। दोनों के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं–

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामिति।

तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे।।

हे भाई वेताल ! जिसने तुम्हारे में प्राणों को अर्पित किया, जिसने अपने बल से तुमको उठाया, जिसके कन्धे पर तुम देर तक बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा की, उस प्रकार इस व्यक्ति के प्राणों को स्मितमात्र से अपहृत करते हुये तुम प्रत्युपकार करने वालों के सबसे आगे शोभित होते हो।

यहां अप्रस्तुत वेताल के वृत्तान्त के सादृश्य से किसी दूसरे प्रस्तुत कृतघ्न का वृत्तान्त आक्षिप्त होता है। परन्तु उस प्रस्तुत प्रतीयमान कृतघ्न के वृतान्त की अपेक्षा यहाँ अप्रस्तुत वाच्य वेताल का वृत्तान्त ही अधिक चमत्कारी है। अतः यहाँ ध्वनि न होकर अलंकार मात्र है। यह पद्य अभिनवगुप्त के गुरु भट्टेन्दुराज की रचना है। अथवा

भावब्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन् भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।

स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्।।

सौन्दर्य के आकार चन्द्रमा और हे पदार्थसमूह ! तुम विविध प्रकार की भंगिमाओं से अपने हृदय के रहस्य को छिपाकर जो लोगों के हृदयों को बलपूर्वक आकृष्ट करके नचाते हुए खेलते हो, इसी कारण अपने आप को सहृदय मानने से दुःशिक्षित जन तुमको जड़ कहता है। परन्तु मैं ऐसा समझता हूं कि उसको जड़ कहना भी उसकी स्तुति है, क्योंकि उससे तुम्हारे साथ उनकी समानता की सम्भावना होती है।

इस पद्य में किसी वीतराग महापुरुष का उदार चरित प्रतीयमान है, जो कि अत्यधिक विद्वान् और गुणवान् होते हुये भी गुणों को प्रकाशित न करने के कारण लोगों द्वारा मूर्ख समझा जाता है। यहाँ अप्रस्तुत वाच्य चन्द्रमा के वृत्तान्त की अपेक्षा प्रस्तुत प्रतीयमान महापुरुष का लोकोत्तर चरित्र अधिक चमत्कारजनक है और वही प्रधान है। अतः प्रतीयमान अर्थ के प्रधान होने से यह ध्वनि है। इसको अलंकार न कहकर ध्वनि ही कहेंगे।

इस प्रकार ध्वनिकार यह सिद्ध करते हैं कि अप्रस्तुत प्रशंसा के सामान्य विशेष भाव एवं निमित्तनिमित्तिभाव भेदों में वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में प्रतीयमान अर्थ का प्राधान्य न होने से ध्वनि नहीं है। परन्तु सारूप्य भेद में जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता है, वहां ध्वनि होगी और जहाँ प्रधानता नहीं है, वहाँ वह अलंकारमात्र ही होगा।

अलंकारों में ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता, इस तथ्य को ध्वनिकार ने विस्तृत रूप ये युक्तियों द्वारा प्रतिपादित किया है। अपने इस प्रतिपादन को वे अब संक्षेप में श्लोकों में कहते हैं–

तदयमत्र संक्षेप -

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः। समासोक्त्यादयस्तत्र वाक्यालंकृतयः स्फुटाः।।

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थनुगमेऽपि वा। न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ। ध्वनेः, स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।।

[illegible]

[illegible]

व्यंग्य की जहा अप्रधानता है वाच्य मात्र का अनुसरण करने वाले जो समासोक्ति आदि अलंकार हैं वे स्पष्ट रूप से वाच्यालंकार हैं। जिन अलंकारों में व्यंग्य अर्थ का आभासमात्र होता है, या वाच्य का अर्थ अनुगमन कर रहा हो अर्थात् व्यंग्य और वाच्य सम प्राधान्य हो, जहां व्यंग्य की प्रधानता प्रतीत न हो, वहां भी ध्वनि नहीं होती। इस प्रकार व्यंग्य का अप्राधान्य होने पर, उसकी क्षीण प्रतीति होने पर वाच्य के साथ समप्राधान्य होने पर अथवा अस्फुट प्राधान्य होने पर ध्वनि व्यवहार नहीं होता।

जहाँ वाच्य अर्थ और वाचक शब्द व्यंग्य अर्थ के प्रति तत्पर होकर ही स्थित होते हैं, अर्थात् जहाँ व्यंग्य अथ की प्रधानता होती है उसको ही ध्वनि का विषय समझना चाहिये। परन्तु संकर को छोड़कर। अर्थात् संकर ध्वनि का विषय नहीं हाता।

इस कारण ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदियों में नहीं हो सकता।

तदयमत्र संक्षेप – इस पद की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त का कथन है कि वृत्ति में जो आदि पद का ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति आदि उन सब अलंकारों का ग्रहण कर लेना चाहिये, जिनमें व्यंग्य अर्थ का अनुप्रवेश सम्भावित है–

"उद्देशे यदादिग्रहण कृत समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुप्रवेश सम्भावित। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते–तदयमत्रेति।

प्रतिभामात्रे – इस पद का अर्थ है कि जहां व्यंग्य अर्थ की प्रतीति स्पष्ट नहीं है, उसका आभासमात्र है। इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"यत्रोपमादौ क्लिष्टार्थप्रतीतिः"

इसी भाव को ध्वनिकार ने दूसरे उद्योत में स्पष्ट किया है–

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रक्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः।।२.३१।।

वाच्यार्थानुगमे – इसको अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"वाच्येनार्थेनानुगमः सम प्राधान्यम् अप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः।"

जहां व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य वाच्य अर्थ के समान होता है, जैसा कि–अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में है।

इस प्रकार दूसरे श्लोक में कहा गया है–जहां व्यंग्य अर्थ की प्रतीति क्लिष्ट हो, वाच्य के साथ समप्राधान्य हो, अथवा अस्फुट प्राधान्य हो, वहां ध्वनि नहीं होती।

सङ्करोज्झितः – इस पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेति त्वसत्। अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्।"

सङ्कर से अर्थात् समासोक्ति आदि अलंकारों के अनुप्रवेश की संभावना से रहित होने से उज्झित शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां 'संकरालंकार' से यह व्याख्या करना ठीक नहीं है। दूसरे अलंकारों का उपलक्षण मानने पर यह व्याख्यान क्लिष्ट हो जायेगा।

संकर अलंकार में ध्वनि का निषेध आनन्दवर्धन ने वृत्ति में ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है–

"अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि क्वचित् सङ्करोक्तिरेव' ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।"

पिछले प्रकरण में ध्वनिकार ने यह प्रतिपादित किया है कि अलंकार आदि में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसको प्रतिपादित करने के लिये वे पुनः एक और युक्ति देते हैं–

इतश्च नान्तर्भावः। यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेमहाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

हिन्दी अर्थ – और इस कारण भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदि में नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि को काव्यविशेष अंगी कहा गया है। आगे यह भी प्रतिपादित किया जायेगा कि अलंकार, गुण और वृत्तियां उस काव्य के अंग हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि अवयव ही पृथक् होकर अवयवी नहीं कहा जाता। अपृथक् होने पर अर्थात् ध्वनि से अलग रूप में स्थित न होने पर अलकार आदि ध्वनि के अंग ही होते हैं। उनका तत्त्व नहीं होता। जहाँ कही तत्त्व होता भी है, वहाँ भी ध्वनि के महाविषय होने से उसकी तन्निष्ठता (अलंकार में अन्तर्भाव होना) नहीं हो सकती।

ध्वनिकार ने अलंकार आदि में ध्वनि के अन्तर्भाव न होने की एक और युक्ति दी है कि ध्वनि अंगी है तथा अलंकार, गुण और वृत्तियां उसकी अंगरूप हैं। ये अलंकार आदि ध्वनि से अलग होकर उसी प्रकार अंगी नहीं हो सकते, जिस प्रकार कोई अवयव अपने अवयवी से पृथक् होकर अवयवी नहीं कहला सकते। ध्वनि के साथ रहने पर ये सदा ध्वनि के अंगरूप में रहते हैं तथा ये अंगी नहीं हो सकते। परन्तु कभी–कभी वे अंगीरूप में भी हो सकते हैं, जैसे कि 'भ्रमधार्मिक विस्रब्धः'। 'माता अत्र निमज्जति" कस्य वा न भवति रोषः आदि

पर्यायोक्त के उदाहरणों में है। परन्तु ध्वनि के महाविषय (अधिकतर स्थानों में होना, उन स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी होना) होने से ध्वनि का अन्तर्भाव उनमें नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत इन स्थितियों में वे अलंकार ही ध्वनि के विषय होंगे और ध्वनि का एक भेद अलंकारध्वनि होगा।

ध्वनि काव्य के लक्षण (कारिका १३) में ध्वनिकार ने 'सूरिभिः कथितः' पदों का प्रयोग किया है। इसके अभिप्राय को वे स्पष्ट करते हैं–

'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते।

हिन्दी अनुवाद – 'विद्वानों ने कहा है', इसका अभिप्राय है कि यह ध्वनि–सिद्धान्त विद्वानों के मत के अनुसार है, यों ही जैसे–तैसे (अपनी कल्पना के अनुसार) नहीं चल पड़ा है, तो इसका प्रतिपादन किया जा रहा है।

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि ध्वनि का प्रयोग हमने अपनी कल्पना से ही नहीं कर दिया है, अपितु प्राचीन काल में ही विद्वानों ने, वैयाकरणों ने इसका प्रतिपादन किया है, इसीलिये इस सिद्धान्त का ध्वनिविरोधियों को खण्डन नहीं करना चाहिये, अपितु इस पर विश्वास करना चाहिये।

विद्वदुपज्ञा – इस पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है–'विदुषाम् उपज्ञा' (तत्पुरुष समास) और 'विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेः सा' (बहुब्रीहि समास)। अभिनवगुप्त का कथन है कि इसमें बहुब्रीहि समास मानना चाहिये। यदि यह तत्पुरुष समास होता तो इसमें "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिरव्यासायाम्" (पा० २.४.२१) नियम से नपुंसकलिंग होता, जैसे कि 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्' में हुआ है।

अब ध्वनिकार विद्वानों, वैयाकरणें द्वारा सिद्धान्त के प्रतिपादन का उल्लेख करते हैं–

प्रथमे हिं विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

हिन्दी अनुवाद – वैयाकरण प्रथम (प्रमुख) हैं, क्योंकि व्याकरण सभी विद्याओं का मूल है। वे वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों में ध्वनि है, इस प्रकार से व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार से उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी दूसरे विद्वानों ने भी (१) वाच्य, (२) वाचक (३) सम्मिश्र--व्यंग्य अर्थ (४) शब्दात्मा–व्यंजना व्यापार और (५) काव्य पद से व्यवहार्य अर्थात् काव्य, इन पांचों को व्यंजकत्व की समानता के कारण ध्वनि इस प्रकार से कहा है।

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः – वैयाकरणों को सबसे प्रमुख विद्वान् माना गया है; क्योंकि सभी विद्याओं का मूल व्याकरण है। सभी ग्रन्थ किसी भाषा में लिखे जाते हैं। इस भाषा को समझने के लिये व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है। अतः व्याकरण सबसे प्रमुख है। जैसा कि कहा गया है–

> उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्। प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्।।

वाक्यपदीय में व्याकरण और वैयाकरणों की प्रशंसा इस प्रकार से की गई है–

> इदमाद्यं पदस्थानं मुक्तिसोपानपर्वणम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।।
> रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले। ये व्याकरणसंस्कारपवित्रित मुख्याः नराः।।

ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति – कान में परम्परा क्रम से आए हुए (उस क्रम के) अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं' – इस प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द सुनाई पड़ते हैं – यह कहा गया है। इस प्रकार घण्टे के अनुरणन के सदृश ही वे श्रूयमाण शब्द होते हैं और उन्हीं को ध्वनि कहा गया है।

वैयाकरणों का कथन है कि श्रूयमाण वर्णों मे ध्वनि होती है तथा उसी के द्वारा हमको शब्द से अर्थ का बोध होता है। यह ध्वनि का वैयाकरणों का स्फोट शब्द के अर्थ का ज्ञान कराता है। आलंकारिकों की ध्वनि का वैयाकरणों के स्फोट के साथ साम्य है। वैयाकरणों के स्फोट के सिद्धान्त को समझने के लिये सुनने की प्रक्रिया एवं तदनन्तर अर्थ की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक है।

जब कोई शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आद्य रूप में श्रुतिगोचर नहीं होता। वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, परन्तु नष्ट होने से पूर्व दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दूसरा शब्द तीसरे को, तीसरा चौथे को, चौथा पांचवें को उत्पन्न करते जाते हैं। इसको 'वीचीसन्तानन्याय' कहते हैं। जिस प्रकार किसी जलाशय में एक कंकड़ को डाल देने पर एक छोटी–सी गोलाकार लहर उत्पन्न होती है, जो एक के बाद दूसरी गोलाकार लहरों को उत्पन्न करके सारे जलाशय को व्याप्त कर लेती है, उसी प्रकार से उत्पन्न शब्द अपने उत्पत्ति स्थान के चारों ओर एक शब्दतरंग के चक्र को उत्पन्न करता है और यह बढ़ते–बढ़ते सुदूर आकाश क्षेत्र में व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न तरंगचक्र घण्टानुरणनरूप होते हैं। जिस प्रकार घण्टे के बजने के पश्चात् भी कुछ समय तक उनका अनुरणन बना रहता है, उसी प्रकार की यह स्थिति है और घण्टानुरणनरूप होने के कारण इसको ध्वनि कहते हैं।

शब्द, जिनको कि हम सुनते हैं, तीन प्रकार के होते हैं–संयोगज, वियोगज और शब्दज। दो वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द संयोगज हैं, जैसे कि घण्टे पर मूंगरी के संयोग से घण्टे का शब्द उत्पन्न होता है। वियोग से उत्पन्न शब्द वियोगज है, जैसे कि कागज को फाड़ने से शब्द उत्पन्न होता है। प्रारम्भिक शब्द की उत्पत्ति संयोगज या वियोगज है। परन्तु ये प्रारम्भिक शब्द श्रोता को श्रुतिगोचर नहीं होते परन्तु उन शब्दों से आकाशीय क्षेत्र में जो तरंगों के रूप में शब्दधारा उत्पन्न होती है, वही श्रोता के कर्ण प्रदेश में आकर श्रुतिगोचर होती है' यह शब्द ही शब्दज है तथा शब्दज शब्द ही सुनाई देते हैं। वस्तुतः घण्टे का जो आद्य शब्द है वह श्रुतिगोचर नही है, अपितु उससे उत्पन्न एवं उसके सदृश शब्दज शब्द ही श्रुतिगोचर होते हैं। ये आद्य शब्द, जो कि संयोग न या वियोगज हैं, स्वयं नष्ट हो जाते हैं। अनित्यवादी नैयायिकों के अनुसार इन आद्य शब्दों का विनाश होता है एवं नित्यतावादी वैयाकरण इनका तिरोभाव मानते हैं। संयोग या वियोग से उत्पन्न आद्य शब्दों को वैयाकरणो ने स्फोट कहा है, उससे उत्पन्न शब्दों को ध्वनि कहा है, जैसे कि भर्तृहरि का कथन है–

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।।

करणों अर्थात् जिह्वा आदि स्थानों के संयोग और वियोग से जो उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है, शब्दों से उत्पन्न शब्दों का दूसरों ने ध्वनि कहा है।

इस प्रकार जो आद्य शब्द है, वैयाकरण इनको स्फोट कहते हैं। तदनन्तर जो शब्द शब्दज हैं, वे श्रूयमाण हैं, उनको वयाकरण नाद कहते हैं।

शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इसके लिये वैयाकरणों ने 'स्फोटवाद' की कल्पना की है। 'स्फोट' पद का अर्थ है–'स्फुटयति अर्थं व्यनक्ति स स्फोटः', अथवा स्फुटितः अर्थः यस्मात् स स्फोटः।

एकैकवर्णवर्णित्वाद् वाचः, उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक्, न दौ वर्णौ युगपदुच्चारयति।

तद् यथा–गौरित्युक्ते यावद् गकारे वाक् प्रवर्तते तावत् नौकारे न विसर्जनीये। यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये। यावद विसर्जनीय न गकारे नौकारे। उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। उच्चारितः प्रध्वंस्तश्च। अथापरः प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहायः।

अर्थात् वाणी द्वारा एक–एक वर्ण का प्रवर्तन करने से और उच्चारण किये गये वर्ण का प्रध्वंस होने से। वाणी एक–एक वर्ण का प्रवर्तन करती है, एक साथ दो वर्णों का उच्चारण नहीं करती। वह इस प्रकार से है–"गौः" का उच्चारण करने पर जब वाणी 'ग' का उच्चारण करती है, तो 'औ' और विसर्ग के लिये प्रवर्तित नहीं होती है। जब 'औ' का उच्चारण करती है, तो 'ग्' और 'विसर्ग' के लिये प्रवर्तित नहीं होती। जब 'विसर्ग' का उच्चारण करती है, तो 'ग्' और 'औ' के लिये प्रवर्तित नहीं होती, क्योंकि वर्णों का उच्चारण होते ही प्रध्वंस हो जाता है। वर्ण उच्चरित हुआ और प्रध्वस्त हो गया। इसके लिये दूसरा इस प्रकार प्रयोग करता है–वर्ण वर्ण का सहायक नहीं होता।

इस प्रकार वर्णों का एक साथ उच्चारण न होने से सम्पूर्ण शब्द एवं वाक्य का बोध किस प्रकार होगा ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान वैयाकरणों ने स्फोटवाद के द्वारा किया है। उनका कथन है कि श्रूयमाण वर्णों के विनष्ट हो जाने पर भी उनके अनुभव से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के श्रवण से बुद्धि में समस्त वर्णों का समुदायरूप एक नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है। इसको वैयाकरण स्फोट कहते हैं। इसकी संस्कृत में व्याख्या इस प्रकार है–

"पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतान्तिमवर्णश्रवणेन स्फोटो व्यज्यते।"

वैयाकरण जब शब्द को नित्य कहते हैं, तब उनका अभिप्राय इसी 'स्फोट' रूप की नित्यता से है। जिस प्रकार अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की अभिव्यक्ति वर्णों द्वारा होती है, उसी प्रकार अनेक पदों के समुदाय रूप वाक्य की अभिव्यक्ति वर्णों द्वारा होती है। इस प्रकार वैयाकरणों ने आठ प्रकार के स्फोटों की कल्पना की है–वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, अखण्डवाक्यस्फोट, वर्णगतस्फोट, पदगतस्फोट और वाक्यगतस्फोट।

सुनाई पड़ने वाले जो वर्ण वैयाकरणों द्वारा नाद कहे गये हैं– वे, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित संस्कारसहकृत्अन्त्यवर्ण बुद्धि से ग्राह्य होने वाले स्फोट के व्यञ्जक हैं तथा वे ध्वनि कहे गये हैं जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

'प्रत्ययैरनुपारव्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।।

स्फोट के ग्रहण करने में अनुकूल (सहायक) तथा अनिर्वचनीय प्रतीतियों द्वारा जब ध्वनि से शब्द प्रकाशित हो जाता है तब स्फोट के स्वरूप का ज्ञान होता है। अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्यक्रम का उल्लेख भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है–

'नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोवधार्यते।।

नादों के द्वारा जिसमें बीज रख दिया गया है और आवृत्त परिपाक से युक्त है ऐसी बुद्धि में अन्तिम ध्वनि के साथ शब्द का अवधारण होता है।

महाभाष्य के पस्पश आह्निक में प्रतीत पद के अर्थ को व्यक्त करने वाली वस्तु को ध्वनि कहा गया है–

"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"

अभिनवगुप्त के अनुसार इस प्रकार उतने परिमाण में ही श्रूयमाण उन वर्णों में वक्ता का जो अन्य अर्थात् द्रुतविलम्बितादि भेदात्मक (उन वर्णों के) प्रसिद्ध (नियत) उच्चारण व्यापार से अधिक जो दूसरा व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः। ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।।

'शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर, वैकृत–ध्वनियां शब्द के वृत्ति भेद को उत्पन्न करती हैं। उन वैकृत ध्वनियों से (शब्द के) स्फोट स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता।'

आलंकारिकों ने वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुए ही काव्य में ध्वनि पद का व्यवहार किया है, अतः व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ भी ध्वनि कहे गये हैं। आचार्य मम्मट ने भी "काव्यप्रकाश" में इसका समर्थन किया। उत्तम काव्य का लक्षण बताते हुए वे कहते हैं–

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

इसी प्रकार हम (साहित्यिकों) ने भी प्रसिद्ध शब्द व्यापार–अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा से भिन्न व्यापार ध्वनि कहा है। इस प्रकार चारों ही ध्वनि हैं और उनके योग से समस्त काव्य भी ध्वनि है।

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः ....ध्वनिरित्युक्त – ध्वनिकार का कथन है कि वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुए ही आलंकारिकों ने काव्यों में ध्वनि शब्द का व्यवहार किया था। वैयाकरणों ने तो शब्द में ही ध्वनि को माना था, परन्तु ध्वनिकार ने प्रतिपादित किया कि काव्य में वाच्य, वाचक, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं इनका समुदाय रूप काव्य, इन पांच को ध्वनि की संज्ञा दी जा सकती है।

(१) **वाच्य** – वाच्य अर्थ को ध्वनि कहा जा सकता है, क्योंकि यह व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। ध्वनति इति।

(२) **वाचक** – वाचक शब्द को भी ध्वनि कहा जा सकता है, क्योंकि यह भी व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। ध्वनतीति।

(३) **व्यंग्य अर्थ** – सम्मिश्रः पद से स्पष्ट है कि व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है, क्योंकि यह ध्वनित होता है, ध्वन्यत इति ध्वनिः। सम्मिश्र पद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

"सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंबलनया"। जो विभाव–अनुभाव से सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य अर्थ ध्वनि है।

(४) **व्यञ्जना व्यापार** – शब्दात्मा पद से प्रकट है कि व्यंजना व्यापार भी ध्वनि है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है– शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासौ अभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः।" शब्दनशब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार यहां अभिधा आदि नहीं है, अपितु आत्मभूत व्यञ्जना व्यापार है। यह अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा व्यापारों से भिन्न है। यह भी ध्वनन' व्युत्पत्ति के अनुसार ध्वनि है।

(५) **काव्यविशेष** – 'काव्यमिति व्यपदेश्यतया' पद से यह प्रकट है कि जिस काव्य में पूर्वोक्त ध्वनिचतुष्टय की स्थिति विद्यमान है, वह काव्य भी ध्वनि है।

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसाम्यात् – ये पांचों ही ध्वनि हैं, इसके लिये ध्वनिकार अन्त में युक्ति देते हैं – "व्यङ्ग्यव्यञ्जकसाम्यात्।" क्योंकि पांचों में व्यंग्यव्यंजकभाव समान रूप से रहता है, अतः ये सब ध्वनि कहलाते हैं।

इस प्रकार अभाववादी ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का खण्डन करके और ध्वनि की सत्ता को प्रतिपादित करके ध्वनिकार अपने कथन के औचित्य को प्रतिपादित करते हैं–

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

हिन्दी अर्थ – इस प्रकार की ध्वनि जो आगे कह जाने वाले भेदों और इसके प्रभेदों के संकलन से अत्यधिक व्यापक है, का प्रकाशन अलंकारविशेष मात्र के प्रतिपादन के सदृश नहीं है, इसलिये उस ध्वनि के प्रति भावित चित्त वाले (अर्थात् उस ध्वनि में ही जिनका चित्त रम गया है) सहृदयों का उत्साहातिशय ठीक ही है। अतः उन ध्वनिवादियों के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या से कलुषित चित्तवृत्ति को प्रकट नहीं करना चाहिये। तो इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों के मतों का निराकरण कर दिया।

एवंविधस्य ध्वनेः – इस प्रकार की ध्वनि का। जिस ध्वनि का अस्तित्व एवं वाच्य तथा अलंकारों से पृथकत्व प्रतिपादित किया जा चुका है, तथा जिसका लक्षण कह दिया गया है।

वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसंकलनया–वक्ष्यमाणानां प्रभेदानां मुख्यभेदानां तेषां मुख्यभेदानां च भेदानाम् अवान्तरभेदाना च सङ्कलनया गुणनया। (कहे जाने वाले भेद, प्रथम प्रमुख दो भेद अविवक्षित वाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्य है फिर उनके भेद अवान्तर भेद।

महाविषयस्य – अशेषलक्ष्यव्यापिनः। सभी लक्ष्यों में (काव्यों में) व्याप्त रहने वाले।

अप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन – अप्रसिद्धाः ये अलंकारास्तेषां विशेषस्य मात्रस्तत्प्रतिपादनेन। यहां विशेष शब्द का कथन अलंकारों के अव्यापकत्व को और मात्र शब्द का कथन उनके अंगित्व के अभाव को प्रकट करता है।

तद्भावितचेतसाम् – तेन ध्वनिना भावितानि अधिवासितानि चेतांसि येषां तेषाम्। अर्थात् उस ध्वनि में प्रणिहित हो रम गया है चित्त जिनका या उस चमत्कार रूप ध्वनि द्वारा भावित अथवा अधिवासित।

संरम्भ – उत्साहातिशयः।

कलुषितशेमुषीकत्वम् –कलुषितशेमुषीप्रज्ञा यस्य तस्य भावः तत्त्वम्। क्योंकि ध्वनि के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दी गई युक्तियां दृढ और ठोस हैं, अतः ध्वनिवादियों के प्रति ईर्ष्या करना उचित नहीं है।

तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ता :– इस प्रकार से ध्वनिकार ने इस प्रकरण में ध्वनि के अभाववादियों के तीनों पक्षों की युक्तियों का खण्डन करके उनका प्रत्युत्तर दे दिया है।

ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध करके ध्वनिकार उनके दो मुख्य भेदों को प्रदर्शित करते हैं–

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

हिन्दी अर्थ – ध्वनि का अस्तित्व है और वह सामान्य रूप से अविवक्षित और विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से दो प्रकार का है

ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रथम दो भेद दिखाये हैं–

(१) **अविवक्षितवाच्य** – लक्षणामूलध्वनि अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। "अविवक्षितः अप्रधानीकृतः वाच्यः मुख्यार्थः यत्र स" जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती। मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमें लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अतः इसको लक्षणामूल भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में मम्मट ने कहा है–

"लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्रधान्ये सत्येव अविवक्षितं यत्र,स 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः।"

(२) **विवक्षितान्यपरवाच्य** – अभिधामूल ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं। "विवक्षितम् अन्यपर व्यङ्गनिष्ठ यत्र वाच्य स"। जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यंग्य अर्थ के प्रति निष्ठ होता है, वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है।

सामान्येन – यद्यपि ध्वनि के वस्तु, अलंकार और रसादि के भेद से तीन मुख्य भेद किये गये हैं, तथापि काव्य में इसके दो मुख्य भेद–अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य किये गये हैं और यह ध्वनि इन दो मुख्य भेदों के अनुसार परिगणित की गई है।

ध्वनि के दो प्रमुख भेदों को कहकर उनके उदाहरण कहे जाते हैं–

तत्राद्यस्योदाहरणम्-

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः। शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।

हिन्दी अर्थ – उनमें से पहले का (अविवक्षितवाच्य का) उदाहरण यह है–

सुवर्ण रूप पुष्पों वाली पृथिवी का चयन तीन प्रकार के पुरुष करते हैं–शूर, विद्वान् और वह जो उसका सेवन करना जानता है

इस श्लोक में चिन्वन्ति मुख्यार्थ में बाधित है क्योंकि पृथिवी न तो कोई वृक्ष या लता है और ना ही इसमें पुष्प विकसित होते हैं जिनका कि चयन किया जाता है। अत इसका वाच्य अर्थ संगत न होने से मुख्यार्थबाधा उपस्थित होती है। अभिधा व्यापार के संगत न होने से लक्षणा का प्रयोग करना होता है। लक्षणा द्वारा 'सुवर्णपुष्पः' शब्द का अर्थ 'विपुल धन' और 'चयन' का अर्थ 'समृद्धि के अनायास उपार्जन' लक्ष्य अर्थ होंगे। इस लक्षणा का प्रयोजन होगा–शूर, कृतविद्य और सेवा में विलक्षण पुरुषों की श्रेष्ठता। यह प्रयोजन व्यंग्य अर्थ है जो कि स्वपदवाच्य न होकर सुन्दर नायिका के कुचकलश के समान सौन्दर्यातिशय से सम्पन्न है। इस प्रकार लक्षणामूल होने के कारण यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। इस पद्य की व्याख्या में अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यञ्जना, ये चारों वृत्तियां आश्रय करती हैं। यहाँ मुख्य रूप से शब्द व्यञ्जक है तथा सहकारी रूप से अर्थ भी व्यञ्जक है।

अभिनवगुप्त ने यहां 'सुवर्णपुष्पा' का विग्रह सुवर्णानि पुष्पयति' किया है। इस प्रकार का विग्रह करने पर सुवर्ण उपपद होने से "कर्मण्यण्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर "टिड्ढाणञ्०" सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप बनेगा, यहाँ "सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः सा" इस प्रकार बहुव्रीहि समास के रूप में विग्रह किया जावे, तो 'सुवर्णपुष्पा' रूप बन सकेगा। इसलिये यहां यही विग्रह करना उचित होगा।

द्वितीयस्यापि-

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः। सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बमुखं शुकशावकः।। १३।।

हिन्दी अर्थ – दूसरे का उदाहरण इस प्रकार है–

हे सुन्दर मुख वाली ! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर तक, कौनसी तपस्या की थी, जिसके कारण यह तुम्हारे अधर के समान लाल रंग के बिम्ब फल को काट रहा है।

इस पद्य में नायिका के अधर को प्राप्त करने में सौभाग्य का अतिशय, एवं उसके रसास्वादन की अभिलाषा व्यंजित होती है। 'क्व शिखरिणि' से व्यंजित है कि श्रीपर्वत आदि पवित्र पर्वत धाम भी तपस्या का यह फल नहीं दे सकते। 'कियच्चिरम्' का अभिप्राय है कि इस तपस्या के लिये कल्प आदि की अवधि बहुत कम है। 'किमभिधानम्' का अभिप्राय है कि यह फल 'पञ्चाग्नि' आदि तप से भी प्राप्त नहीं हो सकता। दशति का अर्थ है कि बिना उस वस्तु का विच्छेद किए उसका आस्वादन करता है। शुकशावक का तात्पर्य है कि शुरू का तरुण बच्चा जिसे तरुणाई उचित काल में मिली है। अनुरागी पुरुष का अपने छिपे हुए अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए जो वैदग्ध्यपूर्ण चाटु विरचन है, उसके द्वारा विभाव रूप तरुणी का अपने प्रति रतियुक्त बनाना व्यंग्य है। इस प्रकार नायिका के अधर को प्राप्त करने के सौभाग्य का अतिशय अभिव्यक्त होकर कामुक नायक अपनी प्रेमिका के रक्तवर्ण के अधर का आस्वादन करने की कामना अभिव्यक्त कर रहा है।

'तवाधरपाटलम्' पद में 'तव' और 'अधर' का समास नहीं किया गया। कुछ का विचार है कि छन्द के अनुरोध से ऐसा नहीं हुआ। परन्तु अभिनवगुप्त ने इस समास के न होने में विशेष व्यंग्य की अभिव्यंजना मानी है। 'तव' का 'अधर' के साथ समास होने पर यह 'अधर' का विशेषण हो जाता है और उसकी प्रधानता नहीं रहती। समास न होने से शुकशावक की मर्मज्ञता अभिव्यक्त होती है कि वह उस फल का आस्वादन कर रहा है, उसको खाकर पेट नहीं भर रहा। नायक भी नायिका के अधर का उसी प्रकार आस्वादन करना चाहता है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधा, तात्पर्य एवं ध्वनन, ये तीन ही व्यापार होते हैं। मुख्यार्थ बाधा आदि के न होने से इसमें लक्षणा का उपयोग किया भी जावे और इस प्रकार चार व्यापार माने भी जावें, तो भी इसका अविवक्षितवाच्य ध्वनि से भेद रहेगा। कारण यह है कि पहले उदाहरण में व्यञ्जना व्यापार में लक्षणा ही प्रधान सहकारिणी है, जबकि इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के उदाहरण में व्यंग्य की प्रतीति मुख्य रूप से अभिधा एवं तात्पर्य वृत्ति की सहकारिता से होती है।। १३।।

इस स्थल पर यह शंका उत्पन्न होती है कि ध्वनिकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्वनिविरोधियों के तीन मत प्रस्तुत किये थे–अभाववादी, भक्तिवादी, अलक्षणीयतावादी। ध्वनिकार ने अभाववादियों का खण्डन करके ध्वनि के दो भेद किये। तदनन्तर भक्तिवादियों और अलक्षणीयतावादियों का खण्डन किया, जबकि प्रकरण के अनुसार उनको चाहिये था कि पहले तीनों ध्वनिविरोधी मतों का खण्डन करते, तदनन्तर ध्वनि के भेद प्रस्तुत करके उनके उदाहरण देते। इसमें यह ध्यान देने योग्य है कि भक्तिवादियों एवं अलक्षणीयतावादियों के मतों का खण्डन करने से पूर्व ध्वनि के दो भेद एवं उनके उदाहरण देकर ध्वनिकार इनके आधार पर उन दोनों मतों का खण्डन करेंगे।

ध्वनिकार अब ध्वनिविरोधियों के दूसरे मत भक्तिवाद का खण्डन करते हैं।

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते-

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्य-व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

हिन्दी अर्थ – और यह जो कहा गया है कि भक्ति ध्वनि है, उसका समाधान किया जाता हैं

रूप में भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होती।

यह उक्त प्रकार की ध्वनि भिन्न रूप वाली होने के कारण भक्ति के एकत्व को धारण नहीं कर सकती। जहां वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य से भिन्न अर्थ का तात्पर्य के द्वारा (विश्रान्ति स्थान होने के कारण प्रयोजन रूप से) प्रकाशन (द्योतन) किया जाता है, वहां व्यंग्य अर्थ के प्रधान होने पर ध्वनि होती है। भक्ति तो उपचारमात्र है।

जिस प्रकार ध्वनिकार ने अभाववादियों के तीन विकल्पों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है, उसी प्रकार वे भक्तिवाद के तीन विकल्प प्रस्तुत करके उनका खण्डन करते हैं।

(१) ध्वनि को भक्ति से अभिन्न कहने का पहला अभिप्राय यह हो सकता है कि क्या ध्वनि भक्ति का पर्याय हो सकती है? जैसे घट और कलश परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं

(२) क्या भक्ति ध्वनि का लक्षण हो सकती है ? जैसे पृथिवी का लक्षण है--जिसद्रव्य में पृथिवीत्व है, वह पृथिवी है। अथवा गन्धवती पृथिवी" जो द्रव्य गन्धवान् है, वह पृथिवी है। किसी वस्तु के असाधारण धर्म को कहना अथवा उसको समान जातीय एव असमानजातीय वस्तुओं से पृथक् करना लक्षण है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्य हैं--पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन। इन सजातीय द्रव्यों में से गन्ध या पृथिवीत्व केवल पृथिवी में है तथा यह गन्ध या पृथिवीत्व पृथिवी के असमानजातीय गुण कर्म समवाय आदि में नही है। अतः पृथिवी का लक्षण "गन्धवती" या 'पृथ्वीत्ववती' इसको समानजातीय एव असमानजातीय वस्तुओं से पृथक् करता है। अतः यह पृथिवी का लक्षण है। क्या भक्ति भी ध्वनि का इसी प्रकार से लक्षण है ?

(३) क्या भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है ? जैसे 'काकवत्व' देवदत्त के घर का उपलक्षण है। उपलक्षण शब्द का अर्थ है उपशब्द सामीप्यार्थः, समीप एव वर्तमानः सन् न तु स्वरूपेऽन्तर्भावमनुभूय स्थितः सन् लक्षयतीत्युपलक्षणम्। उपलक्षण का अभिप्राय है 'व्यावर्तकम् अवर्तमानं विधेयान्वयि उपलक्षणम्।" अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् दिखाया जा सके जो प्रतिपाद्य में रहा हो, परन्तु सदा विद्यमान न रहता हो, उसको उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्।" इसका अभिप्राय यह है कि दो व्यक्ति साथ-साथ जा रहे थे। मार्ग में देवदत्त का घर पड़ा, जिस पर बहुत से कौये बैठे थे। दोनों में से एक ने पूछा कि देवदत्त का कौन सा घर था। दूसरे ने उत्तर दिया कि जिस घर पर कौवे बैठे थे, वही देवदत्त का घर था, यद्यपि बाद में उस घर पर कौवे नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का अन्य घरों से विभेद प्रकट करता है तथा उसका उपलक्षण है। जो धर्म किसी वस्तु में सदा विद्यमान रहे, वह विशेषण कहलाता है तथा जो सदा विद्यमान न रहे वह उपलक्षण कहलाता है। क्या भक्ति ध्वनि का उसी प्रकार से उपलक्षण है जिस प्रकार काकवत्व देवदत्त के घर का उपलक्षण है।

इस प्रकार भक्तिवादियों के तीन विकल्पों की कल्पना करके ध्वनिकार पहले विकल्प का खण्डन करते है--भक्ति ध्वनि का पर्याय नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों का रूप भिन्न है।

ध्वनि का रूप पहले बताया जा चुका है कि यह पांच प्रकार से हो सकती है--वाच्य में, वाचक मे, व्यंग्य में, व्यञ्जना व्यापार में और काव्यविशेष में। परन्तु भक्ति का रूप इससे भिन्न है। भक्ति तो केवल उपचार मात्र है, किन्तु ध्वनि वहां है, जहां वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन हो, तथा वह व्यंग्य अर्थ प्रधान हो। इस प्रकार भक्ति और ध्वनि के रूपों में भिन्नता होने से ये दोनों पर्याय नहीं हो सकते।

तात्पर्येण – "विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेन।" तात्पर्य का अभिप्राय है कि जो अन्तिम अर्थ प्रयोजन के रूप में अन्तिम रूप से विवक्षित हो।

उपचारमात्रम् – "उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः" उपचार पद का अभिप्राय है, गौण रूप से प्रयोग करना या लक्षणा। अभिनवगुप्त के अनुसार अतिशयित व्यवहार को उपचरण कहते हैं। संकेतित अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध होना अतिशयित व्यवहार या उपचार है। उपचार का लक्षण यह भी हो सकता है--"अतच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः"। उपचार पद का प्रयोग साहित्य में गुणवृत्ति या लक्षणा के लिये किया गया है।

यहां मात्र पद के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन द्योतनरूप चौथा व्यंजना व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव होता हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण आदर का पात्र न होकर नहीं के तुल्य है।

मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह-

अतिव्याप्तेरथाव्याप्ते न चासौ लक्ष्यते तया।। १४।।

हिन्दी अर्थ – यह भी नहीं कह सकते कि भक्ति ध्वनि का लक्षण है। क्योंकि अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष होने के कारण ध्वनि भक्ति से लक्षित नहीं होती।।१४।।

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति, तत्राप्युपचरितशब्दबृत्त्या प्रसिद्धयनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा-

भक्तिवादियों के प्रथम विकल्प "भक्ति और ध्वनि पर्यायवाची है" का खण्डन करके ध्वनिकार दूसरे विकल्प का, 'भक्ति ध्वनि का लक्षण है" इसका खण्डन करते हैं--कि

भक्ति से ध्वनि लक्षित नहीं होती। कैसे ? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष होने से। इसमें अतिव्याप्ति दोष इस प्रकार है कि ध्वनि से

भिन्न विषय में भी भक्ति सम्भव हो सकती है। क्योंकि जहाँ व्यंग्यकृत महान् काव्यसौन्दर्य नहीं है, वहां भी उपचरित शब्द व्यापार के द्वारा कविजन प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहारों को प्रवर्तित करते हुये देखे जाते हैं।

महत्सौष्ठवम् – का तात्पर्य है कि प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण ही यहां व्यंजकता से (चारुत्वादि) कुछ कार्य नहीं होता। यहां महत् का तात्पर्य है कि ऐसे स्थलों पर व्यंग्य रहता है पर वह गुणीभूत होता है। प्रसिद्धि – अभिनव के अनुसार प्रसिद्धि का अर्थ प्रयोजन की प्रकट रूप से सिद्धि या अनिबूढ़ता है जबकि स्फुट रूप से प्रयोजन के प्रकाशित होने पर भी उसकी निगूढता आवश्यक है।

ध्वनिकार का कथन है कि भक्ति को ध्वनि का लक्षण दो कारणो से नहीं माना जा सकता है–(१) अतिव्याप्ति एवं (२) अव्याप्ति दोष होने से। लक्षण में तीन दोष हो सकते हैं–(१) असम्भवता (२) अतिव्याप्ति और (३) अव्याप्ति।

(१) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु में उपस्थित न हो तो यह असम्भवता दोष है।

(२) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु से भिन्न वस्तुओं में भी हो तो यह अतिव्याप्ति दोष है।

(३) यदि वह लक्षण लक्ष्य वस्तु में कहीं हो और कहीं न हो, तब यह अव्याप्ति दोष है।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इसको ध्वनि का लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनेक स्थलों पर, जहां ध्वनि नहीं है, वहां भी भक्ति सम्भव हो सकती है। यद्यपि यह युक्ति दी जा सकती है कि भक्ति (गौणी लक्षणा) में प्रयोजन (व्यंग्य अर्थ) सदा विद्यमान रहता है, क्योंकि यह प्रयोजन पर ही आधारित है, तथापि ध्वनि वहीं है जहां व्यंग्य अर्थ की प्रधानता हो, व्यंग्य अर्थ का चमत्कार अधिक हो। परन्तु अनेक स्थलों में काव्यों में यह देखा गया है कि प्रयोजन का अधिक चमत्कार नहीं भी होता। कवि लाक्षणिक शब्दों का इसलिये प्रयोग कर देते हैं, क्योंकि इनका प्रयोग प्राचीन परम्परा से प्रचलित है। वे यह विचार नहीं करते कि इनके प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होगी या नहीं। इन अवस्थाओं में काव्य में भक्ति के होने पर भी ध्वनि नहीं होगी। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लिया जावे तो इन काव्यों में भक्ति होने पर भी ध्वनि अवश्य होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे – यह पद्य श्रीहर्षकृत 'रत्नावली' नाटिका से उद्धृत किया गया है। लताकुञ्ज से मदनशय्या को छोड़कर सागरिका चली गई है। इस शय्या की अवस्था को देखकर सागरिका की कामपीड़ा का अनुमान करके राजा उदयन विदूषक से कहता है–

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं शलथभुजलताक्षेपवलनैः। कृशाङ्गयाः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

हिन्दी अर्थ – यह कमलिनी के पत्तों की शय्या मोटे स्तनों और जघनों के सम्पर्क के कारण दोनों ओर से मुरझाई हुई है, शरीर के मध्यभाग में सम्पर्क को प्राप्त न करने से हरी है और शिथिल भुजलताओं के इधर–उधर फैंकने तथा मरोड़ने के कारण अस्त–व्यस्त हो गई है, अतः यह उस कृशांगी के सन्ताप को कह रही है।

'वदति' पद का वाच्य अर्थ है– व्यक्त वाणी को कहना (व्यक्तायां वाचि)। परन्तु 'बिसिनीपत्रशयनं' के अचेतन होने के कारण वह वाच्य अर्थ बाधित होता है। वाच्य अर्थ के बाधित होने से मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ 'प्रकट करती है' लक्षणा द्वारा लक्षित होता है।

यहां यह युक्ति दी जा सकती है कि 'प्रकटयति' पद का प्रयोग न करके 'वदति' पद के प्रयोग करने का प्रयोजन स्फुटीकरण प्रतीति है, जो कि व्यंग्य अर्थ है। अतः व्यंग्य अर्थ के होने से यह ध्वनिकाव्य हुआ। परन्तु यह युक्ति सारहीन है। ध्वनि वहीं होती है, जहां व्यंग्य अर्थ में चारुत्व की प्रतीति होती है। इस प्रयोजन की प्रतीति में कोई चारुत्व नहीं है और ना ही इससे किसी प्रकार के काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। यदि 'वदति' के स्थान पर यहां 'प्रकटयति' या स्फुटी करोति पद का प्रयोग किया जाता, तो भी काव्य में किसी प्रकार का अचारुत्व नहीं आता और अभिधा द्वारा ही कवि के प्रयोजन की सिद्धि हो जाती। इस प्रकार यहां ध्वनि न होने पर भी भक्ति है। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लिया जाता तो यहां भी ध्वनि माननी पड़ती। इसलिए ध्वनि से भिन्न स्थान पर भक्ति के अतिव्याप्त होने की संभावना से उसको ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

तथा-

चुम्बिज्जई सअहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सत्तम्मि। विरमिअ पुणोरमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम्।।
(चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः। विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्।।)

प्रियजन को सैंकड़ो बार चुम्बन किया जाता है, हजारों बार आलिंगन कियां जाता है और रुक–रुक कर पुनः पुनः रमण किया जाता है, तो भी वह पुनरुक्त नहीं होता। यहाँ 'पुनरुक्त' पद का वाच्य अर्थ बाधित होता है, क्योंकि उसी कार्य का पुनः पुनः होना पुनरुक्त ही है। अतः मुख्य अर्थ के बाधित होने से लक्ष्य अर्थ–अनुपादेयता, अरुचिकरता' लक्षित होता है। यहां भी प्रयोजन 'अतिशयफलशालित्व' के प्रधान न होने के कारण यह काव्यध्वनि नहीं है। अतः अतिव्याप्ति दोष के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

तथा-

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ। जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ।।

(कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो विहसन्त्यः। यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः।।)

हिन्दी अर्थ – उसी प्रकार से–

नाराज होती हई, प्रसन्न होती हुई, रोती हुई या हँसती हुई स्वैरिणी स्त्रियाँ जैसे भी ग्रहण करें वैसे ही हृदय का हरण कर लेती हैं।

यहाँ 'गृहीता' और 'हरन्ति' पदों के वाच्य अर्थ बाधित हैं क्योंकि हृदय का न तो ग्रहण किया जा सकता है और न हरण किया जा सकता है। अतः इन पदों से क्रमशः लक्ष्य अर्थ उपादेयता और 'अधीनता' लक्षित होते हैं। 'गृहीत' पद के प्रयोग का प्रयोजन 'आत्मसात्करण' और 'हरन्ति' पद के प्रयोग का प्रयोजन 'अत्यधिक विवश होना' है। परन्तु इन प्रयोजनों की प्रधानता न होने से यहाँ ध्वनि नहीं है। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लेते तो यहाँ लक्षणा होने से इस काव्य को भी ध्वनिकाव्य मानना पड़ता। इसलिये अतिव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

तथा-

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे। मिउओ वि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम्।।

(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे। मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्।।)

हिन्दी अर्थ – उसी प्रकार से –

कनिष्ठा भार्या के स्तनों पर प्रिय के द्वारा नवलता से दिया गया प्रहार कोमल होता हुआ भी सौतों के हृदय मे दुस्सह हो गया।

यहां 'दत्तः' पद का वाच्यार्थ बाधित है। दान का लक्षण है–'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोपादनं दानम्'। किसी वस्तु से अपने अधिकार को छोड़कर उस पर दूसरे का अधिकार करा देना दान है। 'दत्तः' पद का 'दान देना' अर्थ बाधित होने से यहां इस पद से 'फलवत्ता होना' इस लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। इसमें सौभाग्यातिशय की प्राप्ति प्रयोजन है। इस पद्य में प्रयोजन के प्रधान न होने से ध्वनि नहीं है। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर यहां भी ध्वनि माननी पड़ती। इसलिये अतिव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

तथा-

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।

न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः।।

अत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः

हिन्दी अर्थ – उसी प्रकार से–

इस पद्य के दो अर्थ–इक्षु पक्ष में और सज्जन पक्ष में संगत होते हैं। इक्षु पक्ष में–जो दूसरों के लिये कोल्हू में पेला जाता है, तोड़ा जाने पर भी मधुर होता है, जिसमें बने हुये सभी पदार्थ गुड़, शक्कर आदि यहाँ सबको अच्छे लगते हैं, यदि वह किसी गलत खेत में पड़कर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, तो वह इक्षु का दोष नहीं है, अपितु उस रेतीली भूमि का दोष है।

सज्जन पक्ष में–जो दूसरे व्यक्तियों के लिये पीड़ा को सहन करता है। अपमानित होने पर भी जिसका व्यवहार मधुर रहता है, जिसका क्रोध आदि विकार भी यहां सबको अच्छे लगते हैं, वह सज्जन व्यक्ति भी यदि अयोग्य स्थान में पडा हुआ उन्नति को प्राप्त नहीं करता तो यह उसका दोष नहीं है, अपितु उस निर्गुण स्थान का दोष है।

इस पद्य में इक्षु पक्ष के अर्थ में 'अनुभवति' पद भाक्त है।

यहां 'अनुभवति' पद का मुख्य अर्थ बाधित है, क्योंकि अचेतन होने से वह पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकता। अतः यहां लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ 'कोल्हू में पेला जाना' लक्षित होता है। इसका प्रयोजन 'पीड्यमानत्व' की प्रतीति है। प्रयोजन के प्रधान न होने से यहां ध्वनि नहीं है यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मान लेवें तो यहाँ भी ध्वनि माननी पड़ती। अतः अतिव्याप्ति दोष होने के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

प्रतिपक्षी शंका कर सकते हैं कि उक्त पद्यों में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने से ध्वनि होगी, उसी का ध्वनिकार उत्तर देते हैं

न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः।। १४।।

हिन्दी अर्थ – इस प्रकार का काव्य कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता।

ध्वनि वहीं होती है, जहां व्यंग्य अर्थ की प्रतीति का प्राधान्य होता है। इन काव्यों में प्रयोजन का प्राधान्य नहीं है, अतः ये ध्वनिकाव्य नहीं हैं।।१४।।

यत :-

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयोभवेत्।। १५।।
न चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः।। १५।।

अपने कथन की पुष्टि के लिये ध्वनिकार यह बताते है कि किस व्यंग्य अर्थ के होने पर काव्य ध्वनि होता है–

हिन्दी अर्थ – क्योंकि–

काव्य में जिस चारुत्व को दूसरी उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसको प्रकाशित करने वाला एवं व्यंजना व्यापार को धारण करने वाला शब्द ही ध्वनि का विषय हो सकता है।।१५।।

कहने का भाव यह है कि जिस चारुत्व को अन्य किसी शब्दार्थ व्यापार से प्रकट नहीं किया जा सकता, केवल उसी शब्द विशेष से प्रकट किया जा सकता है, वही शब्द व्यंजक होता हुआ ध्वनि पद से कहा जा सकता है और वदति आदि उदाहरणों में चारुत्व ऐसा नहीं है कि उसे किसी दूसरे शब्द से न कहा जा सके अतः वे ध्वनि के विषय नहीं हैं।

और यहाँ इन उदाहरणों में शब्द उक्त्यन्तर से अशक्य चारुत्व को प्रकाशित करने का हेतु नहीं है।

ध्वनिकार के कथन का अभिप्राय यह है कि किसी भी काव्य में शब्द तभी ध्वनि कहलाता है, जबकि उस शब्द से ही व्यंग्य अर्थ का चारुत्व प्रकट होता है और उस शब्द को हटाने से वह चारुत्व भी नष्ट हो जाता है। यदि उस शब्द को हटाकर अन्य शब्द का प्रयोग करने पर भी चारुत्व बना रहे, तो वह शब्द ध्वनि नहीं होगा। ऊपर "परिम्लानं पीनस्तन०" आदि उदाहरणों में वदति आदि पद ऐसे नहीं हैं, जहां कि उक्त्यन्तर से भी वह चारुत्व प्रकट न हो सके। यदि 'वदति' के स्थान पर 'प्रकटयति, सूचयति' आदि पदों का प्रयोग किया जावे, तो भी वह चारुत्व और व्यंग्य अर्थ व्यक्त होता ही है। इसीलिये भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता।

उक्त्यन्तरेण – अभिनवगुप्त ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है– "ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः।

दूसरी उक्ति का अभिप्राय है–ध्वनि से भिन्न स्फुट शब्द से और शब्द–अर्थ के व्यापारविशेष अभिधा के द्वारा।

शब्द – अभिनवगुप्त के अनुसार यहां 'शब्द' पद से ध्वनि के पांचों उपकरण वाच्य, वाचक, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और काव्यविशेष ग्रहण होते है।। १५।।

इस प्रकरण में ध्वनिकार ने यह सिद्ध किया है कि जहां लक्षणा में प्रयोजन होते हुये भी वह प्रधान रूप से स्थित नहीं है, वहां ध्वनि नहीं होती। अब अगली कारिका में वे यह कहते हैं कि जिस लक्षण में प्रयोजन नहीं है, वहां ध्वनन किसी भी अवस्था में नहीं होगा।

किञ्च-

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि। लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।।१६।।

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति। तथाविधे च विषये क्वचित् सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते, न तथाविधशब्दमुखेन।। १६।।

हिन्दी अर्थ – और क्योंकि–

जो शब्द अपने विषय से भिन्न दूसरे विषय में रूढ़ (प्रसिद्ध) हो गये हैं, ऐसे लावण्य आदि पद प्रयुक्त होते हुये भी ध्वनि के विषय नहीं होते।। १६।।

हिन्दी अर्थ – उनमें (शब्दों में) उपचरित शब्द वृत्ति अर्थात् लक्षणा है। उस प्रकार के विषय में कहीं ध्वनि व्यवहार होता भी है तो अन्य प्रकार से होता है न कि उस प्रकार के 'लावण्यादि' शब्द के प्रयोग के कारण

अलंकारशास्त्रियों के अनुसार लक्षणा दो प्रकार की होती है–रूढ़ा और प्रयोजनवती। रूढ़ा लक्षणा में भक्ति–अर्थात लक्षणा तो रहती है, परन्तु इसमें प्रयोजन रूप व्यंग्य अर्थ का अभाव होता है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य तो होता है, परन्तु इनकी प्रतीति लक्षणा से नहीं, अपितु व्यंजना से होती है।

ध्वनिकार ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रयोजनवती लक्षणा में ध्वनि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। यदि वहां प्रयोजन का चारुत्व प्रधान है तो वहां ध्वनि होगी, परन्तु यदि वह प्रधान नहीं है तो ध्वनि नहीं होगी, इसके विपरीत रूढ़ा लक्षणा में प्रयोजन होता ही नहीं, अतः वह कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकती। इस कथन को ध्वनिकार ने 'लावण्य' आदि शब्दों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'लावण्य' पद का विग्रह है–"लवणस्य भावः लावण्यम्"। परन्तु 'लावण्य' पद का प्रयोग लवणरसयुक्त के अर्थ में नहीं किया जाता। यह पद सौन्दर्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसी अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध हो गया है। इसी प्रकार के अन्य बहुत से शब्द–अनुलोम, प्रतिकूल, कुशल आदि हैं, जो मुख्य वाच्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ का कथन करते हैं। इनमें उपचरित शब्दवृत्ति–लक्षणा तो है परन्तु कोई प्रयोजन नहीं है, जिसको लक्ष्य करके लक्षणा का प्रयोग हुआ हो और उसके द्वारा यहाँ ध्वनि का व्यवहार हो सकता हो। अभिनवगुप्त का कथन है कि रूढ़ होने से ही इनमें लक्षणा के तीन हेतुओं–मुख्यार्थबाधा, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है तथा इन शब्दों से अभिधा के सदृश ही अर्थ की प्रतीति होती है। इसके लिये वे कुमारिलभट्ट की युक्ति देते हैं–

"निरूढाः लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्"

निरूढा लक्षणायें अपने सामर्थ्य से अभिधा के समान अर्थ का बोध कराती हैं।

इस कारण इन रूढ़ा लक्षणाओं में लावण्य आदि पदों द्वारा प्रयोजन की प्रतीति न होने से ध्वनि का व्यवहार नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में एक शंका यह उत्पन्न होती है कि लावण्य आदि पदों के प्रयोग में भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति है। जैसे–"देवडिंतिलुणाहे पलुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्ज्वलं गुमरिफेल्लपरण्य" में लावण्य आदि शब्द के होने पर भी प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है।

इसका उत्तर भी ध्वनिकार ने दिया है–यह ठीक है कि इन स्थलों पर लावण्य आदि पदों के होने पर भी प्रतीयमान अर्थ अभिव्यक्त होता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होने पर भी यह प्रतीति लावण्य पद के द्वारा नहीं, अपितु प्रकारान्तर से समग्र वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर ध्वनन व्यापार के कारण है। समग्र वाक्य के अर्थ के बोधित होने पर यह प्रतीयमान अर्थ व्यजना व्यापार द्वारा बोधित होता है कि प्रियतमा का मुख ही समस्त आशाओं का प्रकाशक है। इस प्रकार इन स्थलों में व्यंजना व्यापार द्वारा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हुई है। लक्षणा द्वारा नहीं।। १६।।

रूढ़ा लक्षणा में व्यंग्य अर्थ न होने से ध्वनि नहीं हो सकती, इस तथ्य को प्रतिपादित करके ध्वनिकार यह सिद्ध करते हैं कि प्रयोजनवती लक्षणा में भी प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती।

अपि च-

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्। यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः।। १७।।

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्त्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्।। १७।।

हिन्दी अर्थ – और भी–

जिस फल को लक्ष्य करके मुख्य अभिधा व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति द्वारा अर्थ का बोध कराया जाता है, उस फलरूप अर्थ का बोध कराने में शब्द स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ नहीं है।। १७।।

क्योंकि यदि वहाँ चारुत्व के अतिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के सम्पादन में शब्द की अमुख्यता अर्थात बाधितार्थता हो जावे तो शब्द का प्रयोग करने में ही दोष उपस्थित हो जायेगा। ऐसा नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसमें प्रयोजन की प्रतीति के लिये लक्षणा द्वारा अर्थ का बोध होता है। परन्तु प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं, अपितु व्यंजना द्वारा होती है। लक्षणा का प्रयोग वहां इसलिये नहीं होता क्योंकि प्रयोजन रूप व्यंग्य अर्थ यहाँ बाधित नहीं है।

इसको उदाहरण के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

"गंङ्गायां घोषः" पद में 'गंगा' का वाच्यार्थ 'गंगा का प्रवाह' है जो कि बाधित होता है, क्योंकि गंगा के प्रवाह में घोष की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतः गंगा पद से 'गंगातट' अर्थ लक्षणा द्वारा लिया जाता है। 'गंगातट' इस लक्ष्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध है। इस प्रकार यहां लक्षणा के प्रयोग के लिये दो हेतु–मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग उपस्थित हैं। तीसरा हेतु–प्रयोजन वांछेय। प्रयोजन यह है कि 'गंगायाम् घोषः' कहने से घोष में गंगा के गुण–शीतलत्व, पावनत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है। यदि वक्ता का प्रयोजन इन धर्मों की प्रतीति कराना न होता, तो वह 'गंगातटे घोषः' ही कह सकता था। उसको 'गंगाया घोष' कहने की आवश्यकता नहीं थी।

इस उदाहरण में पहले 'अभिधा' द्वारा वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर वाच्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर व्यंजना द्वारा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ व्यंजना की अनिवार्यता के विषय में बहुत वैवाद है। लक्षणावादियों का कथन है कि यहाँ प्रयोजन रूप व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी लक्षणा द्वारा हो जावेगी। उसके लिये व्यंजना वृत्ति

को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने यह दिया है कि लक्षणा का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ अर्थ की प्रतीति बाधित होती हो, अर्थात् शब्द स्खलद्गति हो। परन्तु यहाँ प्रयोजन की प्रतीति होने में किसी प्रकार की बाधकता नहीं है, अतः' यह लक्षणा का विषय नहीं है। इस तथ्य को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"न चासौ लक्षणैव, यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात्। तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषयः।"

प्रयोजनों की प्रतीति लक्षणा से हो सकती है, इसका खण्डन आचार्य मम्मट ने प्रबल युक्तियों द्वारा 'काव्यप्रकाश में किया है वे लिखते हैं–

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जानान्नापरा क्रिया।।

नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा। लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः। एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।।

काव्यप्रकाश २.१४–१६।

जिस प्रयोजन रूप फल की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का प्रयोग किया जाता है, शब्दमात्र से बोधित होने वाले फल की प्रतीति में व्यंजना से अतिरिक्त दूसरा व्यापार नहीं है। इस प्रयोजन के प्रति साक्षात् संकेत का अभाव होने से अभिधा व्यापार नहीं हो सकता और हेतुत्रय के अभाव के कारण लक्षणा नहीं हो सकती। हेतुत्रय की अनुपस्थिति इस प्रकार है–यहाँ लक्ष्य अर्थ मुख्य अर्थ नहीं है और ना ही यह लक्ष्य अर्थ बाधित होता है, ना ही लक्ष्य अर्थ का प्रयोजन रूप अर्थ से कोई सम्बन्ध है, ना हीं प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ मानने पर अन्य कोई प्रयोजन प्रतीत होता है और ना ही शब्द स्खलद्गति है। यदि प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ मानकर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना की जावे तो इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा, जो मूल लक्षणा का ही विनाश कर देगा।

इस प्रकार लक्षणा मूल व्यंग्य अर्थ की प्रतीति में लक्षणा व्यापार को न मानकर व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार ध्वनि के व्यञ्जना व्यापार मूलक होने से भक्ति को उसका लक्षण नहीं कहा जा सकता ।। १७।।

तस्मात्-

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्त्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ।। १८।।

अपने कथन का उपसंहार करते हुए ध्वनिकार कहते हैं–

हिन्दी अर्थ – इसलिये –

गुणवृत्ति वाचकत्व का आश्रय लेकर ही अवस्थित है। इसलिये वह ध्वनि का, जिसका एकमात्र मूल व्यंजना व्यापार है, लक्षण कैसे हो सकती है।। १८।।

अतः ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है।

वाचकत्वाश्रयेण – लक्षणा सदा वाचकत्व का आश्रय लेकर अपना व्यापार करती है। प्रथम अभिधा द्वारा मुख्य अर्थ उपस्थित होता है,उसके बाधित होने पर लक्षणा द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। अतः समालोचकों ने लक्षणा को अभिधा की पूँछ कहा है। परन्तु व्यंजना को अपने व्यापार के लिये न अभिधा की अपेक्षा है और न लक्षणा की। इसी को 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"यथा व समयव्यपेक्षाऽभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषव्यपेक्षा लक्षणा। अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः। न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः। इति, अभिधातात्पर्य– लक्षणाख्यव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्वनीय एव।" पञ्चम उल्लास।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता, इसके लिये ध्वनिकार ने अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष बताये थे। इस लक्षण में अतिव्याप्ति के दोष का प्रतिपादन करके वे अव्याप्ति दोष को उद्घाटित करते हैं।

तस्मादन्यो ध्वनिः, अन्या च गुणवृत्तिः।

अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद् भक्तिरलक्षणम्।। १८।।

हिन्दी अर्थ – भक्ति को ध्वनि का लक्षण कहने में अव्याप्ति दोष भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिका भेद तथा ध्वनि के अन्य अनेक प्रकार के भेद भक्ति से व्याप्त नहीं हैं। इसलिये भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।। १८।

भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष उत्पन्न होता है। ध्वनिके दो मुख्य भेद हैं–अविवक्षित वाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में तो लक्षणा है, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा का लेशमात्र भी नहीं है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेद–प्रभेदों, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य, रसध्वनि, भावध्वनि आदि में मुख्यार्थ की बाधा उपस्थित न होने से लक्षणा व्यापार नहीं होगा अतः वहां भक्ति कैसे हो सकती है ? इस कथन को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"एवमतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया"–इति कारिकागतामतिव्याप्तिं व्याख्याय अव्याप्तिं व्याचष्टे–अव्याप्तिरप्यस्यति। अस्य गुणवृत्तिरूपस्य। यत्र–यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेत्, न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्। अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः सुवर्णपुष्पामित्यादौ "शिखरिणि" इत्यादौ तु सा कथम्।"

इस प्रकार "अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण वह ध्वनि भक्ति से लक्षित नहीं हो सकती।" इस कारिकागत अतिव्याप्ति की व्याख्या करके अव्याप्ति की व्याख्या करते हैं–इसकी अव्याप्ति भी है। 'अस्य' का अभिप्राय है–गुणवृत्ति रूप भक्ति की। यदि यह व्याप्ति मान ली जावे–"जहाँ जहाँ ध्वनि है, वहां वहां भक्ति है", तो यह अव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु ऐसा नहीं है। 'सुवर्णपुष्पाम' आदि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उदाहरणों में तो भक्ति है। परन्तु 'शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरम्०' आदि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के उदाहरणों में भक्ति नहीं है। इसलिये अव्याप्ति दोष होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ?।।१८।।

भक्तिवादियों के दो विकल्पों (१) "भक्ति ध्वनि का पर्याय है, (२) भक्ति ध्वनि का लक्षण है" का खण्डन करके ध्वनिकार अब तीसरे विकल्प–"भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है" का खण्डन करते हैं–

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत। यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते, तदाभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

हिन्दी अर्थ – वह भक्ति ध्वनि के किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है।

आगे ध्वनि के अनेक भेद कहे जायेंगे, उन भेदों में से किसी भेद का यह भक्ति उपलक्षण हो सकती है, इसकी संभावना की जा सकती है। अर्थात् सम्पूर्ण ध्वनि का यह उपलक्षण नहीं हो सकती। यदि कहा जावे कि गुणवृत्ति से ही सम्पूर्ण ध्वनि लक्षित होती है, तो अभिधा व्यापार से ही उससे भिन्न सम्पूर्ण अलंकार समूह भी लक्षित हो सकेगा और इस प्रकार प्रत्येक अलंकार का अलग–अलग लक्षण करना व्यर्थ हो जायेगा।

भक्तिवादियों का तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि भक्ति ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है। यह ठीक है कि ध्वनि और भक्ति एक रूप नहीं है तथा भक्ति को ध्वनि का लक्षण भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह उपलक्षण हो सकती है, क्योंकि जहाँ ध्वनि है, वहाँ भक्ति है।

परन्तु ध्वनिवादी इस युक्ति को स्वीकार नहीं करते। ध्वनि के सभी स्थानों पर भक्ति नहीं है। और यदि कहीं हो भी तो इससे भक्तिवादियों का क्या सिद्ध हो जाता है तथा ध्वनिवादियों का क्या बिगड़ जाता है ? ध्वनिवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि ध्वनि के किसी भेद में भक्ति हो सकती है। परन्तु इससे ध्वनि का भक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो जाता। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद् भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्ति इति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत् सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम् ? किं वा नः त्रुटितम् ? इति तदाह कस्यचिदित्यादि।

भक्तिवादी पुनः एक और युक्ति दे सकते हैं। प्राचीन आचार्यों ने भक्ति का वर्णन किया है तथा वह भक्ति ध्वनि के किन्हीं भेदों में अनिवार्य रूप से रहती है, अतः उसके उपलक्षण के द्वारा ध्वनि को भी समग्र भेदों सहित लक्षित कर लेंगे तथा जान लेंगे। तो ध्वनि का भक्ति से पृथक् प्रतिपादन करने की क्या आवश्यकता है ?

इस युक्ति के उत्तर में ध्वनिकार का कथन है कि यदि ध्वनि के समग्र भेदों में भक्ति के न होने पर भी भक्ति द्वारा उसके ज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे, तो प्राचीन भामह, उद्भट आदि अलंकारवादियों द्वारा शास्त्र रचना ही व्यर्थ होगी। अलंकार का आधार शब्द और उनके अर्थ हैं तथा संकेत एवं अभिधा व्यापार से उनकी स्थिति होती है। वैयाकरणों और मीमांसकों ने शब्द, अर्थ और अभिधा व्यापार का पूरी तरह से विश्लेषण और वर्णन किया है। इस अवस्था में यदि भक्ति द्वारा ध्वनि को लक्षित माना जा सकता है, तो यही सिद्धान्त अलंकारों के वर्णन पर भी लागू होगा और यह मानना होगा कि अभिधा व्यापार के वर्णन द्वारा ही

सम्पूर्ण अलंकारों का विवेचन हो गया है तथा भामह आदि द्वारा अलंकारों का पृथक् पृथक् विवेचन व्यर्थ है। क्योंकि भक्तिवादी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते, अतः उनको भक्ति द्वारा ध्वनि उपलक्षित करने तथा भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव के आग्रह को भी छोड़ देना चाहिये।

भक्तिवादी पुनः यह कह सकते हैं कि ध्वनिवादियों का ध्वनि के प्रतिपादन के लिये इतना अधिक आग्रह व्यर्थ ही है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने भक्ति का प्रतिपादन किया है तथा पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों के वर्णन के प्रसंग से ध्वनि को भी लक्षित कर दिया है। इसका उत्तर ध्वनिकार देते हैं–

किञ्च-

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।। १६।।

कृते वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव ससिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः।

हिन्दी अर्थ – और क्या ?

यदि अन्य प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है, तो इससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है।। १६।।

अथवा यदि पहले ही किन्हीं अन्य आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है, तो इससे हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है, क्योंकि ध्वनि है यही हमारा पक्ष है और यह यदि पहले ही सिद्ध हो गया है तो हमारा अभीष्ट तो बिना प्रयत्न के ही सम्पन्न हो जाता है।

इनकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है–

'मा भूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ् निरूपितं, तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह–किं चेत्यादि।

यदि भक्तिवादी यह कहते हैं कि ध्वनि का उन्मीलन पहले ही आचार्यों द्वारा किया जा चुका है, तथा उन्मीलन अपूर्व वस्तु का नहीं है, तो उनकी बात ठीक हो सकती है। उसका ध्वनिवादी विरोध कहाँ करते हैं। ध्वनिवादियों ने तो उसका सम्यक् निरूपण किया है। ध्वनिवादियों का अपूर्व उन्मीलन के प्रति आग्रह नहीं है। यदि यह पहले से उन्मीलित है, तो उनका अभीष्ट बिना प्रयास के ही सम्पन्न हो जाता है।

प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के तीन पक्ष प्रस्तुत किये थे–अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। यहां तक उन्होंने प्रथम दो पक्षों–अभाववादियों और भक्तिवादियों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। अब ये तीसरे अलक्षणीयतावादियों के पक्ष का भी निराकरण कर रहे हैं–

येऽपि सहृदयहृदसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्याऽनया काव्यान्तरातिशयितैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।। १६।।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्योतः।

हिन्दी अर्थ – जिन विद्वानों ने सहृदय जनों के हृदयों द्वारा संवेद्य ध्वनि की आत्मा को अनाख्येय कहा है, वे भी परीक्षा करके ऐसा नहीं कहते क्योंकि पहले कह गये एवं आगे कहे जाने वाले प्रकार से ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षणों के प्रतिपादित किये जाने पर भी यदि ध्वनि को अनाख्येय कहा जा सकता है, तो यह अनाख्येयत्व सभी वस्तुओं में प्राप्त होगा। पुनः यदि वे विद्वान् इस अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि के अन्य काव्यों को अतिशयित करने वाले स्वरूप को कहते हैं, तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

ध्वनिकार ने अलक्षणीयतावादियों का, जो कि ध्वनि को अनाख्येय कहते हैं, इस प्रकार खण्डन किया है। हमने ध्वनि का दो प्रकार से लक्षण किया है–सामान्य रूप से और विशेष रूप से। यहाँ 'उक्त्या नीत्या' का अभिप्राय प्रथम उद्योत में किए गये ध्वनि के सामान्य लक्षण "यत्रार्थः शब्दो वा०" (कारिका १३) से है, एवं 'वक्ष्यमाणया रीत्या' से अभिप्राय है कि आगे दूसरे उद्योत में ध्वनि के विशेष भेद–प्रभेद कहे जायेंगे। ध्वनिकार का कथन है कि उन्होंने प्रथम उद्योत में ध्वनि के सामान्य लक्षण को कह दिया है और दूसरे उद्योत में ध्वनि में विशेष भेद–प्रभेदों के लक्षण कहेंगे। इस अवस्था में ध्वनि को अनाख्येय कैसे कहा जा सकता है। यदि अलक्षणीयतावादी इसको अब भी अनाख्येय कहते हैं, तो सभी वस्तुयें अनाख्येय होंगी।

इस प्रसंग में एक शंका हो सकती है कि ध्वनिकार ने अभाववादियों एवं भक्तिवादियों के खण्डन के लिये कारिकाओं की रचना करके उनकी व्याख्या वृत्ति में की है। परन्तु अलक्षणीयतावादियों के पक्ष के खण्डन के लिये कारिका की रचना नहीं है, केवल वृत्ति में ही इस पक्ष का खण्डन किया गया है। इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दिया है–

"एवं त्रिप्रकारमभाववादं भक्त्यन्तर्भूतता च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति–येऽपीत्यावादिना।"

इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद का और भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भावित होने का खण्डन करके, इनके मध्य में ही ध्वनि के अलक्षणीयत्व का खण्डन कर दिया है। इसी कारण उस अलक्षणीयत्व का साक्षात् रूप से खण्डन करने के लिये मूलकारिका श्रुत नहीं है। परन्तु प्रमेय (खण्डन के योग्य तीन पक्ष) के सन्निवेश को पूरा करने के लिये निराकृत भी उस पक्ष का (अलक्षणीयत्ववाद को) शब्दों से कहकर 'येऽपि' इत्यादि शब्दों में उसका निराकरण किया है।

ध्वनिकार ने ध्वनि के अनाख्येयत्व का एक हेतु भी प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि यदि कोई वस्तु अतिशय गुणान्वित होती है, तो भी उसको अनाख्येय, अवर्णनीय कह दिया जाता है। जैसे वेदान्ती परब्रह्म को "तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति" "न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा" आदि पदों से अनिवर्चनीय कहते हैं। यदि अलक्षणीयतावादियों ने इस प्रकार की अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि को अनाख्येय कहा है और वे इनके स्वरूप को अन्य काव्यों से उत्कृष्ट मानते हैं, तो वे भी ठीक ही हैं। ध्वनि की अनाख्येयता के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का कथन है कि ध्वनि का यह अनाख्येयत्व भासित होता है, परन्तु उसका लक्षण किया जा सकता है, जो कि उन्होंने किया है। इस कथन को वे तृतीय उद्योत के अन्त में वृत्ति भाग में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं–

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्।।

अतिशयोक्त्या – वृत्ति में कहे गये अतिशयोक्ति पद से अतिशयोक्ति अलंकार का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये, अपितु यहां अतिशय के पद का अर्थ है, उत्कृष्टता का वचन–जो वचन गोचर न होकर सबसे श्रेष्ठ रूप में विद्यमान है।

ध्वन्यालोक की लोचन टीका पर टीका करते हुए उत्तुङ्गोदय ने अपनी कौमुदी टीका में इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है–

अतिशयोक्तिरत्रालङ्कार इति न मन्तव्यमित्याह अनाख्येयतोक्त्येति। अतिशयो वचनगोचरातिवर्तित्वरूपोऽत्र विवक्षितः। तस्योक्तिरतिशयोक्तिः।

इस प्रसंग में अतिशयोक्ति पद से अतिशयोक्ति अलंकार को नहीं समझना चाहिये। इसीलिये यहां 'अनाख्येयतोक्ति' पद को कहा गया है। अतिशय का अर्थ–'वचनों के विषय को अति क्रान्त करने वाला' विवक्षित है। उसका कथन अतिशयोक्ति है।। १६।।

इति प्रथम उद्योतः।

इकाई-II धनञ्जयकृत दशरूपकः

प्रस्तावना

(१)

संस्कृत नाटक : उत्पत्ति व विकास

बच्चों में ही नहीं, बड़ों में भी दूसरे लोगों की चाल–ढाल, रहन–सहन, बोलने के ढंग आदि का व्यंग्यात्मक अनुकरण देखा जाता है। ऐसा क्यों होता है ?

अनुकरण वृत्ति का एकमात्र लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना, मन का रञ्जन करना ही माना जा सकता है। नवयुवक, किन्हीं बड़े–बूढ़ों की हरकतों की नकल कर अपने दिल को बहलाया करते हैं। दिल बहलाना ही इसका एकमात्र कारण है। दिल बहलाने वाली वस्तु में हमें एकाग्रचित्त करने की क्षमता होती है, और कुछ क्षण तक वह हमें केवल मनोराज्य में ही विचरण कराती है। यह 'मनोरंजन' की बात है। काव्य के रसास्वाद को हम शत प्रतिशत रूप में 'इस कोटि का नहीं मान सकते, क्योंकि उसमें साधारण 'दिल बहलाने के अलावा' कुछ 'और' भी है, और यह कुछ और उसमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

काव्य या कला में भी अनुकरणवृत्ति को मूल कारण मानना अनुचित न होगा। सम्भवतः इसलिए पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने तो 'कला को अनुकरण' ही माना। जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, उसमें तो अनुकरण स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। भरत की नाट्य की परिभाषा **'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकं। लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्।।'** तथा **'सप्त द्वीपानुकरणं'** इस बात को स्पष्ट कर देती है। धनंजय की नाट्य तथा रूपक की परिभाषा इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं :–

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'; 'रूपकं तत्समारोपात्'।

काव्य और ललित कला; विशेषतः नाटक; मानव तथा मानवेतर प्रकृति का अनुकरण कर उसके द्वारा आनन्द की उत्पत्ति या रसोद्बोध करते हैं। वे केवल बाह्य प्रकृति का ही अनुकरण नहीं करते, किन्तु मानव की अन्तःप्रकृति को, उसके मानसिक भावों को भी अनुकृत करते हैं। एक कुशल मूर्तिकार या चित्रकार न केवल किसी सुन्दरी के अवयवों का सुन्दर चित्रण कर सजीवता की अनुकृति करता है, किन्तु उसके मुखमण्डल, नेत्र आदि का टंकन या अंकन इस प्रकार करता है, कि वे उसके मनोगत भावों की व्यञ्जना कराने में समर्थ होते हैं। इसी तरह कुशल कवि अपने पात्र के मनोगत रागादि को भी ठीक उसी तरह वर्णित करता है, जैसे उसके बाहरी रूप को। नाटक की सफलता तभी मानी जाती है, जबकि नाटककार ने पात्रों की आभ्यन्तर प्रकृति को सुन्दर तथा मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया हो। भारतीय अलंकारशास्त्र में रस–सिद्धान्त की महत्ता इसी ओर संकेत करती है, और दृश्य काव्य के क्षेत्र में रस की आत्मरूप में प्रतिष्ठा भरत मुनि के भी बहुत पहले ही–नन्दिकेश्वर या और किन्हीं आचार्यों के द्वारा–हो चुकी थी। इस प्रकार नाटक का एकमात्र लक्ष्य मानव तथा मानवेतर प्रकृति का चित्रण ही है।

भारतीय परम्परा के अनुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में बताया गया है, नाट्य की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। सतयुग में लोगों को किन्हीं मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता न थी। त्रेतायुग में देवता लोग ब्रह्मा के पास गये, और उनसे प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे वेद की रचना करें, जो सार्ववर्णिक हों अर्थात् जिस का शूद्रों तथा स्त्रियों के द्वारा भी अनुशीलन हो सके, क्योंकि शूद्रों के लिए निःश्रेयस का कोई साधन न था, वेदाध्ययन उनके लिए निषिद्ध था। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर ही पञ्चम वेद–नाट्यवेद–की रचना की। इस पञ्चम वेद में चार अंग पाये जाते हैं :– पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इन चारों तत्त्वों को ब्रह्मा ने क्रमशः ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से गृहीत किया। इसके बाद ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया, तथा भरत मुनि को इस कला को सम्पादित करने तथा उसकी शिक्षा देने को कहा। ब्रह्मा ने भरत मुनि को सौ शिष्य तथा सौ अप्सराएँ भी इसलिए सौंपीं, कि मुनि उन्हें नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दें। इस काम में शिव तथा पार्वती ने भी हाथ बंटाया। शिव ने नाट्य में ताण्डव नृत्य का, तथा पार्वती ने लास्य नृत्य का समावेश किया। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय परम्परा नाटकों की दैवी उत्पत्ति मानती है।

नाट्यवेद के विकास के विषय में यह कल्पना कम से कम एक बात की पुष्टि अवश्य करती है, कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भारतीय नाटक तथा भारतीय रंगमंच पूर्णतः विकसित हो चुके थे। पर, भरत का नाट्ययशास्त्र कब लिखा गया? यह विवादास्पद प्रश्न है।

नाटकों के कई तत्त्वों में से दो तत्त्व विशेष प्रमुख हैं, संवाद तथा अभिनय। संवाद तत्त्व हमें, भारत के प्राचीनतम साहित्य- ऋग्वेद में मिल जाता है। ऋग्वेद में लगभग १५ सूक्त ऐसे हैं, जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। इन्द्र–मरुत्–सवाद (१।१६५ ९ विश्वामित्र–नदी–संवाद (३।३३), पुरूरवस्–उर्वशी–संवाद (१०।९५), तथा यमयमी–संवाद (१०।१०) इनमें प्रमुख है। वैसे दूसरे संवाद का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद (१०।८६); अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा के संवाद (१।१७९) इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर ने यह मत प्रकाशित किया था, कि इन सूक्तों का पाठ, यज्ञ के समय इस ढंग से किया जाता रहा होगा कि अलग–अलग ऋत्विक् अलग पात्र (मरुत् या इन्द्र) वाले मन्त्रों (संवादों) का शंसन करते होंगे। फ्रेंच सिलवाँ लेवी ने भी इस मत की पुष्टि की है, तथा ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका मत है, कि उस काल में देवताओं के रूप में, यज्ञादि के समय नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।

लेवी तथा मैक्समूलर ही नहीं, श्रोएदर तथा हर्तेल भी इसी मत के हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में अभिनय तथा संवाद के तत्त्व विद्यमान हैं, जो नाटकों के बीज हैं। हर्तेल का मत है कि वैदिक सूक्त गेय रूप में प्रचलित रहे हैं। अतः विभिन्न वक्ताओं के भेद का प्रदर्शन एक ही गायक के द्वारा नहीं हो सकता था। इसलिए ऐसे सूक्तों का, जिनमें एक से अधिक वक्ता पाये जाते थे अनेक पाठकों के द्वारा पढ़ा जाना असम्भव नहीं। इस प्रकार सूक्त नाट्यकला के प्रारम्भ कहे जा सकते हैं। श्रोएदर ने ऋग्वेद से कुछ सूक्त उपस्थित किये हैं, जिनको वे नाटक का आदिम रूप मानते हैं तथा गेय एवं अभिनेय दोनों तत्त्वों को वहाँ ढूंढ़ते हैं। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त (७।१०२) के बारे में उनका कथन है कि ब्राह्मण लोग मेढकों से भरे तालाब में खड़े होकर इस सूक्त को गाते होंगे। ऋग्वेद के नवम मण्डल के ११२ वें सोमसूक्त के विषय में भी उनका यही मत है।

डॉ० कीथ ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है। वे इन संवादों को नाटकीय संवाद न मानकर कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य कर्म के संवाद मानते हैं। वस्तुतः कर्मकाण्डीय परिपाटी को नाटकीय मान बैठना ठीक नहीं। साथ ही श्रोएदर आदि विद्वानों का यह कहना कि ये सूक्त गाये जाते थे, ठीक नहीं जान पड़ता। गेय तत्त्व के लिए तो सामवेद के मन्त्र थे। ऋग्वेद के मन्त्रों का 'उद्गीथ' न होकर 'शंसन' होता था। हाँ इतना माना जा सकता है, कि ऋग्वेद के इन संवादों में नाटक के बीज विद्यमान हैं, पर इन्हें नाटक का स्थानापन्न मानना ठीक नहीं।

प्रो० श्रोएदर आदि के मत का खण्डन अन्य विद्वानों ने भी किया है। श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अपने 'अभिनवनाट्यशास्त्रम्' में बताया है कि नाटक स्वतः एक यज्ञ है, अतः इसे ऋग्वेद के उन सूक्तों को आधार मानकर किसी दूसरे यज्ञ का अंग कैसे माना जा सकता है। साथ ही श्रोएदर आदि नाटक, नृत्य तथा संवाद सभी को एक मान बैठते हैं। कोरा नाच या कोरा संवाद नाट्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि नाट्य में सात्त्विक, आंगिक, वाचिक तथा आहार्य चारों अभिनयों के द्वारा रससृष्टि की जाती है। उन्होंने अपने मत का प्रदर्शन करते समय यह भी बताया है कि यूरोप वाले विद्वान् प्रत्येक स्थान पर विकासवाद का सिद्धान्त लागू करते हैं, और भारतीय नाटकों की परम्परा का अध्ययन भी इसी आधार पर करते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं जान पड़ता। कुछ भी हो, ऋग्वेद के संवादों में नाटक के बीज मानने में कोई अनुचित बात नहीं है।

नाच को नाटक का पूर्वरूप मानने वालों में मैकडोनल भी है। उनकी कल्पना है कि संस्कृत के नट तथा नाटक शब्द 'नट' धातु से निकलते हैं। यह धातु संस्कृत के 'नृत' का ही प्राकृत या देशीरूप है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है। संस्कृत में नट् तथा नृत् दोनों भिन्न धातु हैं, साथ ही नाट्य, नृत्य तथा नृत्त तीनों शब्दों का अर्थ अलग अलग है। दशरूपककार ने वाक्यार्थमय अभिनय के द्वारा रससृष्टि करने को नाट्य माना है (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं)। इसी तरह केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भावप्रदर्शनमात्र करने को नृत्य तथा ताल लय के साथ हस्तपाद सञ्चालन को नृत्त कहा है। वे बताते हैं कि तीनों भिन्न–भिन्न हैं–'अन्यद् भावाश्रयं नृत्यमनेकान्तं ताललयाश्रयम्'। यह दूसरी बात है कि नृत्य तथा नृत्त दोनों ही, जिन्हें हम क्रमशः शास्त्रीय मार्ग तथा देशी भी कह सकते हैं नाटक के उपस्कारक हो सकते हैं। इसी बात को दशरूपककार कहते हैं :–

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः। लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्।।

दशरूपककार की साक्षी पर मैकडोनल का नाच और नाटक को एक मान लेने वाला मत धराशायी हो जाता है।

एक दूसरा मत प्रो० पिशेल का है, जो भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुतलियों के नाच, पुत्तलिकानृत्य–से मानते हैं। प्रो० पिशेल ने बड़े विस्तार के साथ यह बताया है कि यूनान में प्राचीन नाटकों के पहले पुत्तलिका का प्रचलन नहीं था, अतः वहाँ के नाटकों का उनका विकसित रूप नहीं मान सकते। भारत में इनका प्रचार बहुत पुराना रहा है। महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है। कथासरित्सागर में भी इन पुतलियों का वर्णन है। प्रो० पिशेल ने तो भारतीय नाटक के सूत्रधार की संज्ञा को भी इनसे जोड़ने की चेष्टा की। उनका कथन है कि पुतलियों को नचाते समय नचाने वाला उनके डोरों को–सूत्र को–पीछे से पकड़ रहता है। इसलिए

वह 'सूत्रधार' कहलाने लगा, और यही नाम नाटक के प्रयोक्ता को भी दे दिया गया। प्रो० पिशेल के इस मत का खण्डन एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् रिजवे ने ही कर दिया है। 'सूत्रधार' शब्द की पिशेल वाली व्युत्पत्ति के बारे में कहा जा सकता है कि 'सूत्रधार' नाटक की कथावस्तु, नायक, रस आदि का सूत्र (संक्षेप) में वर्णन करता है, इसलिए सूत्रधार कहलाता है, डोरे को पकड़ने के कारण नहीं। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' में इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है :–

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्। नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः।।

डॉ० पिशेल एक दूसरा मत भी रखते हैं। इस मत के अनुसार नाटकों का विकास छाया–नाटकों से हुआ। डाक्टर कोनो भी इस मत के समर्थक हैं। संस्कृत में कुछ छायानाटक पाये जाते हैं, जिनमें 'दूताङ्गद' विशेष प्रसिद्ध है। छायानाटक में महीन पर्दे के पीछे वास्तविक अभिनेताओं या मूर्तियों के द्वारा अभिनय दिखाया जाता है, सामाजिक पर्दे पर उनकी छायामात्र देखता है। दूताङ्गद आदि संस्कृत के दो–चार परवर्ती छायानाटकों के आधार पर भारतीय नाटकों का विकास छायानाटकों से मानना ठीक नहीं जान पड़ता।

कुछ विद्वान् वीरपूजा या इन्द्रध्वज उत्सव जैसे धार्मिक उत्सवों से नाटक का विकास मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। संस्कृत के कई नाटकों में वीररस नहीं पाया जाता, उन्हें वीरपूजात्मक कैसे कहा जा सकता है। न यूनानी नाटकों की तरह भारतीय नाटक धार्मिक उत्सव से ही विकसित हुए हैं। कुछ लोग भारतीय नाटकों को यूनानी नाटकों की देन कहते हैं। वे यह भी बताते हैं कि संस्कृत नाटकों में पर्दे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द 'यवन' से बना है, जो 'यूनानी' के लिए प्रयुक्त होता था। अतः इस शब्द से भारतीय नाटकों के यूनानी नाटकों के ऋणी होने का संकेत मिलता है : पर यह कल्पना बहुत दूर की है। यूनानी नाटक तो खुले मैदान में होते थे, वहां कोई पर्दा भी नहीं होता था। फिर भारत के नाटकों के पर्दों को 'यवन' शब्द से सम्बद्ध करना, यूनानी नाटकों से कोई सम्पर्क नहीं रखता जान पड़ता। इस मत के प्रतिष्ठापक वेबर का खण्डन डाक्टर कीथ ने ही कर दिया है। भारत की प्रत्येक साहित्यिक, कलात्मक या शास्त्रीय समृद्धि में यूनानी बीज ढूंढ़ना पाश्चात्य विद्वानों का प्रमुख किन्तु निःसार–लक्ष्य रहा है।

वेदों के बाद महाभारत तथा रामायण में नाटकों का संकेत ढूंढ़ा जा सकता है। यद्यपि कीथ ने इसका खण्डन किया है। उनके मतानुसार महाभारत तथा रामायण के नट शब्दों ही के आधार पर उस काल में नाटकों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। रामायण में नाटक तथा नट शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन में महर्षि वाल्मीकि ने बताया है कि वहाँ नाटक की मण्डलियाँ तथा वेश्याएँ थीं (वधूनाटकसंघैश्च)। राम के अभिषेक के समय भी रामायण में नटों, नर्त्तकों, गायकों आदि का उपस्थित होना तथा अपनी कार्यकुशलता से लोगों को प्रसन्न करना लिखा है :–

नटानर्त्तकसंघानां गायकानां च गायताम्। यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः।।

महाभारत में नट, शैलूष आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, और उसके हरिवंश पर्व के ६१ से ६७ अध्याय तक तो नाटक खेले जाने का भी संकेत है। वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिए श्री कृष्ण तथा यादवों ने कपट–नटों का वेष धारण कर उसकी पुरी में जाकर रामायण का नाटक खेला। रामायण नाटक के अतिरिक्त इन्होंने कौबेररम्भाभिसार नाटक भी खेला। नाटक का अभिनय इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों व उनकी पत्नियों ने सुवर्ण के आभूषण खोल–खोल कर नटों को दे दिये। इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध किया तथा उसकी पुत्री प्रभावती से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। इस कथा से यह संकेत मिलता है कि महाभारत काल में नाटक का सर्वांगीण रूप विद्यमान था। यह निःसन्देह है।

महाभारत व रामायण के बाद बौद्ध ग्रन्थों, तथा जैन ग्रन्थों एवं वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नाटकों का तथा नटों का संकेत मिलता है। ईसा की दूसरी शती के बहुत पहले भारत में नाटकों का अस्तित्व न मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष वात्स्यायन के अर्थशास्त्र से निम्न पंक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं :–

'कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता।

(का० सू० १, ४, २८–१)

अर्थात् बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उनका ठहराव या मेहनतनामा (पूजा) दूसरे दिन लेवें। यदि लोग देखना चाहें तो फिर दिखें नहीं तो नटों को विदा कर दें। नगर के नटों व आगन्तुक नटों दोनों को एक दूसरे के कष्ट तथा आनन्द में परस्पर सहयोग देना चाहिये।

इससे भी बहुत पहले पाणिनि के अष्टाध्यायी–सूत्रों में ही शिलाली तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है :– **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः** (४।३२।११०) **कर्मन्दकृशाश्वादिनिः** (४।३।१११) इससे शिलाली तथा कृशाश्व इन दो आचार्यों के नटसूत्रों का पता चलता

है। साथ ही पाणिनि रचित पातालविजय नामक नाटक का उल्लेख भी किया गया है। परन्तु डॉ० कीथ, प्रो० सिलवाँ लेवी की गवाही पर इन दोनों शब्दों में व्यंग्य मान कर इन्हें किन्हीं आचार्यों (नाट्याचार्यों) का नाम मानने से सहमत नहीं हैं। लेवी के मतानुसार 'शिलाली' का अर्थ है 'जिसके पास शिला की ही शय्या है, और कोई चीज सोने को नहीं' और 'कृशाश्व' का अर्थ है 'जिसके घोड़े दुबले–पतले हैं'। पर इस तरह का अर्थ निकालना कोरी कल्पना है। कीथ यह भी संकेत करते हैं कि 'नट' शब्द का पाणिनि में पाया जाना पुत्तलिका–नृत्यादि की पुष्टि कर सकता है। पाणिनि का काल वे चौथी शताब्दी ई० पू० मानते हैं तथा पाणिनि में नाटक शब्द के अभाव को उस काल में भारतीय नाटकों के न होने का प्रमाण मानते हैं। किन्तु 'नटसूत्र' शब्द वस्तुतः किन्हीं सैद्धान्तिक सूत्रों का संकेत करते हैं, जिसमें नटों के लिए क्रिया–प्रक्रिया, कला–कौशल का विवेचन किया गया होगा। अतः 'शिलाली' व कृशाश्व का लेवी की तरह ऊटपटांग अर्थ लेना, या कीथ की तरह 'नाटक' शब्द या 'नाटक' के पर्यायवाची शब्द ही पर अड़े रहना पक्षपातयुक्त प्रतीत होता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' इन दो कथाओं से सम्बद्ध नाटकों का उल्लेख किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय निश्चित है कि वे अग्निमित्र के पुरोहित तथा गुरु थे। वे लिखते हैं कि कंस पहले मर चुका है इसी तरह बलि का बन्धन भी अतीत काल में हो चुका है, किन्तु ये नट वर्तमान काल में भी हमारी आँखों के सामने कंस का मारते हैं, तथा बलि को बाँधते हैं :–

इह तु कथं वर्त्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्? ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्ध्यन्तीति।

प्रो० वेबर तथा प्रो० ल्यूडर्स पतञ्जलि के इस स्पष्ट संकेत को भी ऊटपटाँग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। वेबर के मतानुसार पतञ्जलि का संकेत पुत्तलिका रूप में कंसवध तथा बलिबन्धन से है। ल्यूडर्स के मतानुसार 'शौभिका:' या शोभनिका शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ये नट बिना किसी संवाद (Dialogue) के कंसवध या बलिबंधन की नकल दिखाते थे। बाद के साहित्य में संवाद–प्रयोक्ताओं के लिए 'ग्रन्थिक' शब्द का प्रयोग मिलता है। पर इतनी खेंचातान, और यह गजनिमीलिकायित क्यों, जब कि महर्षि पतञ्जलि की पंक्तियाँ नाट्याभिनय के स्पष्ट संकेत हैं।

कुछ भी हो, महाभाष्यकार पतञ्जलि के पहले ही से कवि भास से लेकर बीसवीं शती तक संस्कृत नाटकों की एक अक्षुण्ण परम्परा पाई जाती है, जिसमें ग्रीक नाटकीय बीजों को ढूंढ़ना दुराग्रह तथा हठधर्मिता मात्र है। संस्कृत साहित्य का नाटक–अंग इतना समृद्ध है कि मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों में विश्व के नाटक साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है। संस्कृत में सैंकडों एक से एक सुन्दर नाटक लिखे गये, जिनमें असंख्य नाटक अभी भी अन्धकार में पड़े हैं। उनमें से कुछ नाटकों का संकेत किन्हीं अलंकारशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में दिये उदाहरणों से मिलता है। कई नाटक अभी–अभी अन्धकार से प्रकाशित हुए हैं। भास के नाटकों का ही लोगों को १९१३ ई० के पहले पता नहीं था, जब कि म०म०त० गणपति शास्त्री ने उनको प्रकाशित किया। भास, कालिदास, शूद्रक, अश्वघोष भवभूति, मुरारि, विशाखदत्त, भट्टनारायण, राजशेखर, जयदेव आदि प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त जयदेवोत्तरकाल (१२५०–१६५०) के सैंकड़ों नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने सुन्दर कलापूर्ण नाटक लिखे हैं। यह दूसरी बात है कि जयदेवोत्तरकाल के नाटककारों में कई नाटककार सिद्धान्त व प्रक्रिया के सामञ्जस्य का निर्वाह अपने नाटकों में न कर पाये। नाटकीय सिद्धान्त व नाटकीय प्रक्रिया के सामञ्जस्य की अन्तिम सीमा जयदेव का प्रसन्नराघव माना जा सकता है। तात्पर्य यह नहीं, कि इस काल के सारे ही नाटक रंगमंचीय प्रक्रिया में खरे न उतरेंगे, किन्तु अधिकों की ऐसी ही दशा है। साथ ही इस काल में भाण–रूपकों की बहुतायत ने भी नाटक साहित्य की विविधता को कुछ क्षति ही पहुंचाई। इस काल के प्रमुख नाटककारों में वामन भट्ट बाण, शेष कृष्ण, मथुरादास, युवराज रामवर्मा आदि हैं, जिनकी क्रमशः पार्वतीपरिणय, कंसवध, वृषभानुजा नाटिका, अनङ्गविजय भाण आदि रचनाएं हैं। संस्कृत के इस विशाल नाट्यसाहित्य के समुद्र से कुछ रत्नों को निकाल कर उनका महत्व बताना बड़ा कठिन है। कालिदास, शूद्रक तथा भवभूति की कवित्रयी तो समस्त संस्कृत नाटककारों की मूर्धन्य है ही। जैसे संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पण्डित मुरारि को भवभूति से बढ़ कर मानते जान पड़ते हैं। तभी तो वे कहते है–

(१) मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा। (२) भवभूतिमनादृत्य मुरारिमुररीकुरु।।

पर भवभूति जैसी रागात्मक उद्भावना मुरारि में कहाँ, वहाँ तो शास्त्रीय पाण्डित्य ही विशेष है। कालिदास का पद निश्चित ही और उनका 'अभिज्ञानशाकुन्तल' समस्त काव्य (साहित्य) का सार–'एसेन्स'– है, इस बात का उद्घोष प्राचीन पण्डितों ने मुक्तकण्ठ से किया है

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

संस्कृत के इस विशाल तथा सुन्दर नाट्य साहित्य की समृद्धि का श्रेय किसी हद तक भरत के नाट्यशास्त्र जैसे नाटक के सिद्धान्तग्रन्थों–लक्षणग्रन्थों–को भी देना होगा। स्वयं कालिदास भरत मुनि के नाटकीय सिद्धान्तों से पथप्रदर्शन पाते रहे होंगे।

(२)

नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

साहित्य में लक्षण ग्रन्थों व लक्ष्य ग्रन्थों का चोली–दामन का साथ है। दोनों एक–दूसरे के सहयोगी बन कर साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देते हैं। यद्यपि साहित्य के आदि विधायक लक्ष्य ग्रन्थ, काव्य–नाटकादि ही हैं, किन्तु वे जहाँ एक ओर लक्षण–ग्रन्थों को प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ उनके द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं। लक्ष्य ग्रन्थों में रचयिता की उच्छृङ्खलता, मनमानी को रोकने थामने के लिए लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। ये लक्षण ग्रन्थ भी स्वयं अपने पूर्व के लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं, उनके आदर्शों को मान बनाकर लिखे गये तथा उन्हीं 'मानों' को भावी काव्यों या नाटकों का निकषोपल घोषित किया गया। वाल्मीकि, व्यास आदि कवियों के काव्यों ने ही भामह को अलंकार–विभाजन का मार्ग दिखाया। अन्यथा, रामायण, महाभारत या अन्य पूर्ववर्ती कवियों की कविता के अभाव में भामह के लिए कविताकामिनी के इन सौन्दर्यविधायक उपकरणों का पता लगाना असम्भव नहीं होता क्या ? अरस्तू 'पोयतिका' तथा 'ह्येतोरिका' को तभी जन्म दे सका, जब उसके आगे एक ओर होमर के 'इलियड' तथा 'ओडेसी' एवं सोफोक्लीज के नाटक, तथा तत्कालीन ग्रीक पण्डितों की भाषणशैलियाँ प्रचलित थीं। इन लक्ष्यों के अभाव में लक्षण की स्थापना हो ही कैसे सकती थी। ठीक यही बात संस्कृत के नाट्यशास्त्र के विषय में कही जा सकती है। जिस प्रकार रामायण, महाभारत तथा कालिदास आदि के काव्यो का आश्रय लेकर अलंकार शास्त्र का उद्‌भव तथा विकास हुआ होगा उसी प्रकार समृद्ध रूपक परम्परा के आधार पर ही प्रथमतः नाट्यशास्त्र–विषयक ग्रन्थों की रचना हुई होगी। यह कहना कठिन है कि भारतीय रूपक की प्राचीनतम रचनाएं कौन सी थीं और उनके आधार पर सर्वप्रथम कौन सा नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ रचा गया। नाट्य सम्बन्धी आचार्यों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है–(१) भरत के पूर्ववर्ती आचार्य जिनके यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं किन्तु रचनाएं अप्राप्य हैं। (२) भरत (३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएं अनुपलब्ध हैं किन्तु अन्य आचार्यों ने उनका उल्लेख किया है या कहीं कहीं उनके उद्धरण भी दिए हैं जैसे कोहल आदि। (४) नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार जैसे भट्टलोल्लट आदि (५) नाट्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले जैसे धनञ्जय आदि (६) काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य जिन्होंने कुछ अध्यायों में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है जैसे भोजराज, विश्वनाथ आदि।

(१) भरत मुनि के पूर्ववर्ती आचार्य – पाणिनि ने (४.३.११०, १११) शिलालिन और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है। प्रो० हिलब्रान्ड के सुझाव के अनुसार भारतीय नाट्य की ये प्राचीनतम पुस्तकें मानी जानी चाहिए किन्तु वेबर, कोनो तथा कीथ के अनुसार ये नर्तकों तथा नटों का काम करने वालों के लिए लिखे गए ग्रन्थ थे। जबकि मनमोहन घोष के मतानुसार यहां नट का अर्थ अभिनेता ही है। भरत ने भी संग्रह श्लोकों के नाम से कुछ श्लोक और पूर्वाचार्यों की अन्य कारिकाएं 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' वा 'अत्रार्ये भवतः' कहकर उद्‌धृत की हैं। अतः भरत से पहिले भी नाट्य विषयक ग्रन्थ लिखे गये थे। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र ही सबसे प्राचीन नाट्यविषयक ग्रन्थ है।

(१) **भरत** :- भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाट्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'नाट्यशास्त्र' पर ही नहीं अलंकारशास्त्र, संगीत, नृत्य तथा नाटक सभी का इसे प्राचीनतम पथप्रदर्शक मानना होगा। नाट्यशास्त्र के उपलब्ध स्वरूप में कई पाठभेद मिलते हैं। अतः यह कहना कठिन है कि नाट्यशास्त्र का वास्तविक स्वरूप क्या था, क्या यह समस्त नाट्यशास्त्र एक ही भरत नामक आचार्य की रचना है ? विद्वानों का विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र एक काल की रचना नहीं अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। अभिनव गुप्त के समय से ही यह शंका की जाने लगी थी कि भरत के किसी शिष्य ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। अभिनव गुप्त ने इसका निराकरण किया। भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में भरत के परवर्ती ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है–एक वृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत। नाट्यशास्त्र के विषय में भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिलते हैं, एक नाट्यवेदागम, दूसरा नाट्यशास्त्र। पहला ग्रन्थ द्वादशसाहस्री तथा दूसरा ग्रन्थ षट्साहस्री भी कहलाता है। शारदातनय के मतानुसार 'षट्साहस्री' प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप थी।

एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः। षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।। (भावप्रकाश)

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत का क्या समय है, इस सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं। म०म० हरप्रसाद शास्त्री इसका समय ई०पू० द्वितीय शती, प्रो० लेवी क्षत्रपों के शासन का समय मानते हैं। कीथ के अनुसार तीसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता। डा० पी०सी०

सरकार ने महाराष्ट्र और नेपाल के उल्लेख के आधार पर दूसरी शती के बाद का, मनमोहन घोष ने भरत के भाषा वैज्ञानिक तथा छन्दः सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलंकारों का वर्णन, उपाख्यान और भौगोलिक विवरण के आधार पर १०० ई० पू० तथा [illegible] के मध्य निर्धारित किया है। पी०वी० काणे ने सभी मतों की परीक्षा कर अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया के नाट्य शास्त्र का समय तीसरी शती के बाद का नहीं हो सकता। उनके विचार में वर्तमान नाट्य शास्त्र के षष्ठ, सप्तम अध्याय [illegible] अध्याय तथा १–३५ तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित किए गए होंगे। षष्ठ और सप्तम अध्याय के गद्य अंश और आर्याएं लगभग २०० ई० पू० लिखी गई होंगी। विद्वानों में कई उनके नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी मे मानते हैं कई इससे भी पूर्व। दूसरे विद्वान् भरत का समय ईसा का दूसरी या तीसरी शती मानते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो भरत का काल तो तीसरी या चौथी शती मानते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र के इस रूप को उस काल का नहीं मानते। डॉ० एस० के० दे के अनुसार नाट्यशास्त्र के संगीत वाले अध्याय चौथी शताब्दी की रचना है, किन्तु नाट्यशास्त्र में कई परिवर्तन होते रहे होंगे, और उसका उपलब्ध संस्करण आठवीं शती के अन्त तक हुआ जान पड़ता है।

कुछ भी हो इतना तो अवश्य है कि भरत ही प्राचीनतम अलंकारशास्त्री, रसशास्त्री, व नाट्यशास्त्री हैं, जिनका ग्रन्थ हम प्राप्त है। भरत के विषय में कुछ ऐसे बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाण हमें मिलते हैं, जो उनके कालनिर्धारण में कुछ सहायक हो सकते हैं। पहले बाह्य प्रमाण ही लेंगे। वैसे तो कालिदास का भी समय मतभेद से रहित नहीं पर अधिकतर विद्वान् उसे चौथी शताब्दी का ही मानते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है। निर्देश ही नहीं भरत उस काल तक इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कालिदास इन्द्र के समक्ष भरत के नाटक के अभिनय का संकेत करते हैं। तात्पर्य यह है कि नाट्याचार्य भरत कालिदास से पूर्व ही पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे, वे ऋषि थे, उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से नाट्यवेद सीखा था। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में पाई जाने वाली नाटक की उत्पत्ति की घटना का सूक्ष्म संकेत कालिदास के पद्य से भी मिल सकता है। विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रथक अंक का यह पद्य यों है :–

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वप्सरसाश्रयो निबद्धः। ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः।।

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कुछ ऐसे स्थल हैं, जो उसकी प्राचीनता को और पुष्ट करते हैं। नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण, तथा प्रातिशाख्य के उद्धरण हैं, किन्तु पाणिनि के नहीं। अतः नाट्यशास्त्र उस काल की रचना है, जब ऐन्द्र व्याकरण का महत्त्व पाणिनीय व्याकरण के द्वारा घटाया नहीं गया था। नाट्यशास्त्र में कई प्राचीनतम सूत्रों व श्लोकों का उद्धरण मिलता है :–

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः। तत्र श्लोकः, आदि।

भाषा व विषयप्रतिपादन की दृष्टि से भी भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनता का द्योतक है। फलतः भरत भी भरत मुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। भरत का नाट्यशास्त्र कहीं कहीं सूत्रपरिपाटी का आश्रय लेता है। टीकाकारों ने भरत की रचना को कई स्थानों पर 'सूत्र' तथा उन्हें 'सूत्रकृत्' कहा है। नान्यदेव भरत के लिये 'सूत्रकृत्' शब्द का प्रयोग करते हैं :– **'कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा-** । अभिनवगुप्त भी भरत के नाट्यशास्त्र को 'भरतसूत्र' कहते हैं :–

'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्....'

अनुमान है भरत का नाट्यशास्त्र कालिदास से लगभग दो शताब्दी पूर्व का–ईसा की दूसरी शती का है।

भरत का नाट्यशास्त्र ३७ अध्यायों का ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में प्राचीन टीकाकारों का मत है कि वह ३६ अध्यायों में विभक्त है। अभिनवगुप्त भी अभिनव भारती में उसे 'षट्त्रिंशक'–३६ अध्याय वाला–ही मानते हैं। किन्तु इसके साथ ही अभिनव ३७ वें अध्याय पर भी 'भारती' लिखते हैं, साथ ही इस अध्याय का अलग से मंगलाचरण इसका संकेत करता है कि अभिनव ३६ अध्यायों की परम्परागत मान्यता को स्वीकार करते हुए भी इस अध्याय की व्याख्या करते हैं। इतना ही नहीं नाट्यशास्त्र के उत्तर व दक्षिण से प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में भी यह भेद पाया जाता है। उत्तर की प्रतियों में ३७ अध्याय हैं, जब कि दक्षिण के हस्तलेखों में ३६ व ३७ दोनों अध्याय एक साथ ही ३६ वें अध्याय में पाये जाते हैं। इसका क्या कारण है? कुछ लोगों के मतानुसार ३६ वें अध्याय को दो अध्यायों में विभक्त करना 'भारती' के रचयिता अभिनवगुप्तपादाचार्य को ही अभीष्ट था, यद्यपि वे पुरानी ३६ अध्याय वाली परिपाटी को सर्वथा भंग नहीं करना चाहते थे। अभिनवगुप्त अपने शैवसिद्धान्तों का मेल नाट्यशास्त्र के ३६ अध्यायों से बिठाकर शैव ३६ तत्त्वों का संकेत करते जान पड़ते हैं। इन तत्त्वों से परस्थित 'अनुत्तर' तत्त्व का संकेत करने के लिए उन्होंने ३६ वें अध्याय में से ही ३७ वें अध्याय की रचना की हो। ३७ वें अध्याय की 'अभिनव–भारती' का मंगलाचरण इसका संकेत दे सकता है–

आकाङ्क्षाणां प्रशमनविधेः पूर्वभावावधीनां धाराप्राप्तस्तुतिगुरुगिरां गुह्यतत्त्वप्रतिष्ठा।
ऊर्ध्वादन्यः परभुवि न वा यत्समानं चकास्ति प्रौढानन्तं तदहमधुनानुत्तरं धाम वन्दे।।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटक व नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का वर्णन हैं। द्वितीय अध्याय में नाट्यगृह की रचना आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय में महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, गुह की पूजा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में देवों के समक्ष अमृतमन्थन और महादेव के समक्ष त्रिपुरदाह नामक रूपकों के अभिनय की कथा है तथा ताण्डव नृत्य के उद्भव और शिक्षण का निरूपण है। पञ्चम अध्याय में पूर्वरंग, नान्दी, प्रस्तावना आदि का वर्णन है, षष्ठ में रस आदि का विशद वर्णन, सप्तम में भावों का, अष्टम में चार प्रकार के अभिनयों के स्वरूप का वर्णन है।। ६–१२ तक आंगिक अभिनय का विस्तृत वर्णन। १३–भारती आदि वृत्तियों और प्रवृत्तियों का निरूपण, १४–१५ वाचिक अभिनय, १६ छन्द, नाट्यलक्षण, अलंकार, काव्य के दोष तथा गुण आदि, १७ भाषाओं के लक्षण, १८ दशरूपकों के लक्षण, १९, २० वस्तु, सन्धि, सन्ध्यंग, भारती आदि वृत्तियों के अंग, २१ आहार्य अभिनय, २२ युवतियों के अलंकार, नायिका की अवस्थाएं २३, नारी की प्रकृति, २४ नायक–नायिका के प्रकार २५ अभिनय सम्बन्धी निर्देश २६–२७ नाट्य–प्रयोग २८–३४ संगीत विषयक, ३५ पात्रों की भूमिका की व्यवस्था, ३६ पूर्व रंग विधान कथा, ३७ नाट्यावतार, नाट्य–माहात्म्य। प्रथम अध्याय के बाद, रंगभूमि–रंगमंच के प्रकार, रंगमंच के विभिन्न अंगों–रंगशीर्ष, रंगमध्य, रंगपृष्ठ, मत्तवारणी, तथा दर्शकों के बैठने के स्थानों का विशद वर्णन है। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में पूर्वरंगविधान का वर्णन है। इसके बाद भरत ने चारों प्रकार के अभिनयों का क्रमशः वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में, सात्त्विक अभिनय का विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति आती है। रसों, भावों, विभावों, अनुभावों व सञ्चारियों का विचार भरत ने यहीं पर किया है। आगे के ६ अध्यायों में, ८ से १३ वें अध्याय तक, आंगिक अभिनय का विवेचन है। १४वें अध्याय से २० वें अध्याय तक वाचिक तथा इसके बाद आहार्य अभिनय की विवेचना की गई है। भरत के इसी विभाजन को लेकर आगे के नाट्यशास्त्री चले हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में एक और बात। कुछ लोगों का यह भी मत है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत न होकर भरत का कोई शिष्य था। यह मत अभिवनगुप्त के समय में भी प्रचलित था। अभिनव ने इस मत का डटकर खण्डन किया है, तथा इस बात को सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है। अपने खण्डन का उपसंहार करते हुए अभिनव ने 'भारती' में लिखा है :–

एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्।

(३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य–(जिनके उल्लेख या उद्धरण तो मिलते हैं किन्तु रचनाएं उपलब्ध नहीं) इस युग में अनेक आचार्य हुए हैं, उदाहरणार्थ कोहल, दत्तिल, शालिकर्ण, बादरायण (बादरि) नखकुट्ट और अश्मकुट्ट आदि का नाम बाद के नाट्य विषयक ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यों के रूप में आता है। पी०वी० काणे ने वामन की काव्यालंकार सूत्र वृत्ति (१.३.७), कुट्टनीमत (५.१२३) तथा अभि० भा (अ० ४) के साक्ष्य के आधार पर विशाखिल नामक एक पूर्ववर्ती आचार्य का भी उल्लेख किया है। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्ती हैं, समकालीन हैं अथवा परवर्ती। नाट्यशास्त्र (३६.६३) में कोहल का उल्लेख भी मिलता है। अभिनव गुप्त ने अनेकशः कोहल का उल्लेख और उसके उद्धरण दिए हैं। भाव प्रकाशन में अनेकशः कोहल के मत उद्धृत किए गए हैं। अभिनव भारती, रसार्णव सुधाकर, कामशास्त्र और कुट्टनी मत में दत्तिल या दत्तकाचार्य का उल्लेख मिलता है। रामकृष्ण कवि ने उनके ग्रंन्थ गन्धर्ववेदसार का भी उल्लेख किया है। सागर नन्दी तथा विश्वनाथ ने अश्मकुट्ट एवं नरवकुट्ट का भी नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। इसी प्रकार अन्य भी कुछ आचार्यों का उल्लेख मिलता हैं। उनकी कृतियां कौन सी थी, उनका क्या समय था ? यह कहना कठिन है।

(४) नाट्य शास्त्र के व्याख्याकार–भरत के नाट्यशास्त्र या सूत्रों पर कई टीकायें लिखी गईं जो नाट्यशास्त्र के विकास में सहायक हुईं। इनमें कई तो अनुपलब्ध हैं। भरतटीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकायें, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिधरकृत टीका उनमें से हैं, जो उपलब्ध नहीं, इनमें से कुछ के उद्धरण व मत 'भारती' में मिलते हैं। म० म० घोष के अनुसार अभिनवगुप्त ने भट्टोदभट्ट के मत को ३ बार, लोल्लट का ११ बार और शंङ्कुक का १५ बार उद्धृत किया है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** की व्याख्या करने वालों में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त प्रसिद्ध हैं। अभिनव ने भी 'भारती' की रचना की है। क्या लोल्लट, शंकुक व भट्टनायक ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्यायें लिखी थीं या स्वतन्त्र ग्रन्थ, नहीं कहा जा सकता।

(२) **लोल्लट** :- अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में भट्ट लोल्लट के मतों का उल्लेख किया है। सम्भवतः लोल्लट ने भरत नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी होगी, जो उपलब्ध नहीं। लोल्लट ने ही सर्वप्रथम भरत के रसपरक सिद्धान्त की व्याख्या की। भरत के प्रसिद्ध सूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** की व्याख्या में उसने 'संयोगात्' से 'कार्यकारणभावरूप संबंध' तथा 'निष्पत्ति' से

'उत्पत्ति' अर्थ लिया। उन्होंने रस की स्थिति रामादि अनुकार्य पात्रों में मानी, न कि नटों या सहृदयों में। लोल्लट मीमासक थे तथा अभिधावादी थे। वे अभिधाशक्ति को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते हैं। उनका मत था कि शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से ठीक उसी तरह हो जाती है, जैसे बाण अकेला ही कवच को भेद, शरीर में घुसकर, प्राणों का अपहरण कर लेता है। मम्मट ने इसी मत को इस प्रकार उद्धृत किया है :– **'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'**। लोल्लट के मत का प्रभाव हद हद तक दशरूपककार धनञ्जय एवं अवलोककार धनिक पर भी पाया जाता है। लोल्लट के समय का पता नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि लोल्लट व्यञ्जनावाद तथा ध्वनिवाद तथा आनन्दवर्धन के बीच के समय में उत्पन्न हुए हैं, अन्यथा वे आनन्दवर्धन के समसामयिक हैं। इस तरह लोल्लट का समय ईसा की नवीं शती माना जा सकता है। कुछ अष्टम शती मानते हैं। जैसा कि लोल्लट के नाम से ही स्पष्ट है, वह काश्मीरी थे।

(३) **शङ्कुक** :- अभिनव ने भारती में ही शङ्कुक के मत का भी उल्लेख किया है। शङ्कुक ने भी भरत पर कोई व्याख्या लिखी होगी। शङ्कुक की भरतसूत्र की व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक नैयायिक थे, तथा उन्होंने विभावादि साधन एवं रसरूप साध्य में अनुमाप्य–अनुमापकभाव की कल्पना की है। इस प्रकार वे रस को अनुमेय या अनुमितिगम्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक कल्पना और करते हैं– 'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना। इस कल्पना के अनुसार नट सच्चे रामादि नहीं हैं, वे 'चित्र में लिखे घोड़े की तरह' राम हैं। इस कल्पना को दशरूपककार ने भी अपनाया है। शङ्कुक ने 'रस' की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है, ठीक वैसे ही जैसे घोड़े के चित्र को देख कर अनुभव होता है। शङ्कुक ने ही सब से पहले लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयों में रसानुभव न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शङ्कुक भी काश्मीरी थे। वे लोल्लट के ही समसामयिक रहे होंगे। राजतरङ्गिणी के मतानुसार शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय काव्य लिखा था, तथा वे काश्मीरराज अजितापीड के राज्यकाल में थे :–

अथ मम्मोत्पलकयोरुदभूद्दारुणो रणः। रुद्रप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।।

कविर्बुधमनःसिन्धुशशाङ्क शङ्कुकाभिधः। यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्।। (रा०त० ४, ७०३-४)

शार्ङ्गधरपद्धति तथा सूक्तिमुक्तावली में शङ्कुरु को मयूर का पुत्र कहा गया है, तथा निम्न पद्य को उसके नाम से उद्धृत किया गया है

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं गाढं प्रेम नव वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।

स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहस्सोढव्य इत्थं शठः।।

क्या ये मयूर 'सूर्यशतक' के रचयिता ही हैं ? यदि ऐसा हो तो शङ्कुक सातवीं शती के आसपास रक्खे जा सकते हैं। किन्तु नाट्यशास्त्री शङ्कुक को इस काल का मानने में आपत्ति है। स्पष्ट है, दोनों शङ्कुक एक नहीं हैं। भरत के व्याख्याकार, अनुमितिवाद के प्रतिष्ठापक तथा भुवनाभ्युदय काव्य के रचयिता शङ्कुक एक ही हैं, और उन्हें नवीं शती का मान सकते हैं।

(४) **भट्टनायक** :- रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं, जिनके मत का विशद उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। अभिनवगुप्त जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यक ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है, साथ ही इन लोगों ने भट्टनायक की रचना 'हृदयदर्पण' का भी निर्देश किया है। भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या भरत के नाट्यशास्त्र की टीका, इस विषय मे दो मत रहे हैं। डॉ० एस० के० दे के मतानुसार हृदयदर्पण टीका न होकर अलंकारशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। हृदयदर्पण उपलब्ध तो नहीं पर सुना जाता है कि इसकी एक प्रति दक्षिण में थी, और उससे स्पष्ट है कि यह नाट्यशास्त्र की टीका ही थी। वह प्रति भी अब उपलब्ध नहीं है। भट्टनायक भी लोल्लट तथा शंकुक, महिमभट्ट एवं कुन्तक की भांति अभिधावादी ही हैं, वे व्यञ्जना वृत्ति या ध्वनि जैसी कल्पना से सहमत नहीं। भट्टनायक आनन्दवर्धन के ही समकालीन हैं। सम्भवतः वे भी आनन्दवर्धन के आश्रय काश्मीरराज अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के ही राजकवि थे। इनका समय नवम, दशम शताब्दी माना जाता है।

भट्टनायक रस के सम्बन्ध में 'भुक्तिवादी' सिद्धान्त के पोषक हैं। वे काव्य में भावकत्व एवं भोजकत्व दो व्यापारों की कल्पना करते हैं। इस पर भट्टनायक 'संयोगात्' का अर्थ 'भाव्यभावक सम्बन्ध' मानते हैं, 'निष्पत्ति' से उनका तात्पर्य 'भुक्ति' (आस्वाद) से है। भट्टनायक रस की स्थिति सहृदय में पूर्णतः सिद्ध करते हैं। वे ही 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक हैं, जिसका विस्तार अभिनव ने किया है। भट्टनायक सांख्यमतानुयायी है, वे अपने रससम्बन्धी सिद्धान्त में सांख्यदर्शन का ही आश्रय लेते हैं। धनञ्जय आदि के मत पर भट्टनायक का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(५) **अभिनवगुप्तपादाचार्य** :- अभिनवगुप्त एक ओर ध्वनिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं, तो दूसरी ओर नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य। इसके अतिरिक्त अभिनव का एक तीसरा भी व्यक्तित्व है, वह है उनका शैव दर्शन के आचार्य का व्यक्तित्व। अभिनवगुप्त

ने ध्वनिवाद या नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखकर टीकाएं लिखी हैं। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन' टीका तथा भरत के नाट्यशास्त्र पर उनकी 'अभिनवभारती' (भारती) अमूल्य ग्रन्थ हैं। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रन्थ हैं, तथापि इनका महत्त्व किन्हीं आकर–ग्रन्थों से कम नहीं, विद्वत्समाज में ये दोनों ग्रन्थ (टीकाएं) अलंकारशास्त्र तथा रसशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अभिनव ने तन्त्रशास्त्र तथा शैव आगम पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके 'तन्त्रालोक' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी 'विमर्शिनी' टीका विशेष प्रसिद्ध हैं। अन्तिम रचना अभिनवगुप्त ने १०१५ ई० में की थी। इनके अतिरिक्त अभिनव ने एक तीसरे ग्रन्थ की भी देन अलंकारशास्त्र को दी थी, ऐसा जान पड़ता है। अभिनवगुप्त की यह तीसरी साहित्यशास्त्रीय रचना 'काव्यकौतुकविवरण' थी जो अब अनुपलब्ध है। अभिनव के गुल ग्रन्थ ४०–४१ के लगभग हैं।

अभिनव के गुरु, पिता, कुल तथा समय के विषय में अभिनव ने स्वयं अपनी रचनाओं में संकेत किया है। अभिनव के पिता नरसिंहगुप्त या चुखुलक थे। उनके गुरु भट्टेन्दुराज तथा भट्टतौत थे। उनके पिता स्वयं शैव आगम के प्रकाण्ड पण्डित तथा शिवभक्त भी थे। गुरु भट्टेन्दुराज कवि भी थे, क्योंकि अभिनव अपने 'लोचन' में उनके पद्यों को उद्धृत करते हैं। भट्टतौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते हैं, सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसाशास्त्र पढ़ा हो। साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज से ही किया होगा।

अभिनवगुप्तपादाचार्य एक ओर शैव दार्शनिक थे, दूसरी ओर साहित्य में व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी। अतः उनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जनावाद की आधारभित्ति पर स्थापित है। वे रस को व्यंग्य मानते हैं भरत सूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्ति' के 'व्यङ्गयव्यञ्जकभावरूपात्' तथा अभिव्यक्ति अर्थ करते हैं। वे रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं तथा रसदशा को शैवों की 'विमर्शदशा' से जोड़ते जान पड़ते हैं। धनञ्जय व धनिक को अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का पता था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों अभिनव के समसामयिक ही हैं। पर, इन्हें आनन्दवर्धन के व्यक्तिवादी मत व रससम्बन्धी मत का पूरा पता था, जो अभिनव से भी पहले रस के व्यंग्यत्व की स्थापना कर चुके थे। तभी तो इन्होंने दशरूपक की कारिका में तथा अवलोकवृत्ति में व्यंजना जैसी तुरीया वृत्ति की कल्पना की, तथा रस के व्यंग्यत्व का डटकर विरोध किया है।

रस की चर्वणा, तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह 'शान्त रस' की स्थापना है। भरत नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों का हवाला है; किन्तु भरत के ही आधार पर अभिनव ने 'भारती में शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है, जो अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त को सर्वथा अभीष्ट थी। धनजंजय व धनिक शान्त जैसे नवम रस को नाट्य में स्थान नहीं देते।

अभिनवगुप्त का समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वभाग है। अभिनव की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी' की रचना १०१५ ई० में हुई थी, इसका निर्देश स्वयं अभिनव ने ही किया है।

इति नवतितमेंशे वत्सरान्ते युगांशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितश्शम्भुपादैः।।

इस पद्य के अनुसार यह रचना कलिसंवत् ४०६० अथवा १०१५ ई० में हुई थी।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त ही मम्मट से लेकर जगन्नाथ पण्डितराज तक मान्य रहा है : संस्कृत के अलंकारशास्त्र व नाट्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की गणना पहली श्रेणी के आचार्यों में होती रही है।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गए स्वतन्त्र ग्रन्थ :– भरत के नाट्यशास्त्र की जटिल एवं विस्तृत सामग्री के सरल संक्षिप्त विवेचन के लिए कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की गई जिनमें दशरूपक अन्यतम है तथा जिसका विशद विवेचन आगे प्रस्तुत है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

(i) नन्दिकेश्वर का अभिनय दर्पण :– संगीत रत्नाकर (१.४.६) में मतंग के साथ नन्दिकेश्वर के मत का भी उल्लेख किया गया है, नन्दिमत या नन्दिकेश्वर के अन्य भी उल्लेख मिलते हैं। इनके समय आदि के विषय में विवाद है। रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दीश्वर संहिता के [illegible] एक ही व्यक्ति है। दूसरे दोनों को भिन्न मानते हैं। मतंग का समय चतुर्थ शताब्दी के लगभग है। [illegible] का समय तृतीय शती के लगभग हो सकता है। डॉ० मनमोहन घोष ने अभिनय दर्पण का सम्पादन किया तथा इसके समय की परीक्षा करते हुए युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर निर्धारित किया कि यह १३वीं शती के आरम्भ में विद्यमान था किन्तु ५वीं शती से पूर्व विद्यमानता में सन्देह है। इसमें कुल ३८४ श्लोक हैं। ग्रन्थ का विभाजन अध्यायों आदि में नहीं है। प्रारम्भ में शिव को नमस्कार कर नाट्य की प्रशंसा, तदनन्तर नाट्य, नृत्य, नृत्त, सभा पात्रादिका लक्षण, पूर्व रंग का संक्षिप्त निरूपण, फिर आंङ्गिक अभिनय का विशद विवेचन है और यही मुख्य विषय है। इसका प्रतिपाद्य विषय ना० शा० अष्टम, नवम अध्याय के

समान है। इस पर ना०शा० का प्रभाव है या ना० शा० पर इसका कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर का एक अन्य ग्रन्थ भरतार्णव है अंग्रेजी व तमिल अनुवाद सहित तंजोर सरस्वती मण्डल सीरीज से प्रकाशित हुआ है जिसमें नर्तन का विवेचन है।

(ii) **सागरनन्दी का नाटकलक्षण रत्नकोष** :– इसका समय क्या है ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इसका समय धनञ्जय के आसपास ही है। इस ग्रन्थ में दशरूपक के समान ही नाट्य सम्बन्धी विवेचन है। कहीं–कहीं अभिनय सम्बन्धी ग्रन्थ भी है। अनेक स्थलों पर नाट्य शास्त्र की सामग्री को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया है। इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें हर्षवार्त्तिक, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरि नामक नाट्यकारों का उल्लेख किया गया है। आचार्य विश्वेश्वर का अनुमान है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाट्य दर्पण में नाटकलक्षण रत्नकोष के कुछ मतों की ओर संकेत किया गया है। नाटक लक्षण रत्नकोष को सर्वप्रथम सिलवा लेवी ने (१९२२) में प्रकाशित कराया था।

(iii) **रामचन्द्र-गुण-चन्द्र का नाट्यदर्पण** :– नाट्यदर्पण के ये दोनों रचयिता हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनका समय १२वीं शताब्दी माना जा सकता है। यह कहा जाता है कि धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में यह ग्रन्थ लिखा गया। यह ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति के रूप में है। समस्त ग्रन्थ चार विवेकों में विभक्त है। इसमें नाट्यसम्बन्धी विषयों का विशद विवेचन है। नाट्यशास्त्र के साथ–साथ अभिनवभारती का भी पूरा उपयोग किया गया है। नाट्यविषय के अन्य लेखकों के मतों की भी आलोचना की गई है। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यहां १३ बार 'अन्ये', 'केचित्' आदि शब्दों से धनञ्जय के मतों का उल्लेख किया गया है। नाट्य शास्त्र के ग्रन्थों में इसका विशेष महत्त्व इस प्रकार है : (१) नाटिका तथा प्रकरणिका को जोड़कर १२ रूपक–भेद मानना। (२) रसों का सुखात्मक तथा दुःखात्मक दो वर्गों में विभाजन–शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत और शान्त सुखात्मक तथा करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स दुःखात्मक (३) नौ रसों के अतिरिक्त, स्नेह रस, व्यसन रस आदि की कल्पना (४) नाट्य सम्बन्धी लक्षणों में नवीन दृष्टि (५) नाट्यदर्पण में कई प्राचीन एवं अनुपलभ्य काव्यों तथा नाटकों के उद्धरण पाये जाते हैं। विशाखदेव या विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्तम् जैसे कई महत्त्वपूर्ण अनुपलब्ध नाटकों का पता इसी ग्रन्थ से मिलता है। कहा जाता है रामचन्द्र ने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें कई नाटक तथा काव्य ग्रन्थ थे। रामचन्द्र के तीन चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ऑरिण्टल सीरीज से हुआ।

(iv) **शारदातनय का भाव प्रकाशन** :– पी० वी० काणे के अनुसार इसका समय ११७५ तथा १२५० के मध्य है। यह अलंकारशास्त्र और नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्यसम्बन्धी विषयों का निरूपण किया गया है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लिया है और अपनी मौलिक दृष्टि भी रखी है। यहाँ भरत के अतिरिक्त कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु आदि के मतों का भी उल्लेख किया गया है। भावप्रकाशन में नाट्य की रचना, नायक नायिका तथा रसों का ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसका दस अधिकारों में विभाजन किया गया है।

(v) **शिङ्गभूपाल की नाटक परिभाषा** :– इसका समय १३३० ई० के लगभग है। शिङ्गभूपाल के रसार्णव सुधाकर तथा नाटक–परिभाषा दो ग्रन्थ हैं। नाटक परिभाषा में केवल नाट्य विषय का वर्णन किया गया है तथा रसार्णव सुधाकर में काव्य के अन्य विषयों के साथ–साथ नाट्य का भी संक्षिप्त वर्णन है।

(vi) **रूपगोस्वामी की नाटक-चन्द्रिका** :– इसका समय १७वीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि उन्होंने भरत तथा रसार्णव सुधाकर का अनुसरण किया है और साहित्य दर्पण के मतों का निराकरण किया है। इसमें नाट्य सम्बन्धी सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनके दो और ग्रन्थ हैं भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि।

(vii) **सुन्दरमिश्र का नाट्यप्रदीप** :– सुन्दर मिश्र का समय १७ वीं शताब्दी का आरम्भ है। नाट्यप्रदीप का रचनाकाल १६१३ ई० है। यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त त्र्यम्बक के नाटकदीप, रुय्यक की नाटक मीमांसा, पुण्डरीक का नाटक लक्षण, त्रिलोचनादित्य का नाट्यालंकार इत्यादि ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं।

(६) **काव्यशास्त्र के ग्रन्थ जिनमें नाट्य सम्बन्धी विवेचन है** :– ऐसे ग्रन्थों में भोजराज के ग्रन्थ प्राचीन कहे जा सकते हैं

(i) **भोजराज का शृंगारप्रकाश तथा सरस्वती कंठाभरण** :– भोजराज का समय ११वीं शताब्दी है। शृंगार प्रकाश में ३६ प्रकाश हैं, ११वें प्रकाश से अन्त तक रस तथा भावों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सरस्वती कण्ठाभरण में ५ परिच्छेद हैं। इसके पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक–नायिका, उनके भेद और विशेषताओं, मुख आदि सन्धियों तथा भारती आदि चार वृत्तियों का निरुपण किया गया है।

(i) **हेमचन्द्र सूरि का काव्यानुशासन** :– इनका समय १२वीं शताब्दी है। काव्यानुशासन का रचनाकाल ११३६–११४३ ई० माना जाता है यह ग्रन्थ संकलन मात्र है। समस्त ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिनमें काव्य के सभी अंगों का वर्णन किया गया है। नाट्य सम्बन्धी विवेचन केवल तीन अध्यायों में है। द्वितीय अध्याय में रस, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्विक भावों का विवेचन है। पंचम में नायक–नायिका तथा अष्टम में दृश्य और श्रव्य काव्य, उनके भेद एवं लक्षण आदि का निरूपण किया गया है।

(ii) **विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण** :– इसका समय १४वीं शताब्दी माना जाता है। उदाहरणों की लेखक ने स्वयं रचना की है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिनमें प्रथम प्रकरण में नायक, तृतीय में नाटक तथा चतुर्थ में रस का विवेचन है, इसमें दशरूपक का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है।

(iv) **विश्वनाथ का साहित्य दर्पण** :– विश्वनाथ का समय १४वीं शताब्दी माना जा सकता है क्योंकि साहित्य दर्पण में उदाहृत पद्यों में एक पद्य अलाउद्दीन–सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी–(सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः। अलावद्दीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः।।) का वर्णन मिलता है। विश्वनाथ महाकवि चन्द्रशेखर के पुत्र थे जो कलिंग राज के सन्धि विग्रहिक थे। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के अतिरिक्त कई काव्य नाटकादि की रचना की थी, जिनका उल्लेख साहित्य दर्पण में मिलता है। १३००–१३८४ के मध्य साहित्य दर्पण की रचना की होगी। इसमें नाट्य सम्बन्धी विषयों का भी विवेचन किया गया है। इसमें १० परिच्छेद हैं। तृतीय परिच्छेद में नायक नायिका तथा रस का विवेचन किया गया है। इसके नाट्य सम्बन्धी विवेचन में भरत के नाट्यशास्त्र की सामग्री का उपयोग करते हुए दशरूपक और इसकी टीका का पर्याप्त आधार लिया गया है। धनिक के नाम से दशरूपक को भी उद्धृत किया गया है। साहित्यदर्पण में दशरूपक की अपेक्षा कुछ अधिक नाट्य विषयों का निरुपण किया गया है जैसे नाट्य लक्षण और नाट्यालंकार का विवेचन किया गया है। विश्वनाथ व्यंजनावादी है तथा रस के विषय में उनके सिद्धान्त अभिनवगुप्त के मत की ही छाया हैं। वे एक–दसवें रस–वात्सल्य रस की स्थापना करते हैं।

संस्कृत के नाटकों व नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थों के इतिहास पर दृष्टिपात करते समय यह पता चलता है कि १३–१४ वीं शती के बाद सैंकड़ों नाटकों की रचना हुई पर एक भी ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर नहीं लिखा गया। इसका क्या कारण है ? नाटक या दृश्यकाव्य वस्तुतः रंगमंच की वस्तु है, खाली पढ़ने की नहीं। यवनों के भारत में आने से भारत की कला को कुछ धक्का अवश्य पहुँचा, विशेषकर संस्कृत दृश्यकाव्यों के रंगमंच को। साथ ही कवियों की प्रवृत्ति भी पाण्डित्यप्रदर्शन व जटिलता की ओर इतनी हो गई कि रंगमंच से धीरे–धीरे सम्पर्क छूटता गया। इसके बीज हम मुरारि के अनर्घराघव में ही देख सकते हैं। दूसरी ओर रंगमंच का ध्यान रखने वाले नाटकों में से भी कई नाट्यशास्त्र में वर्णित पञ्चसन्धियों के अंगों के निर्वाह के फेर में इतने पड़ गये कि स्वतन्त्र कला में ये बाधक से हो गये। भट्टनारायण के वेणीसंहार तथा हर्ष की रत्नावली में इन सन्ध्यंगों का पूर्ण निर्वाह देखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि यह निर्वाह हर्ष की रत्नावली के सौन्दर्य को क्षुण्ण नहीं कर पाया है। साथ ही परम्परावादी भारतीय पण्डितों व कवियों ने भरत या अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्रसम्बन्धी तथा रससम्बन्धी मान्यताओं को अन्तिम मान लिया था। वे इन्हीं का अध्ययन, मनन व विवेचन करते रहे। नाट्यशास्त्र व रसशास्त्र में नई कल्पना, नई उद्भावना, नये विचारों के प्रदर्शन की लगन न रही। फलतः नये ग्रन्थ न बन पाये। यह स्पष्ट है कि 'भारती' के बाद के नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ या तो भरत के नाट्यशास्त्र के संक्षेप हैं, या दशरूपक की नकल। रससिद्धान्त में वे अभिनव के पृष्ठगामी हैं। साथ ही ऐसे ग्रन्थों की गणना एक, दो या अधिक से अधिक तीन ही हैं। इस गणना में कोरे रस व नायिकाभेद के संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार भरत के परवर्ती नाट्य ग्रन्थों में दशरूपक ही सबसे महत्त्वपूर्ण और अन्य नाट्यग्रन्थों का आधार रहा है।

(६) **धनञ्जय** :- प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय विष्णु के पुत्र थे। ये मालवा के परमारवंश के राजा मुञ्ज के राजकवि थे, जिनका समय ९७४–९९५ ई० माना जाता है। धनञ्जय ने अपने पिता व आश्रयदाता का निर्देश अपने ग्रन्थ के ही अन्त में किया है :–

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः। आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदध्यभाजा दशरूपमेतत्।।

यह माना जाता है कि गौडवहो के लेखक मुञ्ज से धनञ्जय के आश्रयदाता मुञ्ज भिन्न हैं। गौडवहो के लेखक मुञ्ज महाराज यशोवर्मन की सभा के पण्डित थे। उनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है जबकि मुञ्ज का समय दशम शताब्दी। एपिग्राफिका इण्डिका (१.२२६) से विदित होता है कि मुञ्जराज के लिए विभिन्न अभिलेखों में अनेक नामों तथा उपाधियों का प्रयोग किया गया है जैसे वाक्पति, वाक्पतिराज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ इत्यादि। धनिक ने भी 'प्रणयकुपिताम्' इत्यादि पद्य को एक स्थल पर (४.५८) वाक्पति के नाम से और दूसरे स्थल पर (४.६०) मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है। बूहलर के अनुसार वे अपने पिता (सीयक) के बाद ९७४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और ९९५ तक राज्य करते रहे। ९९५ में चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने उन्हें पराजित कर उनकी हत्या कर दी। (कीलहॉर्न एपिग्राफिका इन्डिका २.२१४.२१५)। धनञ्जय के दशरूपक का भी यही समय रहा होगा। अन्य प्रमाणों के

आधार पर भी इसकी पुष्टि होती है। दशरूपावलोक टीका में रुद्रट की एक कारिका उद्धृत की गई है तथा दश० की कारिका भी रुद्रट के मन्तव्य की ओर संकेत है। ध्वन्यालोक की भी एक कारिका धनिक ने उद्धृत की है। पी०वी० काणे के अनुसार रुद्रट का समय ८५० ई० से पूर्व तथा ध्वन्यालोक का ८६०–८६० के मध्य है, अतः दशरूपक की रचना इसके बाद ही हुई होगी।

धनञ्जय की 'दशरूपक' की कारिकाएं भरत के नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षेप है। यही कारण है कि दो एक स्थानों पर किये गये कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त, जो प्रमुखतः नायिकाभेद तथा शृंगार रस के विषय में हैं–धनञ्जय भरत के नाट्यशास्त्र के ही आश्रय लेते हैं। वैसे धनञ्जय आंगिक, वाचिक या आहार्य अभिनय के उस विस्तृत वर्णन में नहीं जाते जो हमें नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। धनंजय का प्रमुख लक्ष्य वस्तु, नेता तथा रस के विश्लेषण एवं रूपकों के प्रमुख दशभेदों के वर्णन तक ही सीमित है। धनञ्जय को अभीष्ट भी यही था, क्योंकि उनका लक्ष्य तो केवल **'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि-'** यही रहा है। धनञ्जय के नाटकसम्बन्धी, रससम्बन्धी या अन्य मतों का विशद विवेचन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

धनञ्जय के दशरूपक तथा इनके भाई के द्वारा इसी के कारिकाभाग पर लिखी वृत्ति अवलोक का एक विशेष महत्त्व है। धनञ्जय व धनिक के वस्तुविभाग, पाँच अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धियों के अंगविभाजन, अर्थोपक्षेपकों का वर्णन, नायक व नायिकाओं का अवस्थानुरूप मनोवैज्ञानिक विभाजन, उनके सहकारियों का वर्णन, रस व उनके साधनों के विश्लेषण का प्रभाव बाद के अलंकारशास्त्र व नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय का नायकनायिकाभेद इसका स्पष्टतः ऋणी है। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद का नायक–नायिकाभेद तथा षष्ठ परिच्छेद का दृश्यकाव्यविवेचन दशरूपक से भी प्रभावित है। यहीं तक नहीं, भानुदत्त की रसमञ्जरी, रसतरंगिणी, भावमिश्र की रससरसी आदि रस व नायिकाभेद के ग्रन्थ भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं। १६वीं शताब्दी का गुणचन्द्र व रामचन्द्र का लिखा हुआ नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' भी दशरूपक का किसी हद तक उपजीव्य बनाकर चलता है। दशरूपक पर धनिक, बहुरूपभट्ट, नृसिंहभट्ट, देवपाणि क्षोणीधरमिश्र, तथा कूरवीरराम की टीकाएँ हैं। इनमें धनिक की अवलोक नामक वृत्ति ही प्रसिद्धि पा सकी है।

(७) **धनिक** :- *धनिक 'दशरूपक' कारिकाओं के रचयिता धनञ्जय के ही छोटे भाई थे। अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त की* पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि विष्णु के पुत्र थे–

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः।।

कुछ लोगों के मतानुसार कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं। कई अलंकारग्रन्थों में दशरूपक को धनिक की रचना बताया जाता है। विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि ने दशरूपक की कारिकाओं को धनिक के नाम से उद्धृत किया है। यही कारण है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार की अभिन्नता वाला भ्रान्त मत प्रचलित हो गया है। अवलोक में ऐसे कई स्थल हैं जो इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हैं कि कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दो भिन्न–भिन्न व्यक्तियों की रचनाएं हैं।

धनिक के मतों का विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। वैसे धनिक पक्के अभिधावादी तथा व्यंजनाविरोधी हैं। वे रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के मत को मानते हैं; यद्यपि उस मत में लोल्लट व शंकुक के मतों का कुछ मिश्रण कर लेते हैं। वे शान्त रस को नाटक में स्थान नहीं देते। उनके इन सिद्धान्तों को आगे देखेंगे।

धनिक ने 'अवलोक' के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र पर एक दूसरे ग्रन्थ की भी रचना की थी, यह 'काव्यनिर्णय' था। धनिक अपनी वृत्ति के चतुर्थ प्रकाश में स्वयं इस ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए इससे ७ कारिकाएं उद्धृत करते हैं – **'यथावोचाम काव्यनिर्णये–'** सम्भवतः यह ग्रन्थ कारिकाओं में था। धनिक स्वयं कवि भी थे। वे स्थान–स्थान पर उदाहरणों के रूप में अपने पद्यों को भी उद्धृत करते हैं।

धनञ्जयकृत कारिकाएँ व धनिककृत वृत्ति

(ग्रन्थ का संक्षेप)

दशरूपक कारिकाओं में लिखा हुआ ग्रन्थ है। धनंजय ने इसके कारिका भाग की रचना की है। इसकी 'अवलोक' नामक वृत्ति के रचयिता धनिक हैं। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त ग्रन्थ है। इसके प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन, कथावस्तु या वस्तु के भेद, संध्यंगों का वर्णन, तथा अर्थोपक्षेपकों का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाश मे नायक तथा नायिका के भेद, उनके गुण 'ज्ञेय' या तथा उनके सहचरों का वर्णन है। इसी प्रकाश में नाटकीय वृत्तियों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाश में दशरूपकों में प्रमुख नाटक का विशद रूप से सलक्षण विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर अन्य नौ रूपकों के लक्षणों का निर्देश है। चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकाश के कारिका भाग में क्रमशः ६८, ७२, ७६ तथा ८४ कारिकाए हैं। इस गणना में अन्त के दो पद्य प्रशस्ति के पद्य छोड़ दिये गये हैं। कारिका भाग में ७ पद्यों को छोड़कर बाकी सारी कारिकाएं अनुष्टुप् छन्द में हैं।

धनिककृत वृत्ति गद्य में है। इसी वृत्तिभाग में लक्षणों के उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों से पद्यों को उद्धृत किया गया है। अवलोक के अभाव में दशरूपक की कारिकाएं अपूर्ण हैं, इसी से दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ पर सावलोक दशरूपक की रूपरेखा संक्षेप में दे देना आवश्यक होगा।

प्रथम प्रकाश :– आरम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् कारिकाकार ने दशरूपक की रचना के उद्देश्य को बताया है। यहीं वह यह भी संकेत करता है कि दशरूपक कुछ नहीं भरत के नाट्यशास्त्र के मतों का ही संक्षेप है। तदनन्तर वह 'रूपकों में रस ही प्रमुख वस्तु है' इस मत का निर्देश करता है रूपकों के फल की भांति, इस ग्रंथ का भी फल 'रस' सिद्ध हो जाता है। भारतीय शास्त्रपरम्परा में शास्त्र के ४ अनुबन्ध माने जाते हैं, इन्हें 'अनुबन्धचतुष्ट्य कहते हैं। ये अनुबन्ध हैं :– विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। दशरूपककार ने आरम्भ में ही इनका विवेचन किया है–दशरूपक का विषय क्या है, इसके अध्ययन का अधिकारी कौन है, इस ग्रन्थ का विषय से क्या सम्बन्ध है, तथा इस ग्रंथ--रचना का क्या प्रयोजन है। प्रथम प्रकाश की चतुर्थ कारिका में धनञ्जय ने बताया है कि इस ग्रन्थ का विषय नाट्यवेद है। वह नाट्यवेद, जिसकी रचना में विरञ्चि, शिव तथा पार्वती ने योग दिया है, जिसकी प्रयोग रचना भरतमुनि ने की है। ऐसे दिव्य, विशाल नाट्यवेद का संक्षेप, इस ग्रंथ का विषय है, और उसका संक्षिप्त रूप रखना धनञ्जय का अभीष्ट प्रयोजन।

उद्धृत्योधृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि- श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणीलास्यस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्त्तुमीष्टटः नाट्यानां किंतु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।।

इसके बाद की कारिका में धनञ्जय ने अधिकारी का संकेत करते हुए बताया है कि पण्डित लोग तो भरत नाट्यशास्त्र ही पढ़ सकते हैं। हाँ, मन्दबुद्धि वहाँ अपनी गति नहीं पाते इसलिए उन लोगों के लिए ही नाट्यवेद का संक्षेप किया गया है।

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः। तस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा।।

आगे चलकर धनञ्जय नाट्यवेद, – साथ ही दशरूपक – के सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए उसके प्रयोजनरूप 'आनन्दास्वाद' का संकेत करते हैं।

अनुबन्धचतुष्टय के प्रकाश के बाद कारिकाकार प्रस्तुत विषय की ओर बढ़ते हैं। आरम्भ में नाट्य, रूप तथा रूपक की परिभाषा दी गई है, तथा रूपकों के दश भेदों का उद्देश–नाममात्र के द्वारा उनका संकीर्तन–किया गया है। इनके लक्षण आगे तृतीय प्रकाश में किये गये हैं। इसके बाद नृत्य तथा नृत्त, के परम्परा भेद व इनके प्रकारों का संकेत है, क्योंकि वे रूपकों के अन्तर्गत प्रयुक्त होते हैं, उसके उपकारक व शोभाविधायक हैं।

तदनन्तर रूपक के ३ भेदकों--वस्तु, नेता तथा रस का निर्देश कर वस्तु की विवेचना आरम्भ की जाती है। वस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक दो भेद बताकर पताका के प्रसंग में पताकास्थानकों का वर्णन किया गया है। फिर वस्तु के भेदों तथा उसकी पांच अर्थप्रकृतियों, पांच अवस्थाओं, पांच सन्धियों, ६४ संध्यंगों का सलक्षण वर्णन है। फिर विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य तथा अंकावतार इन ५ अर्थोपक्षेपकों का निर्देश है।

द्वितीय प्रकाश में रूपकों के दूसरे भेदक नायक या नेता का विवेचन है। नायक के गुणों का उल्लेख करने पर उसके ४ भेद, धीरोदात्त, धीरशान्त, धीरललित तथा धीरोद्धत के लक्षण उपक्षिप्त किये गये हैं। इसके बाद पताकानायक--पीठमर्द तथा अन्य नेतृसहचरों का वर्णन है। तदनन्तर नायक के सात्त्विक गुणों का सलक्षण वर्णन है। नायक के बाद नायिका का विवेचन प्राप्त हुआ है। नायिका के तेरह भेदों का सलक्षण वर्णन करते हुए उसके अवस्थानुरूप स्वाधीनभर्तृकादि आठ भेदों का भी लक्षण किया गया है। तब नायिका के बीस अलंकारों--शारीरिक, अयत्नज, तथा स्वभावज अलंकारों का वर्णन मिलता है। इसके बाद नायक के परिच्छद (Paraphernalia) का वर्णन कर उसके व्यापाररूप चार नाट्यवृत्तियों--कैशिकी सात्त्वती, आरभटी तथा भारती-- का निर्देश किया गया है। इसी सम्बन्ध में प्रथम तीन वृत्तियों के अंगों का सलक्षण वर्णन है। तदनन्तर कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे इसका उल्लेख है।

तृतीय प्रकाश में काव्य की स्थापना या प्रस्तावना के प्रकारों का वर्णन है। यहीं भारती वृत्ति तथा उसके अंगों का भी वर्णन है। तदनन्तर प्रस्तावना के तीन प्रकारों--कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा अवलगित का निर्देश है। इसके बाद तेरह वीथ्यङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकाश में रूपकों के प्रकरणादि अन्य भेदों का लक्षण बताया गया है।

दशरूपक के चौथे प्रकाश का विशेष महत्त्व है। इस प्रकाश में रस की विवेचना की गई है। रस की परिभाषा बताने के बाद उसके साधनों--विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अवलोककार ने उन्हें सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। तदनन्तर स्थायीभाव के स्वरूप का वर्णन है। यहीं वृत्तिकार ने रसविरोध तथा भावविरोध के सम्बन्ध में अपने

मत उपन्यस्त किये हैं। इसके बाद आठ भावों तथा आठ रसों का उल्लेख करते हुए 'शम' नामक स्थायी भाव की स्थिति [illegible] में खण्डन किया गया है। इसी प्रसंग में रस के व्यंग्यत्व वाले ध्वनिवादी सिद्धान्त का डटकर खण्डन किया गया है। ध्वनिकार के मतों को उदाहृत करके वृत्तिकार उनके व्यञ्जना–वृत्ति वाले मत का खण्डन करता है, तथा यह सिद्ध करता है कि व्यंग्यार्थ जैसा कोई वस्तु है ही नहीं, वह सब तात्पर्यार्थ ही है। यहीं वह रस के भावनावादी सिद्धान्त पर जोर देता है तथा विभावादि को कारक एवं रस को भाव्य मानता है। रस के स्वरूप तथा भेदों की विवेचना करने के बाद ग्रन्थ की परिसमाप्ति हो जाती है।

यहाँ दशरूपककार के कारिका भाग तथा वृत्तिभाग के विषय का संक्षेप देने की चेष्टा की गई है। दशरूपककार व वृत्तिकार के नाट्यशास्त्र एवं रस सम्बन्धी अभिनव सिद्धान्तों या मान्यताओं का विशद विवेचन अगले भाग में किया जायगा।

(४)

रूपक, उनके भेद व भेदक तत्त्व

अंग्रेजी में जिस अर्थ में 'ड्रामा' (Drama) शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य में 'रूपक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। सामान्यतः अधिकतर इस आंग्ल शब्द का अर्थ 'नाटक' शब्द के द्वारा किया जाता है, किन्तु नाटक रूपकों का एक भेदमात्र है वह रूपकों के दस प्रकारों में से एक प्रकार है। वस्तुतः यह प्रकार रूपक का प्रमुख भेद है। जब हम काव्य की विवेचना करने बैठते हैं, तो देखते हैं कि काव्य के दो प्रकार हो सकते हैं–एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। पहला काव्य सुनने या पढ़ने की वस्तु है इसमें श्रवणेन्द्रिय के द्वारा बुद्धि एवं हृदय का सम्पर्क काव्य के साथ होता है। दूसरा काव्य मुख्य रूप से देखने की वस्तु है। रस यहां भी पात्रों के संलाप में श्रव्यत्व रहता है। श्रव्य काव्य का कोई रंगमंच नहीं, वह अध्ययनकक्ष की वस्तु है, जब कि दृश्यकाव्य रंगमंच की वस्तु है, उसका लक्ष्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों का मनोरंजन, उनमें रसोद्बोध उत्पन्न करना ही है। यही दृश्य काव्य रूपक कहलाता है। इसे 'रूपक' इसलिए कहा जाता है कि इसमें नट पर तत्तत् पात्र का, रामादि का आरोप कर लिया जाता है।

प्रमुख रूप से रूपक के दस भेद किए गए हैं। वैसे तो रूपकों से ही सम्बद्ध १८ उपरूपक माने जाते हैं और भरत तथा विश्वनाथ ने उनका उल्लेख किया है, किन्तु धनञ्जय व धनिक ने उपरूपकों का वर्णन नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि तृतीय प्रकाश में प्रसंगवश उपरूपक के एक प्रमुख भेद–नाटिका–का विवेचन मिलता है। प्रकरणिका, भाणिका, हल्लीश, श्रीगदित रासक आदि दूसरे उपरूपकों का वहां कोई संकेत नहीं। वस्तुतः इनमें से कई भेद रूपकों के ही अवान्तर रूप हैं और कुछ भेद ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध काव्य से न होकर प्रमुखतः संगीत–कला व नृत्य–कला से है। रूपकों के ये दस भेद–वस्तु, नेता, तथा रस के आधार पर किये जाते हैं। किसी एक रूपक प्रकार की वस्तु, उसका नायक–नायक की प्रकृति, तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे अन्य प्रकारों से भिन्न करता है। इसी प्रकार इन दसों रूपकों में से प्रत्येक एक दूसरे से, वस्तु, नेता, व रस की दृष्टि से भिन्न है। वे दस रूपक हैं नाटक प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसममवकारडिमाः। ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।

दशरूपककार की पद्धति का वर्णन करते हुए ठीक यह होगा कि पहले इन तीनों भेदकों–वस्तु, नेता तथा रस–का विश्लेषण करें फिर प्रत्येक रूपक की विवेचना करें। इन तीन भेदकों के विषय में अधिकतर यह माना जाता है कि ये नाटक के तीन तत्त्व हैं ठीक वैसे ही जैसे अरस्तू ने रूपक–प्रमुख रूप से त्रासद (Tragedy) – के ६ अंग माने हैं। अरस्तू के मतानुसार रूपक के छः अंग हैं १. इतिवृत्त, २. आचार, ३. वर्णनशैली, ४. विचार, ५. दृश्य तथा ६. गीत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें तत्व मानने से सहमत नहीं। वे इन्हें केवल 'भेदक' कहना ठीक समझते हैं। किसी रूपक के तत्त्व उनके मत से १. कथा, २. संवाद और ३. रंगनिर्देश ये तीन हैं। इन्हीं तीनों में अरस्तू के रूपक के छहों अंग अन्तर्भावित हो जाते हैं। यहां भेदकों का ही वर्णन करना अभीष्ट है।

(१) **कथा, वस्तु या इतिवृत्त** :– रूपकों का पहला भेदक वस्तु है। इसे ही कथा, इतिवृत्त, कथावस्तु आदि नाम से भी पुकारा है वस्तु दो प्रकार की होती है, एक आधिकारिक, दूसरी प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु मूल वस्तु तथा प्रासंगिक कथावस्तु गौण होती है। आधिकारिक वस्तु की यह संज्ञा इसलिए की गई है, कि इसका सम्बन्ध 'अधिकार' नायक के फलस्वामित्व, फल प्राप्त करने की योग्यता से है। आधिकारिक वस्तु रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, वह नायक के जीवन की [illegible] महासरिता से सम्बद्ध है, जो निश्चित फल की, निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है। प्रासंगिक वस्तु इसी महासरिता में गिरने वाले प्रवाह में अपनापन खो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु को गति देने वाले क्षुद्र नदी, नद व नाले हैं। उदाहरण के लिए रामायण की वस्तु में रामचन्द्र की कथा आधिकारिक वस्तु है, सुग्रीव या शबरी की कथा प्रासंगिक।

प्रासंगिक वस्तु के भी दो भेद किए जाते हैं–पताका तथा प्रकरी। जो कथा काव्य या रूपक में बराबर चलती रहती है–सानुबन्ध होती है–उसे पताका कहते हैं। इस पताका कथावस्तु का नायक अलग से होता है, जो आधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है, तथा उससे गुणों में कुछ ही न्यून होता है। इसे 'पताका–नायक' कहते हैं। उदाहरणार्थ, रामायण का सुग्रीव, या मालतीमाधव का मकरन्द पताका नायक है, तथा उनकी कथा पताका। जो कथा काव्य या रूपक में कुछ ही काल तक चलकर रुक जाती है, वह 'प्रकरी' नामक प्रासंगिक कथावस्तु होती है। रामायण की शबरी वाली कहानी 'प्रकरी' है। पताका व प्रकरी आधिकारिक कथा के प्रवाह में ही योग देती हैं। सुग्रीव व शबरी की कहानियां राम–कथा को आगे बढ़ाने में सहकारी सिद्ध होती हैं।

इस इतिवृत्त के मूल तथा प्रकृति के विषय में भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में संकेत दिया गया है। इतिवृत्त मूल की दृष्टि से तीन तरह का होता है :– १. प्रख्यात, २. उत्पाद्य तथा ३ मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण या बृहत्कथादि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होता है। इस प्रकार का इतिवृत्त प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, भवभूति के उत्तररामचरित तथा मुरारि के अनर्घराघव की कथा रामायण से ली गई है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण से गृहीत है। भास के स्वप्नवासदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध हैं। इनका मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी है। नाटक के लिए यह परमावश्यक है कि उसका वृत्त प्रख्यात हो। दशरूपककार ने इतिवृत्त के मूल के विषय में लिखते हुए कहा है :–

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं, रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च।

आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या- च्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः।।

प्रख्यात इतिवृत्त के निर्वाह में कवि या नाटककार को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। वह कथा के प्रख्यात इतिवृत्त में अपनी कल्पना के अनुसार हेरफेर करके उसकी वास्तविकता को नहीं बिगाड़ सकता। ऐसा करने से सामाजिकों की वृत्ति को दुःख होता है। उदाहरण के लिए बंगाली कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनादवध' में मेघनाद को उच्च आदर्श रूप में उपस्थित करना प्रख्यात इतिवृत्त को ठेस पहुंचाना है। इसी तरह का हेरफेर कथा के प्रख्यात तत्त्व को क्षुण्ण करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि प्रख्यात इतिवृत्त में कोई हेरफेर कर ही नहीं सकता। यदि प्रख्यात इतिवृत्त की गति कुछ ऐसी हो कि वह नायक के गुणों, उसके धीरोदात्तत्व में बाधक होती हो, तो ऐसी दशा में रस के अनौचित्य दोष को हटाने के लिए कथा के उस अंश में कवि मजे से परिवर्तन कर सकता है। शकुन्तला नाटक में विवाह के बाद भी शकुन्तला को भूल जाने की दुष्यन्तवाली घटना पद्मपुराण में है। वहां दुर्वासाशाप का कोई हवाला नहीं। यह घटना दुष्यन्त के कामुकत्व को स्पष्ट कर उसके चरित्र को नीचे गिरा देती है। कालिदास ने दुष्यन्त के धीरोदात्तत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दुर्वासाशाप की कल्पना कर ली है। इसी तरह भवभूति ने भी 'महावीरचरित' में रामभद्र के धीरोदात्तत्व की रक्षा के लिए बालिवध की प्रसिद्ध घटना में हेरफेर कर दिया है। प्रख्यात घटना है कि राम ने बालि का वध छल से किया था, पर यह रस के अनुकूल नहीं पड़ता, न राम के उदात्त चरित्र के ही। अतः भवभूति ने यह कल्पना की है कि बालि स्वयं रामचन्द्र से लड़ने आया और मारा गया।

उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं का कल्पित होता है–'उत्पाद्यं कविकल्पितम्'। इस इतिवृत्त का प्रयोग कई प्रकार के रूपकों में देखा जाता है, यथा प्रकरण, भाण, प्रहसन। शूद्रक के मृच्छकटिक, भवभूति के मालतीमाधव आदि की कथा उत्पाद्य ही है।

मिश्र इतिवृत्त की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है पर उसमें बहुत सा अंश कल्पित होता है। रूपक के समस्त इतिवृत्त को कुछ स्थितियों में बांट लेते हैं। इतिवृत्त को पांच अर्थप्रकृतियों, पांच अवस्थाओं तथा पांच सन्धियों में विभक्त किया जाता है।

	अर्थप्रकृतियाँ	**अवस्थाएँ**	**सन्धियाँ**
१.	बीज	आरम्भ	मुख
२.	बिन्दु,	यत्न	प्रतिमुख
३.	पताका,	प्राप्त्याशा	गर्भ
४.	प्रकरी,	नियताप्ति	विमर्श
५.	कार्य,	फलागम	उपसंहृति

अर्थप्रकृतियाँ नाटकीय इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं। सारे नाटकीय इतिवृत्त इन नाटकीय तत्त्वों में विभक्त होते हैं। बीज, वृक्ष के बीज की तरह वह तत्त्व है, जो अंकुरित होकर नायक के कार्य या फल की ओर बढ़ता है। बिन्दु वह स्थिति है, जब बीज पानी में गिरे

तेल की बूंद की तरह फैलता है। इस दशा में इतिवृत्त का बीज फैलकर व्यक्त होने लगता है। पताका के अन्तर्गत पताका नामक प्रासंगिक इतिवृत्त, तथा प्रकरी में दूसरी प्रासंगिक वस्तु होती है, यह बताया जा चुका है।

अवस्थाएं नाटकीय इतिवृत्त की गति को व्यक्त करती हैं। देखा जाता है, मानव का जीवन एक सीधी रेखा की तरह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। वह टेढ़ा–मेढ़ा होता हुआ, अपने उद्देश्य तक पहुंचता है। मानव का जीवन संघर्ष से भरा हुआ है, ये संघर्ष ही उसे गति देते हैं। संघर्ष की चट्टानों को तोड़ता, उन पर विजय प्राप्त करता, आशा और उल्लास के साथ आगे बढ़ता है। मोक्ष जैसे परमानन्द की स्थिति का विश्वासी भारतीय निराशावादी नहीं, संघर्षों से वह डरता नहीं, संघर्ष तो उसकी परीक्षा है। यदि वह उनसे निराश भी होता है, दुःखी भी होता है, तो वह निराशा, वह दुःख क्षणिक होता है। उस दुःख के काले पर्दे के पीछे सुख, आशा, उल्लास आनन्द का दिव्य प्रकाश छिपा रहता है। भाव यह है, भारतीय को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जीवन के संघर्षों विघ्नों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगा, उसे अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं। भारतीय जीवन के 'फलागम' में पूर्ण विश्वास करता है। मानव जीवन का लक्ष्य ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष–चतुर्वर्गफलप्राप्ति है। भारतीयों की धारणा पाश्चात्यों की तरह निराशावादी नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि यहाँ भी कुछ निराशावादी सिद्धान्त अंकुरित हुए, पर आशावाद के प्रताप में वे झुलस से गये।

काव्य या नाटक का इतिवृत्त कुछ नहीं मानव–जीवन का प्रतिबिम्ब है। 'नाटक मानवप्रकृति का दर्पण है।' भारतीय नाटक–साहित्य में, भारतीय मानव–जीवन पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुआ है। यह दूसरी बात है कि उनमें सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता; तथा मानव–जीवन के शाश्वत मूल्यों का भी प्रदर्शन है। भारतीयों के आशावादी दृष्टिकोण के ही कारण यहां के नाटकों के नायक के लिये फलप्राप्ति आवश्यक है। नाटक का नायक संघर्षों तथा विघ्नों को कुचलता, पददलित करता दुर्धर्ष गति से आगे बढ़े, तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। फलतः यहां के इतिवृत्तों का अन्त फलप्राप्ति में ही होगा, नायक की सफलता में ही होगा; फलाभाव में या उसकी असफलता में नही। यही कारण है कि निराशावादी ग्रीस की तरह भरत ने दुःखान्तकियों या त्रासदी को जन्म नहीं दिया। यहाँ के नाटको के इतिवृत्त सदा सुखान्त रहा है। यहाँ के समस्त नाटक उल्लासान्त या सुखान्त हैं। किन्तु ग्रीस देश के त्रासदों की महत्ता को यहां कमी नहीं। भारतीय नाटक वस्तुतः उस अर्थ में 'कॉमेडीज़' नहीं, जो अर्थ इसका वहाँ लिया जाता है। वहाँ 'कॉमेडी' के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक प्रहसन आते हैं। इस कोटि में हमारे भाण या प्रहसन आयेंगे। ट्रेजेडी के अन्तर्गत वे महापुरुषों के उदात्त चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। ये महापुरुष विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, फलतः उनका करुणामय पतन बताया जाता है। निराशावाद का इस प्रकार का परिणाम आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि इन महापुरुषों के चरित्र में कुछ ऐसी कमी अवश्य चित्रित की जाती है, जो उन्हें असफलता की ओर ले जाती है। शेक्सपियर के हेमलेट या मेकबेथ उदात्त एवं महापुरुष हैं। किन्तु उनके चरित्र म कुछ कमी भी है, जो उन्हें मृत्यु के गर्त में ले जाती है। नाटक की समाप्ति के साथ सामाजिक के हृदय में उन महापुरुषों की नियतिगत दुरवस्था पर दया उमड़ आती है, वह उनके प्रति सहानुभूति दिखाता है। दूसरी ओर वह जीवन के निराशामय वातावरण के विश्वास की पुष्टि करता है, कोरा भाग्यवादी बन जाता है। ग्रीस की 'दुःखान्तकियाँ' हमें नियतिवादी बनाती हैं, संस्कृत के 'सुखान्त हमें पुरुषार्थवादी। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृत के नाटकों में संघर्षों या विघ्नों का चित्र उपस्थित करने में कोई कसर रहती है। संघर्ष व विघ्नों का दुर्दम्य रूप उपस्थित करने में संस्कृत नाटककार कुशल है, और उसका नायक भी उन पर विजय पाने में सफल। यही कारण है कि यहां नाटकों में एक ओर ग्रीस देश की 'दुखान्तकियों' के तत्त्व की भी स्थिति होती है। यही कारण है कि कुछ लोगों ने संस्कृत के नाटकों को कोरे सुखान्त न कहकर **'सुखोन्मुख दुःखपरक'** माना है। इस सब विवेचन का तात्पर्य यह है कि नाटकीय इतिवृत्त की ऊपर की पाँच अवस्थाओं में भारतीय दृष्टि से 'फलागम' का विशेष महत्त्व है।

नाटकीय कथावस्तु की पहली अवस्था आरम्भ है। इस अवस्था के अन्तर्गत नेता में किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है यह दूसरी बात है कि उसका प्रकाशन कोई दूसरा पात्र करे। दूसरी अवस्था प्रयत्न है, जब नायक उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होता है। तीसरी अवस्था–प्राप्त्याशा में, विघ्नादि के विचार कर लेने के बाद नायक की लक्ष्यप्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। चौथी अवस्था–नियताप्ति में उसे सफलता का पूरा विश्वास हो जाता है और पाँचवीं अवस्था में वह 'फलागम' तक पहुंच जाता है। उदाहरण के लिये शकुन्तला नाटक में **'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा'** आदि के द्वारा राजा में शकुन्तला की प्राप्ति के लिए इच्छा के द्वारा आरम्भ अवस्था व्यक्त की गई है। तदनन्तर वह उसकी प्राप्ति के लिये दूसरे व तीसरे अंक में प्रयत्नशील है। यहाँ 'प्रयत्न' नामक अवस्था है। चतुर्थ अंक में दुर्वासा का क्रोध विघ्नरूप में उपस्थित होता है, किन्तु वहीं हमें पता चलता है कि उनका क्रोध शान्त हो गया है, और सामाजिक को नायक दुष्यन्त की शकुन्तला–प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। छठे अंक में मुद्रिका के फिर से मिल जाने पर शकुन्तला–प्राप्ति नियत हो जाती है। यह प्राप्ति अगले अंक में होती है, अतः यहाँ नियताप्ति है। सातवें अंक में नायक व नायिका का मिलन हो जाता है, नायक को फलप्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था पाई जाती है।

अर्थप्रकृति तथा अवस्था के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु में पाँच सन्धियां भी होती हैं। इन्हें सन्धियां इसलिए कहते हैं कि ये पाँच अर्थप्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनती हैं :–

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।। (प्रथम प्रकाश, का० २२)

जैसा कि ऊपर पाँचों अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं तथा सन्धियों के नामनिर्देश में बताया है इनका क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्ध है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुख को, बिन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुख को, पताका तथा प्राप्त्याशा मिलकर गर्भ को, प्रकरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श को, एवं कार्य तथा फलागम मिलकर उपसंहृति या निर्वहण को जन्म देते हैं जैसे, शकुन्तला नाटक में प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक के उस स्थल तक जब सेनापति चला जाता है; तथा दुष्यन्त कहता है–**'विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः'** मुख सन्धि है। तदनन्तर तृतीय अंक के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। चतुर्थ अंक से पांचवें अंक के उस स्थल तक जहां गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन हटाती है, गर्भसन्धि है। पांचवें अंक के शेष अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अंक में विमर्श सन्धि है। तदनन्तर सप्तम अंक में निर्वहण सन्धि पाई जाती है। एक दूसरा उदाहरण हम रत्नावली से ले सकते हैं। रत्नावली के प्रथम अंक व द्वितीय अंक के उस स्थल तक जहाँ रत्नावली वत्सराज उदयन का चित्र बनाना चाहती है, मुखसन्धि है। दूसरे अंक के शेषभाग में प्रतिमुख सन्धि है। तृतीय अंक में गर्भसन्धि पाई जाती है। चतुर्थ अंक में अग्निकाण्डवाली घटना तक विमर्श सन्धि है, तदनन्तर निर्वहण।

पांचों सन्धियों को ६४ सन्ध्यंगों में विभक्त किया गया है। सन्ध्यंगों के इस विशाल विभाग के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोग इन्हें जटिल तथा अनावश्यक मानते हैं। डॉ० ए०बी० कीथ की मान्यता है कि नाटकीय इतिवृत्त की दृष्टि से यह विभाजन कोई वास्तविक मूल्य नहीं रखता। रुद्रट के मतानुसार प्रत्येक सन्ध्यंग का प्रयोग अपनी ही सन्धि में करना उपयुक्त है। किन्तु, दूसरे विद्वानों के मत से सन्ध्यंगों के लिए यह नियम–निर्धारण ठीक नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकादि में इन ६४ सन्ध्यंगों का, सभी का प्रयोग किया जाये। वैसे भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी नाटक–कृतियां ऐसी पाई जाती है, जिन्होंने इन सन्ध्यंगों का पूरा निर्वाह करने की चेष्टा की है। पर इसका परिणाम यह हुआ है कि भट्टनारायण को वेणीसंहार के द्वितीय अंक में भानुमती–दुर्योधन वाले प्रेमालाप की रचना जबरर्दस्ती करनी पड़ी है। यह काव्य के रस में न केवल बाधक हुआ है, अपितु उसने दुर्योधन के चरित्र को उपस्थित करने में गड़बड़ी कर दी है।

कथावस्तु के इस विभाजन के विषय में कीथ का मत है कि 'जहाँ तक सन्धियों का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि इनमें नाटकीय संघर्ष पर जोर दिया गया है, किस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फलप्राप्ति की ओर बढ़ता है यह इस विभाजन का लक्ष्य है, किन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती हैं सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन अनावश्यक है। साथ ही पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थप्रकृतियों व पांचों अवस्थाओं के क्रम से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है।' पांचों सन्धियाँ कथावस्तु में आवश्यक हैं, विशेषकर नाटक की वस्तु में, क्योंकि उसे **'पञ्चसन्धिसमन्वित'** होना ही चाहिये। यह दूसरी बात है कि कई रूपक ऐसे हैं, जिनमें पाँचों सन्धियाँ न होकर चार या तीन ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। हम यहां नाटक की इन पांच सन्धियों की गति को एक रेखाचित्र से व्यक्त कर सकते हैं।

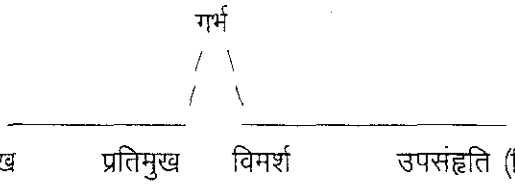

कथावस्तु के विभाजन पर विचार हो गया। दृश्य काव्य रंगमंच की वस्तु है। उसमें रंगमंच की आवश्यकता के अनुसार दृश्यों का नियोजन करना होता है। कथा–सूत्रों में कई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मंच पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ को तो इसलिए कि उनमें समय विशेष लगता है और कुछ को इसलिए कि वे दर्शकों पर बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। कुछ ऐसे भी कथा–सूत्र होते हैं, जो कथा–निर्वाह के लिए जरूरी तो हैं, पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मंच पर बताया जाये। इस तरह दो प्रकार के कथा–सूत्र मान सकते हैं–१. दृश्य तथा २. सूच्य। दृश्य कथासूत्र मंच पर दिखाये जाते हैं, उनका अभिनय किया जाता है, सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान पात्र होते हैं। कभी–कभी सूच्य कथासूत्रों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचनाप्रकार 'अर्थोपक्षेपक' कहलाते हैं, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं :– १. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अकांस्य तथा ५. अंकावतार। इन पाँचों प्रकार के अर्थोपक्षेपकों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का विशेष महत्त्व है, इन्हीं का प्रयोग नाटकों में प्रायः देखा जाता है। इन दोनों की विवेचना बाद में होगी। पहले, चूलिकादि तीन अर्थोपक्षेपकों को ले लें।

चूलिका में सूच्य अर्थ की सूचना नेपथ्य से या यवनिका के भीतर से दी जाती है। अंकास्य वहाँ होता है, जहां किसी अंक के अन्त में किसी ऐसी बात की सूचना दी जाये, जिससे अगले अंक का आरम्भ हो रहा हो। अंकावतार में पहल अंक के पात्र पूर्व अंक के अर्थ को विच्छिन्न किए बिना ही दूसरे अंक में आ जाते हैं। अंकास्य या अंकावतार में पात्रों के संवाद के द्वारा सूच्य अर्थ की सूचना दी जाती है।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक में भी विष्कम्भक विशेष प्रधान है। प्रवेशक विष्कम्भक का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है जहाँ नीच पात्र होते हैं तथा उसका प्रयोग प्रथम अंक के आरम्भ में नहीं होता। विष्कम्भक अर्थोपक्षेपक में दो पात्र होते हैं, ये दोनों पात्र गौण अथवा अप्रधान पात्र होते हैं, किन्तु दोनों (या एक) मध्यम प्रकृति के होते हैं। विष्कम्भक के द्वारा भूतकाल की या भविष्यत् काल में होने वाली घटना का संकेत किया जाता है। इसका प्रयोग कहीं भी हो सकता है। यहाँ तक कि विष्कम्भक नाटकादि के आरम्भ में प्रथम अंक के आरम्भ में भी प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार का विष्कम्भक का प्रयोग भवभूति के मालतीमाधव में देखा जा सकता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है–शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध विष्कम्भक में सभी पात्र श्रेणी के तथा संस्कृत वक्ता होते हैं, मिश्र विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी तथा निम्न श्रेणी, दोनों तरह के पात्र होते है तथा प्राकृत का भी प्रयोग होता है। शकुन्तला नाटक में चतुर्थ अंक के पूर्व शुद्ध विष्कम्भक पाया जाता है, जहां कण्व ऋषि का एक शिष्य आकर हमें बताता है कि कण्व लौट आये हैं।

प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति सूचक है। इसके पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं तथा प्राकृत भाषा बोलते है। प्रवशक का प्रयोग नाटक के आरम्भ में कभी नहीं होता, वह सदा दो अंकों के बीच प्रयुक्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में छठे अंक के पहले प्रवेशक का प्रयोग पाया जाता है।

इसी सम्बन्ध में 'पताकास्थानक' को भी समझा दिया जाये। नाटककार कभी संवाद या घटना में कुछ ऐसी रचना करता है जिससे भावी वस्तु या घटना की सूचना मिल जाती है। दशरूपककार ने पताकास्थानक के दो भेद माने हैं–अन्योक्तिरूप तथा समासोक्तिरूप। रत्नावली से राजा के विदा होते समय नेपथ्य से **'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष...करः करोति'** के द्वारा–उदयन के द्वारा–सागरिका के भावी आश्वासन की सूचना दी गई है। यहाँ अन्योक्तिपद्धति वाला पताकास्थानक है। अन्योक्तिपद्धति वाले पताकास्थानक में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का इतिवृत्त एक सा होता है, वे 'तुल्येतिवृत्त' होते हैं। प्रस्तुत उदयन–सागरिका–व्यापार की व्यञ्जना अप्रस्तुत दिनकर–पद्मिनी–व्यापार के द्वारा कराई गयी है। रत्नावली में ही एक दूसरे स्थान पर समासोक्तिरूप पताकास्थानक भी पाया जाता है। समासोक्ति रूप पताकास्थानक में प्रस्तुत पक्ष में विशेषणों की समानता होती है, वे 'तुल्यविशेषण' होते हैं। रत्नावली में कलियों से भरी हुई उद्यानलता को देखते समय की उदयन की उक्ति 'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्···· देव्याः करिष्याम्यहम्' के द्वारा भावी सागरिका दर्शन से जनित देवीकोप की सूचना दी गई है। यहाँ लता के विशेषण अप्रस्तुत कामविदग्धा नायिका में भी अन्वित हो जाते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रियों की भांति यहां के नाट्यशास्त्रियों ने संवाद को अलग से तत्त्व नहीं माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं, कि वे इसका विवेचन नहीं करते। वस्तुतः वे इसका विवेचन वस्तु के साथ ही करते हैं, तथा इसे वस्तु का ही अंग मानते जान पड़ते हैं। पात्रों का संवाद हमारे यहाँ कई तरह का माना गया है :– प्रकाश, स्वगत, अपवारित तथा जनान्तिक। प्रकाश वह उक्ति है जो सर्वश्राव्य हो, जिसे सारे पात्र सुन सकें। स्वगत वह उक्ति है, जो रंगमंच के अन्य पात्रों को सुनानी अभीष्ट नहीं। अपवारित तथा जनान्तिक कुछ ही लोगों को–रंगमंच पर स्थित कुछ ही पात्रों को सुनाना अभीष्ट होता है। अपवारित में पात्र किसी दूसरे एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में गुप्त मन्त्रणा करते हैं। सामाजिक के लिए तो ये सारे संवाद श्रव्य होते हैं। इनके अतिरिक्त कभी–कभी नेपथ्य से आकाशभाषित का प्रयोग भी किया जाता है।

(२) **नेता तथा पात्र** :– रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। नेता शब्द के साथ नायक का सारा परिकर आ जाता है। नायिका नायक के साथी, नायिका की सखियाँ आदि, प्रतिनायक और उसके साथी, सभी 'नेता' के अंग माने गये हैं। नाटकादि के इतिवृत्त का नायक वही बन सकता है, जिसमें विनीतत्वादि अनेक गुण विद्यमान हों। नायक को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का माना है। यह प्रकार-भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं, धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है। नायक का पहला प्रकार 'ललित' या धीरललित है; दूसरा 'शान्त' या धीरशान्त, तीसरा 'उदात्त' धीरोदात्त और चौथा 'उद्धत' या 'धीरोद्धत'। इनके उदाहरण क्रमशः वत्सराज उदयन, चारुदत्त, राम तथा भीमसेन दिये जा सकते हैं।

(१) **धीरललित** :– धीरललित राजपाट की या दूसरी चिन्ताओं से मुक्त होता है। वह संगीत, नृत्य, चित्र आदि कला का प्रेमी और रसिक–वृत्ति का होता है। प्रेम उसका उपास्य होता है, वह भोगविलास में लिप्त रहता है, तथा प्रायः अनेक पत्नीवाला होता है। धीरललित नायक अधिकतर राजा होता है। उसका राज्यकार्य मन्त्री आदि संभाले रहते हैं और वह अन्तःपुर की चहारदीवारी में

प्रेमक्रीड़ा किया करता है। यहीं पर वह नई--नई सुन्दरियों के प्रति अपने प्रेम--प्रदर्शन की धुन में रहता है। अपने इस व्यापार में वह अपनी महादेवी (महारानी) से डरता हुआ, शंकित होकर, प्रवृत्त होता है। भास तथा हर्षवर्धन का वत्सराज उदयन ऐसा ही धीरललित नायक है। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका का नायक इन सब गुणों से युक्त है।

(२) **धीरप्रशान्त** :-- धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक धीरललित से सर्वथा भिन्न होता है। कुल की दृष्टि से वह शान्त प्रकृति का होता है। शान्त प्रकृति प्रायः ब्राह्मण या वैश्य में ही होती है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि धीरप्रशान्त कोटि का नायक या तो ब्राह्मण होता है या वैश्य। यह दूसरी बात है कि वह चारुदत्त या माधव की तरह कलाप्रिय भी हो। प्रकरण नामक रूपकभेद का नायक प्रायः धीरप्रशान्त ही होता है। शूद्रक के मृच्छकटिक का नायक 'चारुदत्त' तथा भवभूति के मालतीमाधव प्रकरण का नायक 'माधव' धीरप्रशान्त हैं। दोनों ही कुल से ब्राह्मण हैं। कुछ लोगों के मतानुसार युधिष्ठिर, बुद्ध या जीमूतवाहन को भी इसी कोटि में मानना ठीक होगा, क्योंकि वे शान्त प्रकृति के हैं। अवलोककार धनिक ने इस मत का अच्छी तरह खण्डन किया है। धनिक के मतानुसार वे धीरोदात्त हैं।

(३) **धीरोदात्त** :-- धीरोदात्तप्रकृति का नायक भी प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निरभिमानी, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा अविकत्थन होता है, जिस व्रत को वह धारण कर लेता है उसे छोड़ता नहीं। धीरोदात्त नायक, नायक के सम्पूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। उत्तर--रामचरित के रामचन्द्र या अभिज्ञानशाकुन्तल का दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं।

(४) **धीरोद्धत** :-- धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यापूर्ण, विकत्थन तथा छली होता है। यही कारण है कि वह 'उद्धत' कहा जाता है। परशुराम या भीमसेन धीरोद्धत कोटि के नायक हैं

रूपक का प्रत्येक नेता इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार का होता है। यह आगे बताया जायेगा कि किस रूपक का नेता किस--किस प्रकृति का होता है।

नायक का एक दूसरे ढंग का वर्गीकरण भी किया जाता है। वह वर्गीकरण उसके प्रेमव्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये ४ रूप देखे जा सकते हैं। ये रूप अपनी परिणीता पत्नी के प्रति किये गये उसके व्यवहार में पाये जाते हैं। दक्षिण नायक एक से अधिक प्रियाओं को एक ही तरह से प्यार करता है। रत्नावली नाटिका का वत्सराज उदयन दक्षिण नायक है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, पर उससे छिप--छिप कर दूसरी नायिकाओं से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखेबाज है, वह ज्येष्ठा नायिका की परवाह नहीं करता, कभी--कभी खुलेआम भी दूसरी नायिका--कनिष्ठा से प्रेम करता है। एक ही नायक में भी तीनों अवस्थाएं मिल सकती हैं। रत्नावली का उदयन वैसे कई स्थान पर दक्षिणरूप में, कई स्थान पर शठरूप में तथा कई स्थान पर धृष्ठरूप में सामने आता है। फिर भी उसमें प्रधानता दक्षिणत्व की ही है। अनुकूल नायक सदा एक नायिका के प्रति आसक्त रहता है। उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल नायक हैं, जो केवल सीता के प्रति आसक्त हैं।

नायक के अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्त्विक गुणों की स्थिति होना आवश्यक है। ये गुण हैं :-- शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, तेज लालित्य तथा औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। जैसे महावीरचरित तथा वेणीसंहार में, रावण तथा दुर्योधन प्रतिनायक हैं। वे राम तथा युधिष्ठिर की फलप्राप्ति में बाधक होते हैं। नायक का साथी पताकानायक, पीठमर्द कहलाता है। यह बुद्धिमान् होता है तथा नायक से कुछ ही गुणों में न्यून रहता है। पीठमर्द सदा नायक की सहायता करता है। रामायण का सुग्रीव, तथा मालतीमाधव का मकरन्द 'पीठमर्द' है। नायक के दूसरे सहायक भी होते हैं। नायक के राजा होने पर राज्यकार्य तथा धर्मकार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक तथा विट होते हैं।

विदूषक संस्कृत नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। वैसे तो वह नाटक में हास्य तथा व्यंग्य की रचना कर नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है, किन्तु उसका इससे भी अधिक गंभीर कार्य है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी बनकर आता है। कभी--कभी वह अपने संवाद में ऐसा संकेत करता है, जो उसकी तीक्ष्णबुद्धि का संकेत कर देता है, वैसे मोटे तौर पर वह पेटू तथा मूर्ख दिखाई पड़ता है। विदूषक ब्राह्मण जाति का होता है, उसकी वेशभूषा, चाल--ढाल, व्यवहार तथा बातचीत का ढंग हास्यजनक होता है। वह ठिगना, खल्वाट तथा दंतुल होता है। विदूषक प्राकृत भाषा का आश्रय लेता है। संस्कृत नाटकों में वह मोदकप्रिय तथा अपने पेटूपन के लिये मशहूर है। विदूषक राजा का विश्वासपात्र व्यक्ति होता है, जिसे राजा अपनी गुप्त प्रेम--मन्त्रणा तक बता देता है। वह कभी कभी राजा के गुप्त प्रेम--व्यवहार में सहायक भी होता है। शकुन्तला का विदूषक, तथा मृच्छकटिक का मैत्रेय इसके उदाहरण हैं। व्यंग्य, हास्य तथा आलोचक--प्रवृत्ति की दृष्टि से विदूषक की तुलना शेक्सपियर के 'फालस्टाफ' से भी की जा सकती है। किन्तु विदूषक

में कुछ भिन्नता भी है, कुछ निजी व्यक्तित्व भी हैं, जो 'फालस्टाफ' के व्यक्तित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाता। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का नर्मसुहृत् होता है। विट किसी न किसी कला में प्रवीण होता है, तथा वेश्याओं के व्यवहारादि का पूरा जानकार होता है। भाण नामक रूपक में विट प्रधान पात्र होता है, जहाँ वह अपने अनुभव सुनाता है। कालिदास व भवभूति में विट नहीं है। हर्ष के नागानन्द में तथा मृच्छकटिक में विट का प्रयोग पाया जाता है।

राजा के और भी कई सहायक होते हैं, दूत, कुमार, प्राड्विवाक आदि, जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार किया करते हैं।

(नायिका-भेद) :– नाटकादि रूपक में नायिका का भी ठीक उतना ही महत्त्व है, जितना नायक का, विशेष करके शृंगार रस के रूपकों में। नाटिका में तो नायिका का विशेष व्यक्तित्व है। नायिका का वर्गीकरण तीन प्रकार का होता है। पहले ढंग का वर्गीकरण उसका तथा नायक के सम्बन्ध पर आधृत होता है। दूसरे ढंग का वर्गीकरण एक ओर उसकी उम्र और अवस्था, दूसरी ओर नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उसके प्रति नायिका के व्यवहार के आधार पर किया जाता है। तीसरा वर्गीकरण उसकी प्रेमगत दशा के वर्णन से संबद्ध है। यहाँ इन्हीं को क्रमशः लेंगे।

नायिका को मोटे तौर पर तीन तरह का माना जा सकता है :– १. स्वीया या स्वकीया; नायक की स्वयं की परिणीता पत्नी जैसे उत्तरामचरित की सीता। २. अन्या; वह नायिका जो नायक की स्त्री नहीं है। अन्या या तो किसी व्यक्ति की अनूढा कन्या हो सकती है, या किसी की परिणीता पत्नी। अनूढा कन्या का रूप हम शकुन्तला, मालती या सागरिका में देख सकते हैं। परस्त्री या अन्य पत्नी का नायिका के रूप में प्रयोग नीति व धर्म के विरुद्ध होने के कारण नाटकादि में नहीं बताया जाता। ३ सामान्या, साधारण स्त्री या गणिका। कई रूपकों में विशेषतः प्रकरण, प्रकरणिका तथा भाण में गणिका भी नायिका के रूप में चित्रित की जा सकती है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना गणिका ही है।

अवस्था के अनुसार नायिका :– १. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रौढा या प्रगल्भा। मुग्धा प्राप्तयौवना होती है, वह बड़ी भोली प्रेम–कलाओं से अज्ञात, तथा प्रेम–क्रीड़ा से डरी–सी रहती है। वह नायक के समीप अकेली रहने में डरती है, तथा नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उस पर क्रोध नहीं करती, बल्कि स्वयं आँसू गिराती है। मध्या नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर वह क्रुद्ध होती है। ऐसी दशा में उसके तीन रूप होते हैं :– १. धीरा, २. अधीरा, ३. धीराधीरा। धीरा मध्या प्रतिकूलाचरण वाले नायक को श्लिष्ट वाक्यों के द्वारा उपालंभ देती है। अधीरा कटु शब्दों का प्रयोग करती है। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर नायक को व्यंग्य भी सुनाती है। इस प्रकार मध्या तीन प्रकार की होती है। प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायिका प्रेमकला में दक्ष होती है, प्रेमक्रीड़ा मे वह कई प्रकार का अनुभव रखती है। कृतापराध प्रिय के प्रति उसका आचरण मध्या की भाँति ही तीन तरह का हो सकता है। अतः वह भी तीन प्रकार की होती है :– १. धीरा, अधीरा, ३. धीराधीरा। धीरा प्रौढ़ा प्रिय को कुछ नहीं कहती, वह केवल उदासीन वृत्ति धारण कर लेती है। इस प्रकार वह नायक की कामक्रीड़ा में हाथ नहीं बंटाती और उसमें बाधक–सी होकर अपने क्रोध की व्यञ्जना करती है। अधीरा प्रौढ़ा नायक को डराती, धमकाती और यहाँ तक कि मारती–पीटती भी है। धीराधीरा प्रौढ़ा मध्या धीराधीरा की भाँति ही व्यंग्योक्ति का प्रयोग करती है। इसके साथ ही मध्या तथा प्रौढ़ा के तीन तीन भेदों का फिर से ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा रूप में वर्गीकरण किया जाता है। ज्येष्ठा नायक की पहली तथा कनिष्ठा उसकी अभिनव प्रेमिका होती है। उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता ज्येष्ठा है; सागरिका कनिष्ठा। इस प्रकार मध्या के ६ भेद तथा प्रौढ़ा के भी ६ भेद हो जाते हैं। मुग्धा नायिका केवल एक ही तरह की मानी जाती है। उसे इन भेदों में मिला देने पर इस वर्गीकरण के अनुसार नायिका के १३ भेद होते हैं।

नायिका का तीसरा वर्गीकरण उसकी दशा को उपस्थित करता है। इसके अनुसार नायिका आठ तरह की होती है १. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितप्रिया तथा ८. अभिसारिका। स्वाधीनपतिका का नायक सर्वथा उसके अनुकूल होता है, जैसे वह उसके अधीन होता है। वासकसज्जा नायिका नायक के आने की राह में सजधज कर बैठी रहती है। नायक के आने के विषय में उसके हृदय में पूर्ण आशा होती है। विरहोत्कण्ठिता का नायक ठीक समय पर नहीं आता, अतः उसके हृदय में खलबली मची रहती है, आशा तथा निराशा का एक संघर्ष उसके दिल में रहता है। खण्डिता का नायक दूसरी नायिका के साथ रात गुजार कर उसका अपराध करता है, और प्रातः जब लौटता है तो परस्त्रीसम्भोग के चिन्हों से युक्त रहता है जिसे देखकर खण्डिता क्रुद्ध होती है। कलहान्तरिता नायिका कलह के कारण प्रिय से वियुक्त हो जाती है तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है, विप्रलब्धा नायिका संकेतस्थल पर प्रिय से मिलने जाती है पर प्रिय को नहीं पाती, वह प्रिय के द्वारा ठगी गई होती है। प्रोषितप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजधजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है, या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है।

नायक के गुणों की भांति नायिका में भी गुणों की स्थिति मानी गई हैं नायिका में ये गुण भूषण या अलंकार कहलाते हैं, तथा गणना में बीस हैं। इन बीस अलंकारों में पहले तीन शारीरिक हैं, दूसरे सात अयत्नज, तथा बाकी दस स्वभावज हैं। ये हैं :– भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, तथा विहृत।

नायिकाओं में राजा की पट्टराज्ञी महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा की रानियों में कई निम्नकुल की उपपत्नियाँ भी हो सकती हैं। इन्हें स्थायिनी या भोगिनी कहा जाता है। राजा के अन्तःपुर में कई सेवक होते हैं। कंचुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कंचुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक, किरात आदि भी रहते हैं। अन्तःपुर में रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ आदि भी वर्णित की जाती हैं।

इसी सम्बन्ध में कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में पात्रों के नामादि का भी संकेत किया गया है, दशरूपक में इसका अभाव है। इनके मतानुसार गणिका का नाम दत्ता, सेना या सिद्ध में अन्त होना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना का नाम। दास–दासियों के नाम ऋतुसम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हों, जैसे मालतीमाधव में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। कापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होते हों, जैसे मालतीमाधव का अघोरघण्ट।

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे, इस शिष्टता का संकेत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं; पुरोहित या ब्राह्मण उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं, तथा निम्नकोटि के पात्र 'भट्ट'। युवराज भी 'स्वामी' कहा जाता है, तथा दूसरे राजकुमार 'भद्रमुख' कहे जाते हैं। देवता तथा ऋषि–मुनि 'भगवन्' कहलाते हैं, तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण 'आर्य' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। विदूषक राजा या नायक को 'वयस्य' कहता है, वह भी उसे 'वयस्य' ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को 'तात' कहते हैं, बड़े लोग छोटे लोगों को 'तात' या 'वत्स'। मध्यवर्ग के पुरुष परस्पर 'हंहो' कहकर सम्बोधित करें, निम्न वर्ग के लोग 'हण्डे' कहकर। विदूषक महादेवी या उसकी सखियों को 'भवती' कहता है। सेविकाएँ महादेवी या रानियों को 'भट्टिनी' या 'स्वामिनी' कहती है। पति पत्नी को 'आर्या' कहता है। राजकुमारियाँ 'भर्तृदारिका' शब्द से सम्बोधित की जाती हैं। गणिका अज्जुका, कुट्टिनी या वृद्धा को 'अम्बा' कहती हैं। सखियां परस्पर 'हला' कहती हैं और दासियों को 'हज्जा' कहकर सम्बोधित किया जाता है।

(३) **रस तथा भाव** :– भारतीय नाट्यशास्त्र में रसविवेचना का विशेष स्थान है। यह बताया जा चुका है कि किस तरह दृश्य काव्य में 'रस' की स्थिति भरत के भी पहले से चली आ रही है। दृश्यकाव्य के तीन भेदकों में एक 'रस' भी है। रस की व्यञ्जना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। दृश्यकाव्य में नटों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय के द्वारा सामाजिकों में रसोद्बोध हो। रस क्या है ? इस विषय में यहाँ तो इतना ही कहना उचित होगा कि काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जिस आनन्द का अनुभव होता है, वही आनन्द 'रस' कहलाता है। यह रस किन साधनों के द्वारा होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी यहाँ इतना ही कहना है कि 'रस की निष्पत्ति, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से होती है।' भरत मुनि ने 'रस' की चर्वणा के साधनों के विषय में नाट्यशास्त्र में यही मत व्यक्त किया है :– **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'** विभावादिकों तथा रस के परस्पर सम्बन्ध पर आगे विचार किया जायेगा, जहाँ लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव तथा धनिक के मतों की विवेचना की जायेगी।

पहले यहाँ इतना समझ लें कि सहृदय सामाजिकों के हृदय में 'भाव' रहता है। यदि आधुनिक मनोविज्ञान से सहायता ली जाये, तो कहना होगा कि 'भाव' मानव–मानस के अर्धचेतन, या अवचेतन भाग में छिपा रहता है। 'भाव' की उद्भूति हमारे व्यावहारिक तथा लौकिक जीवन से ही होती है, भारतीय पण्डित के मत से वह पूर्वजन्म का लौकिक जीवन से भी हो सकता है। हम स्वयं अपने जीवन में किसी से प्रेम करते हैं, किसी के प्रति क्रोध, उत्साह, करुणा प्रदर्शित करते हैं; किसी शेर या सांप को देखकर डरते हैं या किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देखकर जुगुप्सा का अनुभव करते हैं। यही नहीं, दूसरे लोगों को भी इस प्रकार के भाव प्रदर्शित करते देखते हैं। लौकिक तथा व्यावहारिक जीवन में, जब हम इस प्रकार के अनुभव बार–बार प्राप्त करते हैं, तो उनका प्रभाव हमारे चेतन मन पर पड़ता हुआ धीरे–धीरे हमारे अचेतन मन के अन्तराल में अपना नीड बना लेता है। और जब हम काव्य नाटकादि में तत्तत् भाव का चित्रण पढ़ते या देखते हैं, तो वह छिपा भाव उभर कर चेतन मन की लहरों में उतराता नजर आता है। यही भाव काव्य में वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, वह चेतन और अचेतन मन को जैसे कुछ समय के लिए एक करके, उनके बीच की यवनिका को जैसे हटाकर हमें हृदय की उस चरम सोपान सीमा तक पहुँचा देता है, जहाँ हम मनोराज्य में विचरण करते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। और भारतीय रसशास्त्र के मत में यह आनन्द जिसे 'रस' की संज्ञा दी गई है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, दिव्य है, तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है।

पर 'रस' के साधन, 'भाव' को 'रस' रूप में परिणत करने वाले, ये विभावादि क्या हैं ? मान लीजिये, हम एक नाटक दर्शक हैं कालिदास के शकुन्तला नाटक के प्रथम दृश्य को दिखाया जा रहा है। मंच पर दुष्यन्त आता है, वह आश्रम के पादप की सींचती शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला अपूर्व लावण्यवती है, घड़े को उठाकर नवमल्लिका को पानी पिलाते समय उसके अंगों का इस प्रकार का अकुंचन प्रसारण होता है कि वह उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। भँवरे के डर से उसका इधर–उधर दौड़ना हाथ से आंखे हिलाना और चिल्लाना भी दुष्यन्त को उसकी ओर और अधिक आकर्षित करता है। और आगे जाकर दुष्यन्त तथा शकुन्तला के इसी अंक में परस्पर विदा होते समय शकुन्तला का दर्भ से पैर के क्षत होने का बहाना बनाना, या लताओं में आँचल के न उलझने पर भी उसे सुलझाने का उपक्रम करना, शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के आकर्षण को परिपुष्ट रूप दे देता है। कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त उपवन तथा मालिनीतीर आदि भी दुष्यन्त के मानस में शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव को व्यक्त कर उसे शृंगार के रूप में परिणत करने के कारण होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं दुष्यन्त के मन में 'रस' व्यक्त होता है, अतः दुष्यन्त शृंगार रस के आस्वादकर्ता है, वह 'रति' भाव का आश्रय हैं इस भाव को 'रस' रूपमें परिणत करने का प्रमुख साधन शकुन्तला है, किन्तु इसके साथ शकुन्तला की चेष्टाएँ तथा उस दृश्य के देश–कालादि भी सहायता करते हैं। ये दोनों विभाव कहलाते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के 'रति' भाव का आलम्बन है तथा देश–कालादि इसके उद्दीपन। जब दुष्यन्त के मन में 'रति' भाव का अनुभव होने लगता है तो उसके शरीर में कई चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसका चेहरा खिल उठता है, कभी उसकी आँखें बार–बार शकुन्तला की ओर अपने आप उठती हैं, वह फिर उन्हें समेटता है, इस प्रकार की दुष्यन्त की चेष्टाएं 'अनुभाव' कहलाती हैं, क्योंकि ये 'रति' भावानुभूति के बाद पैदा होती हैं या उस 'भाव' का अनुभव सामाजिकों को कराती हैं। तीसरे साधन सञ्चारिभाव या व्यभिचारिभाव हैं। हम देखते हैं शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव उत्पन्न होने पर दुष्यन्त कभी सोचता है कि शकुन्तला ऋषिपुत्री है, अतः वह उसके द्वारा परिणययोग्य नहीं, यह निराशा तथा चिन्ता का अनुभव करता है। कभी उसे अपने मन पर विश्वास होता है, तथा शकुन्तला के विश्वामित्र– पुत्री वाले वृत्तान्त को सुनकर हर्ष तथा आशा होती है, इसके पहले ही उसमें उत्सुकता होती है। इसप्रकार ये सभी प्रकार की भावानुभूतियां वे अस्थायी भाव हैं, जो थोड़े समय तक रहते हैं, और फिर लुप्त हो जाते हैं। एक क्षणिक भाव उठता है, लुप्त हो जाता है दूसरा उठता है, लुप्त होता है, इस प्रकार एक स्थायी भाव में कई छोटे भाव सञ्चरण करते रहते हैं। ये भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। इनकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे समुद्र में तरंगों के उदय व अवसान की। स्थायी भाव समुद्र है, सञ्चारिभाव तरंगे। चूंकि ये भाव क्षणिक तथा अस्थिर हैं, अतः ये सञ्चारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। गिनती में ये सञ्चारी भाव ३३ हैं जिनके नामादि ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

'भाव' ही 'रस' का बीज है, रस का मूल रूप है। रस के अणु का 'न्यूक्लियस' (Mdens) यही 'भाव' है। भाव क्या है, इसे हम बता चुके हैं। भाव को क्षणिक सञ्चारिभावों से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है। साहित्यशास्त्रियों ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं। धनंजय नाटक में आठ ही भाव मानते हैं, जैसा कि आगे 'धनंजय की मान्यताएं' शीर्षक भूमिका में बताया जायगा। अभिनव व नवीन रसशास्त्रियों को नौ भाव अभीष्ट हैं, ये भाव हैं :– रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक। इनके अतिरिक्त नवाँ भाव है, 'शम। इन्हीं भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है :– शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य अदभुत भयानक, करुण तथा नवें भाव 'शम' का स्वरूप 'शान्त'। इन आठ रसों में–शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख है चार गौण। ऊपर की सूची के प्रथम चार प्रमुख हैं, द्वितीय क्रमशः प्रथम चार में से एक एक से उद्भूत माने जाते हैं। यथा हास्य को शृंगार से अद्भुत को वीर से, भयानक को बीभत्स से तथा करुण को रौद्र से उद्भूत माना जाता है। इस प्रकार शृंगार–हास्य, वीर–अदभुत बीभत्स–भयानक, रौद्र–करुण इन रस–युग्मों की स्थिति हो जाती है। इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया जाता है। रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विकसित होता है या फैलता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है। इस प्रकार इन चार स्थितियों में से प्रत्येक का अनुभव ऊपर के एक एक रस–युग्म में क्रमशः पाया जाता है। यथा, शृंगार–हास्य में मानस विकसित होता है, उसमें मन का विकास पाया जाता है। इसी तरह वीर–अद्भुत में मन के विस्तार, बीभत्स–भयानक में क्षोभ तथा रौद्र–करुण में विक्षेप की स्थिति रहती हैं। इनके लक्षणादि मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

रसनिष्पत्ति पर विभिन्न मत

भरत मुनि के मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के 'संयोग' से रस की निष्पत्ति होती है। रसनिष्पत्ति के विषय में भरत के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट, शंकुक, भट्ट, नायक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है। धनंजय का रस सम्बन्धी मत कोई नवीन कल्पना नहीं है। धनंजय तथा धनिक के मत का विवेचन यहाँ न कर अगले भूमिका–भाग में किया जायेगा कि किस तरह उसने लोल्लट, शंकुक एवं भट्ट नायक के मतों का समन्वय उपस्थित किया है।

(१) **लोल्लट का उत्पत्तिवाद** :- लोल्लट का रस सम्बन्धी मत, साहित्य शास्त्र में, 'उत्पत्तिवाद' के नाम में विख्यात है। लोल्लट रस को विभावादि के द्वारा उत्पन्न मानते हैं। विभावादि उत्पादक हैं, रस उत्पाद्य। इस प्रकार लोल्लट विभावादि को रस का ठीक उसी तरह कारण मानते हैं, जैसे घटरूप कार्य के मृद्दण्डचक्रादि कारण है। लोल्लट की इस मत सरणि पर मीमांसकों का प्रभाव है। लोल्लट स्वयं मीमांसक हैं। यही कारण है कि वे यहाँ कार्य–कारणवाद, साधारण ढंग के कार्य–कारणवाद की कल्पना कर 'उत्पत्तिवाद' को जन्म देते हैं। उदाहरण के लिए भट्ट लोल्लट के मत से जो रति भाव, नायिका 'आलम्बन विभाव' के द्वारा उत्पादित होता है, उपवनादि उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त होता है, आलिंगनकटाक्षादि अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है, तथा औत्सुक्यादि संचारियों के द्वारा पुष्ट होता है, वही रति भाव रस रूप में उत्पन्न होता है। यह रस नट या सामाजिक के हृदय में पैदा नहीं होता है। राम या दुष्यन्तादि पात्र ही इस रस का अनुभव करते हैं। वैसे नट उनकी नकल करता है, उनकी वेशभूषा में आता है, वैसा व्यवहार करता है, इसीलिए सामाजिक उसे राम या दुष्यन्त समझ बैठते हैं। यह समझना भी भ्रान्ति जनित है। सच्चे राम या दुष्यन्त को चांदी मान लें, तो राम या दुष्यन्त बना हुआ वह नट वह शुक्ति है, जिसमें हमें रजत की भ्रान्ति हो जाती है। सामाजिक को इस भ्रान्ति से ही क्षणिक आनन्द मिल जाता है।

लोल्लट का यह मत निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। सामाजिक में रस की स्थिति न मानना इसका सबसे बड़ा दोष है। क्योंकि राम या दुष्यन्त जैसे पात्रों में ही रस मानना तथा सामाजिकों में रस की स्थिति का निषेध करना ठीक नहीं जान पड़ता। देखा जाये, तो राम या दुष्यन्त तो अतीत काल में थे, वर्तमान काल में तो उस नाटकादि के रस का आस्वादकर्ता सामाजिक ही है। यदि सामाजिक को रसास्वाद न हो, तो वह नाटकादि के प्रति प्रवृत्त ही क्यों होने लगा ? यही नहीं, विभावादि तथा रस में परस्पर साधारण ढंग के कार्य–कारणवाद की कल्पना करना भी एक दोष है, जिसका खण्डन हमें अभिनवगुप्त के मत में मिल सकता है। लोल्लट के मत के प्रथम दोष का निर्देश व उसके मत का खण्डन करते हुए शंकुक ने नये मत को प्रतिष्ठापित किया।

(२) **शंकुक का अनुमितिवाद** :– लोल्लट के उत्पत्तिवाद का सर्वप्रथम खण्डन नैयायिक शंकुक ने किया है। शंकुक ने अपने मत की प्रतिष्ठापना में भरत के रससूत्र की नई व्याख्या उपस्थित की। उसके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रस की अनुमिति कराते हैं। जैसे हम पर्वत में धुएँ को देखकर 'पर्वत अग्निमान् है; क्योंकि यह धूमवान् है', इस परामर्श के द्वारा पर्वत में वह्नि स्थिति की अनुमिति कर लेते हैं, वैसे ही नट में रामादि के से अनुभावादि देखकर हम वहां रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार विभावादि अनुमापक हैं, रस अनुमाप्य। उनमें उत्पाद्य–उत्पादक–भाव न होकर अनुमाप्य–अनुमापक–सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध में शंकुक ने चित्रतुरगादिन्याय की कल्पना भी की है। जैसे चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा मानना ही पड़ता है, वैसे ही नट स्वयं राम या दुष्यन्त नहीं है, फिर भी सामाजिक उसे चित्रतुरग की भांति राम या दुष्यन्त समझता है। तदनन्तर सामाजिक नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है, और वह अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय में रत्यादि भाव रसरूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक इस अनुमिति का अनुभव करते समय, इस अनुभव के रसपूर्ण होने के कारण स्वयं भी रसानुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकुक भी वास्तविक रस रामादि पात्रों में ही मानता है; किन्तु वह लोल्लट की भांति सामाजिकों में उसका सर्वथा अभाव नहीं मानता। शंकुक का मत इतने पर भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। रस को अनुमितिगम्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता। यह अनुभव सिद्ध है कि रस प्रत्यक्ष प्रमाण संवेद्य है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को न मानकर रसास्वाद में अनुमिति की कल्पना करने में कोई साधक प्रमाण नजर नहीं आता।

(३) **भट्ट नायक का भुक्तिवाद** :– भट्ट नायक अपने मत में रसास्वाद के विषय में उत्पत्ति, अनुमिति या अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तों को नहीं मानते। वे रस के विषय में 'भुक्ति' के सिद्धान्त को जन्म देते हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के भोजक हैं, रस भोज्य। भट्ट नायक ने काव्य के सम्बन्ध में 'अभिधा' शक्ति के अतिरिक्त दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। ये दो नये व्यापार हैं :– भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। भट्ट नायक ने इन दो नये व्यापारों की कल्पना कर हमें रस के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। यह दूसरी बात है कि भट्ट नायक का मत भारतीय रसशास्त्र में मान्य न हो सका हो, किन्तु उसने जिन रस सम्बन्धी गूढ़ बातों का संकेत किया है, उनका उपयोग उसके विरोधी अभिनवगुप्त तक ने किया है। रस को अलौकिक रूप देने तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय भट्ट नायक को ही जाना चाहिये।

भट्ट नायक के मत से सामाजिक या श्रोता सर्वप्रथम काव्य की अभिधाशक्ति के द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है। इसी व्यापार द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़कर साधारणीकृत हो जाते हैं। इस दशा में पहुंचने पर सामाजिक की बुद्धि में रजस् तथा तमस् गुणों का

प्रभाव नष्ट हो जाता है, वहां केवल सत्त्व गुण का उद्रेक पाया जाता है। रस दशा में सामाजिक समस्त लौकिक इच्छाओं से स्वतन्त्र हो जाता है। इस दशा में जो रसास्वाद होता है, उसका साधन भोजकत्व व्यापार है। भट्ट नायक के इस सिद्धान्त पर सांख्यदर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। भट्ट नायक के इस सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने जो दोष निकाला, वह यही है कि भट्ट नायक की भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार की कल्पना का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं।

(४) **अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद** :– भरत के रससूत्र के विषय में अन्तिम मत अभिनवगुप्त का व्यञ्जनवादी मत है। रसशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र में यह मत अपनी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि पा सका है। अभिनवगुप्त व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी आलंकारिक हैं। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों के अनुसार वे रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद–रसध्वनि–मानते हैं। इसी कारण वे रस को व्यंग्य मानते हैं तथा उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। काव्य या नाटकादि में प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव रस के अभिव्यञ्जक हैं, रस अभिव्यंग्य। इस प्रकार अभिनव विभावादि तथा रस में परस्पर व्यंग्य–व्यञ्जक–भाव मानते हैं।

हम देखते हैं कि लौकिक रूप में अपने जीवन में हम कई प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव हमारे मानस म रत्यादि भावों की स्थिति को जन्म देते हैं। प्रत्येक सहृदय के मानस में ये रत्यादि भाव ठीक उसी तरह छिपे–पड़े रहते हैं, जैसे नयी शराब मे छिपी मृत्तिका की सौंधी बास। जब शराब में जल डाला जाता है, तो मृत्तिका की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती न पानी उस गन्ध को उत्पन्न ही करता है। ठीक इसी तरह जब सहृदय काव्य पाठ पढ़ता है या नाटकादि का अवलोकन करता है तो उस काव्यानाटकादि में वर्णित विभावादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं, और वह भाव रसरूप व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार सहृदय ही रस का आस्वाद कर सकता है, क्योंकि इसके लिये पूर्व संस्कार अपेक्षित है। यह रस लौकिक भावानुभव से सर्वथा भिन्न होता है, यही कारण है कि इसे अलौकिक विशेषण से विभूषित कर, ब्रह्मास्वादसहोदर बताया जाता है इस दशा में सहृदय आनन्दघन का अनुभव करता है। इस दशा की तुलना योगी की दशा से की जा सकती है। दोनों दशाओं में पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त की यह कल्पना रस की तुलना शैव वेदान्त की 'विमर्श' दशा से करती जान पडती है जहां साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है।

इस दशा में पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि अपने वैयक्तिक रूप को छोड़ दें, साथ ही सामाजिक भी निर्वैयक्तिकता धारण कर लें। उस समय दुष्यन्त–शकुन्तला, राम–सीता अपने व्यक्तित्व को छोड़कर केवल नायक तथा नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं, साथ ही हम भी केवल रसानुभावकर्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभावादि केवल विषय–मात्र तथा सामाजिक केवल विषयि–मात्र रह जाता है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने 'भारती' में स्पष्ट बताया है कि साधारणीकरण केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं, सभी तत्त्वों का–अनुभावादि का भी होता है। साधारणीकरण के कारण ही रसानुभूति होती है, क्योंकि उस दशा में वैयक्तिक रागद्वेषादि का लोप हो जाता है। रसानुभूति का आनन्द अलौकिक है। इसका आस्वाद प्रपाणक के आस्वाद की भाँति है। प्रपाणक में इलायची, काली मिर्च, मिश्री, केशर, कर्पूर आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जो प्रत्येक वस्तु के अलग–अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न है। वैसे ही विभावादि सभी का आस्वाद मिलकर रस की विशेष प्रकार की चर्वणा को जन्म देता है।

जैसा आगे धनंजय एवं 'धनिक की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में स्पष्ट होगा, दशरूपककार रस को व्यंग्य न मानकर तात्पर्यवृत्तिगम्य मानते हैं, साथ ही विभावादि एवं रस में परस्पर भाव्य भावक–भाव मानते हैं। उन्हें ध्वनिवादियों का रससम्बन्धी सिद्धान्त मान्य नहीं।

× × ×

रूपक के तीन भेदक तत्त्वों की विवेचना की गई। इनके अतिरिक्त नाटकादि रूपकों में नाटकीय वृत्तियाँ, संगीत नृत्य, का भी प्रमुख स्थान है। दशरूपककार ने संगीत तथा नृत्य की विवेचना नहीं की है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन दोनों का क्रमशः वाचिक तथा आंगिक अभिनय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। दशरूपककार ने सात्त्विक अभिनय–रस का विवेचन किया है। संस्कृत की कई नाटकों में हम संगीत तथा नृत्य का विनियोग पाते हैं। शकुन्तला में आरम्भ में नटी का संगीत तथा षष्ठ अंक मे हंसपदिका का गीत है। मालविकाग्निमित्र में मालविका का नृत्य है। पर दशरूपक में ही नहीं, बाद के अलंकारशास्त्र के उन ग्रन्थों में भी जो नाट्यशास्त्र के रूपकसम्बन्धी विवेचन का प्रयोग करते हैं, संगीत व नृत्य का विवेचन इसलिए नहीं मिलता, कि वे इन्हें संगीत–शास्त्र के विषय समझने लगे थे।

कीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है, दूसरी ओर रसों से भी उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वृत्तिया हैं :– कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती। भारती, दशरूपककार के मतानुसार शाब्दिक वृत्ति है, उसका प्रयोग विशेषतः ुख या प्रस्तावना में पाया जाता है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगार रस के अनुकूल होता है। इसके चार अंग होते हैं :– नर्म, स्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। इन अंगों की विवेचना मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। सात्त्वती वृत्ति वीर, अद्भुत तथा भयानक के उपयुक्त ी है। इसका प्रयोग करुण तथा शृंगार में भी किया जा सकता है। आरभटीवृत्ति का प्रयोग भयानक, बीभत्स, रौद्र रसों में होता है।

ग भाग को समाप्त करने के पूर्व हम दशरूपकों की तालिका के साथ उनके वस्तु आदि भेदकों का संकेत कर देते हैं, जो उनके रस्पर भेद को स्पष्ट कर देंगे।

१. **नाटक** :– पञ्चसन्धियुक्त पौराणिक या ऐतिहासिक वस्तु, ५ से १० तक अंक, धीरोदात्त नायक, शृंगार या वीररस, कैशिकी या सात्त्वती वृत्ति।

२. **प्रकरण** :– पञ्चसन्धियुक्त कल्पित वस्तु, ५ से १० तक अंक, धीरप्रशान्त नायक, शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति।

३. **भाण** :– धूर्तचरितविषयक कल्पित वस्तु, एक अंक, कलावित् विट नायक, एक ही पात्र की उक्ति–प्रत्युक्ति का प्रयोग, वीर तथा शृंगार रस।

४. **प्रहसन** :– कल्पित वस्तु, एक अंक, पाखण्डी, कामुक, धूर्त आदि पात्र, हास्य रस।

५. **डिम** :– पौराणिक वस्तु, चार अंक, विमर्श रहित चार सन्धियों में विभक्त वस्तु, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृंगार से भिन्न ६ रस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति।

६. **व्यायोग** :– प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, गर्भ तथा विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, एक अंक, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृंगार से भिन्न ६ रस, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति, –इस रूपक–भेद में स्त्री पात्र कम होते हैं, पुरुष अधिक।

७. **समवकार** :– देव–दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, विमर्श सन्धि का अभाव बाकी चार सन्धियों की स्थिति, ३ अंक, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के १२ नायक; वीर रस, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति।

८. **वीथी** :– कल्पित वस्तु, एक अंक, शृंगारप्रिय नायक, शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति।

९. **अंक** :– प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, एक अंक, प्राकृत पुरुष नायक, करुण रस, सात्त्वती वृत्ति।

१०. **ईहामृग** :– मिश्रित कथावस्तु, चार अंक, गर्भ व विमर्श से रहित तीन सन्धियां, धीरोद्धत नायक, शृंगार रस।

रस-विरोध तथा उसके निराकरण पर

कभी–कभी ऐसा देखा जाता है, एक ही काव्य में एक से अधिक रसों का समावेश कर दिया जाता है। ऐसी दशा में कवि को यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ये रस परस्पर विरोधी तो नहीं, तथा प्रमुख भाव या रस को क्षति तो नहीं पहुंचाते। स्थायी भाव या भाव की परिभाषा निबद्ध करते समय दशरूपककार बताता है कि वह लवणाकर के समान है, जो सभी वस्तुएं आत्मसात् कर लेता है, उन्हें भी खारी बना लेता है। स्थायी भाव वही है, जो सजातीय तथा विजातीय भावों से क्षुण्ण न होता हो।

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।

भावों का परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है–या तो वे भाव एक साथ एक काव्य में न रह सकें या एक दूसरे के बाधक बन जायें, उनमें बाध्यबाधकभाव हो। जहाँ तक व्यभिचारियों का प्रश्न है उनका स्थायी के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, साथ ही वे एक साथ न रह सकते हों, यह भी बात नहीं है, क्योंकि वे तो स्थायी भाव के ही अंग बन कर काव्य में आते हैं। उनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अंग होने के कारण व्यभिचारीभाव स्थायीभाव के विरोधी नहीं हो सकते।

जहाँ तक स्थायी भाव या रस के विरोध का प्रश्न है, यदि उनके आलम्बन अलग अलग हैं, तो कोई विरोध नहीं होता। उदाहरण के लिए मालतीमाधव में शृंगार रस है, उसके पञ्चम अंक में बीभत्स का चित्रण है। ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है ? नहीं मालती माधव में एक साथ शृंगार तथा बीभत्स का निबन्धन विरोधी इसलिए नहीं पड़ता कि इन दोनों के आलम्बन भिन्न–भिन्न हैं। शृंगार का आलम्बन मालती है, तो बीभत्स का श्मशान। वहीं रौद्र रस का उपनिबन्धन है, जहाँ अघोरघण्ट कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन बनता है। यदि अलग–अलग आलम्बन बनाकर, विरोधी रसों का उपनिबन्धन किया जाये, तो विरोध नहीं होता, न वे एक–दूसरे के बाधक ही होते हैं।

दो परस्पर विरोधी रसों के विरोध–परिहार का एक ढंग यह भी है कि दोनों के बीच ऐसे रस का समावेश कर दिया जाय जो इनमें का विरोधी न हो।

इसी बीच एक प्रश्न उठना सम्भव है। जहाँ एक ही रस प्रमुख हो, वहाँ अन्य विरोधी या अविरोधी रसों को उसका अंग मानकर विरोधाभाव मानना ठीक है। पर ऐसे भी काव्य हैं, जहाँ कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस–विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? वृत्तिकार धनिक इस शंका के उठाते समय कई ऐसे काव्य–पद्य–उपस्थित करते हैं, जहां एक से अधिक रसों का समप्राधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शंका का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। निम्न दो उदाहरणों को लिया जा सकता है :–

(१) एक्कत्तो रुअई पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो। पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्।।

(२) एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं भानोबिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम्।

अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी। द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा।।

यहाँ पहले उदाहरण में हम देखते हैं कि कोई योद्धा समर–यात्रा के लिए तैयार है। युद्ध में जाने के पहले वह प्रिया से विदा ले रहा है। विदा होते समय प्रिया रोकर अपने दुःख की व्यंजना कराती है। एक ओर प्रिया का रोना उसके हृदय में प्रेम का संचार करता है, दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का शब्द हृदय में वीरता का संचार करता है। इस प्रकार योद्धा का दिल जैसे प्रेम और वीरता के हिंडोले पर, सन्देह–दोला में झूल रहा हो। शंका करने वाला यहाँ दोनों रसों–शृंगार तथा वीर–का समप्राधान्य मानता है। धनिक इस शंका का निराकरण करते बताते हैं कि यहाँ वीररस की ही प्रधानता है, शृंगार रस तो गौण है, तथा उसी का पोषक बनकर आया है। ऊपर की गाथा का 'भटस्य' पद भी इसी बात का संकेत करता है।

दूसरे उदाहरण में, सन्ध्याकाल के समय सूर्यास्त से उत्पन्न किसी चक्रवाकी की विरह दशा का वर्णन है। सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का बिम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशंका से भविष्यत् प्रियविरहशंकिनी चकवी सूर्यबिम्ब को एक आँख से गुस्से के साथ देख रही है। उसकी दूसरी आँख प्रिय पर टिकी है, और उस आँख में आँसू भर आये हैं। इस तरह चकवी एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो रसों की व्यंजना करा रही है। यहाँ हम देखते हैं कि चकवी एक ओर क्रोध का अनुभव कर रही है, दूसरी ओर विरहविदग्धता का। इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा क्रोध की व्यंजना हो रही है। शंका को उठाने वाले के मत से यहाँ तीनों भावों का समप्राधान्य है। धनिक इससे सहमत नहीं। यहाँ रसविरोध का निराकरण करते हुए ये बताते हैं कि इस काव्य में प्रमुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है; अतः यहाँ अनेक तात्पर्य की समप्रधानता नहीं है।

'एकेनाक्ष्णा इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम्।'

रस–शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में कौन–कौन रस किस–किस रस का विरोधी है, इसका विशद वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिये शृंगार का रौद्र, शान्त तथा करुण से विरोध है। दशरूपककार का प्रमुख लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का एक छोटे से पैमाने में समावेश कर देना है। यही कारण है धनंजय एवं धनिक अनावश्यक विस्तार में जाना अभीष्ट न समझकर परस्पर विरोधी रसों की पूरी तालिका नहीं देते। फिर भी रसविरोध तथा उसका परिहार जितना कहा गया है, वह सूत्ररूप होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस–शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यतायें तीन शीर्षकों में बाँट सकते हैं :–

(१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का निषेध।

(२) रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।

(३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्त का निषेध।

(१) धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्ति :– धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। वे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन ही वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी की नई कल्पना, व्यंजना या तुरीया वृत्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाट्ट मीमांसक व्यंजना वृत्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यंग्य मानते हैं तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकाश में इसी मत का खण्डन करते हुए अपने इस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है; जैसे किसी वाक्य रूप में अभिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया, कारकों से युक्त होकर, वाक्यार्थ बन जाती है।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया। वाक्यार्थः कारकैयुक्ताः स्थायीभावस्तथेतरैः।।

धनंजय की इस कारिका का वाक्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यशक्तिगम्य माना है। इसी कारिका के उपोद्घात के रूप में वृत्तिकार धनिक ने सर्वप्रथम ध्वनिकार के मत को उपस्थित किया है, जो काव्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्य–वाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दलील देते हैं कि रस के वाचक श्रृंगारादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये श्रृंगारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति हो ही यह आवश्यक नहीं। साथ ही, वाच्यवाचकभाव मानने पर तो काव्य का वाच्य अर्थ जानने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को रसानुभूति होनी चाहिये; पर ऐसा होता नहीं, रस प्रतीति सहृदय ही कर पाता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा रसप्रतीति मानने पर यह आपत्ति आती है कि काव्य का मुख्यार्थ ठीक बैठ ही जाता है, अतः वहां मुख्यार्थ बाध नहीं मान सकते और मुख्यार्थ बाध के बिना लक्षणा संगत नहीं हो सकती। अतः रस तथा विभावादि में परस्पर कोई अन्य सम्बन्ध मानना होगा। वस्तुतः विभावादि व्यञ्जना के द्वारा रस को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार इनमें परस्पर व्यंग्य–व्यञ्जक–भाव है। वृत्ति में धनिक ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से उदाहरण देते हुए ध्वनिकार आनन्द के मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त किया है।

ध्वनिकार की व्यंजना तथा व्यंग्यार्थ का खण्डन करते हुए धनिक ने ऊपर की कारिका की वृत्ति में अपने सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठापना की है। उसके मत से स्थायी भाव तथा रस काव्य के वाक्यार्थ या तात्पयार्थ है। हम देखते हैं कि कोई भी वैदिक या लौकिक वाक्य कार्यपरक होता है। ऐसा न हो तो वह उन्मत्त प्रलपित हो जायेगा। काव्य के शब्दों का कार्य या लक्ष्य आनन्दोद्भूति है। इस आनन्दोद्भूति के कारण विभावादि से युक्त स्थायी भाव ही हैं। वाक्य की अभिधाशक्ति उन–उन विभावादि का प्रतिपादन करती है और उनके द्वारा रस के रूप में पर्यवसित होती है। काव्यशब्दों के पदार्थ विभावादि हैं, तथा वाक्यार्थ स्थायी भाव एवं रस। इस प्रकार उनमें वाच्यवाचक भाव मानना पड़ेगा। यहाँ अपने अन्य ग्रंथ काव्यनिर्णय से वे कुछ कारिकाएं उद्धृत करते हुए इस मत को और स्पष्ट करते हैं :–

'काव्य का प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न कोई वस्तु नहीं, अतः उसमें ध्वनि की कल्पना करना ठीक नहीं है। × × × × हम यह तो नहीं कह सकते कि तात्पर्य यहीं तक है, आगे नही। तात्पर्य कोई तौली हुई चीज तो है नहीं। वस्तुतः तात्पर्य तो वक्ता के कार्य, वक्ता के विवक्षित पदार्थ तक रहेगा।'

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजनीयस्य न ध्वनिः।

× × ×

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।।

इस प्रकार धनञ्जय तथा धनिक को व्यंजना वृत्ति या रस का व्यंग्यत्व स्वीकृत नहीं।

(२) **धनञ्जय व धनिक का रससम्बन्धी मत** :– धनंजय व धनिक को रस का व्यंग्यत्व मान्य नहीं। वे विभावादि तथा रस में भाव्यभावक–सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत में विभावादि या काव्य भावक है, रसादि भाव्य। हम भट्टनायक के मत में देख चुके हैं कि वे रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में दो व्यापारों की कल्पना करते हैं–भावकत्व तथा भोजकत्व। धनंजय तथा धनिक भावकत्व व्यापार के आधार पर रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भाव्यभावक सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। यदि कहीं भरतसूत्र का अर्थ धनंजय के मतानुसार किया जाये तो 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भावना' होगा। 'भाव' इसलिए भाव कहलाते हैं कि सामाजिकों को श्रृंगारादि रस की भावना कराते हैं :–

भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्। यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।।

सामाजिक नाटकादि में नटों के द्वारा अर्जुनादि का अभिनय देखकर उन्हें अर्जुनादि समझ कर उनसे उत्साहादि का आस्वाद ठीक वैसे ही करता है, जैसे बालक मिट्टी के हाथी घोड़ों से खेलते हुए उनसे रस प्राप्त करता है।

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः। स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।।

इस प्रकार हम धनंजय व धनिक के रससिद्धान्त में तीन बातें पाते हैं :–

(१) रस व्यंग्य न होकर, काव्य का तात्पर्यार्थ हैं

(२) रस की भावना होती है, विभावादि में तथा उसमें परस्पर भाव्यभावक–भाव है।

(३) नटादि सामाजिक के लिए उसी तरह रामादि बन जाते हैं, जैसे बच्चे के लिए मिट्टी के हाथी–घोड़े सच्चे हाथी–घोड़े बन जाते हैं।

लोल्लट व्यंग्यार्थ को 'दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारजन्य' मानता है। धनंजय के मत में पहला अंश लोल्लट का प्रभाव है। हम देख चुके हैं कि धनंजय का रस की भावना वाला मत भट्टनायक की देन है। यद्यपि भट्टनायक 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' करते हैं, भावना नहीं तथापि 'भावना' भी भट्टनायक के मत में पाई जाती है। धनंजय के मत का दूसरा अंश भट्टनायक के मत का नवीनीकरण है। तीसरा मत स्पष्ट ही शंकुक से लिया गया है। नट के द्वारा अनुकार्य रामादि का अभिनय देखकर सामाजिक उसे रामादि ही समझते हैं। इस विषय में शंकुक ने रामादि के रूप में मंच पर आये हुए नट की तुलना 'चित्रतुरग' से की है, तथा 'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना की है। धनञ्जय तथा धनिक का मिट्टी के हाथी आदि का उदाहरण शंकुक के उदाहरण का ही दूसरा प्रकार है। इस प्रकार स्पष्ट है धनञ्जय के रससम्बन्धी मत में उनकी कोई नवीन कल्पना न होकर, ऊपर के तीन आचार्यों के मतों का ही समिश्रण है।

(३) **धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्तरस का निषेध** :- धनंजय ने चतुर्थ प्रकाश की ३५ वीं कारिका में शम नामक स्थायीभाव का निषेध करते हुए स्पष्ट कहा है :—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।

इस कारिका की वृत्ति में धनिक ने शम स्थायीभाव तथा शान्तरस की अस्वीकृति के कारण उपन्यस्त किए हैं। पहले वे शमविरोधी तीन मतों को सामने रखते हैं :—

(१) कुछ लोग शान्तरस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरतमुनि ने उसके विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नहीं किया

(२) कुछ लोग 'शान्तरस' का इसलिए अभाव मानते हैं, कि अनादिकाल से आये हुए रागद्वेष का नष्ट होना असम्भव है

(३) कुछ लोग शान्त का अन्तर्भाव वीर, बीभत्स आदि रसों में ही कर लेते हैं।

धनंजय बतलाते हैं कि वे शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकादि रूपकों में ही करते हैं। शम में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होनी चाहिए, यह व्यापार समाप्ति अभिनीत नहीं हो सकती। अतः अनभिनेय होने के कारण, शान्त की स्थिति नाटक में अस्वीकृत करनी ही पड़ेगी।

इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति देखी जाती है। कुछ लोग उन्हें धीरप्रशान्त कोटि के नायक मानने की भी भ्रान्ति कर बैठते हैं। जो लोग नागानन्द नाटक में शान्तरस मानते है, उन्हें धनिक निम्न उत्तर देते हैं :—

हम देखते हैं कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती से प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शम भाव के विरुद्ध पड़ती हैं। वस्तुतः जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में वीर रस ही है। इस वीररस के मलयवती–प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तित्वलाभ से कोई विरोध भी नहीं जान पड़ता। इस सब निर्णय से स्पष्ट है कि नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

संस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाट्यशास्त्र को दशरूपक की देन :- दशरूपक का लक्ष्य है रूपक के मुख्य तत्त्व – वस्तु, नायक और रस का विवेचन तथा रूपक के दस भेदों का निरूपण। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए विशेष रूप से भरत के नाटयशास्त्र तथा उस समय उपलब्ध नाट्य विद्या के अन्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है, इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का भी स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। यथा भामह, रुद्रट, आनन्दवर्धन आदि के ग्रन्थ। इसमें पूर्ववर्ती आचार्यों का बुद्धिपूर्वक स्वीकरण अथवा युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है। साथ ही नवीन मन्तव्यों की भी उद्भावना की गई है। विशिष्ट देन इस प्रकार है (१) नाट्य सम्बन्धी सामग्री का नवीन ढंग से विश्लेषण (२) रसास्वादन ही रूपकों का प्रयोजन स्थापित करना (३) नाट्य, नृत्य तथा नृत्त में भेद दिखाना (४) रूपक के भेदक तत्त्वों का निर्देश (५) विभिन्न दृष्टियों से वस्तु विभाजन (६) नायक नायिकादि का सरल सुबोध वर्णन (७) वृत्ति, भाषा, प्रवृत्ति का संक्षिप्त निरूपण (८) रस सम्बन्धी मौलिक मत, रस और काव्य में भाव्यभावक सम्बन्ध दिखाना तथा ध्वनिवादियों का निराकरण (९) शान्त रस का निषेध (१०) प्रीति, भक्ति आदि के रसत्व का आठ रसों के भावों में ही अन्तर्भाव करके से रसत्व का खण्डन (११) नाट्यालंकार और नाट्यलक्षणों का अलग से वर्णन न करना।

परवर्ती आचार्य किसी न किसी रूप में दशरूपक के ऋणी हैं। नाट्यकाव्यों की समालोचना ही बाद में दशरूपक के आधार पर की जाने लगी। अतः यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ारतीय रंगमंच

श्य काव्य या रूपक रंगमंच पर अभिनीत किए जाने की वस्तु है। यही कारण है कि रंगमंच के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। रत के नाट्यशास्त्र में आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले के भारतीय रंगमंच की एक झांकी देखी जा सकती है। धनंजय ने रंगमंच का संकेत नही किया है। धनञ्जय का लक्ष्य सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के विषयों की विशद विवेचना नहीं था। कुछ शब्द भारतीय रंगमंच की बनावट, प्रकार, साजसज्जा के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृहों का विशद वर्णन किया है। उनके मत से नाटकादि का अभिनय तीन प्रकार के नाट्यगृहों में होता था। ये उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणी के होते हैं। पहला १०८ हाथ लम्बा, दूसरा ६४ हाथ लम्बा तथा तीसरा ३२ हाथ लम्बा होता है। इनमें दूसरा ठीक समझा गया है। समस्त नाट्यगृह को दो भागो में बांट दिया जाता है :– रंगमंच तथा दर्शकों के बैठने की जगह। दर्शकों के बैठने की जगह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की अलग–अलग जगह होती थी। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के बैठने की जगह पर उसका संकेत करने वाला स्तम्भ होता था। ब्राह्मणों के बैठने की जगह श्वेत स्तम्भ होता था, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की जगह क्रमशः रक्त, पीत तथा नील स्तम्भ। बैठने के आसन लकड़ी या ईट के होते थे। सामाजिकों के बैठने की जगह के सामने रंग या रंगमंच होता था। द्वितीय श्रेणी के नाट्यगृह में यह रंग आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा होता था। इसमें आखिर में रंगशीर्ष होता था। रंगमंच के पीछे पटी या जवनिका होती थी, इसके पीछे नेपथ्य गृह होता था। रंग को रंगशीर्ष, रंगमध्य तथा रंगपृष्ठ इन तीन भागों में विभाजित किया जाता था। रंग के दोनों ओर मत्तवारणी होती थी, जहाँ से पात्र प्रवेश करता था।

भरत के नाट्यशास्त्र में तीन तरह के नाट्यगृहों का उल्लेख है :– प्रथम नाट्यगृह दीर्घ चतुरस्र होता था, जिसे हम 'रेक्टेंग्युलर' कह सकते हैं, इसकी लम्बाई अधिक व चौड़ाई कम होती थी। दूसरे ढंग का नाट्यगृह विकृष्ट चतुरस्र होता था, जिसे हम 'स्क्वायर' कह सकते हैं, जो लम्बाई व चौड़ाई में बराबर होता था। तीसरे ढंग का नाट्यगृह तिकोना होता था, इसे त्र्यस्र कहा गया है। इनमें प्रत्येक सामाजिकों के बैठने की जगह तथा रंगमंच के विभिन्न भागों का विभाजन उनकी बनावट तथा लम्बाई–चौड़ाई के आधार पर किया जाता था।

भारतीय रंगमंच की अभिवृद्धि के साथ ही साथ संस्कृत के नाटकों का विकास हुआ। कालिदास, शूद्रक, हर्ष, भवभूति आदि के नाटक रंगमंच पर मजे से खेले जा सकते हैं, वे कोरे पाठ्य–नाटक नहीं। धीरे–धीरे भारतीय रंगमंच का ह्रास होता गया, किन्हीं कारणों से इन्हें राजाश्रय व लोकाश्रय न मिल पाया। फलतः नाटकों में सिद्धान्त और प्रक्रिया की दृष्टि से समन्वय न हो पाया। संस्कृत नाटक धीरे–धीरे पाठ्य–नाटक से बनते गये और उनका एक मात्र लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का उदाहरण के रूप में प्रकाशन हो गया। इन नाटकों में धीरे–धीरे श्रव्य काव्यत्व बढ़ता गया। इस प्रकार यवनों के भारत में आने के बाद ही भारतीय रंगमंच तथा संस्कृत नाट्य–साहित्य दोनों अपनी प्राचीन समृद्धि को खो चुके थे।

दशरूपकम्

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन–

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते। मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे।। १।।

यस्य कण्ठः पुष्करायते = मृदङ्गवदाचरति; मदाभोगेन घनध्वानः = निबिडध्वनिः, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धत नृत्ये तस्मै गणेशाय नमः। अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणो– पमाच्छायालङ्कारः–नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनि पुष्करायते इति प्रतीतेः।

संस्कृत के ग्रन्थकारों में ऐसी परिपाटी तथा शिष्टाचार प्रचलित हैं कि ग्रन्थारम्भ के पूर्व वे अपने इष्टदेवता का स्मरण मगलाचरण के रूप में किया करते हैं। इसी शिष्टाचार को प्रमाण मानकर उसका पालन करते हुए ग्रन्थकार धनंजय ने यहाँ सर्वप्रथम मगलाचरण की अवतारणा की है। उनका ग्रन्थ बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाये, इसीलिये अपने इष्टदेवता–प्रकृत और अभिमत (गणेश तथा विष्णु) को दो श्लोकों से नमस्कार किया है।

नीले कण्ठ वाले शिव के ताण्डव नृत्य करने कर मदजल की परिपूर्णता से गम्भीर तथा धीर ध्वनि वाला गणेश का कण्ठ मृदग के समान आचरण करता है। उन भगवान् गणेश को नमस्कार है। (अनुष्टुभवृत्त)

यहाँ 'नीलकण्ठ' शब्द का अर्थ 'मयूर' भी होता है। मयूरपक्ष के अर्थ करने पर **'मदाभोगघनध्वानः' इस पद के 'घनध्वानः'** इस खण्ड को लेकर उसका अर्थ 'मेघध्वनि' किया जा सकता है। इस खण्डश्लेष अलंकार के द्वारा शिव तथा गणेष पर मयूर तथा मघ का उपमानोपमेय भाव आक्षिप्त हो जाता है। अतः यहाँ श्लेष के द्वारा उपमा की छाया व्यंजित हो रही है। भाव यह है कि जैसे मयूर के ताण्डव के समय मेघध्वनि मृदंग के समान सुशोभित होती है वैसे ही शिव के उद्धत नृत्य के समय गणेश की गम्भीर कण्ठध्वनि भी वैसी ही प्रतीत होती है। नृत्य के समय मृदंग भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह उसकी ताल और गति का नियामक है।

प्रकरण – जिस रचना में किसी शास्त्र के एक अंश का व्यवस्थित, संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन किया जाता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। दशरूपक में नाट्य शास्त्र के अंश दशरूपकों का संक्षिप्त तथा विशद विवेचन है इसलिए प्रकरण ग्रन्थ है।

खण्ड श्लेष – जहाँ किसी पद के खण्ड मात्र में श्लेष होता है वह खण्ड श्लेष कहलाता है, यहाँ 'मदाभोगघनध्वान' में घनध्वान में ही श्लेष होने से खण्ड श्लेष है।

उपमा छाया – जहाँ उपमा केवल तात्पर्य द्वारा जानी जाती है वहाँ उपमा छाया कहलाती है।

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः। नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय ।। २ ।।

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावकाः = ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति = हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः।

जिन भगवान् विष्णु के मत्स्य–कूर्मादि दशावतारों के श्रवणादि से भावुक भक्त प्रसन्न होते हैं, उन सर्वज्ञ भगवान् विष्णु को नमस्कार हो; तथा जिन महर्षि भरत के द्वारा निर्वृत्त दश (नाटकादि) रूपक–भेदों के अवलोकन और पर्यालोचन से सहृदय सामाजिक प्रसन्न होते हैं, उन मुनि भरत को भी नमस्कार है। अनुष्टुभ वृत्त)

दशरूप = दश अवतार, नाटक आदि रूपक, अनुकार = ध्यान, अभिनय, भावकाः = ध्यान करने वाले, रसिक दशरूपानुकारेण तथा भावक दोनों पदों में श्लेष है। विष्णु द्वारा ग्रन्थकार ने अपने पिता को नमस्कार किया है।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते–

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः। घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम्।। ३।।

तं कञ्चिद्विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

किसी भी ग्रन्थ के प्रति पाठक या श्रोता को आकृष्ट करना आवश्यक है। इसीलिये उसको प्रवृत करने के लिये बताया जाता है कि

करणादिरूप किसी विषय या ग्रन्थ को हर कोई कवि सर्वांगपूर्ण नहीं बना पाता। यह तो देवी सरस्वती की ही कृपा है कि वह किसी सी विद्वान् के किसी विषय को कभी–कभी इस ढंग से घटित कर देती है कि उस विषय के पर्यालोचन से दूसरा मनुष्य ज्ञानी ा विदग्ध हो जाता है। (आर्यावृत्त)

प्रवृत्तिविषयं दर्शयति–

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि- श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।। ४।।

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं, लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती, कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः, तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः।

ग्रन्थ के आरम्भ के पूर्व यह भी अपेक्षित है कि अपने विषय का उल्लेख कर दिया जाये। अतः दशरूपककार धनञ्जय अपने ग्रन्थ के विषय तथा उसकी पर्यालोचना में आश्रित सरणि का संकेत करते हैं।

समस्त वेदों के जिस सार को लेकर भगवान् ब्रह्मा ने नाट्य नामक (पंचम) वेद की रचना की, जिस वेद से सम्बद्ध अभिनय प्रयोग को हाथ तथा पांव के समायोग एवं अंगविक्षेप के द्वारा भरत मुनि ने पल्लवित किया; जिसमें भगवान् शिव ने ताण्डव नृत्य का तथा भगवती पार्वती ने लास्य नृत्य का समावेश किया, उस नाट्यवेद के सम्पूर्ण लक्षण कौन कर सकता है ? यद्यपि देवताओं और महापुरुषों के द्वारा निबद्ध इस नाट्यशास्त्र की सिद्धान्तसरणि का विवेचन अस्मादृश लौकिक प्राणियों के लिए असम्भव है, फिर भी उन नाट्य के लक्षणों को लेकर केवल कुछ संक्षेप करता हूँ। यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की नाट्योत्पत्ति की ओर संकेत किया गया है।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति–

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः। तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा।। ५ ।।

व्याकीर्णे = विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

नाट्यवेद का विवेचन तो भगवान् विष्णु, ब्रह्मा तथा भरत मुनि कर चुके हैं; तो फिर से उसी का वर्णन करना क्या पिष्टपेषण न होगा; इस आशंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहता है, नाट्यशास्त्र (रसशास्त्र) बड़ा विस्तृत तथा गहन है, अतः मन्दबुद्धि वालों को बुद्धिभ्रम हो जाता है, वे वास्तविक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते। इसलिये इस ग्रन्थ में उसी (भरतमुनि प्रणीत) नाट्यवेद के अर्थ को लेकर उन्हीं पदों के द्वारा सीधे ढंग से संक्षिप्त कर दिया है। अतः यह ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र अभिनव ग्रन्थ न होकर उसी का छोटा रूप है। इसलिये इसकी रचना में कोई पिष्टपेषण नहीं। (अनुष्टुभ)

हमारे ग्रन्थ का विषय या प्रकरण दशरूपक (रूपक के नाटकादि दस भेद) है; तथा प्रकरण का फल है इन दस रूपकों का ज्ञान। किन्तु दशरूपक का फल क्या है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर बताते हैं कि रूपकों के पर्यालोचन का लक्ष्य केवल व्युत्पत्ति या लौकिक ज्ञान न होकर रसरूप अलौकिक आस्वाद का अनुभव है।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपं किं फलमित्याह–

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्यत्युपत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः। योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय।। ६।।

तत्र केचित्–

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।।'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादित्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठम्।

रूपक (अलौकिक) आनन्द से प्रवण रहते हैं। इनका लक्ष्य (फल) सहृदय को अलौकिक आनन्दरूप रस का आस्वाद कराना है। कोई अल्पबुद्धि विद्वान् इन रूपको का फल केवल इतना ही मानता है कि इनसे व्युत्पत्ति होती है, ठीक वैसे ही जैसे इतिहास, पुराण आदि के पठन से लौकिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह के मत वाला विद्वान् रस के आस्वाद से पराङ्मुख है; इसमें सहृदयता या रसिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसे विद्वान् को सर्वथा नमस्कार है। (इन्द्रवज्रा)

कुछ लोगों का कहना है कि 'सत्काव्य के सेवन करने से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में कलाओं में विदग्धता प्राप्त होती है तथा यश में कीर्ति तथा प्रीति का सन्निवेश होता है। इस मत वाले लोग काव्य का फल या प्रयोजन धर्म आदि त्रिवर्ग का ज्ञान ही मानते हैं इस मत का खण्डन करते हुए धनंजय यह व्यञ्जित करना चाहते हैं कि दशरूपकों के अनुशीलन का एकमात्र फल स्वसंवेद्य परमानन्दरूप रसास्वाद है, इतिहासादि के अध्ययन की तरह नहीं जो कि धर्मादि के कारण है। यहाँ इस मत के प्रवर्तक (आचार्य आदि को नमस्कार है, वह उनका मजाक उड़ाने के लिए है।

नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह–

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

ग्रन्थकार ने अनुबन्ध चतुष्टय का संक्षेप में निरूपण किया है, विषय दशरूपक है। दशरूपकों के ज्ञान का इच्छुक जन इसका अधिकारी, प्रकरण ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध, रचना का प्रयोजन रूपकों का स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवेचन नाट्यों का संक्षिप्त वर्णन देता हूँ' ऐसा कहने पर, क्या कहा है यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, अतः उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–'अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के नायक (तथातत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल–ढाल, वेश–भूषा, आलाप–प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरंण इस ढंग से किया जाये कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाये। जैसे नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करें कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। नाट्य के समय दुष्यन्त और नट का भेद न रहे उनमें परस्पर अभेद आपत्ति हो जाये।

रूपं दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत्।

यही नाट्य रूप भी कहलाता है। नाट्य केवल श्रव्य काव्य न होकर रंगमंच के ऊपर अभिनीत भी होता है, अतः यह दृश्य है, देखा जा सकता है। जैसे हम नीले–पीले आदि रंग को देखते हैं तथा हमारे चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी तरह चक्षुग्राह्य होने के कारण नाट्य रूप भी कहलाता है।

रूपकं तत्समारोपात्

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दर शक्रः इतिवत्प्रवृत्तेः निमित्तभेदो दर्शितः।

वही नाट्य–रूप रूपक भी कहलाता है; क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलंकार में हम देखते है कि मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है–मुख चन्द्र (मुखरूपी चन्द्रमा); वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है, अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारते हैं, ऐसे ही एक ही अर्थ में नाट्य रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है, इसे बताया गया है।

-दशधैव रसाश्रयम्।। ७ ।।

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण। नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

रसों पर आश्रित यह नाट्य केवल दस ही तरह का होता है। शुद्ध नाट्य केवल दस तरह का होता है, इस अवधारण के लिए ही (एव) का प्रयोग किया गया है। नाटिका का समावेश रूपक के शुद्ध भेदों में नहीं। उसका वर्णन संकीर्ण रूप के आगे किया जायगा इसीलिये रूपक केवल दस तरह के माने हैं।

टिप्पणी – नाट्य को अवस्था का अनुकरण कहा गया है। दशरूपक के अनुसार नायक के प्रायः सभी काम अवस्थाये हैं अतः नाट्य की परिभाषा लोकवृत्तानुकरण दी है।

'योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।। (१.११६)

नट का भाव या कर्म नाट्य कहलाता है, वह कर्म है अभिनय कौशल के द्वारा नट का अनुकार्य (राम आदि) के साथ तादात्म्य (नट में यह राम है इस प्रकार की एकरूपता) प्राप्त करना। अभिनय चार प्रकार का है। (१) भुजा आदि अंगों द्वारा अभिनय आंगिक है, (२) वचन के द्वारा किया जाने वाला वाचिक है, (३) आहार्य ग्राह्य, नाट्य के योग्य अलंकार, वेषभूषा आदि धारण करना आहार्य और सत्त्व (सुख दुःख की भावना से भावित अन्तःकरण सत्त्व) से निष्पन्न होने वाले सात्त्विक भावों के द्वारा किया गया अभिनय सात्त्विक है।

धनंजय के अनुसार रूप शब्द की व्युत्पत्ति 'रूप्यते दृश्यत इति। नाट्य दर्पण के अनुसार 'रूप्यन्ते अभिनीयन्ते' इति रूपाणि नाटकादीनि। रूपक–रूपम् एवं रूपकम् या रूपयति इति अथवा आरोपयति इति (√रुह्+णिच्)। रूपक नाम की सार्थकता यह है, जैसे रूपक अलंकार में अप्रस्तुत को प्रस्तुत पर आरोपित करते हैं, ऐसे ही रामादि नट पर आरोपित होते हैं। प्रवृत्ति निमित्त– जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्द प्रवृत्ति निमित्त कहलाता है।

जैसे पुराणों के समान ही वर्ण्य, विषयादि वाले ग्रन्थ उपपुराण कहे जाते हैं, ऐसे ही दसरूपकों से मिलती जुलती वस्तु, नेता और रस वाले उपरूपक कहे गए हैं। वस्तुतः रूपक के समान उपरूपक भी रस के स्रोत होते हैं।

तानेव दशभेदानुद्दिशति–

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।। ८ ।।

उन दस भेदों का उल्लेख करते हैं :– 'नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क, ईहामृग'।

ननु–

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः। काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्।।

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह–

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्-

रसाश्रयानाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यं तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्। नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिचलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नाटव्यपदेशः। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

इस विषय में यह आशंका हो सकती है कि किसी–किसी ग्रन्थकार का मत भिन्न है, जैसे 'नृत्य के डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य, ये सात भेद होते हैं, वे भाण की तरह ही होते हैं' इस तरह तो दूसरे रूपक भी सिद्ध होते हैं, फिर 'रूपक दस ही हैं' इसप्रकार अवधारण करना ठीक नहीं जान पड़ता; इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि (नृत्य नाट्य से भिन्न है) भावाश्रय नृत्य बिलकुल अलग चीज है।' नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित हैं, जबकि नृत्य भाव पर आश्रित है, अतः वे दोनों भिन्न–भिन्न हैं। (नाट्य में पात्रों का सर्वांगीण चित्रण करते हुए रस की परिपुष्टता की जाती है जो भाव की परम परिषोषसीमा है, जबकि नृत्य में केवल भावों की अभिव्यंजना ही रहती है। नाट्य में कथोपकथन आवश्यक होता है, जब कि नृत्य में केवल गात्रविक्षेपादि से ही भावव्यंजना होती है। नाट्य या रूपक का उदाहरण शाकुन्तल नाटक है, नृत्य का उदयशंकर के भाव नृत्य)। नाट्य रसाश्रित है, नृत्य भावाश्रित, इसलिये उनमें विषयभेद है; तथा 'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'गात्रविक्षेप, जिसका तात्पर्य आंगिक अभिनय की बहुलता है, (जब कि नाट्य में चारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं); साथ ही नृत्यकलाविशारद नर्तक कहलाते हैं (नट नहीं); साथ ही नृत्य तो केवल देखने भर की चीज है, वहाँ श्रवणीय कुछ नहीं होता; कथनोपकथन का वहाँ अभाव रहता है; लौकिक व्यवहार में 'यहाँ प्रेक्षणीयक (दृश्य) है' ऐसा प्रयोग नृत्य के लिये किया जाता है। इसीलिये नाटकादि रूपकों से नृत्य सर्वथा भिन्न वस्तु है, अतः 'दस ही रूपक हैं' यह अवधारण श्रीगदितादि के विषय में संगत बैठ जाता है। नाटकादि रूपक कोरे भाव पर आश्रित न होकर, रसपरक होते हैं। रस समस्त काव्य के उस वाक्यार्थ से निष्पन्न होता है, जो काव्य में प्रयुक्त पदों के अर्थरूप विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संसर्ग से युक्त होता है, इसलिए वाक्यार्थरूप अभिनय का पाया जाना (अर्थात् आंगिक अभिनय की सत्ता) रसाश्रय है इस बात का संकेत किया गया है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट अवस्पन्दने' धातु से हुई है, यहाँ नट धातु का अर्थ अवस्पन्दन, या कुछ–कुछ चंचलता है, अतः नाट्य में सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है, इसीलिये नाट्य वेशारद नट कहलाते हैं। जैसे गात्रविक्षेप के समान रूप से दोनो में पाये जाने पर भी नृत्य नृत्त से सर्वथा भिन्न इसीलिये है कि प्रथम में अनुकरण पाया जाता है, दूसरे में नहीं, वैसे ही वाक्यार्थरूप (वाचिक) अभिनय वाले नाट्य से पदार्थरूप अभिनय वाला नृत्य भी अलग चीज है।

प्रसंगान्नृत्तं व्युत्पादयति–

-नृत्तं तालल्याश्रयम्।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति। अनन्तरोक्त द्वितीय व्याचष्ट

ऊपर के विवेचन में प्रसंगवश 'नृत्त' का उल्लेख हो गया है, अतः उसकी व्युत्पत्ति की जाती है। नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है। नृत्त में केवल अंगविक्षेप पाया जाता हे, अभिनय का वहाँ अभाव रहता है। यह नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है, तथा लय के आधार पर गति का आश्रय लेता है। इसमें किसी भी प्रकार के अभिनय की सत्ता नहीं होती, कोरा गात्रविक्षेप रहता है, जो ताल तथा लय के द्वारा नियमित होता है।

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टि–

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम्।। ६ ।।

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति। द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति–

इन्हीं नृत्य तथा नृत्त की पुनः व्याख्या करते हुए बताते हैं कि 'पहला पदार्थाभिनयरूप नृत्य मार्ग भी कहलाता है, तथा दूसरा (नृत्त) देशी भी कहलाता है।' शास्त्रीयपद्धति से समन्वित पदार्थाभिनयरूप गात्रविक्षेप नृत्य कहलाता है। यह शास्त्रीय होने के कारण मार्ग भी कहलाता है। नृत्त में कोरा गात्रविक्षेप है, जो तालल्यसमन्वित हे, पर शास्त्रीय नहीं, अतः उसे 'देशी' के नाम से भी पुकारते हैं

टिप्पणी – संक्षेप में नाट्य, नृत्य और नृत्त में इस प्रकार अन्तर है

१. नाट्य में वाक्यार्थ अभिनय, नृत्य में पदार्थाभिनय।

२. नाट्य रस का स्रोत है, नृत्य भाव मात्र का बोध कराता है।

३. नाट्य में सात्त्विक अभिनय की बहुलता, नृत्य में आंगिक अभिनय की बहुलता।

४. नाट्य का करने वाला नट, नृत्य का करने वाला नर्तक।

५. नाट्य की व्युत्पत्ति नट् धातु से, नृत्य की नृत् धातु से।

६. नाट्य में अवस्था की अनुकृति, नृत्य में भावों की।

७. नाट्य में अभिनय के साथ साथ पाठ्य भी जो कि श्रव्य भी, नृत्य में सुनने के लिए कुछ नहीं होता।

नृत्य और नृत्त

१. दोनों की व्युत्पत्ति नृत् धातु से जिसका अर्थ अंग विक्षेप।

२. दोनों के दो दो भेद सुकुमार और लास्य।

३. नृत्य में भावाभिनय किन्तु नृत्त में कोई अभिनय नहीं।

४. नृत्य भावाश्रित, नृत्त ताल और लयाश्रित।

५. नृत्य में अंग विशेष शास्त्र पद्धति के अनुसार किन्तु नृत्त में अंग विक्षेप लोकसरणि के अनुसार।

मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः।

लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्।। १०।।

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसंगोक्तस्योपयोगं दर्शयति–तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नाटकादेः क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

वे दोनों ही फिर से दो ढंग के होते हैं :– 'मधुर तथा उद्धत; मधुर लास्य कहलाता है, और उद्धत ताण्डव। ये दोनों तरह के नृत्य तथा नृत्त नाटकादिरूपकों के उपस्कारक होते हैं। ये दोनों प्रसङ्गोक्त नृत्य और नृत्त विषय के उपयोगी हैं इसलिए नाटकाद्युपकारकम् पद का प्रयोग किया है। नाटकादि में पदार्थाभिनय के रूप में भावाश्रय नृत्य का तथा शोभाजनक होने के कारण नृत्त का प्रयोग पाया जाता है।

शास्त्रीय नृत्य में कोमल भावों तथा उद्धत भावों की व्यंजना में भिन्न–भिन्न सरणि का आश्रय लिया जाता है। इसलिए इस को दो तरह का माना है–सुकुमार लास्य और उद्धत ताण्डव। इसी तरह देशी नृत्त का भी हाल है। लोकनृत्तों में प्रयुक्त भैरोजी, माताजी के नृत्त

जिन्हें हम गांवों में देखते हैं, उद्धत होते हैं, जबकि सावन या होली के अवसर पर प्रचलित कामिनियों के लोकनृत्य मधुरता तथा सुकुमारता लिये होते हैं।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह–

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः ·

वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति।

सभी रूपकों में अनुकरण पाया जाता है। अतः उनमें कोई भेद नहीं दिखाई देता, फिर इनमें भेद क्यों किया जाता है, इस भेद का कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं :–

रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करने वाले तीन तत्त्व हैं :– वस्तु, नेता तथा रस। वस्तु, नायकभेद तथा रसभेद की दृष्टि से ही इनमें परस्पर भेद है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित समीक्षा शास्त्र में ६ तत्त्व हैं – १. कथावस्तु, २. चरित्रचित्रण, ३. शैली, ४. विचार ५. अभिनेयता और ६ गीत।

वस्तुभेदमाह–

·वस्तु च द्विधाः

कथमित्याह–

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।। ११।।

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

वस्तुभेद को बताते हुए कहते हैं कि–वस्तु दो तरह की होती है।

इनमें मुख्य वस्तु आधिकारिक (कथावस्तु) कहलाती है तथा अंगरूप वस्तु प्रासंगिक (कथावस्तु) कहलाती है। नाटकादि रूपकों में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कहते हैं, जैसे रामायण काव्य में राम तथा सीता का वृत्तान्त। इसी आधिकारिक कथा के अंगरूप में जिन उपकथाओं का समावेश होता है, वे प्रासंगिक कहलाती हैं, जैसे रामायणकथा में ही विभीषण का वृत्तान्त, सुग्रीव का वृत्तान्त या ऐसी ही दूसरी कथाए।

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति–

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।। १२।।

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम्=फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

आधिकारिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका लक्षण करते हैं। 'फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है, तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फल–प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक वस्तु कहलाती है।' उदाहरण के लिए राक्षसवध–सीताप्राप्ति तथा रामराज्य की स्थापना रामायण–कथा का फल है, इसके स्वामी या भोक्ता राम हैं, अतः आरम्भ से रावणवध, सीताप्राप्ति तथा राज्याभिषेक तक की कथा आधिकारिक कथावस्तु है।

प्रासंङ्किं व्याचष्टे–

प्रासंङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः।

अब प्रसंगोपात्त प्रासंगिक वस्तु की व्याख्या करते हैं। जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं का फल भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासंगिक वृत्त है। प्रसंगतः आगतम् या प्रसंगात् निर्वृत्तम–प्रासंगिकम्। प्रासंगिक इतिवृत्त का प्रमुख ध्येय आधिकारिक वृत्त की फलनिर्वहणता में सहायता प्रतिपादित करना है, किन्तु प्रसंगतः उसका स्वयं का भी फल होता है, किन्तु प्रकरी नायक का अपना कोई फल नहीं होता।

सुग्रीवकथा का प्रयोजन बालिवध तथा राज्यलाभ, तथा विभीषणवृत्त का प्रयोजन लंकाराज्यप्राप्ति।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह–

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।। १३।।

दूरं यदुनवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्, यदल्प सा प्रकरी श्रमणादिवृत्तान्तवत्।

यह प्रासंगिक इतिवृत्त भी पताका तथा प्रकरी दो तरह का होता है। 'जो प्रासंगिक कथा अनुबन्धसहित होती है, तथा रूपक में दूर तक चलती रहती है, वह पताका कहलाती है। तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह प्रकरी कहलाती है'। रामायण की कथा में सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त पताका है, वह दूर तक चलती है, वह मुख्य नायक के पताका–चिह्न की तरह आधिकारिक कथा तथा मुख्य नायक की पोषक होती है। (पताका का नायक भिन्न होता है तथा वह पताकानायक कहलाता है।) रामायण में छोटे–छोटे वृत्त प्रकरी हैं जैसे श्रमणा शबरी आदि की कथाएं या जटायु की कथा। प्रकरी नायक को अपने प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा नहीं होती।

टिप्पणी – राम जी उपाध्याय यहाँ अनुबन्ध का अर्थ दूरी या निरन्तरता से सहमत नहीं हैं। अनुबन्ध तो शर्त या समय है कि आपकी सहायता करने पर आप मेरी सहायता करेंगे।

पताका प्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति–

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्। पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्।। १४।।

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकं तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्–अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात्।

पताका के साथ ही यहाँ पताकास्थानक की व्युत्पत्ति करते हुए बताते हैं कि 'जहाँ प्रस्तुत और भावी वस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो, उसे पताकास्थानक कहते हैं।' कवि कभी–कभी रूपक में एक स्थान पर भविष्य में घटित होने वाली घटना का संकेत कर देता है। यह सूचना पताका या ध्वजा की भाँति भावी वृत्त की सूचना देती है, इसीलिये पताकास्थानक कहलाती है। यह संकेत या तो घटनाओं की समानता के आधार पर होता है या फिर उनमें समान विशेषणों के पाये जाने के कारण होता है। एक में अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा का आश्रय लिया जाता है, द्वितीय में समासोक्ति का। रत्नावली नाटिका के निम्न पद्य में समान इतिवृरूप अन्योक्ति प्रणाली वाला पताकास्थानक पाया जाता है।

रत्नावल्याम्–

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधिनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकंनिविष्टकरः करोति।।'

'हे पदम के नेत्र वाली मेरे जाने का समय आ गया है, यह मैं आ रहा हूँ। प्रातःकाल तुम्हें सोने से मैं ही जगाऊगा। अस्ताचल के मस्तक पर आखिरी किरणें रखे हुए यह सूर्य इस प्रकार पद्मिनी को विश्वास दिला रहा है।

यहाँ पर सूर्य–पद्मिनी–वर्णन के द्वारा भावी उदयन–रत्नावलीरूप वृत्तान्त की अन्योक्ति–व्यंजना, पताकास्थानक ही है। इसी नाटिका के निम्न पद्य में समान विशेषण वाला पताकास्थानक भी पाया जाता है। (प्रश्न होता है यहाँ सूर्यवर्णन भी जब प्रसग में प्रस्तुत है तो फिर अप्रस्तुत प्रशंसा कैसे होगी। सुदर्शनाचार्य टीका में यहाँ स्पष्टतः कमलिनीसूर्यवृत्तान्त से नायकनायिकावृत्तान्त की प्रतीति में अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा अलंकार मानते हैं। यही वृत्तिकार धनिक भी कहते हैं कि हमारे मतानुसार यह अन्योक्ति–सूचकमात्र है जिसका व्यंग्य उपमा मानकर उपमानोपनेय भी माना जा सकता है। सन्ध्याकाल के प्रसंग में कहे गये इस पद्य में प्राकरणिक तो सूर्यकमलिनी का वृत्तान्त स्पष्ट है। उसे अप्राकरणिक मानने पर अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है। यदि नायक नायिका वृत्तान्त को अप्रस्तुत मान लेंगे, तो सारी गड़बड़ी हो जायेगी। यहाँ भी समासोक्ति बनेगी, क्योंकि समासोक्ति में समान कार्य भी होता है। किन्तु यहां सहमति नहीं है। नाटिका में यह राजा की उक्ति शाम के समय कही गई है, अतः प्राकरणिक तथा प्रस्तुतार्थ उसे ही मानना होगा। हां भावी प्रस्तुत नायक–नायिकावृत्तान्त को आर्थी व्यंजना मानकर वस्तु से उपमा अलंकाररूप व्यंग्य मान लेंगे। यह गड़बडी आगे के श्लोक में भी पड़ेगी। यद्यपि वहाँ समासोक्ति ठीक बैठ जाती है, पर अप्रस्तुत नायक–नायिका रूप अर्थ सामान्य रूप में न लेकर 'सागरिका–उदयन रूप विशेष' अर्थ में। यदि प्रथम विकल्प माना जाये, तो पताकास्थानक मानने में कुछ कारण मानना होगा, यदि द्वितीय विकल्प माना जाय, तो नाटिका का प्रस्तुत प्रतिपाद्य अवश्य है। हमारे समझ में दोनों में केवल यही भेद है, एक तुल्येतिवृत्त रूप है, दूसरा तुल्यविशेषणरूप। अप्रस्तुतप्रशंसा या समासोक्ति मानने की सारी गड़बड़ी का कारण धनिक की वृत्ति की पंक्ति है। प्रस्तुत

यहाँ दोनों में व्यंग्यार्थ–प्रतीति है। विश्वनाथ इसीलिये इस प्रकरण में अन्योक्तिसमासोक्ति का प्रयोग नहीं करते (देखिये साहित्यदर्पण षष्ठ का० ४४.४)।)

यथा च तुल्यविशेषणतया–

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा–दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।।'

मैं चटकती कलियों वाली, पीले रंग वाली, खिलती हुई उपवनलता को देख रहा हूँ जो वायु के निरन्तर वेग के कारण अपनी विशालता को व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधों से संगत है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासना से उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जम्हाई लेती हुई, सकाम दूसरी स्त्री को देख रहा हूँ, जो निरन्तर निःश्वास ले लेकर अपनी पीड़ा को व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लता को देखकर मैं अन्य स्त्री को देखने के समान देवी वासवदत्ता का अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराध से मैं निश्चय ही देवी के मुख को क्रोध से आरक्त कान्तिवाला बना दूँगा।

यहाँ लता के वर्णन में तुल्यविशेषणों के द्वारा अपर नायिका की सूचना दी गई है, जो रत्नावली–सम्बद्ध भावी वृत्त को संकेतित करती है क्योंकि आगे राजा वासवदत्ता को क्रोधित कर देता है। अतः यहाँ दूसरे ढंग का पताकास्थानक है।

१. धनंजय तथा धनिक केवल दो तरह का पताकास्थानक मानते हैं। एक तुल्येतिवृत्तरूप, दूसरा तुल्यविशेषणरूप। प्रथम का उदाहरण 'यातोऽस्मि पद्मनयने' इत्यादि पद्य है, दूसरे का 'उद्दामोत्कलिकां' आदि पद्य। भरत एवं विश्वनाथ दोनों ही चार–चार तरह के पताका–स्थानक मानते हैं। विश्वनाथ की परिभाषाएं भरत के ही श्लोकों की नकल है, कहीं 'परिकीर्त्यते' की जगह 'परिकीर्तितम्' कर दिया है, तो 'इष्यते' की जगह 'उच्यते'; उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भरत की परिभाषा यों है।

यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि तल्लिङ्गार्थः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं च तत्।।

सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्यते।।

वचसाऽतिशयश्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्।।

अर्थोपक्षेपणं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते।।

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। उपन्याससंयुतश्च तच्चतुर्थमुदाहृतम्।। (नाट्य शा० २१।३१–३५)

'जहाँ किसी एक अर्थ के चिन्तन के समय नाटकादि के भावी पदार्थ होने के कारण उसी चिह्नों वाले अन्य अर्थ का भी प्रयोग किया जाये, वहाँ पताकास्थानक होता है।

(१) जहाँ सहसा ही प्रेमानुकूल व्यापार के कारण उत्कृष्ट प्रयोजनसिद्धि हो, वह पहला पताकास्थानक होता है।

(२) अत्यधिक श्लिष्ट शब्दों वाला; अनेकार्थबोधक; नायकादि का मंगलसूचक पताकास्थानक दूसरे ढंग का होता है।

(३) जहाँ वक्ता का अर्थ अव्यक्त, किन्तु सनिश्चय हो, तथा श्लिष्ट उत्तर से युक्त हो, वहाँ तीसरा पताकास्थानक होता है।

(४) जहाँ दो अर्थ वाले श्लिष्ट वचनविन्यास का प्रयोग काव्य में हो, तथा वह प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति कराए, वहाँ चौथा पताकास्थानक होता है।

यहाँ जब तक इनके उदाहरण न दिये जायें, विषय स्पष्ट न होगा। विश्वनाथ के उदाहरण यों हैं :–

(१) रत्नावली में वासवदत्ता के रूप में सागरिका को लतापाश से मरता देख कर, राजा पहले उसे वासवदत्ता ही समझता है। बाद में सागरिका को पहचान लेने पर उसकी गुणवती अर्थसम्पत्ति होती है।

(२) वेणीसंहार में सूत्रधार के 'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च, स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' में अनेकार्थकबोधक श्लिष्ट शब्दों से नायक की मंगलकामना की गई है।

(३) वेणीसंहार के दूसरे अंक में राजा (दुर्योधन) भानुमती से कहता है कि मेरी दोनों जाँघें ही तुम्हारे बैठने को पर्याप्त हैं, तो ठीक उसी वक्त कञ्चुकी उपस्थित होकर कहता है–'देव, तोड़ डाला'। इस प्रकार यहाँ सामाजिक एक बार 'पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्' सुनने के बाद ही कंचुकी की उक्ति 'देव, भग्नम्' सुनकर सहम जाता है। आगे राजा जब पूछता है 'किंकृते', तो कंचुकी उत्तर देता है–'भीमसेन ने'। और फिर धीरे–धीरे पता चलता है कि भीम ने राजा का रथ तोड़ डाला है। इस तरह यहाँ तीसरा पताकास्थानक है। इसका दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित से दिया जा सकता है :–

राम :– "...यदि परमसह्यस्तु विरहः' के बाद ही 'कंचुकी–देव, उपस्थितः' में सामाजिक विरह तथा उपस्थित का सम्बन्ध समझ पड़ता है जो भावी घटना का सूचक है। वैसे कंचुकी तो दुर्मुख के उपस्थित होने की सूचना देने आता है।

(४) चौथा उदाहरण 'उद्दामोत्कलिकां' ही है, जिसे धनिक ने दिया है।

इस तरह धनंजय व धनिक वाला दूसरा पताकास्थानक भरत व विश्वनाथ का चौथा है। पर उनका पहला अन्योक्तिमूलक तुल्येतिवृत्त पताकास्थानक ऊपर के तीनों में से किसमें आयेगा ? वह पहले और तीसरे में तो नहीं आ सकता। क्या पद्मनयन को श्लिष्ट मानकर उसे दूसरे प्रकार के पताकास्थानक में मान सकते हैं ?

किन्तु परिभाषा में भरत 'अतिशयश्लिष्टं का विशेषण देते हैं। 'यातोऽस्मि०' आदि पद्य का बन्ध 'अतिशयश्लिष्ट' नहीं कहा जा सकता तो यह उदाहरण भरत के दूसरे पताकास्थानक में भी नहीं आ पाता।

(*स्पष्ट है, धनंजय का यह भेद अन्य प्रकार का है। अगर इसे चौथे ही प्रकार का मान लिया जाये, तो यहाँ कुछ संगति बैठ जायेगी पर फिर भी धनंजय ने दूसरे पताकास्थान क्यों नहीं माने यह प्रश्न बना ही रहता है ?

टिप्पणी – यहाँ अन्योक्ति का अर्थ है–समान इतिवृत्त द्वारा प्रस्तुत अर्थ का कथन और समान विशेषण द्वारा प्रस्तुत अर्थ की सूचना समासोक्ति है। अन्योक्ति और समासोक्ति अलंकारों के लक्षण इन पर घटित करना वांछनीय नहीं है क्योंकि इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः अन्योक्ति और समासोक्ति अलंकार है, यह निश्चित नहीं। धनिक ने 'उद्दामोत्कलिकां में तुल्य विशेषणात्मक पताकास्थानक माना है जबकि अभिनवगुप्त के अनुसार इसमें पताका स्थानक तत्त्व है ही नहीं। अभिनवगुप्त के अनुसार पताकास्थानक के द्वारा किसी ऐसी घटना को बताना चाहिये जो नायक को फल प्राप्त कराने में सहायक हो, किन्तु इसमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है यह व्यवहार नामक वीथ्यंग का उदाहरण है, पताकास्थानक का नहीं। पताका और पताकास्थानक – इन दोनों में नामसाम्य ही नहीं है अपितु पताका के समान ही पताका स्थानक भी प्रधानफल में उपकारक इतिवृत्त ही होता है। भाव प्रकाशन के (२०१.११) अनुसार तो प्रासंगिक वृत्त तीन प्रकार का है पताका, प्रकरी, पताकास्थानक। किन्तु पताका और पताकास्थानक में अन्तर है–(१) यह पताका के समान दूर तक चलने वाला इतिवृत्त नहीं होता। (२) अन्य के वर्णन द्वारा प्रधान इतिवृत्त सम्बन्धी किसी भावी घटना की सूचना देता है। (३) पताका के समान क्रमबद्ध नहीं होता अपितु कहीं बीच बीच में इसका एक बार या अनेक बार निबन्धन किया जाता है। (४) यह नाटक और काव्य का अलंकरण माना जाता है। दशरूपक के प्रथम उदाहरण को साहित्य दर्पण आदि ने नहीं लिया है। जिस प्रकार पताका आने वाले राजा आदि का संकेत देती है, इसी प्रकार पताका स्थानक भावी कार्य का संकेत करता है।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह–

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।। १५।।

मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।

इति निगदव्याख्यातम्।

इस तरह इतिवृत्त आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासंगिक के दो भेद) तीन प्रकार का है, यह फिर से तीन–तीन तरह का होता है। यह तीन तरह का इतिवृत्त प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र इस तरह से फिर से तीन–तीन प्रकार का है। प्रख्यात इतिहास, पुराण आदि से गृहीत होता है; उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होता है; तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। साथ ही यह वृत्त दिव्य मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है। इस प्रकार इतिवृत्त के अनेक भेद हो जाते हैं।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह–

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।। १६।।

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा।

इस इतिवृत्त का प्रयोजन या फल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि इसका फल धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग है। यह फल कभी तो इनमें से एक ही हो सकता है, कभी दो वर्ग और कभी तीनों वर्ग। ये फल कहीं एक ही एक होते हैं और शुद्ध कहे जाते हैं। कहीं एक या दो या तीन साथ साथ अनुबद्ध रहते हैं यथा धर्मार्थ, धर्मकाम, अर्थकाम और धर्मार्थ काम

तत्साधनं व्युत्पादयति–

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुबीजं विस्तार्यनेकधा।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः – यौगन्धरायणः – कः संदेह ('द्वीपादन्यस्मात्–' इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठरोत्साहो बीजमिति। तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।

इस त्रिवर्गरूप फल के साधन की विवेचना करते हुए बताते हैं कि 'रूपक के आरंभ में अल्परूप में संकेतित वह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेकरूप में पल्लवित होता है, बीज कहलाता है। अल्परूप में निर्दिष्ट हेतु वृत्त के कार्य का साधक है तथा वृक्ष के बीज की तरह पल्लवित होकर अनेकशाख वृक्ष की भांति वृक्ष के रूप में विवृद्ध होता है, वह पारिभाषिक रूप में बीज कहलाता है। रत्नावली नाटिका के वृत्त का कार्य उदयन व रत्नावली का मिलन करा देना है, जो मंत्री यौगंधरायण को अभीष्ट है। नाटिका के विष्कम्भक में ही यौगन्धरायण की यह चेष्टा, जिसे भाग्य की भी अनुकूलता प्राप्त है, बीज के रूप में सामने रखी गई है। यौगन्धरायण–'इसमें क्या सन्देह है' कहते हुए तथा 'अनुकूल भाग्य कहीं से भी लाकर इष्ट वस्तु को प्राप्त करा देता है' इत्यादि उक्ति से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति के कार्य को प्रारम्भ करके तथा दैव के द्वारा सहायता मिलने पर मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त करूंगा' इस उक्ति तक बीज का संकेत करता है।

वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी का केश–संयमन नाटक का फल है। इस कार्य का हेतु भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह है, यही इस नाटक का बीज है।* यह बीज भी महाकार्य तथा अवान्तरकार्य का हेतु होने के कारण दो तरह का है। अर्थात् मुख्य फल का हेतु और अवान्तर कार्य का हेतु, अर्थात् साधारणतः प्रत्येक अंक में आने वाले छोटे छोटे प्रासंगिक कार्यों का हेतु।

१. वेणीसंहार नाटक में बीज 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इस भीमोक्ति से लेकर–

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः। कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः। केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्।।

तथा 'क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिर जृम्भते' तक सूचित हुआ है।

अवान्तरबीजस्य संज्ञान्तरमाह–

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।। १७।।

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतुः–उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका– (श्रुत्वा) कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि। बिन्दुः – जले तैलबिन्दुर्वत्प्रसारित्वात्।

महाकार्य बीज का संकेत हो चुका है, अब अवान्तरबीज की दूसरी संज्ञा बताते हुए कहते हैं कि जहाँ किसी दूसरी कथा से विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए जो कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता के द्वारा कामदेव की पूजा एक अवान्तर वृत्त है, इससे एक अर्थ समाप्त हो जाता है और कथा में विशृंखलता आ जाती है। इसे संश्लिष्ट या शृंखलाबद्ध करने के लिए वहाँ नेपथ्य से मागधों की उक्ति के द्वारा 'महाराज उदयन के चरणों की बाट लोग इस तरह देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों की' यह सूचना देकर सागरिका के रूप में वहाँ रहती हुई रत्नावली के द्वारा 'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिये पिताजी ने मुझे दे दिया है' यह उक्ति कहलवा कर कथा का अच्छेद (संधान) कर दिया है। यह अच्छेदकारण बिन्दु वृत्त में आगे जाकर ठीक वैसे ही प्रसारित होता है जैसे तेल की दूँद पानी में फैलती है। इसीलिए इसे बिन्दु कहते हैं।

टिप्पणी – प्रश्न होता है नाटकीय कथावस्तु में बिन्दु एक ही होता है, या अनेक , बिन्दु की परिभाषा के अनुसार बिन्दु जहाँ कथांश, एक प्रयोजन सिद्धि के पूरे होने के कारण टूट जाता है, वहाँ उसे जोड़ कर आगे बढ़ता है इस तरह तो बिन्दु अनेक हो सकते हैं। हमारे मत में किसी नाटक में बिन्दु अनेक हो सकते हैं।)

टिप्पणी – ना० शा० के अनुसार (१६, २३) 'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्। यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः।। वास्तव में अवान्तर कार्यों से मुख्य फल के विच्छिन्न होने पर जो मुख्य फल का नायकादि के द्वारा अनुसंधान किया जाता है, वही बिन्दु कहलाता है और यह आदि से अन्त तक सम्पूर्ण नाटकादि में व्याप्त रहता है, अतः यह अनेक बार आ सकता है।

इदानीं पताकाद्यं प्रसंगाद्वयुत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह–

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः। अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिता।। १८।।

अर्थप्रकृतयः = प्रयोजन सिद्ध हेतवः।

पताका तथा प्रकरी का वर्णन ग्रन्थकार ने क्रम के अनुसार नहीं किया था, इसीलिये अब क्रम को ठीक करने के लिए उद्देश्य [illegible] हुए पांच अर्थप्रकृतियों का विवेचन करते हैं :– रूपक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाच अर्थप्रकृतियां होती हैं। अर्थप्रकृति से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जो प्रयोजन–सिद्धि के कारण होते हैं। अर्थ से तात्पर्य प्रयोजन या वस्तु के फल से [illegible] पाँचों उसी अर्थ की प्रकृति से संबद्ध होते हैं।

(अर्थप्रकृति को स्पष्ट करते हुए धनिक बताते हैं कि प्रयोजन–सिद्धि के हेतु हैं–'प्रयोजनसिद्धिहेतवः'। पर इस परिभाषा पर [illegible] आपत्ति होती है। अर्थ प्रकृतियां पांच हैं – बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। जहाँ तक पहली चार अर्थप्रकृतियों का [illegible] प्रयोजनसिद्धि हेतु हैं ही। पर पाँचवीं आर्थप्रकृति पर आते ही धनिक की परिभाषा गड़बड़ा जाती है। कार्य नामक अर्थप्रकृति [illegible] 'प्रयोजन' है। फिर 'प्रयोजन' स्वयं उसी का सिद्धिहेतु कैसे बन सकता है ? या तो वे दोनों प्रयोजन भिन्न होने चाहिये या फिर कार्य से इतर चार ही अर्थप्रकृति में प्रयोजनसिद्धिहेतुत्व मानना चाहिये।)

धनिक की भांति विश्वनाथ भी 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' कहकर चुप रह जाते हैं। वस्तुत वे षष्ठ परिच्छेद में धनिक की नकल करते हैं। इस समस्या को एक ढंग से सुलझाया जा सकता है। कार्य या प्रयोजन दो तरह के माने जाने चाहिये। एक प्रमुख कार्य जो नाटक का खास कार्य है, जैसे रामकथा में रावण का वध। दूसरा अवान्तरकार्य जैसे विभीषण का मिलना आदि। ऐसा मानने पर अवान्तर-कार्य प्रमुख कार्यरूप प्रयोजन का सिद्धिहेतु बन जायेगा। पर क्या धनंजय, धनिक तथा विश्वनाथ को यह अभीष्ट था। यदि ऐसा हो तो उन्हें संकेत करना चाहिये था। यह मत दुष्ट ही माना जायेगा।

(यहाँ पताका तीसरी प्रकरी चौथी अर्थप्रकृति मानी गई है। पताका का उदाहरण रामकथा में सुग्रीव–वृत्तान्त तथा प्रकरी का शबरी–वृत्तान्त दिया है। इस तरह तो रामकथा में शबरी का वृत्तान्त पहले आता है, सुग्रीव का बाद में; रामकथा में इस [illegible] से प्रकरी तीसरी अर्थप्रकृति हो जायेगी, पताका चौथी। इसे कैसे सुलझाना होगा ?

धनंजय कार्य को फल मानते हैं जहाँ कहते हैं 'कार्यं त्रिवर्गस्त्च्छुद्वमेकानेकानुबन्धि च' (१.१६)। कार्य फल भी हो और उपाय भी यह कैसे हो सकता है अतः यहीं कारिका में कार्य के स्थान पर फल होना चाहिये था। अर्थप्रकृति के रूप में ना० शा० (१६.२६) के अनुसार कार्य फल नहीं अपितु समारम्भ है, 'यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते। तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्। अभिनव गुप्त के अनुसार–कार्य से तात्पर्य पंचांग का अनुष्ठान है–कर्म का आरम्भोपाय, पुरुष–द्रव्य सम्पद, देश–काल–विभाग विनिपात प्रतीकार और कार्यसिद्धि। इस प्रकार फल के अधिकारी व्यक्ति का व्यापार ही कार्य नामक अर्थप्रकृति है। अभिनवगुप्त और नाट्यदर्पण के अनुसार इन अर्थप्रकृतियों में बीज और कार्य जड़ हैं जबकि बिन्दु, पताका और प्रकरी चेतन हैं। अभिनवगुप्त, नाट्यदर्पणकार धनिक विश्वनाथ अर्थप्रकृतियों को 'अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः' करके प्रयोजनसिद्धि हेतवः कहते हैं, किन्तु अर्थ प्रकृति की अन्य प्रकार से भी परिभाषाएं दी गई हैं यथा 'समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतयः' – समस्त रूपक में जो कुछ कहा गया है, उसकी प्रकृति (प्रकरण, अवयव, अर्थ खण्ड) यह अभिनव भारती में उद्धृत है।

'अर्थप्रकृतयः पञ्च कथादेहस्य हेतवः – भावप्रकाशन

'नाटकीय वस्तुनः पञ्च प्रकृतयः स्वभावा भवन्ति। नैतान् परित्यज्य नाटकार्थाः सम्भवन्ति। नाटक लक्षणरत्नकोश। [illegible] कथायास्तु प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता। नाटकचन्द्रिका ६.१)

अन्यदवस्थापञ्चकमाह--

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः।। १६।।

पाँच अर्थ–प्रकृतियों का निर्देश कर देने पर अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं :– फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएं होती हैं–आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम।

टिप्पणी – दशरूपककार के मत से अर्थप्रकृति तथ अवस्था का भेद स्पष्ट नहीं होता। ये दोनों ही कथावस्तु में पाई जाती हैं पर आखिर इनमें अन्तर क्या है ? कुछ के मतानुसार बीज आदि पाँच अर्थप्रकृति वस्तु के उपादान कारण हैं। इस हम वस्तु के मैटीरियल कह सकते हैं। जहाँ भी ये पाँच अर्थप्रकृति होंगी, कथा का ढांचा खड़ा हो जायेगा अवस्था नायक की मनोदशा से संबद्ध है यह परिभाषा से स्पष्ट है। इस प्रकार यह जंचता है कि ५ अर्थप्रकृति नाटकीय कथावस्तु का औपादानिक विभाजन है जबकि ५ अवस्था नायक की दृष्टि से वस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन है।

यथोद्देशं लक्षणमाह–

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्–प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतो दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः।

इन्हीं पाँचों के नामानुसार लक्षण बता रहे हैं :– अत्यन्त फललाभ की उत्सुकतामात्र ही आरंभ कहलाती है। किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है तथा उसके प्रति उत्सुकता होती है। इस उत्सुकता मात्र का पाया जाना ही आरम्भ है, क्योंकि प्राप्ति के लिए की गई चेष्टा का समावेश 'यत्न' नामक दूसरी अवस्था में हो जाता है। 'मैं इसे करूँ' सिर्फ इतनी चेष्टा ही आरम्भ है, जैसे रत्नावली नाटिका में 'स्वामी की उन्नति के हेतु का आरम्भ कर लेने पर तथा भाग्य के द्वारा इस तरह सहायता किये जाने पर....' आदि उक्ति के द्वारा वत्सराज उदयन के उस कार्यारंभ की सूचना यौगंधरायण के मुंह से दिखाई गई है, जिसकी सिद्धि मंत्री यौगंधरायण पर आश्रित है। यहाँ यौगंधरायण ने उदयन–रत्नावली–मिलनरूप फल के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की है।

अथ प्रयत्न :–

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।। २०।।

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्स– राजसमागमोपायः – 'तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा–तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथातथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि।) इत्यादिना प्रतिपादितः।

उस फल की प्राप्ति न होने पर, उसे पाने के लिए बड़ी तेजी के साथ जो उपाय–योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, वह प्रयत्न है। प्रयत्न के अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। जैसे रत्नावली में नायिका सागरिका वत्सराज को प्राप्त करना चाहती है, इस प्राप्ति के उपाय रूप में वह वत्सराज के चित्र का आलेखन करती है। यहीं से नाटिका में यत्न नामक अवस्था पाई जाती है। 'वत्सराज उदयन के दर्शन का कोई दूसरा उपाय नहीं, फिर भी मैं जैसे तैसे उनका चित्र बनाकर इच्छा को पूर्ण करती हूँ' इस उक्ति के द्वारा यत्न की सूचना दी गई है।

प्राप्त्याशामाह–

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कायाः – 'एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता।' (एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता।') इत्यादिना दर्शितात्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।

जहाँ उपाय तथा विघ्न की आशंका के कारण कोई ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता, प्राप्ति की संभावना, उपाय व विघ्नाशंका दोनो में दोलायमान रहती है वहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है। जैसे रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में रत्नावली के वेष बदल कर अभिसरण करने वाले समागम के उपाय के होने पर भी, विदूषक की 'यदि वायु की तरह बीच में ही आकर देवी वासवदत्ता दूसरी ओर न ले जाएं, इस उक्ति के द्वारा वासवदत्ताजनित विघ्न की आशंका दिखा कर अनैकान्तिक निश्चय की सूचना दी गई है। यहाँ विदूषक की इस उक्ति से सामाजिकों को यह सन्देह हो जाता है कि कहीं फलप्राप्ति में कोई विघ्न उपस्थित न हो जाये।

नियताप्तिमाह–

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।। २१।।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्–'विदूषकः – सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' (सागरिका दुष्करं जीविष्यति।) इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि।' ('किं नोपायं चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम् 'राजा–वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थविन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

जहाँ विघ्न के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो नियताप्ति नामक अवस्था होती है। प्राप्त्याशा में फलप्राप्ति के बारे में नायक का मानस सन्देह से विचलित रहता है। किन्तु नियताप्ति में प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उसका मानस एक बात को निश्चित कर देता है। जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द किये जाने पर उसकी दशा के विषय में विचार करते हुए विदूषक बताता है कि 'सागरिका बड़ी मुश्किल से जिन्दगी काटेगी' इसके बाद वह राजा से पूछता है–'तुम छुटकारे का

कोई उपाय क्यों नहीं सोचते ?' इसके उत्तर में राजा कहता है–'मित्र इस विषय में देवी वासवदत्ता को खुश करने के अलावा कोई उपाय नहीं दिखाई देता। यहाँ भावी चतुर्थ अंक की घटना के बिन्दु के रूप में सूचित इस देवी प्रसादन से विघ्न समाप्त हो जाएगा इस प्रसादन की भावना के कारण फल प्राप्ति की निश्चिति सूचित की गई है।

भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं। अतः एकान्त निश्चय के बाद सदा फल की प्राप्ति ही होगी। भारतीय नाट्यशास्त्र के इस सिद्धान्त पर पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त नाटकों की मीमांसा करने पर 'फलप्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय की दशा मे नियताप्ति हो जाती है सकती है। 'नियताप्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपकों के ही अनुरूप है।)

फलयोगमाह–

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

समस्त फल की प्राप्ति हो जाने पर फलयोग (फमागम) कहलाता है। कारिका में फल के साथ 'समस्त' विशेषण प्रयुक्त हुआ है इसका तात्पर्य यह है कि अन्तिम फल के मिलने तक –नियताप्ति' अवस्था ही मानी जायेगी। रत्नावली नाटिका मे उदयन का रत्नावली की प्राप्ति तथा तज्जनित चक्रवर्तित्वप्राप्ति नाटिका का फलागम है।

टिप्पणी – इन कार्यावस्थाओं में आरम्भ नामक अवस्था में औत्सुक्य मात्र होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नायक, उसका अमात्य, नायिका, प्रतिनायक या दैव–इनमें से किसी की भी उत्सुकता हो सकती है। यहां यह ध्यातव्य है कि उत्सुकता केवल एक या दो कथापुरुषों की होगी, शेष पुरुष वहीं शारीरिक व्यापार भी कर सकते हैं, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में नायक–नायिका की परस्पर उत्सुकता है जबकि सखियां वृक्ष सींच रही है। धनंजय के अनुसार प्रयत्न में अतिशीघ्रता युक्त फलप्राप्ति के लिए चेष्टा है। प्राप्त्याशा की धनंजय की परिभाषा भरत की प्राप्ति संभव की परिभाषा से भिन्न है। धनंजय के अनुसार प्राप्ति की आशा सम्भवन होती है जबकि भरत के मत में ईषत्प्राप्ति होती है। नियताप्ति में सहायकों की सहायता से या स्वयं के प्रयत्नों से यह निश्चित हो जाता है कि अब इन उपायों से फल प्राप्त हो जायेगा।

अर्थप्रकृतियां और कार्यावस्थाएं – पाँच अर्थप्रकृतियां फल सिद्धि के उपाय हैं। फल को लक्ष्य करके किये गय कार्य (अर्थात नायक व्यापार) की पांच अवस्थाएं ही कार्यावस्थाएं हैं। अर्थप्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ है, कायावस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध नायक के व्यापार के साथ है। पांचों अर्थप्रकृतियों को उसी क्रम में होना आवश्यक नहीं है किन्तु कायावस्थाओं को उसी क्रम में होना आवश्यक है।

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।। २२।।यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या सन्धयः।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासंख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते

रूपक की अर्थप्रकृति तथा अवस्था का वर्णन करने पर उन दोनों के मिश्रण के सम्बन्धों का वर्णन करते हैं। बीज बिन्दु, पताका प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियां जब क्रम से आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम इन पांच अवस्थाओं से मिलती हैं तो क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहति (उपसंहार) इन पाँच संधियों की रचना होती है।। २२।।

संधि सामान्यलक्षणमाह–

अन्तरैकार्थसम्बन्धः संधिरेकान्वये सति।। २३।।

एकेन प्रयोजनेनानेन्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः।

सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हुए कहते हैं कि किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध (अन्वित) कथांशों को जब किसी दूसरे लघु प्रयोजन से संबद्ध किया जाय तो यह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। एक ओर कथांशों का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप मे कारण से दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलागम से दोनों को सम्बद्ध करने पर सन्धि हो जाती है।

धनंजय के मत से पांचों अर्थ–प्रकृतियों में से एक–एक, अवस्था के एक–एक से मिलकर पांच सन्धियों का निर्माण करती हैं। सन्धि की परिभाषा तो धनंजय दूसरी ही देते हैं। जहाँ एक अवान्तर प्रयोजन पूर्ण हो जाये और मुख्य प्रयोजन से जोड़ते हुए कथांश को दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध कर दिया जाये, वहां वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। पर परिभाषा में कही अर्थप्रकृति तथा अवस्था के मिश्रण की बात नहीं है। धनंजय की परिभाषा के अनुसार यह मिश्रण सिद्ध नहीं होता। भरत में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता। विश्वनाथ ने भी धनञ्जय के ही मत का अनुसरण किया है, वे भी यही कहते हैं कि यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात् पञ्चभिः

पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्चसन्धयः।। पर यह योग मानने पर एक गड़बड़ी हो सकती है। प्रकरी का सम्बन्ध विमर्श या अवमर्श से बताया गया है। पर कहीं यह गर्भ में पाई जाती है। उदाहरण के लिए राम की कथा में शबरी वृत्तान्त प्रकरी माना जाता है। पर राम--कथा में यहाँ गर्भ–सन्धि ही चल रही है, जो सुग्रीव मिलन तक चलती है। फिर तो सारा सिद्धान्त गड़बड़ा जायेगा। ऐसा लगता है यह पाँच अर्थप्रकृति तथा पाँच ऐसा लगता है अवस्था का मेल ५ सन्धि मानकर मेल मिलाने की कोशिश में ही सारी त्रुटि की जड है। ('संश्रया' इत्यपि पाठः)।

कार्यावस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, किन्तु परम्परया तो है ही। भरत मुनि के अनुसार इतिवृत्त नाट्य का शरीर है उसका विभाग ५ सन्धियों द्वारा किया जाता है। सन्धि शब्द का अर्थ है –सन्धान, मिश्रण। यहाँ पर किसी रूपक की कथावस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम ही सन्धि है। एक ही प्रयोजन से गुंथे हुए कथा के भागों का गौण प्रयोजनों से और प्रधान प्रयोजन से सम्बन्ध ही सन्धि है। जैसे महाभारत पर्व में महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है इसी प्रकार रूपक सन्धियों में विभक्त होते हैं। सन्धि का अर्थ है मिलन बिन्दु, वह कथाखण्ड जो दो अर्थ (घटनाओं) के मिलन बिन्दुओं के मध्य होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'तेनार्थावयवाः सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति (१६,३७) अवस्था से कार्य व्यापार का बोध होता है, सन्धियों के द्वारा कवि के कृतित्व का बोध होता है। दशरूपक में वस्तुतः सन्धि की परिभाषा में उसका धात्वर्थ मात्र बताया गया है, इसमें यह संकेत नहीं मिलता कि सन्धि अर्थराशि है अथवा कथाखण्ड है। धनंजय के अनुसार सन्धि का लक्षण है–किसी रूपक में कई कथांश होते हैं, उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न–भिन्न होते हैं, किन्तु वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से समन्वित होते हैं और किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी उन सबका सम्बन्ध होता है। धनंजय के अनुसार सन्धियों का रचनात्मक स्वरूप है–१. बीज+प्रारम्भ = मुखसन्धि २. बिन्दु+प्रयत्न=प्रतिमुख ३. पताका+प्रात्याशा = गर्भ, ४. प्रकरी+नियतापि=अवमर्श, ५. कार्य+फलागम=उपसंहृति। किन्तु धनंजय का यह मिश्रण का सिद्धान्त निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। बिन्दु एक से अधिक हो सकते हैं तो क्या जहाँ–जहाँ बिन्दु होगा वहाँ वहाँ प्रतिमुख होगी। इसी प्रकार प्रकरी अल्प भाग में रहने वाली, स्वकीय फल से निरपेक्ष वृत्त है, वह कहीं भी आ सकती है। पताका के बाद प्रकरी आती है किन्तु रामकथा में सुग्रीव की कथा पताका और शबरी की प्रकरी है, किन्तु सुग्रीव कथा जटायु और शबरी की कथा के बाद वर्णन हैं। फिर कुछ रूपकों में पताका और प्रकरी का होना आवश्यक भी नहीं है तब वहाँ मिश्रण कैसे होगा, इसीलिए धनंजय को गर्भसन्धि तक आते आते यह सिद्धान्त छोड़ना पडा है। तथ्य यह है कि सन्धियाँ कार्यावस्थाओं का अनुगमन करती है जैसा अभिनवगुप्त और नाट्य दर्पण में प्रतिपादित किया गया है। अतः पांच अर्थप्रकृतियों के पञ्च अवस्थाओं के समन्वय से पञ्च सन्धियों के उत्पन्न होने का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है।

के पुनस्ते संधय :–

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।

वे सन्धियां कोन सी हैं–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहति, उपहार या निर्वहण।

यथोद्देशं लक्षणमाह–

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।। २४।। अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयं तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्ति हेतोरेव बीजत्वमिति।

क्रम से उनका लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'मुखसन्धि में नाना प्रकार के रस और प्रयोजन उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। बीज और आरम्भ के समन्वय से इसके १२ अंग हैं। मुखसन्धि में ही रूपक के बीज की सूचना दी जाती है। बीज काव्य या नाटक के विभिन्न रसों को उत्पन्न करता है, उनका हेतु है। अन्य रूपकों में धर्मादि में से कोई एक वर्ग हेतु या बीज के रूप मे होता है, किन्तु प्रहसन, भाण आदि में स्पष्ट रूप से कोई वर्ग (पुरुषार्थ) हेतु के रूप में नहीं दिखाई देता। इसका समाधान यह है कि रसोत्पत्ति का हेतु होना मात्र बीजत्व है क्योंकि वहां भी हास्यादि रस की उत्पति होती ही है।

अस्य च बीजरम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह–

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।। २५।। युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम्।। २६।।

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते–

इस (मुख सन्धि) के बीज, आरम्भ तथा प्रयोजन से समन्वित १२ अंग होते हैं उनको बतलाते हैं–१. उपक्षेप २. परिकर ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८, विधान, ९. परिभावना १०. उद्भेद ११. भेद १२ और करण, ये नाम अन्वर्थ हैं। अब

इनका लक्षण कहेंगे।

बीजन्यास उपक्षेपः - यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।।

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः।

उपक्षेप – रूपक के आरम्भिक अंश में जब कवि बीज का न्यास करता है तो उसे उपक्षेप कहते हैं। जिस प्रकार कृषक वृक्षादि के फल की इच्छा से बीज का निक्षेप करता है उसी प्रकार कवि भी कार्यरूप फल के हेतुरूप बीज का निक्षेप रूपक के प्रथम अंक या प्रथम भाग में करता है। जैसे रत्नावली नाटिका में मंच पर प्रवेश करने से पहले ही यौगन्धरायण कार्य को बीज रूप में डाल देता है। यौगन्धरायण का कार्य वत्सराज उदयन तथा रत्नावली को मिला देना है तथा इनके मिलाप के लिए व्यापार में संलग्न है जिसमें उसे दैव की अनुकूलता भी प्राप्त है। इस बीज रूप व्यापार की सूचना यौगन्धरायण ने निम्न नेपथ्योक्ति में दी है–अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिलादेता है।' इस प्रकार रत्नावली प्राप्ति रूप कार्य में दैव की अनुकूलता सहित अपने उद्योग को बीज रूप में रख दिया है अतः उपक्षेप है।

परिकरमाह तद्बाहुल्यं परिक्रिया।

यथा तत्रैव–'अन्यथा क्व सिद्धादेश प्रत्यय प्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रप्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम्। इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः।

परिक्रिया परिकर जब बीजन्यास का बाहुल्य पाया जाये तो उसे परिकर या परिक्रिया कहते हैं। जहाँ बीज की सूचना देकर पात्र उस बीजन्यास की पुष्टि आदि करते हुए उसे दृढ़ करे उसे परिकर कहेंगे। जैसे रत्नावली नाटिका में ही यौगन्धरायण अपने बीज का बाहुल्य प्रकाशित करते हुए बीजोत्पत्ति को पल्लवित करता है। इसकी सूचना यौगन्धरायण की इन उक्तियो से होती है– यदि दैव अनुकूल न होता) तो सिद्ध पुरुषों के वचनों पर विश्वास करके सिंहलपति की जिस पुत्री को वत्सराज उदयन से विवाहित करने के लिए प्रार्थित किया गया है, वह जहाज के टूट जाने से समुद्र में मग्न होने पर भी एक तख्ते के सहारे कैसे लग जाती' तथा ऐसा ज्ञात होता है कि स्वामी की उन्नति सब तरह से हो रही है। (उन्नति स्वामी का सब तरह से स्पर्श कर रही है।) अभिनवगुप्त के अनुसार परिकर में बातें फल की ओर कुछ आगे बढ़ती हैं। परिकर का प्रयोजन है इष्ट अर्थ की रचना।

परिन्यासमाह तन्निष्पत्तिः परिन्यासः –

यथा तत्रैव–

'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे। सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः।

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः।

बीजन्यास के बाहुल्यरूप परिकर की सिद्धि या परिपक्ववास्था (निष्पत्ति) परिन्यास कहलाती है। धीरे–धीरे रूपक के पात्र को अपने फलबीज के विषय में और अधिक विश्वास हो जाता है। जब उसकी क्रिया की सिद्धि की सूचना दी जाती है तो उसे परिन्यास कहते हैं। जैसे यौगन्धरायण को अपने व्यापार तथा दैव दोनों पर यह पूर्ण विश्वास है कि उसे सिद्धि अवश्य होगी, उसका बीज अवश्य निष्पन्न होगा। इसकी सूचना निम्न पद्य के द्वारा देता है–अपने स्वामी वत्सराज उदयन की उन्नति के लिए मैंने यह कार्य (रत्नावली–मिलापरूप शुरु कर दिया है, इस कार्य में दैव भी मुझे इस तरह सहारा दे रहा है कि जहाज टूटने पर भी रत्नावली बचकर मेरे हाथ लग गई) और कार्य सिद्धि के विषय में भी मुझे कोई सन्देह नहीं है, इतना होने पर भी यह मनमानी बात (रत्नावली–समागम) करने के कारण स्वामी से डर रहा हूँ।' यहाँ यौगन्धरायण को अपनी सिद्धि के प्रति पूर्ण आस्था है। बीज डाल देने तथा उसके बाहुल्य के बाद जिस तरह कृषक को सिद्धि तथा बीज निष्पत्ति की आस्था होती है, उसी तरह रूपक के पात्र को भी। जब वह इसकी अभिव्यञ्जना करता है तो वह परिन्यास नामक नाटकीय तत्त्व कहलाता है। जिस प्रकार खेत में डाला गया बीज फूलकर अंकुरोत्पादन के लिए समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार नाट्य का बीज भी उपक्षिप्त होकर तथा पुष्ट होकर फल की सिद्धि में समर्थ हो जाता है यही बीज–निष्पत्ति है जिसे परिन्यास कहते हैं। बीज और परिकर में जो फलानुवर्ती प्रवृत्तियां बताई जाती हैं उन्हें परिन्यास में दृढ़तापूर्वक प्रेक्षकों के मन में वास्तविकता के रूप में पक्का कर दिया जाता है।

विलोभनमाह–

–गुणाख्यानं विलोभनम्।। २७।।

यथा रत्नावल्याम्–

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा–

वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।

संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं

प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते।।'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग–बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति।

यथा च वेणीसंहारे–

'मन्थायस्तार्णवाम्भप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्संघट्टचण्डः।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः केनास्मत्संहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्।।'

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति।

विलोभन – जब (फल से संबद्ध किसी वस्तु के) गुणों का वर्णन किया जाय तो उसे विलोभन कहते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के गुणों के कारण ही उस पर लुब्ध होता है, रूपक में भी नायकादि को फल की ओर लुब्ध करने के लिये कवि उसके गुणों का आख्यान करता है। नायकादि में इष्टप्राप्ति का लोभ उत्पन्न करने के कारण यह तत्त्व 'विलोभन' कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में ही वैतालिक चन्द्रमा तथा वत्सराज के समान गुणों के वर्णन के द्वारा सागरिका का विलोभन करते हैं, जो समागम के हेतुरूप अनुराग बीज को सागरिका के हृदय में बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार निम्न पद्य में विलोभन पाया जाता है–

अस्त होने के समय समस्त शोभा (तेज) से शून्य सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर सभी राजा लोग शाम के समय एकत्रित होकर प्रीति तथा उन्नति के विधायक वत्सराज उदयन के, कमल की शोभा का अपहरण करने वाले, चरणों का सेवन करने के लिए राजमण्डप में उसी तरह बाट देख रहे हैं, जैसे प्रीति तथा उन्नति के विधायक, चन्द्रमा की, कमल की शोभा को छीन लेने वाली, किरणों की बाट देख रहे हों।

(यहाँ शाम के समय भावी चन्द्रोदय के साथ ही साथ वत्सराज उदयन के गुणों का वर्णन किया गया है। 'पादान्' के श्लिष्ट प्रयोग से अनुप्राणित उपमा अलंकार चन्द्र तथा उदयन के उपमानोपमेय भाव को व्यक्त करता है)।

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में युधिष्ठिर के द्वारा युद्ध–घोषणा की जाने व रणदुन्दुभि के बजने से द्रौपदी का विलोभन किया गया है। निम्न पद्य में भीम ने रणदुन्दुभि के गुणों के आख्यान के द्वारा नाटक की नायिका द्रौपदी का विलोभन किया है।

यह दुन्दुभि किसने बजायी है, जिसकी आवाज हमारे सिंहनाद के समान है। इसका धीर तथा गंभीर शब्द मंथन के समय चंचल तथा क्षुब्ध समुद–जल से छिद्रों (गुहाओं) के भरने से शब्द करते हुए चंचल मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, तथा जब एक साथ सैंकड़ों ढक्काएँ तथा हजारों भेरियाँ बजाई जाती हैं तो ऐसी प्रचण्ड आवाज होती है जैसे गरजते हुए प्रलय के मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुन्दुभि कौरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, तथा कुरुकुल के भावी संहार का उत्पातसूचक प्रलयकालीन झंझावात है।

टिप्पणी – अभिवनगुप्त के अनुसार काव्यार्थ के गुणों का आख्यान होना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार धनिक के दोनों उदाहरण समीचीन नहीं हैं।

अथ युक्ति :–

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कौशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटितः।' इत्यनेन–सागरिकाया अन्तः–पुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणा– द्युक्तिरिति।

जहाँ अर्थों का (पात्र के अभीष्ट तथ्यो का) अवधारण या समर्थन किया जाये, वहाँ युक्ति होती है। जैसे अन्तःपुरः में स्थित सागरिका बड़े मजे से वत्सराज के दृष्टिपथ में आ सकती है, इस प्रयोजन का समर्थन करने से तथा बाभ्रव्य एवं सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के सागरिका (रत्नावली) तथा वत्सराज के समागम के प्रयोजन के समर्थन के कारण यहाँ युक्ति की व्यंजना इन पंक्तियों में की गई

है :– 'मैंने भी सागरिका को सम्मानपूर्वक देवी वासवदत्ता के हाथों सौंप कर ठीक ही किया है। मैंने यह भी कह दिया है कि कञ्चकी बाभ्रव्य सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र में डूबने से बच गया है और कौशल को जीतने के लिए प्रस्थित सेनापति रुमण्वान् के साथ है' यहाँ 'मैंने यह ठीक ही किया है' इस वाक्य से यौगन्धरायण ने अपने कार्य का समर्थन (अवधारण) किया है अतः यहाँ युक्ति नामक नाटकीय तत्त्व है। राम जी उपाध्याय के अनुसार, पहिले के अर्थ की (कृतित्व) संग्रहात्मक चर्चा युक्ति है। इस उदाहरण में पहिले के अनेक कामों का एकत्र फलोन्मुख वर्णन है।

अथ प्राप्तिः–

-प्राप्तिः सुखागमः।

यथा वेणीसंहारे–'चेटी–भट्टिणि। परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि।' (भर्त्रि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रम्य भीम -

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।

द्रौपदी–(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध अस्सुदपुव्वं खु एदं वअणं ता पुणो पुणो, भण।' (नाथ ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

यथा च रत्नावल्याम्–'सागरिका–(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एतस्स दंसणेण बहुमदं संजादम्।' (कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्परप्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्) इति सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरिति।

जहाँ (फल की प्राप्ति की आशा में) सुख का आगम हो, वहाँ प्राप्ति नामक मुखांग होता है। जैसे वेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में जब सेविका द्रौपदी को यह सूचना देती है कि 'स्वामिनि, कुमार भीमसेन क्रुद्ध से नजर आते हैं', और जब भीम निम्न उक्ति को सुनाता है–

क्रोध के कारण मैं सौ कौरवों को युद्ध में न मथ दूँ, दुःशासन की छाती से खून को न पीऊँ, सुयोधन की दोनों जांघों को गदा से न तोड़ूँ ? तुम्हारे राजा युधिष्ठिर किसी (भी) शर्त पर (कौरवों से) संधि करते रहें, (मुझे इसकी कोई परवाह नहीं)।

तब द्रौपदी हर्ष के साथ कहती है–'स्वामिन्, ऐसा वचन पहले कभी नहीं सुना, इसलिये फिर से (बार–बार) कहिए। यहाँ भीम के क्रोध के सम्बन्ध के कारण द्रौपदी को सुखप्राप्ति होती है (इसलिए कि भीम उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर उसकी खुली वेणी को अवश्य आबद्ध करेगा), अतः प्राप्ति मानी गई है।

अथवा, जैसे रत्नावली नाटिका में वैतालिकों की उक्ति सुनकर सागरिका हर्ष के साथ इधर–उधर सस्पृह दृष्टि से देखती हुई कहती है–'क्या यही वह राजा उदयन है, जिनके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है; तब तो दूसरे लोगों की सेवा करने से कलुषित मेरा जीवन इनके दर्शन से सफल हो गया है।' यहाँ सागरिका को सुख की प्राप्ति हुई है, अतः यहाँ भी प्राप्ति है।

अथ समाधानम्–

बीजागमः समाधानम्-

यथा रत्नावल्याम्–'वासवदत्ता–तेण हि उअणेहि मे उवअरणाई। (तेन ह्युपनय म उपकरणानि।') सागरिका–भट्टिणी एदं सव्वं सज्जम। ('भर्त्रि' ! एतत्सर्वं सज्जम्।') वासवदत्ता–(निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअतेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिट्ठीगोअरं आअदा, भोदु एव्वं दाव। (प्रकाशम्) हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसव सारिअं मोत्तूण इहागदा ता तहिं ज्जेव गच्छ।' ('अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता, भवतु एव तावत्। चेटि सागरिके ! कथं त्वमद्य परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ।') इत्युपक्रमे सागरिका–(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मएसुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कूतूहलं ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम्।' (सारिका तावन्मया सुसङ्गतायां हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये।') इत्यनेन। वासवदत्तायां रत्नावली– वत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकायां सुसङ्गतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे–'भीमः–भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम्।

समाधान – बीज का उपादान; फिर से बीज का युक्ति के द्वारा व्यवस्थापन समाधान कहलाता है। बीज में जो बात कही गयी उसी को फिर कहना समाधान है। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका उदयन को देखने की इच्छा से मदनपूजा के स्थान पर आ जाती है, उसकी यह इच्छा बीजागम के रूप में इन पंक्तियों से स्पष्ट है।

वासवदत्ता–तो पूजासामग्री मेरे पास ले आओ

सागरिका–स्वामिनि, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता (देखकर अपने आप) – दासियों का प्रमाद कैसा है, जिसकी (राजा की) दृष्टि से बचाने के लिये हम बड़े प्रयत्न से इनकी रक्षा करते हैं, उसी के दृष्टिपथ में (यह) कैसे आ रही है। ठीक है मैं मामले को यों संभाल लूंगी। (प्रकट) अरी सागरिके, सब दासियों के दूसरे काम में संलग्न होने पर सारिका को छोड़कर तुम यहाँ मदनोत्सव में कैसे आ गई ? इसलिए वहीं चली जाओ।

सागरिका–(स्वगत) मैना तो मैंने सुसंगता के हाथों सौंप रखी है, तथा वत्सराज को देखने की मेरी उत्सुकता है, इसलिए मैं छिपकर देखूँगी।

यहाँ एक ओर वासवदत्ता रत्नावली तथा वत्सराज के परस्पर दर्शन का प्रतीकार करती है तथा दूसरी ओर सागरिका मैना को सुसंगता के हाथों सौंप कर छिपकर उसे (राजा को) देखती है। यहाँ रत्नावली (सागरिका) की इस चेष्टा में वत्सराजसमागम के हेतुरूप बीज का उपादान किया गया है, अतः यहाँ समाधान नामक मुखांग है।

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में निम्न उक्ति के द्वारा द्रौपदी को आश्वस्त करता हुआ भीम कौरवसंहार की सूचना देकर बीज का समाधान कर रहा है।

'ठीक है। देवि पांचालराजपुत्रि सुनो, थोड़े ही दिनों में चंचल हाथों से घुमाई हुई गदा के प्रहारों से टूटी जांघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रंगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को संवारेगा।'

यहाँ वेणीसंहार के कारण भीम के क्रोध (बीज) का बार–बार उपादान हुआ है, अतः समाधान है। समाधान के द्वारा पात्र दूसरे लोगों को इस बात का विश्वास दिलाता है कि फलप्राप्ति अवश्य होगी। संक्षेप में उपक्षिप्त बीज का फिर स्पष्ट रूप से आधान ही समाधान है।

अथ विधानम्–

-विधानं सुखदुःखकृत्।। २८।।

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के–माधवः–

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त–दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः।।

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव–

मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।

तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय–

मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते।।'

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे–द्रौपदी–णाध पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा। ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।')
भीमः–ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया।

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्। अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्।।'

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति।

हिन्दी विधान – जहाँ (नायिकादि के हृदय में) सुख तथा दुःख पैदा हो, वहाँ विधान कहलाता है। फलप्राप्ति की इच्छा सुख तथा दुःख का नायकादि में रह रहकर संचार किया करती है, इसी को विधान के नाम से पुकारा जाता है। जैसे मालतीमाधव नाटक में मालती को देखने के बाद माधव सुख व दुःख का अनुभव करता है, इसका पता इन पद्यों से लगता है।

माधव–टेढ़े झुके हुए वृत्त वाले कमल के समान, टेढ़ी गरदन वाले उस मुख का वहन करती हुई, रोमयुक्त आँखों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में (एक साथ) बुझा हुआ कटाक्ष (रूपी तीर) जैसे मेरे हृदय में बहुत गहरा गड्ढा दिया है।

उस मालती के नजदीक होने पर मानो अमृत के सेचन से जो मेरा हृदय विस्मय के कारण निश्चल हो गया था तथा उसके [illegible] भावों का अस्त हो गया था, एवं वह आनन्द से मन्द गति वाला हो गया था, वही मेरा हृदय अब (उसके अभाव में) इस तरह [illegible] रहा है मानो अंगारों का स्पर्श कर रहा हो।

यहाँ मालती तथा माधव के भावी अनुराग तथा समागम का हेतु माधवकृत मालतीदर्शन बीज के अनुरूप होने के कारण माधव के सुख तथा दुःख को उत्पन्न कर रहा है, अतः यहाँ विधान नामक मुखांग है।

अथवा जैसे वेणीसंहार में संग्रामजनित सुख तथा दुःख का वर्णन करके भीम ने विधान का संनिवेश किया है।

द्रौपदी–नाथ, तुम फिर भी आकर मुझे आश्वासन दिला जाना।

भीम–अरे पांचालराजपुत्रि, अब भी झूठे आश्वासनों की क्या जरूरत है। हार की ग्लानि तथा लज्जा से रहित मुख वाले वृकोदर को कौरवों को निःशेष न करने तक तुम फिर से न देखोगी।

अथ परिभावना–

परिभावोऽद्भुतावेशः-

यथा रत्नावल्याम्–'सागरिका–(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि। ता अहंपि इध ट्ठिदा अन्तरिदा पूजइस्सम्। ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्ग पूजां प्रतीक्षते। तत् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि।) इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वाददभुतरसावेशः परिभावना।

यथा च वेणीसंहारे–'द्रौपदी–किं दाणि एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि। ('किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना।

परिभाव – जहाँ अद्भुत का आवेश (समावेश) हो अर्थात् आश्चर्य की भावना पात्र में पाई जाती हो, वहाँ परिभाव या परिभावना होती है। जैसे रत्नावली नाटिका में मदनपूजा के समय स्वयं उदयन को उपस्थित देखकर छिपकर देखती हुई सागरिका आश्चर्य के साथ कहती है–'अरे, क्या प्रत्यक्ष कामदेव ही पूजा ग्रहण कर रहा है ? तो मैं भी यहीं से इसकी पूजा करूँगी।' यहाँ वत्सराज को कामदेव बनाकर उसकी स्वयं की सत्ता का निराकरण किया गया है तथा प्रत्यक्ष अनंग के द्वारा पूजाग्रहण अलौकिक है इसलिये सागरिका की उक्ति में अभिव्यंजित अद्भुत रस के आवेश के कारण यहाँ परिभावना' नामक मुखांग है।

अथवा जैसे वेणीसंहार में समरदुन्दुभि की लोकोत्तर ध्वनि को सुनकर द्रौपदी में अद्भुत रस का आवेश पाया जाता है, जिसकी व्यञ्जना द्रौपदी की इस उक्ति से हो रही है–'इस समय प्रलय की मेघध्वनि के समान गम्भीर ध्वनि वाली यह समर–दुन्दुभि क्षण–क्षण में क्या बजायी जा रही है ?'

अथोद्भेदः–

-उद्भेदो गूढभेदनम्।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा।

'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः।

यथा च वेणीसंहारे–'आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरु।' इत्युपक्रमे (नेपथ्ये)

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः।
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते।।

भीमः–(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्यादभेदनादुद्भेद

उद्भेद (बीज के अनुकूल) किसी गूढ़ बात (रहस्य) को प्रकट करना उद्भेद है। जहाँ अब तक छिपे हुए गूढ (बीज) को प्रक[illegible]

दिया जाये अर्थात् गूढ़ का भेदन हो, उसे उद्भेद कहते हैं। (पहले की स्थिति तक बीज का पोषण हो रहा है, अनुकूल भूमि, जल तथा खाद्य को पाकर बीज यहाँ फूट पड़ता है–कवि बीज का संकेत तो पहिले ही कर देता है, परन्तु बीज के साधनादि का अवगुण्ठन, स्पष्टतः इसी के अन्तर्गत हटाता है।)

जैसे रत्नावली में कुसुमायुध के ब्याज से वत्सराज की वास्तविक सत्ता छिपी थी, किन्तु वैतालिक की उक्ति में 'उदयन' शब्द के द्वारा उस गूढ़ वस्तु का भेदन होने से यह उद्भेद है। यह गूढभेद बीज का ही सहायक या साधन है।

अथवा जैसे 'हे आर्य अब बड़े भाई क्या करना चाहेंगे'–सहदेव के यह पूछने पर ही नेपथ्य से निम्न पद्य सुनाई देता है–

अपने सत्यव्रत के भंग से डरने वाले युधिष्ठिर ने जिस क्रोध को मन्दा कर लिया था, कुल की शान्ति की इच्छा वाले शान्तिप्रिय राजा ने जिस क्रोध को भुलाने की भी इच्छा की थी, युधिष्ठिर की वही क्रोधाग्नि, जो द्रौपदी के बालों व वस्त्रों के खेंचने से, द्यूतरूपी अरणि (काष्ठदण्ड) से उत्पन्न हुई है, कौरवों के घने जंगल में फैल रही है

इसे सुनकर हर्ष के साथ भीम कहता है–'पूज्य भ्राता की क्रोधाग्नि अब बेरोकटोक फैले बेरोकटोक फैले।' यहाँ द्रौपदी के बालों के बाँधे जाने के कारणभूत युधिष्ठिरकोप का उद्भेदन किया गया है, जो अब तक गूढ ही रहा है।

अथ करणम्–

करणं प्रकृतारम्भः-

यथा रत्नावल्याम्–'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्सम्।' (नमस्ते कुसुमायुधतदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद्गमिष्यामि।) इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतिनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे–'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय इति। सहदेवः – आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।' इत्यनेनान्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

करण – रूपक की कथा के अनुरूप प्रकृत (प्रस्तुत) कार्य का जहाँ आरम्भ हो, वहाँ करण होता है। (करण के द्वारा भावी अंक के वृत्त की व्यंजना भी कराई जाती है) जैसे, रत्नावली में, 'हे कामदेव, मेरे लिए सफलदर्शन बनोगे। जो मुझे देखना चाहिये था, वह देख लिया। अब मैं इस ढंग से चली जाऊँ कि मुझे कोई देख न पावे। रत्नावली की इस उक्ति के द्वारा भावी अंक में वर्णित निर्विघ्न–दर्शन–प्रयत्न के आरम्भ की व्यंजना कराई गई है, अतः करण नामक मुखांग है।

और जैसे वेणीसंहार में–(भीम) 'तो द्रौपदि, अब हम कौरवों के नाश के लिए जा रहे हैं' (सहदेव) 'आर्य, अब गुरुजनों की आज्ञा पाकर पराक्रम के योग्य कार्य करने को चलें' इस कथनोपकथन के द्वारा भावी अंक में प्रस्तूयमान युद्ध का आरम्भ व्यंजित है, अतः करण है। यहां भीम व सहदेव दोनों के वाक्यों में सभी जगह उद्देश तथा विधेय के क्रम में व्यतिक्रम पाया जाता है। वाक्य में पहले उद्देश्य का प्रयोग होना चाहिये, बाद में विधेय रूप क्रिया का। किन्तु इस वाक्य में पहले क्रिया का प्रयोग किया गया है, बाद में उद्देश का, यह दोष नजर आता है–इस शंका के उपस्थित होने पर इसका निराकरण करते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि यहाँ 'गच्छामः' क्रिया कवि का विवक्षित न होकर, 'कुरुकुलक्षय' या 'विक्रमानुरूपाचरण' ही विवक्षित है, अतः वही विधेय होने के कारण यहाँ बाद में प्रयुक्त हुआ है।

अथ भेद :–

-भेदः प्रोत्साहना मता।। २६।।

यथा वेणीसंहारे–'णाध ! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउबलाई। ('नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।') भीमः–अयि सुक्षत्रिये।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।

स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यतकबन्धे सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः।।'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेद इति।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गनि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्य भावितेति।

भेद – जहाँ प्रोत्साहन पाया जाय, अर्थात् पात्र को बीज के प्रति प्रोत्साहित किया जाये, वहाँ भेद होता है।

जैसे वेणीसंहार के निम्न कथनोपकथन में क्रोध उत्साह रूप बीज के अनुरूप वचन के द्वारा भीम विषण्ण द्रौपदी को प्रोत्साहित करता है। अतः यहाँ भेद नामक मुखाङ्ग होगा

द्रौपदी–नाथ, याज्ञसेनी के पराभव से उद्दीप्त कोप वाले होकर, अपने शरीर को भूल कर युद्ध में न लड़ना, क्योंकि शत्रुओं की सेना सावधानी से घूमे जाने योग्य है ऐसा सुना जाता है।

भीम–अरी सुक्षत्रिये ! पाण्डव के पुत्र उस संग्रामरूपी समुद्र के जल के बीच घूमने मे कुशल हैं, जिसमे आपस के टकराने से हुये हाथियों के खून, चर्बी और मस्तक के सान्द्र कीचड़ में मग्न रथों के ऊपर होकर पदाति सेना पार हो रही हो तथा जिसमे गोता मार कर खून पी–पीकर पानगोष्ठी में चिल्लाती हुई अमंगल शृंगालियों के शब्दरूपी तूर्य की ताल पर कबन्ध नाच रहे हों

टिप्पणी – भरत के अनुसार भेद में कथा पुरुष परस्पर अलग अलग कर दिये जाते हैं, 'संहतिभेदनार्थो भेदः'।

मुखसंधि के ये १२ अंग बीज नामक अर्थ–प्रकृति तथा आरम्भ नामक अवस्था के व्यंजक हैं; इनका सपादन साक्षात् रूप से या परम्परा से नाटक या रूपक में किया जाना चाहिये। इन बारह में से भी उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद व समाधान इन अंगों का मुखसन्धि में उपादान सर्वथा आवश्यक है।

टिप्पणी – संक्षेप में रूपक के जितने कथांश में फलप्राप्ति के मुख्य उपाय बीज की सम्यक् उत्पत्ति हो जाती है तथा प्रारम्भ नाम की कार्यावस्था पूर्ण हो जाती है वह मुख सन्धि है। यह प्रसंग के अनुसार रस–निष्पत्ति का भी हेतु हुआ करती है जैसे रत्नावली नाटिका का प्रथम अंक। यहाँ दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग ही बीज है। प्रथमतः इस उद्योग का विषय है सागरिका द्वारा राजा का दर्शन किया जाना। इसी अंश में इतिवृत्त की आरम्भावस्था समाप्त हो जाती है। यह अंक नाना रसों की उत्पत्ति का भी हेतु है जैसे यौगन्धरायण के उत्साह वर्णन में वीर रस, उदयन के वसन्त रूप विभाव के वर्णन में शृंगार और पुरवासियों में प्रमोद के रूप मे हर्ष भाव व रस की निष्पत्ति होती है।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसंधिमाह–

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्। बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश।। ३०।।

(लक्ष्याऽलक्ष्य इवोद्भेदः' इति पाठान्तरम्।)

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः – प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम्। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासदत्त्या च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यतयोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयाङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम। स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम्।।'

इत्यादिभिः –

'दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे। तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा।

इत्यवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति।

अब प्रसंगोपात्त प्रतिमुख संधि का अंगों सहित वर्णन करते हैं–उस बीज का कुछ कुछ दिखाई देना और कुछ दिखाई न देना और इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में फूट पड़ना (उद्भिन्न होना) प्रतिमुख संधि है। इस संधि में बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था का मिश्रण होता है। इसके तेरह अंग होते हैं। (मुखसंधि में बीज बोया जाता है, उसे उचित वातावरण में पोषण मिलता है। इस पोषण के द्वारा प्रतिमुख संधि में आकर वह फूटने लगता है, किन्तु जिस तरह पहले पहल निकलता बीजांकुर कुछ–कुछ अस्पष्ट अवस्था में होता है, ठीक वैसे बीज का अंकुर थोड़े अस्पष्टरूप में प्रतिमुख संधि में उद्भिन्न होता है।)

जैसे रत्नावली के प्रथम अंक मे वत्सराज व सागरिका के (भावी) समागम के हेतुरूप जिस अनुरागबीज को बोया गया है, उसे दूसरे अंक में सुसंगता या विदूषक जान जाते हैं, इसलिए वह कुछ कुछ प्रगट हो जाता है, तथा चित्रफलकवृत्तान्त के कारण वासवदत्ता के द्वारा कुछ–कुछ गृहीत हो जाता है। इस प्रकार बीज के अंकुर का दृश्य और कुछ अदृश्य रूप में उद्भिन्न होना प्रतिमुखसंधि है। मुखसंधि में औत्सुक्य परक प्रवृत्तियां होती हैं, प्रतिमुख में इनका उद्भेद कभी प्रत्यक्ष होता है तो कभी नहीं। भरत के अनुसार 'बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिवक्वचित्' प्रतिमुख है।

वेणीसंहार में भी युधिष्ठिर का क्रोधबीज भीष्मादि के मरण से लक्ष्य हो गया है, किन्तु अभी कर्ण आदि के वध के न होने से अलक्ष्य है। इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में उसका उद्भेद प्रतिमुख की व्यञ्जना करता है।

'पाण्डु का पुत्र युधिष्ठिर बड़ी जल्दी भृत्यों, बान्धवों, मित्रों, पुत्रों तथा अनुजों से युक्त सुयोधन को अपनी सेना के द्वारा युद्ध में (निश्चय ही) मार डालेगा'। (वह वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन के कंचुकी की उक्ति है, जिसे विश्वास हो गया है कि युधिष्ठिर अवश्य विजयी होगा।) तथा, दुर्योधन की निम्न उक्ति के द्वारा जहाँ दुर्योधन का साहस बीज को अलक्ष्य रख रहा है; प्रतिमुखसंधि अभिव्यञ्जित है–

युद्धस्थल में की गई तेजस्वी पाण्डवों की प्रतिज्ञा दुःशासन के हृदय के खून को पीने के विषय में जैसी थी, तथा गदा से दुर्योधन की जाँघ को तोड़ने के विषय में जैसी थी। वैसी ही जयद्रथ के वध के विषय में समझी जानी चाहिये।

(भाव यह है जैसे पाण्डव न तो दुःशासन का ही खून पी सके, न मेरी जांघे ही गदा से तोड़ सके वैसे ही जयद्रथ को भी न मार सकेंगे, उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हो सकेगी। यहाँ दुर्योधन पाण्डवों के लिये प्रयुक्त 'तेजस्वी' विशेषण के द्वारा उनकी अशक्तता की खिल्ली उड़ाता हुआ, तथा उन्हें कोरा वाक्साहसी बताता हुआ व्यंगय कस रहा है।)

पहले अंक में जिस बीज को डाल दिया है, जो बिन्दु के रूप में प्रकटित होने वाला है उस बीज तथा प्रयत्न से अनुगत इस प्रतिमुखसंधि के तेरह अंग होते हैं उसका वर्णन करते हैं–

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्त बिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह–

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी।

नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम्।। ३१।।

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार।

यथोद्देशं लक्षणमाह–

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्-

यथा रत्नावल्याम्–'सागरिका हिअअ पसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुलहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। ('हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलेखगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्य णत्थि अण्णो दंसणोवाउत्ति।' ('तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः।' इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टा– प्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।

उन्हीं का, नाम के साथ साथ लक्षण कहते हैं :–

विलास रति की इच्छा को विलास अंग कहते हैं। (**टिप्पणी** – यहाँ रति स्थायी भाव का उपलक्षण है।) जैसे रत्नावली में सागरिका वत्सराजसमागमरति की इच्छा को लेकर चित्रादि के द्वारा ही उसे प्राप्त करने की चेष्टा करती है। यह चेष्टा प्रयत्न की अवस्था से संबद्ध है तथा यहाँ रत्नावली का अनुरागरूपी बीज साथ–साथ व्यञ्जित हो रहा है, अतः रति की इच्छा से यहां विलास है। इसकी व्यंजना सागरिका की निम्न उक्ति से होती है–'हृदय, प्रसन्न हो प्रसन्न हो, दुर्लभजन की इस इच्छा के आग्रह से क्या लाभ, जिसका फल केवल दुःख ही है–अर्थात् जिस वत्सराज उदयन को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी इच्छा करना केवल दुःख के ही लिए है।' फिर भी उसे चित्रित कर इच्छानुसार अवश्य करूँगी, फिर भी उसे देखने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ईहा (चेष्टा) रति आदि भाव के लिये नहीं अपितु रति आदि भाव के विषय के प्रति होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार शृंगार से भिन्न अन्य रति प्रधान रूपकों में उत्साह आदि के विषय में ईहा होती है। अतः उनका ग्रहण करना चाहिये।

(संस्कृत टीकाकार सुदर्शनाचार्य 'रत्यर्थेहा' का अर्थ 'सुरतार्थेच्छा' करते हैं, किन्तु रति का अर्थ सामान्यनिष्ठ ही लेना ठीक होगा, सुरत के प्रकरण में विशेषनिष्ठ नहीं, वात्स्यायन मैथुन कई तरह के मानते हैं–दर्शनादि भी। लेकिन लौकिक अर्थ में सुरत केवल एक ही

प्रकार का मैथुन है।) (जहाँ नायक नायिका में परस्पर एक दूसरे के प्रति रति की इच्छा व्यक्त की गई हो वहा 'वेलास हुआ

अथ परिसर्पः

-दृष्टनष्टानुसर्पणम्।। ३२।।

परिसर्प :-

यथा वेणीसंहारे 'कंचुकी योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु वासुदेव– सहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तःपुरसुखमनुभवति, इदमपरमयथाकृतः स्वामिनः।

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने– स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।

प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात्।।

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य –क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति

परिसर्प – जब बीज एक बार दृष्ट हो गया हो, किन्तु फिर दिखाई देकर नष्ट हो जाये, और उसकी खोज की जाय, तो यह संधि परिसर्प कहलाती है।

जैसे वेणीसंहार में द्वितीय अंक में भीष्मादि के मरण से बीज दृष्ट हो गया था, किन्तु अभिमन्यु के वध से वह फिर से नष्ट हो गया। किन्तु कृष्ण की सहायता से युक्त, बलवान् पाण्डवों के युद्धरूप बिन्दु, बीज तथा प्रयत्न के सम्पर्क से कंचुकी के मुख से निम्न पद्य में फिर से बीज की खोज की गई है, इसलिये यहाँ परिसर्प नामक प्रतिमुखांग मानना होगा–

जिन मुनि परशुराम का परशु शस्त्रग्रहण के समय से कभी किसी के आगे कुण्ठित न हुआ, उन्हीं परशुराम को जीतने वाले भीष्म का पाण्डुपुत्रों के द्वारा बाणों से गिरा देना इस दुर्योधन को दुखी न बना सका। वही दुर्योधन अनेकों प्रौढ़ धनुर्धर शत्रुओं की विजय से थके हुए, शत्रुओं के द्वारा काटे गये धनुष वाले, अकेले बालक अभिमन्यु के मारे जाने से प्रसन्न हो रहा है।

और जैसे रत्नावली में, मैना के वचन तथा चित्रदर्शन के द्वारा सागरिका का अनुराग बीज क्रम से दृष्ट तथा नष्ट हो गया है, उसको 'वह कहां है' कहकर वत्सराज के द्वारा खोज की जाती है, अतः यहाँ परिसर्प अंग है। इसमें नायक की अभीष्ट प्राप्ति की तीन अवस्थायें रहती हैं। (१) कार्यपद्धति स्पष्ट रहती है (२) नष्ट हो जाती है (३) पुनः सफलता की ओर प्रवर्तित होती दिखती है

अथ विधूतम्।

–विधूतं स्यादरतिः–

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका–सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि ! अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती) सहि ! अवणेहि एदाइं किं अआरणे अत्तणं आयासेसि णं भणामि–(सखि ! अपनयैतानि किमकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि–)

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा। पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्।।'

(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा। प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्।।)

इत्यनेन सागरिका बीजान्वयेन शीतोपचारविधूनाद्विधूतम्।

यथा च वेणीसंहारे' भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति।

विधूत – जहाँ अरति हो वहाँ विधूतनामक अंग होता है। (अरति से यह तात्पर्य है कि बीज के नष्ट होने पर पात्र उससे दुःखित होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मान कर उसकी इच्छा छोड़ देता है, रागमयी प्रवृत्तियों से मन उचट जाता है इसी को विधूत कहते हैं जहाँ रति का विधूनन कर दिया गया हो।) जैसे रत्नावली में सागरिका का अनुराग बीज अरति के कारण विधूत कर दिया गया है कामपीड़ासंतप्त सागरिका अपनी सखी सुसंगता से कहती है–'सखि, मुझे बड़ी ताप–पीड़ा हो रही है।' (सुसंगता वावलों से कमल के पत्तों और मृणालों को लाकर इसके अंग पर रखती है।) सागरिका–(उन्हें फैंकती हुई) सखि, इन्हें हटाले, व्यर्थ में ही क्या अपने आपको तकलीफ दे रही है। मैं सच कहती हूँ–हे प्रियसखी, दुर्लभ व्यक्ति के प्रति प्रेम, गहरी लाज, पराधीन आत्मा, (इस प्रकार की स्थिति में) प्रेम विषम है, ठीक नहीं है, अब तो केवल एक मरना ही (मेरी) शरण है। यहाँ सागरिका ने बीजान्वय से शीतोपचार को हटा दिया है, अतः यह विधूत है।

टिप्पणी – यहाँ धनिक ने 'शीतोपचारविधूननाद् विधूतम्' लिखा है कुछ के मत में गाथा में प्रिय को दुर्लभ बताया है, तथा इसके द्वारा 'अरति' की व्यंजना हो रही है, अतः 'विधूत' का कारण यों ठीक जान पड़ता है–'प्रियस्य दुर्लभत्वेन आत्मपारवश्यादिना च सूचितेन प्रेम्णो विषमत्वेनारतेर्व्यञ्जनाद् विधूतं; यद्वा विषमत्वेन प्रेम्णो विधूननाद्विधूतम्।'

और जैसे वेणीसंहार में दूसरे अंक में बुरा स्वप्न देखने पर दुर्योधन की पत्नी भानुमती की रति इसलिए विधूत हो जाती है कि या तो वह दुर्योधन के अनिष्ट से आशंकित हो जाती है या पाण्डवों के विजय की आशंका से भयभीत हो उठती है। इस प्रकार (सुखप्रद पदार्थों के प्रति) अरुचि (अनादर) ही विधूत है।

अथ शमः–

'तच्छमः शमः।

तस्या अरतेरुपशमः शमो 'यथा रत्नानवल्याम्–'राजा–वयस्य ! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि।' इति प्रक्रमे 'सागरिका–(आत्मगतम्) हिअअ ! मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो।' (हृदय ! समाश्वसिहि मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः।) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति।

जब उस अरति की शान्ति हो जाती है, वह शम नामक प्रतिमुखांग है। जैसे रत्नावली में, जब सागरिका अपने प्रति राजा की रति जान लेती है, तो उसकी अरति शान्त हो जाती है, (क्योंकि उसे वत्सराज की प्राप्ति की आशा हो जाती है।) यह शम नामक प्रतिमुखांग इन पंक्तियों से स्पष्ट है–

राजा–मित्र, इसने मेरा चित्र बनाया है, इस बात से सचमुच मुझे अपने आप पर गर्व है, तो अब मैं इस चित्रफलक को क्यों न देखूँगा।

सागरिका–(सुनकर–अपने आप) हृदय, आश्वस्त रह, तेरी इच्छा भी इतनी ऊँची मंजिल तक न पहुँच पाई है।

टिप्पणी – भरत, विश्वनाथ और सागर नन्दी ने शम के स्थान पर ताप को रखा है। जिसकी परिभाषा है, अपायदर्शनं।

अथ नर्म–

परिहासवचो नर्म-

यथा रत्नावल्याम्–'सुसंगता–सहि ! जस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठिदि।' ('सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽय पुरतस्तिष्ठति') सागरिका–(सासूयम्) सुसङ्गदे ! कस्स कए अहं आअदा ! ('सुसङ्गते ! कस्य कृतेऽहमागता।) सुसङ्गदा–अइ अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम्। ('अयि आत्मशंकिते ! ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतत्।') इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म।

यथा च वेणीसंहारे–('दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति पुनः) भानुमति–(अर्घं दत्त्वा) हला ! उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिअंणिवत्तेमि। ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि।') (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति, भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति।

नर्म से तात्पर्य परिहास के वचनों से है। (नर्म के अन्तर्गत पात्रों का परिहास पाया जाता है।) जैसे रत्नावली नाटिका में इस वार्तालाप से नर्म की व्यंजना हो रही है।

सुसंगता–जिसके लिए तुम आई हो, वह तुम्हारे सामने ही है।

सागरिका–(रत्नावली) सुसंगता, मैं किसके लिये आई हूँ।

सुसंगता– अरी अपने आप पर बहम करने वाली, इस चित्रफलक के लिये। तो इसे ले लो।'

यह परिहास वचन यहाँ बीज से सम्बद्ध है, यहाँ नर्म नामक प्रतिमुखांग है।

और जैसे वेणीसंहार में, जब भानुमती देवपूजा कर रही है, तो दुर्योधन वहाँ पहुँच कर चुपचाप दासी के हाथ से अर्घपात्र लेकर भानुमती को सौंपता है। भानुमती (अर्घ देकर) अरी दासी, जरा फूल लाओ, मैं दूसरे देवताओं का पूजन कर लूँ। (भानुमती पुष्प लेने को हाथ बढ़ाती है, दुर्योधन पुष्पों को सौंपता है, उसके स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से फूल गिर जाते हैं।) यहाँ भानुमती दुःस्वप्नदर्शन की शान्ति के लिए देव–पूजा कर रही है, किन्तु यह दुर्योधन का परिहासपूर्ण नर्म उस पूजा में विघ्न उपस्थित कर बीज का ही उद्घाटन कर रहा है।

अथ नर्मद्युतिः–

-धृतिस्तज्ज्ञा द्युतिर्मता।। ३३।।

यथा रत्नावल्याम्–'सुसङ्गता–सहि अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमम् जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदाकोव ण मुञ्चसि। अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि। सागरिका–(सभ्रूङ्गभीषद्विहस्य) सुसङ्गते ! इदाणिं पि ण विरमसि।' ('सुसङ्गते ! इदानीमपि न विरमसि।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति।

नर्मद्युति – धैर्य की स्थिति नर्मद्युति कहलाती है। (नर्मद्युति के अन्तर्गत पात्र में धैर्य का संचार पाया जाता है।)

टिप्पणी – भरत और नाट्यदर्पण के अनुसार पात्र के अपने दोष को छिपाने की बातों से हंसी उत्पन्न करना नर्म द्युति है।

जैसे रत्नावली की निम्न पंक्तियों में धृति के द्वारा अनुराग बीज उद्घाटित हो रहा है, यहाँ परिहास से उत्पन्न द्युति पाई जाती है।

सुसंगता–सखि, तुम अब बड़ी निष्ठुर हो गई हो, जो स्वामी के इस प्रकार हाथ से पकड़े जाने पर भी गुस्से को नहीं छोड़ती।

सागरिका–(टेढ़ी भौंहें करके, कुछ हँस कर)–सुसंगता, अब भी चुप नहीं रहती।

अथ प्रगमनम्–

उत्तरा वाक्प्रगमनम् ('प्रगणम्- इत्यपि पाठः)

यथा रत्नावल्याम्–'विदूषका–भो वअस्य ! दिट्ठिआ वद्धसे। ('भो वयस्य ! दिष्टया वर्धसे।') राजा–(सकौतुकम) वयस्य किमत्र। विदूषकः–भो ! एदं क्खु तं जं मए मणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह्णवीअदि। ('भोः ! एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते।') इत्यादिना।

'परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्किं शोषमायासि मृणालहार !।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात्।।'

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात्प्रगमनमिति।

प्रगमन – जहाँ पात्रों में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाये जायें (जिनसे बीज का साहाय्य प्रतिपादित हो), वहाँ प्रगमन होता है।

टिप्पणी – प्रगम का एक अर्थ है प्रेम पथ का प्रवर्तन जिसके अनुसार प्रगमन प्रेम का अभिनव विकास हो सकता है जो धनिक के मन्तव्य के अनुसार है। जैसे रत्नावली नाटिका में विदूषक व राजा, सागरिका व सुसंगता के परस्पर उत्तरोत्तर वचन अनुराग बीज को प्रकट करते हैं, अतः वहाँ प्रगमन है। प्रगमन की व्यंजना विदूषक व राजा की इस बातचीत से हो रही है–

विदूषक–मित्र, बड़ी खुशी की बात है, तुम्हारी वृद्धि हो रही है।

राजा–(कौतुक से) मित्र, क्या बात है।

विदूषक–अरे, यह वही है जो मैंने कहा था कि इस चित्र में तुम्हीं चित्रित हो, कामदेव के नाम से और दूसरे किस व्यक्ति को छिपाया गया है

राजा–हे मृणालहार, उसके वक्षःस्थल के बीच से गिर कर क्यो सूख रहा है। अरे जहाँ तेरे सूक्ष्म तन्तु के लिए भी जगह नहीं वहाँ तुम्हारी गुंजायश कैसे हो सकती है।

अथ निरोधः–

-हितरोधो निरोधनम्।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–धिङ्मूर्ख !

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा। रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता।।'

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा विरोधान्निरोधनमिति।।

निरोध – हित की रोक (रोध) हो जाने पर निरोधन होता है। (प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति से नायकादि को रोक दिया जाये उसमें अन्तराय उत्पन्न कर दिया जाये, वहाँ विरोधन होगा।)

जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम वत्सराज का अभीष्ट हित है; किन्तु वासवदत्ता के प्रवेश की सूचना देकर विदूषक उसमें अन्तराय उत्पन्न कर देता है। अतः यहाँ निरोधन है, जिसकी व्यंजना राजा की निम्न उक्ति से होती है–

'मूर्ख तुझे धिक्कार है। किसी तरह दैव की कृपा से प्राप्त, अनुराग से युक्त (जिसका प्रेम प्रकट हो गया है), प्रिया (सागरिका) को मैं कण्ठ से भी न लगा पाया था कि तूने उसे उसी तरह हाथ से गंवा दिया जैसे दैववश प्राप्त, उज्ज्वल रत्नावली (रत्नमाला) को गले में डालने के पहले ही गँवा दिया जाये।'

अथ पर्युपासनम्–

पर्युपास्तिरनुनयः-

यथा रत्नावल्याम्–राजा–

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा। किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे।।'

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्तायाः अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटान्वयेन पर्युपासनमिति।

पर्युपास्ति – (नायकादि के द्वारा किसी का) अनुनय–विनय पर्युपास्ति या पर्युपासन कहलाता है। क्रुद्ध व्यक्ति को मनाना ही पर्युपासन है। (प्राप्तव्य के निरोध पर नायकादि उस अवरोध के निवारण के लिए, इस अंग के अन्तर्गत अनुनय करते हैं।)

जैसे रत्नावली नाटिका में, वत्सराज व सागरिका का एक चित्र में आलेखन देखकर वासवदत्ता क्रुद्ध हो जाती है। राजा उसका अनुनय करता है। यह अनुनय उन (वत्सराज–सागरिका) दोनों के प्रेम को प्रकट कर उसका साहाय्य संपादित करता है, अतः यह पर्युपासन है। इसकी व्यंजना राजा की उक्ति के निम्न पद्य में हुई है।

'हे वासवदत्ते, तुम खुश हो जाओ' यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि तुम नाराज नहीं हो। 'मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूँगा' यह कहने पर अपराध स्वीकार करना हो जाता है। 'मेरा कोई दोष नहीं है' ऐसा कहने पर तुम इसे भी झूठ समझोगी। इसलिए हे प्रियतमे, इस मौके पर मुझे क्या कहना चाहिये यह भी नहीं जानता।'

अथ पुष्पम्–

-पुष्पं वाक्यं विशेषवत्।। ३४।।

यथा रत्नावल्याम्–'(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः–भो ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। ('भोः ! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।') राजा–वयस्य ! सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः। कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मंमृतद्रवः।।'

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम्।

पुष्प – जहाँ विशिष्ट वाक्यों द्वारा बीजोद्घाटन हो, अथवा जहाँ पर वाक्य विशेष रूप बीजोद्घाटन से करे, वह पुष्प कहलाता है। (प्रथम अंक में निक्षिप्त बीज पल्लवित होकर, इस अंक में पुष्पोत्पत्ति करता है–जिस तरह वृक्ष में पुष्पाविर्भाव भावीफलप्राप्ति का साहाय्य सम्पादित करता है, वैसे रूपक में यह अंग भी है। (अनुरागात्मक) विशेषताओं का परिचायक वाक्य पुष्प है।

जैसे रत्नावली नाटिका में उदयन व सागरिका का अनुराग परस्पर दर्शन आदि से विशेष रूप में प्रकट हो जाता है। इस पुष्प की सूचना विदूषक व वत्सराज का निम्न कथनोपकथन देता है।

(राजा सागरिका को हाथ से स्पर्श करने का अभिनय करता है।)

विदूषक–अरे मित्र, तुमने तो अपूर्व श्रीको पा लिया है।

राजा–मित्र सच कहते हो। यह श्री है, और इसका हाथ कल्पवृक्ष का पल्लव है। नहीं तो, यह (हाथ) स्वेद के व्याज से अमृतद्रव को कैसे (कहाँ से) छोड़ता।

अथोपन्यासः–

उपन्यासस्तु सोपायम् (प्रसादनमुपन्यासः इति पाठान्तरम्) -

यथा रत्नावल्याम्–'सुसङ्गता–भट्टा ! अलं सङ्काए मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभअणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीत तए अहं एत्अ आलिहिथ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु।' ('भर्तः ! अलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरु प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सगरिका तत्प्रसाद्यताम्।)

इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति।

उपाययुक्त या हेतुप्रदर्शक वाक्य उपन्यास कहलाता है। जैसे रत्नावली में सुसंगता ने यह बता कर कि चित्र मे सागरिका मन आलिखित की है और सागरिका ने तुम्हें; इस वाक्य में प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर बीज का उद्भेद किया है। अतः सुसङ्गता की इस उक्ति में उपन्यास है–

'स्वामिन् सन्देह न करें, मुझे भी तो आपकी खुशी से प्रसन्नता है, इस कर्णाभूषण की क्या जरूरत है। इससे ज्यादा खुशी तो मुझे इसमें होगी कि आप मेरी प्यारी सखी सागरिका को खुश करें, क्योंकि वह मुझ से इसलिये नाराज है कि मैंने उसे इस चित्र में आलिखित कर दिया है।

टिप्पणी – राम जी उपाध्याय ने 'प्रसादनमुपन्यासः परिभाषा दी है। किन्तु फिर उपन्यास और पर्युपास्ति में अन्तर नहीं रह जाएगा।

वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

यथा रत्नावल्याम्–'वासवदत्ता–(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! एसावि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्सविण्णाणम। ('आर्यपुत्र ! एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम्।') पुनः 'अज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुपण्णा। (आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना।' इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्ष– निष्ठुराभिधानं वज्रमिति।

वज्र – जहाँ नायकादि के प्रति कोई पात्र प्रत्यक्षरूप में निष्ठुर वचन का प्रयोग करे वह (वज्र के समान तीक्ष्ण व मर्मभेदी होने के कारण) वज्र कहलाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता इन दोनों के प्रेम को जान कर क्रुद्ध होती हुई निम्न कटु वचनों को वत्सराज से कहती है, यहाँ वज्र प्रतिमुखांग है।

(चित्रफलक को दिखाकर) आर्यपुत्र, यह (सागरिका) तुम्हारे पास जो (चित्रित) है, क्या वह तुम्हारे मित्र वसन्तक (विदूषक) की करामात (कौशल; विज्ञान) है ?

× × × आर्यपुत्र, मेरे भी इस चित्रकर्म को देखकर सिरदर्द हो आया है।

अथ वर्णसंहारः–

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।। ३५।।

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के–

'परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः ! प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते।।'

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाञ्चाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति।

वर्णसंहार – जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादि वर्ण) एक साथ एकत्रित हों, वहाँ वर्णसंहार होता है। जैसे महावीरचरित के तृतीय अंक में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि (चारों) वर्ण इकट्ठे होकर वचनों के द्वारा रामविजय की आशंसा वाले परशुराम के गुस्से की शान्ति की प्रार्थना करते हैं। अतः वहाँ वर्णसंहार है, जिसकी सूचना उस अंक के निम्न पद्य से हुई है।

'यह ऋषियों का समाज, यह बूढ़ा बुधाजित; अमात्यगण के साथ राजा, और बूढ़े लोमपाद, और यह निरन्तर यज्ञ करने वाले पुराने (विख्यात) आत्मज्ञानी जनकों के राजा (राजा जनक) भी द्रोहरहित आपकी प्रार्थना करते हैं।

टिप्पणी – अभिनवगुप्त के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय को वर्णसंहार मानना उचित नहीं अपितु नाटकीय पात्रों का एकत्रित होना वर्णसंहार है।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम्, इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति।

प्रतिमुखसन्धि के ये तेरह अंग, मुखसन्धि के द्वारा डाले गये बिन्दु दूसरे बीज, महाबीज तथा प्रयत्न के साथ–साथ उपनिबद्ध किये जाने चाहिये। इनमें से परिसर्प प्रशम, वज्र उपन्यास तथा पुष्प प्रधान हैं, बाकी अंगों का प्रयोग यथासंभव हो सकता है।

अथ गर्भसंधिमाह–

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः।। ३६।।

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति–'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति–दर्शयति–'स्यात् इति। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेष–परिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति।

गर्भसन्धि–

जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार बार किया जाता है, तो गर्भसंधि होती है। यह गर्भसंधि बारह अंगों वाली होती है। इसमें वैसे तो पताका (अर्थप्रकृति) तथा प्राप्तिसम्भव (अवस्था) का मिश्रण पाया जाता है किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं, वह हो भी सकती है, नहीं भी, किन्तु प्राप्ति संभव का होना बहुत जरूरी है।

जिस बीज को प्रतिमुखसन्धि में कभी पनपता और कभी मुरझाता (लक्ष्यालक्ष्य रूप में) देखा गया है, क्योंकि वह बहुत थोडा फूटा है; वह बीज यहाँ आकर विशेष रूप से फूट पड़ता है। किन्तु फललाभ विघ्नरहित नहीं है; इसमें कभी तो विच्छेद (विघ्न) होता है, फिर से उसकी प्राप्ति होती है, फिर वियोग (विच्छेद) हो जाता है, और इस प्रकार बार–बार उसी की खोज की जाती है। यहाँ प्राप्ति की संभावना तो होती है, किन्तु फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यह गर्भसन्धि की विशेषता है। यहाँ पताका का होना आवश्यक नहीं है।

इसका निदर्शन 'पताका हो या न हो' (पताका स्यान्न वा) इसके द्वारा किया गया है। प्राप्तिसंभव तो होना ही चाहिए इसकी सूचना 'स्यात्' के द्वारा की गई है। जैसे रत्नावली के तीसरे अंक में वत्सराज की फलप्राप्ति में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न होता है; किन्तु सागरिका के अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचन सुनकर राजा को प्राप्ति की आशा हो जाती है। पहले वासवदत्ता उसमें विच्छेद उपस्थित करती है, फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद हो जाता है। फिर विघ्न के निवारण के उपाय तथा फल–हेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की व्यंजना राजा की इस उक्ति से होती है–'मित्र' अब वासवदत्ता को मनाने के अलावा और कोई उपाय नहीं है।

स च द्वादशाङ्गो भवति। तान्युद्दिशति

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।

संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ।। ३७।।

उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते।

इस गर्भ संधि के बारह अंग होते हैं–अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम, आक्षेप; इन अंगों के लक्षण (आगे) बताये जाते हैं।

यथोद्देशं लक्षणमाह–

अभूताहरणं छद्म-

यथा रत्नावल्याम–'साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताकल्पितकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम्।

अभूताहरण – जहाँ छद्म या कपट हो वहाँ अभूताहरण होता है। (कपट के द्वारा जहाँ प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाये) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता का वेष बनाकर सागरिका वत्सराज के समीप अभिसरण करती है; इस छद्म की सूचना प्रवेशक द्वारा विदूषक तथा काञ्चनमाला बनी हुई सुसंगता के कथनोपकथन से दी गई है–

'हे अमात्य वसन्तक तुम बड़े कुशल हो। इस संधि–विग्रह की चिन्ता के द्वारा तुमने अमात्य यौगन्धरायण को भी जीत लिया।' विदूषक और सुसंगता के द्वारा आयोजित और काञ्चनमाला के द्वारा भण्डाफोड़ करने से प्रकट किया हुआ अभूताहरण है।

अथ मार्गः–

–मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम्।।३८।।

यथा रत्नावल्याम्–'विदूषकः–दिट्ठिआ वद्धसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। (दिष्टया वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या। राजा–वयस्य कुशलं प्रियायाः। विदूषकः – अइरेण सअं जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। (अचिरेणस्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि) राजा दर्शनमपि भविष्यति। विदूषकः–(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। ('कथ न भविष्यति यस्य उपहसित–बृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।') राजा–तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि। विदूषकः–(कर्णे कथयति) एत्तिअं। (एतावत् इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति।

मार्ग – जहाँ निश्चित तत्त्व का (अर्थप्राप्ति रूप तत्त्व का) कीर्तन हो, वह मार्ग है। (यहाँ नायकादि के प्रति किसी शुभचिन्तक मात्र के द्वारा प्राप्ति के मार्ग की सूचना दी जाती है।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के वेष में सागरिकाभिसरण की सूचना देकर विदूषक सागरिकासमागम का निश्चय राजा को दिला देता है। इस प्रकार तत्त्वार्थनिवेदन के कारण निम्न पंक्तियों में मार्ग नामक गर्भांग है

'विदूषक–बड़ी खुशी की बात है, तुम्हारी कार्यसिद्धि के ईप्सित ढंग से पूर्ण होने से तुम्हारी वृद्धि हो रही है।

राजा–वयस्य, प्रिया कुशल तो है।

विदूषक–शीघ्र ही खुद ही देखकर सारी बात जान लोगे।

राजा–क्या दर्शन भी होगा।

विदूषक–(घमण्ड से) क्यों नहीं होगा, जब तुम्हारा मुझ जैसा मन्त्री है, जिसने बृहस्पति के बुद्धिवैभव को भी तुच्छ समझ कर हंस दिया है।

राजा–फिर जरा किस ढंग से यह होगा, इसे सुनना चाहता हूँ।

विदूषक–(कान में कहता है) ऐसे।'

अथ रूपम्–

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्-

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातस्तथाहि–

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी।।

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्यनेव देवीशङ्कायाश्च वितर्कादूपमिति।

रूप – जहाँ प्राप्ति की प्रतीक्षा करते समय नायकादि तर्कवितर्कमय वाक्यों का प्रयोग करें उसे रूप कहते हैं। (प्राप्ति की प्रतीक्षा में कभी–कभी यह भी डर बना रहता है कि कहीं कोई विघ्न उपस्थित न हो जाये, इस द्विविध विचार की सूचना रूप में होती है। नायक को संशय होने पर एक दूसरा और तीसरा भी विकल्प मन में आता है।) जैसे रत्नावली में यह वितर्क कि कहीं वासवदत्ता ने इस बात को न जान लिया हो, रत्नावली–समागम की प्राप्त्याशा का ही साहाय्य प्रतिपादित करता है। यह वितर्करूप इन पंक्तियों में सूचित है।

'राजा–अपनी गृहिणी के समागम से परिभावित कामी मनुष्य का नये व्यक्ति (नई प्रेमिका) के प्रति किसी दूसरे ही ढंग का पक्षपात होता है' जैसे–यद्यपि (छिप कर) संकेत स्थल में अभिसरणार्थ आई हुई प्रेमिका, शंकित होने के कारण नायक के मुख की ओर अनन्य नजर से नहीं देख पाती; कण्ठ से आलिंगन करते समय प्रेम से स्तनों को जोर से छाती से नहीं सटाती, तथा कोशिश न करने पर भी बार–बार 'मैं जाती हूँ' इस तरह जाने का डर दिखाती है; तथापि वह कामी मनुष्य को अत्यधिक सुख पहुंचाती है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।वसन्तक क्यों देर कर रहा है, कहीं देवी को यह वृत्तान्त न ज्ञात हो गया हो।

अथोदाहरणम्–

-सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः।

यथारत्नावल्याम्–विदूषकः–(सहर्षम्) ही ही भोः, कौसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो असि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' ('ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति।

उदाहरण – (प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) उत्कर्ष या उन्नति से युक्त वाक्य उदाहृति या उदाहरण कहलाता है। (बातचीत को बढ़ा चढ़ा कर कहना उदाहरण है।) जैसे रत्नावली में विदूषक रत्नावली–प्राप्ति की बात को कौशांबीराज्य–लाभ से भी बढ़कर बताता है, अतः निम्न वाक्य सोत्कर्ष होने से उदाहरण का सूचक है–

'विदूषक–(हर्ष के साथ) हा, हा, मेरे पास से प्रियवचन सुन कर तुम्हें जितनी प्रसन्नता होगी, उतनी कौशांबी के राज्य–लाभ से भी न हुई होगी।'

अथ क्रमः–

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा–

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।

तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः।।

विदूषकः–(आकर्ण्य) भोदि सागरिए ! एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता निवेदेमि से तुहागमणम्। ('भवति सागरिके ! एष प्रियवयस्यत्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः।

क्रम – जहाँ आप्ति (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) का चिन्तन किया जाय, तथा वह वस्तु प्राप्त हो जाए वहां क्रम नामक गर्भसन्धि का अंग होता है। जैसे रत्नावली में निम्न पंक्तियों में वत्सराज–सागरिका के समागम की अभिलाषा ही कर रहा था, कि भ्रान्त सागरिका (सागरिका के रूप में वासवदत्ता) आ जाती है, अतः क्रम है।

'राजा–प्रियासमागम के उत्सव के नजदीक आ जाने पर भी मेरा चित्त इतना ज्यादा बेचैन क्यों हो रहा है ? अथवा, कामदेव की तीव्र पीड़ा आरम्भ में उतना नहीं सताती जितना इष्ट वस्तु के पाने के कारण के नजदीक होने पर। (सच है) बादलों के बरसने के पहले का दिन बरसात में खूब तपा करता है।

विदूषक–(सुन कर) अरी सागरिके, यह प्रियवयस्य तुम्हें ही उद्देश करके बड़े उत्कण्ठित ढंग से चिन्ता कर रहा है। इसलिये, मैं तुम्हारे आगमन की सूचना उसे दे देता हूँ।'

टिप्पणी – क्रम नाम की सार्थकता बताते हुए अभिनव का कथन है, बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते', बुद्धि समस्या का समाधान करने में चलती है, रुकती नहीं।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन–

-भावज्ञानमथापरे।। ३६।।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके !

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ

रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।

इत्याह्लादकराखिलाङ्ग रभसान्निशङ्कालिङ्गचमा–

मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय।।'

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वाक्रमान्तरमिति।

दूसरे लोगों के मत से क्रम की परिभाषा भिन्न है। वे (दूसरे लोग) भाव के ज्ञान को क्रम मानते हैं। (इस मत के अनुसार जहाँ दूसरे पात्र के द्वारा नायकादि के भाव का ज्ञान हो जाये, वहाँ क्रम होता है।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता (जो सागरिका की [illegible] संकेत स्थल पर आ जाती है) निम्न पद्य में वत्सराज उदयन के रत्नावली–विषयक अनुराग–भाव को जान जाती है वह क्रम है।

राजा–(नजदीक आकर) प्रिये सागरिके, तेरा मुख चन्द्रमा है; तुम्हारी दोनों आँखें कमल हैं, तुम्हारे दोनों करतल पदम के समान हैं तुम्हारी दोनों जाँघे केले के गर्भ के सदृश हैं और तुम्हारे दोनो हाथ (बाजू) मृणाल के समान है। इस तरह तुम्हारे सारे अंग (मुझे आह्लाद देने वाले ही हैं। हे आह्लादकराखिलांगी, आओ, आओ, निःशङ्क और शीघ्रता से मेरा आलिंगन कर कामताप से [illegible] मेरे अंगों को शान्त करो। × × × इस बिम्बाधर में वह भी मौजूद है ही।

अथ संग्रहः–

संग्रह सामदानोक्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'साधु वयस्य ! साधु इद ते पारितोषकं कटकं ददामि।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमव [illegible] संग्रहात्संग्रह इति।

संग्रह – जहाँ नायकादि अनुकूल आचरण करने वाले पात्र को साम व दान से प्रसन्न करें, वहाँ साम व दान की उक्ति संग्रह कहलाती है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका का समागम कराने वाले विदूषक को साम व दान से संगृहीत करता है, अतः संग्रह है।

राजा–वयस्य बहुत अच्छा, मैं तुम्हें यह कड़ा इनाम देता हूँ।

अथानुमानम्–

अध्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एषायमापतितोऽस्माकमनर्थः। कुतः–

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति।।

विदूषकः–भो वअस्स ! वासवदत्ता किं करइस्सदि त्ति ण जाणामि सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्कमि। (भो वयस्य वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्यन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति।

अनुमान – जहाँ किन्हीं हेतुओं (लिंगों, चिन्ह) के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाये, वहाँ अनुमा या अनुमान होता है (धूम पर्वत में अग्नि की सत्ता का अनुमापक लिंग है। 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र बह्निः' इस व्याप्ति के आधार पर वह पवत मे अग्नि की सत्ता सिद्ध कर देता है–पर्वतोऽयं वह्निमान् (धूमात्)। इसी तरह जहाँ किन्हीं हेतुओं से किसी भी बात का अनुमान तर्कसंगत के आधार पर हो, वहां अनुमान नामक गर्भांग होगा। यथा रत्नावली नाटिका में सागरिका से प्रेम करने से राजा प्रकृष्ट प्रम स स्खलित हो गया है, इसलिए इस बात को जान कर वासवदत्ता जिन्दा न रह सकेगी, इस प्रकार प्रकृष्ट प्रेमस्खलन हेतु के द्वारा वासवदत्त मर का तर्क अनुमान है, जिसकी सूचना निम्न पद्य में हुई।

'राजा–धिक्कार है, मूर्ख, तुमने ही यह सारा अनर्थ हमारे सिर डाला है। क्योकि; (हम दोनों का) प्रेम दिन प्रति दिन प्रेम के सम्मान करने से बढ़ गया था; मेरे द्वारा अब तक कभी न किये इस अपराध को किया देखकर यह प्रिया वासवदत्ता इसे बर्दाश्त न करती हुई आज सचमुच जीवन का त्याग कर देगी। प्रकृष्ट (बहुत बढे हुए) प्रेम से (एक व्यक्ति का) गिरना (दूसरे के लिए) असहनीय ही होता है।

विदूषक–हे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी, यह तो नहीं जानता, हाँ सागरिका बड़ी मुश्किल से जिन्दी रह सकेगी इतना अनुमान [illegible] करता हूँ। (यहां राजा व विदूषक दोनों की उक्ति में 'अनुमान' पाया जाता है।)

अथाधिबलम्–

अधिबलमभिसंधिः-

यथा रत्नावल्याम्–'काञ्चनमाला–भट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि (भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावधान्य राजविदूषयकयोरभिसंधीयमानत्वादधिबलमिति।

अधिबल – जहाँ किन्हीं पात्रों के द्वारा (छल से) नायकादि का अभिप्राय जान लिया जाय, वहाँ अधिबल होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता व काञ्चनमाला सागरिकाभिसरण की बात जान कर सागरिका तथा सुसंगता का वेश बनाकर संकेत–स्थल (चित्रशाला) को जाती है, यहाँ वे दोनों राजा व विदूषक से मिलती हैं तथा उनका अभिप्राय जान लेती है, अतः अधिबल है। काञ्चनमाला की इस उक्ति से इसकी सूचना दी गई है।

'भट्टिणी' यह वह चित्रशाला है, तो मैं वसन्तक को संकेत करती हूँ।' (ताली का संकेत देती है।)

टिप्पणी – कपट भरी वाणी से किसी को ठगना अधिबल है। (वञ्चना–अभिसंधि)। इसमें आचार्यों का मतभेद है। एक मत के अनुसार वञ्चना का विफल होना अधिबल है तो दूसरे के अनुसार सोपालम्भ वाक्य अधिबल है, तो नाट्यदर्पण में बलाधिक्य अधिबल है।

अथ तोटकम्–

-संरब्धं तोटकं वचः।। ४०।।

यथा रत्नावल्याम्–'वासवदत्ता–(उपसृत्य) अज्ज्उत्त ! जुत्तमिणं सरिसमिणम्।' (पुनः सरोषम्) अज्ज्उत्त उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कंचणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणं। एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि।' (आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम्। आर्यपुत्र उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्या सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्धवानयैनं दुष्टब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः गुरु।' इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम्।

यथा च वेणीसंहारे–

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्'

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः'

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति।

तोटक – क्रोध से युक्त वचन तोटक कहलाता है। आवेगपूर्ण वचन ही तोटक कहलाता है। जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम में विघ्न उपस्थित करते हुए वासवदत्ता क्रुद्ध वचन के द्वारा उदयन की इष्टप्राप्ति को अनिश्चित बना देती है। अतः यह तोटक है वासवदत्ता की इस उक्ति में तोटक है–'(आगे बढ़कर) आर्यपुत्र, यह ठीक है, आपके सदृश है। (फिर रोष से) आर्यपुत्र उठो, क्या अब भी कुलीनता सेवा दुःख को अनुभव करती है। काञ्चनमाला, इसी पाश से इस दुष्ट ब्राह्मण (वसन्तक) को बांधकर ले आ, और इस दुष्ट लड़की को भी आगे कर।'

और जैसे वेणीसंहार में कर्ण और अश्वत्थामा के परस्पर क्रुद्ध वचनों के कारण कौरवों की सेना में भेद हो जाता है, और इससे पाण्डवविजय की प्राप्त्याशा की सहायता होती है, अतः यहाँ तोटक है। इसका आभास अश्वत्थामा की 'तुम आज स्तुतियों के प्रयत्नों से जगाये हुए, रात को सोवोगे, इस उक्ति से लेकर 'जब तक मैं आयुध धारण किये हूँ, तब तक दूसरे आयुधों से क्या लाभ' इस उक्ति तक पाया जाता है।

ग्रन्थातरे तु–

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि–

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।

कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात्।।

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम्।। ४१।।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद। वासवदत्ता–(अश्रूणि धारयन्ती) अज्ज्उत्त ! मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइ खु एदाइं अक्खराइं त्ति।' (आर्यपुत्र नैवं भणं। अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति।)

यथा च वेणीसंहारे–राजा अये–अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य। पुरुषः–कुसलं सरीरमेत्तकेण। ('कुशलं शरीमात्रकेण।') राजा–किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः। पुरुषः–देव ! ण भग्गो रहो भग्को से मणोरहो। ('देव न भग्नो रथः। भग्नोऽस्य मनोरथः') राजा–(संसभ्रमम्) 'कथम्।' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति।

दूसरे नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में अधिबल व तोटक दोनों के लक्षण भिन्न बताये गये हैं। इन विद्वानों के मतानुसार तोटक का उलट ही अधिबल है। दशरूपककार के मत से क्रुद्धवचन तोटक हैं, अतः क्रुद्धवचन का उलटा विनीत व दीन वचन अधिबल है। ये दूसरे नाट्यशास्त्री दीन वचनों को अधिबल मानते हैं, जैसे रत्नावली में राजा की इस उक्ति में–

देवि, इस तरह मेरे अपराध के प्रत्यक्ष देख लेने पर मैं क्या अर्ज कर सकता हूँ। हे देवि लज्जित होकर मैं अपने सिर से तुम्हारे दोनों पैरों के अलक्तक (लाक्षा) की ललाई को हटा रहा हूँ। (पोंछ रहा हूँ)। लेकिन क्रोध रूपी ग्रहण से पैदा हुई पूर्ण मुखचन्द्र की ललाई को तो तभी हटा सकता हूँ, जब तुम्हारी विशेष दया मेरे प्रति हो जाये।'

इन दूसरे पण्डितों के मत से संरब्ध (उद्विग्न) वचन तोटक है। जैसे रत्नावली में–

'राजा–प्रिये, वासवदत्ते, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

वासवदत्ता–(आँसू भर कर) आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो। ये अक्षर अब दूसरे के लिए हो गये हैं।' और जैसे वेणीसंहार में–

राजा–अरे सुन्दरक, अंगराज कर्ण कुशल तो है ?

पुरुष–उनका केवल शरीर कुशल है।

राजा–क्या उनके घोड़े अर्जुन ने मार दिये; सारथि घायल कर दिया, या रथ तोड़ दिया।

पुरुष–देव, उनका रथ नहीं, मनोरथ तोड़ डाला।

राजा–(उद्विग्न होकर) कैसे।'

टिप्पणी – संरम्भ–आवेग। यह आवेग हर्ष, क्रोध या अन्य किसी निमित्त से होता है। भिनत्ति यतो हृदयं तत तोटकं। तोटक की दोनों परिभाषाओं में कोई अन्तर नहीं है। दूसरी परिभाषा अनावश्यक है।

अथोद्वेगः–

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः-

यथा रत्नावल्याम्–'सागरिका–(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहि अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि। ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते।') इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः। यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः।

यथा च वेणीसंहारे–'सूतः–(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराज–पुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसज्ञश्च महाराज भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्य दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः।

उद्वेग – शत्रुओं के द्वारा किया गया भय उद्वेग कहलाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता सागरिका का अपकार करने वाली है अतः उसकी शत्रु है। जब वह सागरिका को पकड़ कर ले जाती है तो सागरिका को भय होता है, अतः यह उद्वेग है। सागरिका की इस उक्ति में इसी का संकेत है–

'क्या पुण्य न करने के कारण इच्छा से मरा भी नहीं जाता।'

और जैसे वेणीसंहार में, सूत की निम्न उक्ति उसके भय की व्यंजक है। '(सुनकर डर के साथ क्या यह कौरव राजकुमारों के महान वन के लिए भीषण झंझावात (प्रलय वात) के समान भीमसेन समीप ही आ गया है और महाराज बेहोश हैं। ठीक है रथ को दूर ले जाता हूँ। शायद यह दुःशासन की तरह इनके साथ भी अनुचित व्यवहार कर बैठे।'

अथ संभ्रमः–

-शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

यथा रत्नावल्याम्–'विदूषकः–(पश्यन्) का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि। ('का पुनरेषा। कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति') राजा–(संसभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ।' इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति।

यथा च वेणीसंहारे–'(नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा–(ससंभ्रमम्) मातुल ! मातुल ! कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरु किरात [illegible] शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभि द्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन।' इति शङ्का। तथा (प्रविश्य संभ्रान्त सप्रहार) सूत [illegible] कुमारः।' इति त्रासः। इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति।

संभ्रम – जहाँ पात्रों में शंका एवं भय का संचार हो, वहाँ संभ्रम माना जाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता की बुद्धि से गृहीत सागरिका के मरने की आशंका निम्न उक्ति में पाई जाती है, अतः यहाँ संभ्रम है।

विदूषक–(देखकर) यह कौन है ? (घबरा कर) क्या देवी वासवदत्ता अपने आप को मार रही है (आत्महत्या कर रही है)।

राजा–(घबराहट के साथ आगे बढ़ते हुए) वह कहाँ है, वह कहाँ है।

और जैसे वेणीसंहार में, तीसरे अंक में त्रास तथा शंका द्रोण तथा दुःशासन के वध की सूचक है इनसे पाण्डवों की विजय की प्राप्त्याशा अन्वित है, अतः यहाँ संभ्रम नामक गर्भांग है, जिसकी सूचना निम्न स्थल पर हुई है।

'(नेपथ्य में कोलाहल) अश्वत्थामा (घबराकर)–मामा, मामा, बड़े दुःख की बात है। भाई की प्रतिज्ञा के भंग होने से डरा हुआ यह अर्जुन बाणों की वर्षा के साथ दुर्योधन व कर्ण का पीछा कर रहा है। भीम ने सचमुच दुःशासन का खून पी ही लिया। यहाँ अश्वत्थामा को शंका हो रही है कि भीम कहीं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर ले। इसी के आगे जब चोट खाया हुआ दुःशासन का सारथि अश्वत्थामा के पास आकर उसे बचाने को कहता है–'कुमार दुःशासन की रक्षा करो, उसे बचाओ', तो त्रास की अभिव्यंजना होती है।

टिप्पणी–भरत में संभ्रम के स्थान पर विद्रव गर्भांग है।

अथाक्षेपः–

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः।। ४२।।

यथा रत्नावल्याम्–'राजा वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यत्रोपायं पश्यामि।' पुनः क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः पुनः। तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः।

यथा च वेणीसंहारे–'सुन्दरकः–अहवा किमत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एदं णिम्मच्छिदबिदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविसाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि।' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खल्वेतन्निर्भत्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति'।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषां च मध्येऽभूताहरणमार्ग– तोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंधिरुक्तः।

आक्षेप – जहाँ गर्भ एवं बीज अथवा गर्भ के बीज का उद्भेद हो, जहाँ बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाये' वहाँ आक्षेप कहलाता है। जैसे रत्नावली में राजा की निम्न उक्ति ये यह स्पष्ट होता है कि सागरिका–प्राप्ति वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही आश्रित है। इसके द्वारा उदयन गर्भ बीज को प्रकट कर देता है, अतः यहां आक्षेप है।

'राजा–मित्र अब देवी वासवदत्ता को मनाने के अलावा मुझे कोई उपाय नजर नहीं आता ।

× × × देवी के प्रसन्न होने के बारे में हमें बिल्कुल आशा नही रही है। × × तो यहाँ खड़े रहने से क्या फायदा। जाकर महादेवी को ही क्यों न प्रसन्न करूँ।

और जैसे वेणीसंहार में, सुन्दरक की निम्न उक्ति के द्वारा बीज की फलोन्मुखता का आक्षेप कर उसे प्रकट कर दिया गया है–'अथवा मैं ईश्वर को क्यों दोष दूँ। यह तो उसी षड्यन्त्र–रूपी विषवृक्ष का फल पक रहा है, जिसका बीज विदुर के वचनों की अवहेलना करना था, जिसका अंकुर भीष्मपितामह के हितोपदेश का तिरस्कार था, जो शकुनि के प्रोत्साहन की जड़ पर टिका था एवं जिसका फूल द्रौपदी के बालों को घसीटना था।' बीज को ही फलोन्मुख रूप में दिखलाया गया है अतः आक्षेप है।

ये गर्भसन्धि के बारहों अंग प्राप्त्याशा के पोषक तथा प्रदर्शक के रूप में निबद्ध होने चाहिये। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप प्रमुख हैं; बाकी का यथासंभव प्रयोग हो सकता है। यहाँ तक गर्भसन्धि के अंगों का वर्णन किया गया।

अथावमर्शः–

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।

गर्भनिभिन्नबीजार्थ सोऽवमर्श इति स्मृतः।। ४३।।

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंध्युद्भिन्नबीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा

विमर्शो दर्शितः। यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः–

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते। कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम।

भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः।।

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथवधादवधारितैकान्त– विजयावमर्शनादवमर्शन दर्शितमित्यवमर्शः।

जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से फल–प्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय तथा जहां गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रगट कर (फोड़) दिया गया हो, वहाँ अवमर्श संधि कहलाती है।

'अवमर्श' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'मृश्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ वही है जो इसके ल्युट् वाले रूप अवमर्शन का है। दोनों का अर्थ है विचार, विवेचन या पर्यालोचन। यह फलप्राप्ति की पर्यालोचना क्रोध, व्यसन या विलोभन के द्वारा हो सकती है। 'यह चीज जरूर होगी' इस प्रकार फलप्राप्ति के निश्चय का निर्धारण जहाँ पाया जाये तथा गर्भसन्धि के द्वारा प्रकाशित बीज से जहाँ सम्बन्ध पाया जाता है, वह पर्यालोचन (विमर्श) अवमर्श कहलाता है जैसे रत्नावली के चौथे अंक में वासवदत्ता की प्रसन्नता से रत्नावली की प्राप्ति बिना किसी विघ्न के संभव है, इस विमर्श की सूचना अग्निदाह तथा उससे लोगों के भागकर आने के वर्णन तक दी गई है।

और जैसे वेणीसंहार में, दुर्योधन के खून से लथपथ होकर भीमसेन आता है, उस वर्णन तक विमर्श (अवमर्श) सन्धि है। यहाँ युधिष्ठिर नीचे के पद्य में 'जीत बहुत थोड़ी बची है' (स्वल्पावशेषे जये) के द्वारा; समस्त शत्रुओं; भीष्मादि महारथियों के वध से अब 'विजय निश्चित रूप से निर्धारित हो गई है, इस बात की पर्यालोचना करता है, अतः अवमर्शन दिखाया गया है –

'किसी तरह भीष्मरूपी महासमुद्र को भी पार कर लिया, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ चुकी है, कर्णरूपी जहरीला साप भी शांत हो चुका है, और शल्य भी स्वर्ग चला गया। इतना होने पर तथा विजय के बहुत थोड़ा रह जाने पर साहसी भीमसेन ने शीघ्रता के साथ हम सब को वाणी के द्वारा जीवन के संशय से युक्त बना दिया है। अवमर्श (विमर्श) में प्राप्त्यंश की प्रधानता अप्राप्त्यंश की न्यूनता होती है। अवमर्श में नायक को ज्ञान हो जाता है सफलता क्यों स्थायी नहीं हुई। कारणों को दूर करने में नायक कृतार्थ होता है और प्रधान सुनिश्चित कर लेता है।

तस्याङ्गसंग्रहमाह–

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः

द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम।। ४४।।

प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश

इस अवमर्श संधि के अंगों का वर्णन करते हैं :– अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना विचलन और आदान–अवमर्श के ये तेरह अंग होते है। (ना०शा० में द्रव और विचलन नहीं है, वहाँ निषेधन, व्यवहार और पुंक्ति ये जो द०रू० में नहीं हैं।)

यथोद्देशं लक्षणमाह–

दोषप्रख्यापवादः स्यात्-

यथा रत्नावल्याम्–'सुसङ्गता–सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिं णीदेत्ति। ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।') 'विदूषक –(सोद्वेगम) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' ('अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।' पुनः–'भोवअस्स ! मा खु अण्णधा सम्भावेहि सा खु देवीए उज्जइणिं पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' (भो वयस्य ! मा खल्वन्यथा संभावय सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम्) राजा–'अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः।

यथा च वेणीसंहारे–'युधिष्ठिरः–पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी? पाञ्चालक–न केवलं पदवीं स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति।

अपवाद – जहाँ किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाये, वहाँ अपवाद होता है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका के प्रति वासवदत्ताकृत व्यवहार को सुनकर वासवदत्ता के दोष का वर्णन करता है, अतः यहाँ अपवाद है।

'सुसंगता—उन्हें उज्जैन ले जाया जा रहा है इस तरह की अफवाह उड़ा कर देवी वासवदत्ता के द्वारा आधी रात के समय पता नहीं वह बेचारी (सागरिका) कहां ले जाई गई।'

विदूषक (घबराकर)—देवी ने बड़ी कठोरता की है। ×××हे मित्र, कोई दूसरी बात मत समझना, वह तो सचमुच देवी ने उज्जयिनी भेज दी है, इसलिये यह समाचार अप्रिय है ऐसा हमने कहा है।

'राजा—अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।'

और जैसे वेणीसंहार में निम्न वार्तालाप में दुर्योधन के दोषों का वर्णन है, अतः अपवाद नामक अवमर्शांग है।

'युधिष्ठिर—पांचालक, क्या उस नीच कौरव दुर्योधन के मार्ग का पता चला ?

पांचालक—उसका मार्ग ही नहीं, देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श रूपी पाप का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वयं भी पा लिया गया है।

अथ संफेटः—

-संफेटो रोषभाषणम्।

यथा वेणीसंहारे—'भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैवं विषादं कृथाः—पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहाय' इति।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः।।

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान्धार्तराष्ट्रः—

कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः।

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ—' इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति।

संफेट – (बीज से अन्वित) रोष से युक्त बातचीत (रोषभाषण) संफेट नामक विमर्शाङ्ग है। जैसे वेणीसंहार में निम्न उक्तियों में भीमसेन तथा दुर्योधन के रोष संभाषण के कारण संफेट है। यह रोषसंभाषण पाण्डवों की भावी विजय से अन्वित है।

'भीम—ए कौरवराज, भाई के नाश के कारण उत्पन्न शोक व्यर्थ है। इस तरह शोक मत करो कि पाण्डव युद्ध में सबल हैं और मैं असहाय हूँ।'

'हे दुर्योधन, हम पांचों में से जिस किसी को तुम अच्छा लड़ाका समझो, कवच धारण किये हुए तथा शस्त्रों से युक्त उसी के साथ तुम्हारा द्वन्द्व युद्ध रूपी उत्सव हो जाये'।

(इसे सुनकर दुर्योधन, भीम व अर्जुन दोनों की ओर असूयाभरी दृष्टि डाल कर (भीम से) कहते हैं—)

'वैसे तो कर्ण तथा दुःशासन दोनों के मारने के कारण तुम दोनों मेरे लिये बराबर (अनिष्टकारी) हो। वैसे तुम बड़े अप्रिय हो, किन्तु फिर भी लड़ने के लिये तुम्हीं प्रिय हो, क्योंकि तुम प्रिय साहस हो।' (इस तरह उठ कर एक दूसरे के प्रति गुस्से से परुष शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा घोर संग्राम को विस्तारित करते हुए भीम व दुर्योधन (गदायुक्त में प्रवृत्त हो गये)।

अथ विद्रवः—

विद्रवो वधबन्धादिः-

यथा छलितरामे—

'येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम् बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम्।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते।।'

यथा च रत्नावल्याम्—

'हर्म्याणां हेमशृङ्श्रियमिव शिखिरैरर्चिषामादधानः सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै— रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः।।'

इत्यादि। पुनः वासवदत्ता–'अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि' एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदे. ('आर्यपुत्र ! न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभीतिर्विद्रव इति।

विद्रव – किसी पात्र का मारा जाना, बंध जाना (बन्दी हो जाना), आदि (अर्थात् भय से पलायन आदि करना) विद्रव कहलाता है जैसे छलितराम नाटक* में– (*यह नाटक अनुपलब्ध है। कवि का नाम मायुराज था।)

'जिस लव ने बचपन में सामवेद पढते हुए तुम्हारे मुँह को बन्द करके बहुत तकलीफ दी थी, जिसने अक्षसूत्रों की माला को छिपाकर फिर से वापस करके खेल किया था; वह तुम्हारा हृदय–यह लव, जिसका वक्षःस्थल तीरों से विंध गया है और जो मूर्च्छा के अंधकार के कारण बेबस हो गया है, बांधकर ले जाया जा रहा है।'

और जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के बन्धन, मरण की आशंका, तथा अग्निरूप भय के वर्णन के कारण निम्न स्थल में विद्रव नामक विमर्शांग है।

'जो अपनी लपटों के किनारों से जैसे महलों के सोने के कँगूरों की शोभा को धारण कर रहा है, जो अपने तीव्र ताप की सूचना देने बाग के पेड़ों के अग्र भाग को झुलसाकर दे रहा है, ऐसा अग्नि एकदम अन्तःपुर में फैल गया है। इसके धुएं से क्रीडापर्वत पानी से भरे बादलों के समान काला हो गया है; तथा इसके ताप से अन्तःपुर की स्त्रियाँ भयभीत हो उठी हैं'।

वासवदत्ता–'आर्यपुत्र, मैं अपने लिये नहीं कहती, निष्करुण मेरे द्वारा बन्दी बनाई हुई यह सागरिका मर रही है (जल रही है

टिप्पणी – ना०शा० में विद्रव गर्भ सन्धि का अंग है जहाँ 'शङ्काभयत्रासकृतो विद्रवः।' विद्रव वास्तव में हड़बडी है।

अथ द्रवः–

-द्रवो गुरुतिरस्कृतिः।। ४५।।

यथोत्तरचरिते–

'वृद्धास्तेन विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।

यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यमिज्ञो जनः।।

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः।

यथा च वेणीसंहारे–'युधिष्ठिरः–भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।

तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम्।।'

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः।

द्रव – जहाँ बड़े व्यक्तियों (गुरुओं) का तिरस्कार हो, वहाँ द्रव नामक विमर्शांग होता है–

जैसे उत्तररामचरित में निम्न पद्य में लव पूज्य रामचन्द्र का तिरस्कार करता है अतः द्रव है–

'वे बड़े लोग हैं, अतः उनके चरित्र की चर्चा करना ठीक नहीं। कैसे भी हो रहने दो। ताड़का (सुन्द की स्त्री) के मारने पर भी अखण्डित यशवाले वे लोग महान् हैं। खर के साथ युद्ध करते समय मुँह को बिना फेरे ही जो पीछे तीन कदम रखे गये और बालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल दिखाया गया, उसे भी सभी लोग जानते हैं।

और जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर पूज्य बलभद्र का तिरस्कार करता है, अतः द्रव है–

'भगवन् कृष्णाग्रज, सुभद्रा के भाई, बलराम ! न तो तुमने जाति की प्रीति का ही विचार किया, न क्षत्रियवर्ग ही का विचार किया तुम्हारे छोटे भाई कृष्ण का अर्जुन के साथ जो प्रेम है, जो मित्रता है, उसका भी कोई ख्याल नहीं किया। ठीक है पर तुम्हारा अपने शिष्यों (भीम व दुर्योधन) के साथ समान स्नेह होना चाहिये। फिर वह कौन सा बर्ताव है कि तुम मुझ मन्दभाग्य के प्रति इस तरह नाराज हो।

टिप्पणी – अभिनवगुप्त के अनुसार मार्ग से विचलित होना द्रव है। गुरुजनों का अनादर मार्ग से विचलित होना ही है।

अथ शक्तिः–

विरोधशमनं शक्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–

सव्याजैः शपथैः प्रियेन वचसा चित्तानुवृत्त्यधिकं वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।

प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा प्रक्षाल्यैव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम्।।'

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह–

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिदान– स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति 'विनयः प्रह्वयति माम्।

झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः।।

शक्ति – विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है। जैसे रत्नावली में निम्न पद्य में सागरिकालाभ का विरोध करने वाली वासवदत्ता के क्रोध की शान्ति का संकेत मिलता है, अतः यह शम है।

'झूठी शपथों से, प्यारे वचन से, अधिक प्रेम के बर्ताव से, अत्यधिक लज्जा से, पैरों पर गिरने से तथा बार–बार सखियों के वचनों से देवी वासवदत्ता वैसी प्रसन्न न हो सकी, जैसा उसने स्वयं रोकर अपने आँसू के पानी से धोकर ही क्रोध निकाल दिया।'

और जैसे उत्तररामचरित में राम को देखकर लव कहता है–

'मेरा विरोध शान्त हो गया है, एक शान्त सघन रस जैसे हृदय में फैल रहा है, वह उद्धतता पता नहीं कहाँ चली गई है, विनम्रता मुझे झुका रही है। यदि इन्हें देखते ही मैं एकदम पराधीन हो गया हूँ तो बड़े व्यक्तियों का प्रभाव ठीक उसी तरह महार्घ अथवा महत्त्वपूर्ण होता है, जैसे पवित्र स्थानों का।'

अथ द्युतिः–

-तर्जनोद्वेजने द्युतिः।

यथा वेणीसंहारे–'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरितशातिरिक्तमुद्भ्रान्त सलिल– चरशतासंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सर–सलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्–

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे।

दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे मत्त्रासान्नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे।।'

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्या भीमस्य द्युतिरुक्ता।

द्युति – किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना द्युति कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्वचन तथा जलावलोडन (सरोवर के पानी के मथने) से दुर्योधन को भयभीत (तर्जित तथा उद्वेजित) करता है, तथा ये तर्जन व उद्वेजन एक ओर दुर्योधन के पानी से बाहर निकलने के तथा दूसरी ओर पाण्डव–विजय के कारण हैं। अतः यहाँ द्युति है। इसका संकेत इस उक्ति में है–

'कृष्ण के इस वचन को सुनकर सारे निकुंज से भरी दिशाओं से घिरे सरोवर के पानी को हिलाकर, जो डरे हुए सैंकड़ों जल–जन्तुओं से युक्त था, तथा जिसके मगर और घड़ियाल डर से डूबते–उतराते थे, तथा जोर से गर्जना करके कुमार भीमसेन ने कहा–

अपने आपको चन्द्रमा के निर्मल कुल का वंशज कहता है, तथा अभी भी गदा धारण किये है, दुःशासन के गरम खून की शराब में मस्त मुझे शत्रु कहता है तथा घमण्ड में अन्धा होकर मधुकैटभ के शत्रु कृष्ण के प्रति भी उद्धत व्यवहार करता है, (और) रे, नीच मानव, मेरे डर से युद्धभूमि को छोड़कर अब कीचड़ में छिपता है।

अथ प्रसङ्गः–

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः -

यथा रत्नावल्याम्–'देव याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गात् गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः।

तथा मृच्छकटिकायाम्–'चाण्डालकः–एस सागलदत्तस्य सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो बावादिद्वुं वज्झट्ठाणं णीअदि एदेण किल

गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिद त्ति।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविजयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थान नीयते एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति')।

चारुदत्तः–

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत् सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै– स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्।।'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः।

प्रसंग – जहाँ पूज्य व्यक्तियों (गुरुओं)–माता–पिता आदि का संकीर्तन हो, (गुरुजनों की उपलब्धियों का वर्णन हो) वहाँ प्रसंग नामक विमर्शांग होता है। (अथवा जहाँ महत्त्वपूर्ण (गुरु) वस्तु की चर्चा हो, वहाँ प्रसंग होता है। ('गुरुकीर्तनं की व्युत्पत्ति, गुरूणां कीर्तनं भी हो सकती है, 'गुरु च तत् कीर्तनं' भी हो सकती है। अतः कोष्ठक में गुरुकीर्तन के कर्मधारय वाले अर्थ को भी स्पष्ट कर दिया गया है। वैसे उदाहरणों को देखते हुए दोनों व्युत्पत्तियां ठीक वैसी हैं।) जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा प्रसंग से गुरु (पूज्य, सिंहलेश्वर) का संकीर्तन करता है। (अथवा राजा के प्रति महत्त्वपूर्ण समाचार कहता है), इस 'गुरु कीर्तन' के द्वारा रत्नावली के लाभ के अनुकूल सम्बन्धियों का प्रकाशन किया गया है, अतः यह प्रसंग है–'स्वामिन्, देवी वासवदत्ता को जला हुआ सुनकर पहले से ही प्रार्थित जो रत्नावली नामक पुत्री सिंहलेश्वर ने स्वामी को दी है, ...(वही यह है)।'

और जैसे मृच्छकटिक में, जब चाण्डाल चारुदत्त को वसन्तसेना के वध के दण्ड के लिए मारने को ले जा रहे हैं, तब उनको घोषणा सुनकर चारुदत्त अपने कुल, शील तथा अभ्युदय का स्मरण कर प्रसंग से उनका कीर्तन करता है, अतः गुरु–कीर्तन होने के कारण निम्न स्थल में वहाँ भी प्रसंग नामक अवमर्शांग है।

'चाण्डाल–यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य विनयदत्त का पौत्र; चारुदत्त वध के लिये वध्यस्थान ले जाया जा रहा है। इसने सोने के लोभ से गणिका वसन्तसेना को मार दिया है।

चारुदत्त–जो मेरा गोत्र (कुल) चैत्यों के ब्रह्मघोषों द्वारा सभी में सैंकड़ों हवनों से पवित्र तथा देदीप्यमान होता था, वही आज मैं मृत्यु की अवस्था में वर्तमान होने पर (चाण्डालों जैसे) नीच तथा पापी (अयोग्य) मनुष्यों के द्वारा घोषणा के रूप में घोषित किया जा रहा है।'

अथ छलनम्–

-छलनं चावमाननम्।। ४६।।

यथा रत्नावल्याम्–राजा–'अहो निरनुरोधा मयि देवी। इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्स– राजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा वा रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति।

छलनम् – जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा (अवमान) करे, वह छलन कहा जाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता रत्नावली–समागम में विघ्न उपस्थित करती है। इस प्रकार वह वत्सराज की ईप्सित वस्तु का सम्पादन न करने के कारण उसकी अवज्ञा करती है। अतः अवमान के कारण यहां छलन नामक अवमर्शाङ्ग है। इसकी व्यञ्जना राजा की इस उक्ति से होती है

'अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।' अथवा जैसे रामाभ्युदय नामक नाटक में सीता को छोड़कर उसकी अवज्ञा (अवमान) की गयी है, अतः छलन है।

टिप्पणी – छलन के स्थान पर अधिकांश ने छादन नामक अंग माना है। 'अपमानकृतं वाक्यं कार्यार्थं छादनं भवेत। ना०द० म छादन मन्युमार्जनम्' –; अपमान का निवारण है।

अथ व्यवसायः–

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'ऐन्द्रजालिकः–

किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो। मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ दहि आणत्तिम।।

अहवा किं बहुआ जम्पिएण–

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्। तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण।।'

('किं धरण्यां मृगांक आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।

मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्।।

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम्। तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण।।')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान्।

यथा च वेणीसंहारे–

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा। बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः।।'

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति।

व्यवसाय – जहाँ कोई पात्र अपने सामर्थ्य के विषय में कहे, (जहाँ स्वशक्त्युक्ति पायी जाये), वहाँ व्यवसाय नामक अवमर्शाङ्ग होता है। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अंक में ऐन्द्रजालिक झूठी आग फैलाकर वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट करता है। इसकी सूचना इन दो गाथाओं से हुई है। ऐन्द्रजालिक की उक्तियाँ :–

'आज्ञा दीजिये, क्या मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग और मध्याह्न के समय प्रदोष (रात्रि का प्रारम्भ) दिखा दूँ। अथवा मैं ज्यादा डींग क्यों मारूँ। मेरी प्रतिज्ञा यह है, मैं हृदय से कह रहा हूँ, आप जो कुछ देखना चाहते हैं, गुरुजी के मन्त्र के प्रभाव से मैं वही आपको दिखा सकता हूँ।

और जैसे वेणीसंहार के निम्न पद्य में, युधिष्ठिर भीम की वीरता का वर्णन करते हुए अपनी दण्डशक्ति को प्रकट कर रहे हैं:–

'प्रतिज्ञा के पूर्ण न होने के डरवाले उस वीर भीमसेन के द्वारा आज तुम्हारा यह जूड़ा (केशपाश) जरूर बांधा जायेगा।* (*यहाँ मूल में 'बध्यते' पाठ है; किन्तु यहाँ वर्तमान का प्रयोग निकटवर्ती भविष्य के अर्थ में हुआ है–'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।') और वह इसके पूर्ण करने में पूर्णतया समर्थ है।

टिप्पणी – ना०शा० के अनुसार व्यवसाय है प्रतिज्ञा हेतु सम्भव – अंगीकृत अर्थ के हेतु की प्राप्ति।

अथ विरोधनम्–

-संरब्धानां विरोधनम्।

यथा वेणीसंहारे–'राजा– रे रे मरुत्तनय ! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च–

कृष्टा केशेषु भार्या तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।

अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः।।

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः–आर्य प्रसीद, किमित्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा। हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा।।

भीमः – अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन्।

विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्करा्र– निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे।।

अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।

आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने।।

राजा–दुरात्मन् भरतकुलकलङ्कभूत पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः।

किंतु–

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे। मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम्।।'

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति।

विरोधन – जहाँ क्रुद्ध पात्रों द्वारा परस्पर स्वशक्ति का प्रकटीकरण हो, वहाँ विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग होता है। (यहां मूल के 'संरब्धानां' के साथ ४७वीं कारिका के प्रथम चरण का 'स्वशक्त्युक्तिः' पद अनुवर्तित हो जाता है।) जैसे वेणीसंहार के निम्न स्थल में क्रुद्ध भीम और दुर्योधन दोनों अपनी–अपनी शक्ति को वचनों द्वारा प्रकट करते हैं, अतः विरोधन है।

'राजा (दुर्योधन)–रे वायु के पुत्र, इस तरह बूढ़े राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों करता है ? अरे भी–तेरी, तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की और उन दोनों की स्त्री को, उस द्यूत में जीती हुई दासी (द्रौपदी) को लोक के स्वामी मेरी आज्ञा से राजाओं के सामने पकड़ कर खींचा गया। इस बैर में बता तो सही उन राजाओं ने तेरा क्या बिगाड़ा था जो युद्ध में मारे गये। दोनों भुजाओं के अतिशय बलरूपी धन के भारी मदवाले मुझे जीते बिना ही (इतना) घमण्ड ?

(भीम गुस्से का अभिनय करता है) अर्जुन–आर्य, प्रसन्न हों, क्रोध करना व्यर्थ है।

यह दुर्योधन वाणी से हमारा अप्रिय (बुरा) कर रहा है, कर्म से बुरा करने में यह अशक्त है। सौ भाइयों के मरन के कारण यह दुखी है।, इसके प्रलाप में हमें कोई दुःख (क्रोध) नहीं।

भीम–अरे भरतकुलकलंक ! हे कटुप्रलापिन्, क्या मैं तुझे आज ही दुःशासन के अनुगमन के लिए न भेज दूँ (मैं तुझ आज ही अवश्य मार डालूं) ? काश ! मेरे हाथों के अग्रभाग के द्वारा तोड़ी जाने वाली शब्द करती हुई हड्डियोंवाले तेरे शरीर में पूज्य धृतराष्ट्र व गांधारी विघ्न न करते। और भी मूर्ख, तुम्हारे कुलरूपी कमलिनी को नष्ट करने वाले हाथी, भीमसेन के क्रुद्ध होने पर (भी) तुझ जैसे दुष्ट राजा के जीवित रहने का कारण यह है कि तूने अपने भाई के वक्षःस्थल को फटते समय साक्षी होकर देखा औरतों की तरह आँसुओं के द्वारा शोक का त्याग कर दिया।

राजा–दुष्ट भरतकुलापसद नीच पाण्डव, अरे तेरी तरह मैं डींग मारनेवाला नहीं हूँ, किन्तु–तेरे बान्धव अब जल्दी ही तुझे युद्धभूमि में सोया हुआ देखेंगे। तेरा वक्षःस्थल और हड्डियों का ढांचा मेरी गदा से टूटा हुआ होगा और उस दशा में तू बड़ा भीषण प्रतीत होगा।

टिप्पणी – ना०शा० में कार्यात्ययोपगमनं विरोधनम्–कार्य में अत्यय, विघ्न की प्राप्ति।

अथ प्ररोचना–

सिद्धमन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना।। ४७।।

यथा वेणीसंहारे–'पाञ्चालकः–अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन–

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः।।'

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेक– योर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति।'

प्ररोचना – जहाँ कोई सिद्ध व्यक्ति अपने वचनों के द्वारा भावी घटना की सूचना इस तरह दे, जैसे वह सिद्ध हो, वहाँ प्ररोचना नामक अवमर्शाङ्ग होता है। यह सिद्ध ही है इस प्रकार के कथन से भावी अर्थ का दर्शन कराने वाली प्ररोचना होती है। जैसे वेणीसंहार में पाञ्चालक (दूत) युधिष्ठिर के पास आकर भगवान् कृष्ण का वचन सुनाता है कि भीम की विजय में कोई संदेह नहीं और बाद में सेवकों को आज्ञा देता है कि महाराज युधिष्ठिर ने जय के उपलक्ष्य में मंगल कार्यों के करने की आज्ञा दी है। इसके द्वारा द्रौपदी के केश संयमन तथा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक रूप दो भावी घटनाओं की सूचना सिद्ध रूप में दी गई है। अतः यहाँ प्ररोचना है। पांचालक की उक्ति का निम्न अंश इसकी सूचना देता है :–

'चक्रपाणि भगवान् कृष्ण ने मुझे आज्ञा दी है ××× सन्देह की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जल से पूर्ण हों। द्रौपदी अधिक दिनों से बिखरे हुए केशों को बांधने के लिए उत्सव मनाये। तीक्ष्ण परशु के द्वारा ज्वलन्त हाथवाले, क्षत्रियरूपी वृक्ष को उखाड़ने–वाले, परशुराम तथा क्रोध से अन्धे भीमसेन के युद्ध में उतरने पर सन्देह का अवकाश ही कहाँ ?

टिप्पणी – ना०शा० में प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थ दर्शिनी' लक्षण है अर्थात् निर्वहण सन्धि में सम्पन्न होने वाले भावी अर्थ का सिद्ध रूप में वर्णन प्ररोचना है।

विकत्थना विचलनम्-

यथा वेणीसंहारे–'भीमः–तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम्।।

अपि च तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा। भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति।।'

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति।

यथा रत्नावल्याम्–'यौगन्धरायणः–

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया।।'

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धीः कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति।

विचलन – जहाँ कोई पात्र आत्मश्लाघा करे तथा डींग मारे, वहाँ विचलन नामक विमर्शांग होता है। जैसे वेणीसंहार में भीम अपने गुणों का आविष्कार कर डींग मारता है, अतः यहाँ विचलन है :–

'भीम–तात, माता, जिस कर्ण में, तुम्हारे पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीत लेने की आशा बंधी हुई थी, जिसके घमण्ड के द्वारा संसार तिनके की तरह तुच्छ समझा गया था, उसी राधा केपुत्र कर्ण को युद्धभूमि में मारने वाला, यह मध्यम पाण्डव (अर्जुन) दोनों (धृतराष्ट्र व गांधारी) (माता–पिताओं) को प्रणाम कर रहा है।

और भी तात, जिसने सारे कौरवों को चूर्णित कर दिया है, जो दुःशासन के खून से मत्त हो रहा है, तथा जो सुयोधन की जाँघों को (जल्दी ही) तोड़ने वाला है, वह भीम सिर के द्वारा तुम्हारी पूजा करता है (तुम्हें प्रणाम करता है)।'

और जैसे रत्नावली में, यौगन्धरायण निम्नलिखित उक्ति में, वत्सराज के प्रति मेरा कितना उपकार है, इस बात की व्यंजना कराते हुए अपने गुणों का कीर्तन करता है, अतः विचलन नामक विमर्शांग है :–

'मेरे वचन में विश्वास कर देवी वासदत्ता ने पति के वियोग को प्राप्त किया, और फिर महाराज को (नयी) पत्नी दिलाकर मैंने उसे दुःखित बना दिया। कुछ भी हो, स्वामी वत्सराज की जगत्–स्वामित्व–प्राप्ति उसे अवश्य प्रसन्न करेंगी, यह सच है; फिर भी लज्जा के कारण मैं उसे (देवी को) अपना मुख नहीं दिखा सकता।' ××× 'मैंने वत्सराज के लिए ऐसा कन्या–लाभ कराया, जो संसार के स्वामित्व को दिलानेवाला है।

टिप्पणी –ना० शा० में अवमर्श में इस अंग को नहीं रखा गया है।

अथादानम्–

-आदानं कार्यसंग्रहः।

यथा वेणीसंहारे–'भीमः–ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः। रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ! भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व–

स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत्।। इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीत्वादादानम्।

यथा च रत्नावल्याम्–'सागरिका–(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादोपज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम्।' ('दिष्ट्या समन्तात्–प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करष्यिति दुःखावसानम्।') इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानकार्यस्य संग्रहादादानम्। यथा च–'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः' इति दर्शितमेवम्। इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति।

आदान – जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की कामना से नाटक या रूपक की वस्तु के कार्य को संगृहीत करता है अर्थात् समेटने की चेष्टा करता है, तो वह अवमर्शांग आदान कहलाता है। राम जी उपाध्याय के अनुसार आदान सहकारी कार्यों की गणना है। जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन को मारकर लौटता हुआ भीम निम्नलिखित उक्ति के द्वारा समस्त शत्रुओं के वधरूपी कार्य का समाहार करता है, अतः आदान है।

'अरे हे समन्तपञ्चक में घूमनेवाले, मैं न तो राक्षस हूँ, न भूत ही। मैं तो वह क्रोधी क्षत्रिय हूँ, जिसके अंग शत्रु क खूनरूपा [illegible] आप्लुत हो चुके हैं और जो महती प्रतिज्ञा के समुद्र को पार कर चुका है। हे युद्धरूपी अग्नि की ज्वाला में जलने से बचे हुए [illegible] राजाओं, तुम्हारा यह भय व्यर्थ है, जिससे तुम मरे हुए हाथी व घोड़ों की आड़ में छिपकर बैठे हुए हो।'

और जैसे रत्नावली में दुखी सागरिका जलती आग को देखकर यह समझती है कि उसके दुःख का अवसान हो जाएगा यह दुःखावसानरूप कार्य का संग्रह है :– 'अच्छा है, चारों ओर जले हुए अग्नि देवता आज मेरे दुःख का अन्त कर देंगे। और [illegible] यौगन्धरायण की उक्ति कि राजा को जगत्स्वामित्व प्राप्त होगा।

अवमर्श के ये १३ अंग हैं। इनमें से अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना व आदान–ये पांच अंग प्रमुख हैं।

अथ निर्वहणसंधि :–

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।। ४८।।

ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।

यथा वेणीसंहारे–'कञ्चुकी–(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे वर्धसे, अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतससकलशरीरो दुर्लभव्यक्तिः।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम्।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम्। वसुभूतिः –(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो अब तक इधर–उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समन्वित जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्वहण संधि होती है। दूसरे शब्दों में जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने–अपने स्थान पर बिखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थ का एक प्रधान प्रयोजन के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है वह निर्वहण है।

जैसे वेणीसंहार में कंचुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश–संयमन, दुर्योधन–वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों का जो अब तक नाटक में अपनी–अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक लक्ष्य की दृष्टि से एकत्रित करता है–

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, सुयोधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार भीमसेन हैं; जो पहचान में नहीं आ रहे हैं'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों का जो मुखसन्धि आदि में इधर–उधर छिटके पड़े थे वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है। इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है–(सागरिका को देखकर एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है।

अथ तदङ्गानि–

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।। ४९।।

प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहना।

पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश।। ५०।।

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं :– संधि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

यथोद्देशं लक्षणमाह–

संधिर्बीजोपगमनम्-

यथा रत्नावल्याम्–'वसुभूतिः–बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्यः–ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिः।

यथा च वेणीसंहारे–'भीमः–भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्–

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात– संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानावनद्धशोणितशोणपाणि– रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।'

सन्धि – जब बीज की उद्‌भावना की जाती है, तो वह सन्धि नामक निर्वहणांग होता है। बीज का सन्धान (फलागम से अन्वित करके), चर्चा सन्धि नामक अंग है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। यहाँ नायिका रूप बीज की उद्‌भावना की गई है, अतः सन्धि है। वसुभूति तथा ब्राभ्रव्य की यह बातचीत इसकी सूचक है–

'वसुभूति–बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है।

'बाभ्रव्य–मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रंगे हाथों द्रौपदी का केश संयमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है। यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसन्धि मे उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्‌भावित किया गया है, अतः संधि नामक निर्वहणाङ्ग है।

'यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदी ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें याद है ?

चञ्चल हाथों से घुमायी गयी गदा के प्रहारों से टूटी जांघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रंगे हाथोंवाला भीम तुम्हारे बालों को संवारेगा।'

अथ विबोधः–

-विबोधः कार्यमार्गणम्।

यथा रत्नावल्याम्–'वसुभूतिः–(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा–देवी जानाति। वासवदत्ता–अज्जउत्त ! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। (आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अतएव सागरिकेति शब्द्यते।') राजा–(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे–'भीमः–मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः–किमपरमवशिष्टम् ? भीमः–सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन, दुःशासन शोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः–गच्छतु भवान् अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

विबोध – जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं। मुख्य कार्य की ओर ध्यान जाना। जैसे–रत्नावली के चतुर्थ अंक में वसुभूति व बाभ्रव्य सागरिका को पहचान कर उसके विषय में उदयन से पूछते हैं, यही निम्न वार्तालाप के द्वारा रत्नावली रूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विबोध नामक निर्वहणांग है :–

'वसुभूति–(देखकर) देव, यह कन्या कहाँ से आयी है ?'

राजा–देवी वासवदत्ता जानती हैं।

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से पायी गई है, इतना कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंप दी है, इसलिए इसका नाम सागरिका दिया गया है। (इसे सागरिका कहा जाता है)।

राजा–(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है ?')

और जैसे वेणीसंहार में, भीमसेन द्वारा द्रौपदी के केश–संयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः यह अंक के निम्न स्थल में विशेष है :–

'भीम–आर्य मुझे क्षणभर के लिए छोड़ दें।

युधिष्ठिर–फिर क्या बच गया है ?'

भीम–सबसे बड़ी चीज रह गयी है। मैं दुःशासन के खून में रंगे हाथ से दुःशासन द्वारा खींचा गया द्रौपदी का जूड़ा तो बाँध दूँ।

युधिष्ठिर–आप जाइये, तपस्विनी, द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करें।'

अथ ग्रथनम्–

ग्रथनं तदुपक्षेपो-

यथा रत्नावल्याम्–'यौगन्धरायणः–देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे--'भीमः--पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना : तिष्ठतु स्वयमाह संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

ग्रथन – उस कार्य का उपसंहार (उपक्षेप) करना ग्रथन कहलाता है। उस फल के उपक्षेप (सूचना) को ग्रथन कहत हैं. ग्रथन के अन्तर्गत नाटककार अपने समस्त कार्य को एक स्थान पर समाहृत कर देता है। जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण की निम्न उक्ति वत्सराज के कार्य रत्नावली–लाभ का उपसंहार कर देती है :–स्वामिन्, मैंने यह कार्य आपसे निवेदन किये बिना ही किया, अत क्षमा करें।

और जैसे वेणीसंहार में, निम्न उक्ति के द्वारा भीम द्रौपदी के वेणीसंहार रूप कार्य का समाहार करता है, सूचना देता है अत यह भी ग्रथन नामक निर्वहणांग है :–

'पाञ्चालि, मेरे होते हुए (जीवित रहते हुए) दुःशासन द्वारा बिखरायी गयी वेणी का अपने हाथ से संवारना ठीक नहीं। ठहरो, अभी मैं खुद इसे संवारता हूँ।'

अथ निर्णयः–

-ऽनुभूताख्या तु निर्णयः।। ५१।।

यथा रत्नावल्याम–यौगन्धरायणः–(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा--योऽस्या पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति, तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेद परिहरता एव न दत्ता तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः।

यथा च वेणीसंहारे–:भीमः–देव देव अजातशत्रो ! क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः–

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनार्हं निजाङ्गे लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।

भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम ।

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

निर्णय – जब नायकादि अपने द्वारा विचारित या संपादित (अनुभूत) कार्य के विषय में वर्णन करते हैं, तो यह निर्णय कहलाता है। अनुभव किए गए अर्थ का कथन निर्णय है। जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा कार्य से संबद्ध अपने अनुभव को, या कार्यसंबद्ध अपने कार्यों को राजा से वर्णित करता है, अतः यहाँ निर्णय है।

'यौगंधरायण–(हाथ जोड़कर) देव, सुनिये, सिद्ध व्यक्ति ने इस सिंहलेश्वर पुत्री रत्नावली के बारे में यह कहा था कि जो कोइ इसका पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा बनेगा। उस सिद्धादेश के विश्वास के कारण आपके लिए हमने कइ बार इसकी मांग सिंहेलश्वर से की, लेकिन सिंहलेश्वर ने वह इसलिए न दी कि ऐसा करने से वासवदत्ता के चित्त को दुःख होगा। तब हमने झूठी ही यह खबर फैला दी कि देवी वासवदत्ता लावाणक (वन) में जल गयी और फिर बाभ्रव्य को सिंहलेश्वर के समीप (रत्नावली को मांगने के प्रस्ताव के साथ) भेजा।'

और जैसे वेणीसंहार में भीम की निम्न उक्ति में उसके द्वारा अनुभूत अर्थ का कथन हुआ है, अतः निर्णय है –

'भीम–देव अजातशत्रु, अब भी नीच दुर्योधन कहाँ है, मैंने उस दुष्ट दुर्योधन के शरीर को जमीन पर फैंक दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान यह खून लगा लिया। चारों समुद्रों के जल की सीमावाली पृथ्वी के साथ राज्यलक्ष्मी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया। इस युद्ध की आग में नौकर, मित्र, योद्धा, यहाँ तक कि सारा कुरुकुल जल गया है। हे राजन्, अब तो दुर्योधन का कवल नाम भर बचा है, जिसे आप बोल रहे हैं।'

अथ परिभाषणम्–

परिभाषा मिथो जल्पः-

यथा रत्नावल्याम्–'रत्नावली–(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम्। (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्) 'वासवदत्ता–(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे। इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेही। (अपवार्य) अज्जउत्त ! लज्जामि क्खु अह इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणम्। ('एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र ! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लध्वपनयास्या बन्धनम्।') राजा–यथाह देवी ! (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता–(वसुभूतिं निर्दिश्य) ! अज्ज! 'अमज्जजागन्धरायणा

ज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि णावक्खिदम् !' ('आर्य ! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नावक्षितम्।')" यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम्।

था च वेणीसंहारे–'भीमः–कृष्ट्वा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन !' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' त्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम्।

परिभाषा – जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाये, उसे परिभाषा कहते हैं। (यहाँ यह परस्पर जल्प–आपस की बातचीत–कार्य की सिद्धि के विषय में पायी जायेगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वहणांग है।

रत्नावली–(स्वगत) मैंने देवी वासवदत्ता का अपराध किया है, इसलिए उसे मुंह नहीं दिखा सकती।'

वासवदत्ता (आँसू भरकर फिर से हाथ फैलाकर) इधर आ, ओ निष्ठुर, अब भी बन्धुस्नेह को प्रकट कर दे। (एक ओर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के कठोर व्यवहार के कारण लज्जित हूँ, इसलिए जरा इसका बन्धन तो खोल दो।

राजा–जैसा देवी कहें। (बंधन खोलता है)।

वासवदत्ता–(वसुभूति की ओर) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया है, जिन्होंने जानते हुए भी इस बात को नहीं कहा।"

और जैसे वेणीसंहार में भीम स्वयं ही बार–बार अपने कार्य के विषय में जल्पना करता है। अतः भीम की निम्न उक्ति में भी परिभाषा नामक निर्वहणांग है।

'भीम–जिस नीच मनुष्य दुःशासन ने तुम्हें राजाओं की सभा में घसीटा × × × वह भानुमती कहाँ है, जो पाण्डवों की पत्नी की हंसी उड़ाती है।

टिप्पणी – भरत के अनुसार परिभाषा परिवाद है अर्थात् आत्मनिन्दा जहां परस्पर अपने रहस्यों का उद्घाटन करते हैं रत्नावली का उदाहरण इसके अनुरूप है।

अथ प्रसादः–

-प्रसादः पर्युपासनम्।

यथा रत्नावल्याम्–देव ! क्षम्यताम्।' इत्यादिना दर्शितम्।

यथा च वेणीसंहारे–'भीमः–(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये ! दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ?

प्रसाद – किसी पात्र के द्वारा नायिकादि का प्रसादन (पर्युपासन) प्रसाद कहलाता है। आराधन–प्रसादन करने का प्रयास ही प्रसाद है।

जैसे रत्नावली नाटिका में यौगंधरायण वत्सराज उदयन से क्षमा मांगता हुआ उसे प्रसन्न करता है–'देव, मुझे क्षमा करें।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन द्रौपदी को निम्न वाक्य के द्वारा प्रसन्न करता है। अतः प्रसाद है :– 'देवी पाञ्चालराजपुत्रि, बडी खुशी की बात है कि शत्रुओं के नाश से तुम्हारी वृद्धि हो रही है।'

अथानन्दः–

आनन्दो वाच्छितावाप्तिः-

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णाति)'

यथा च वेणीसंहारे–'द्रौपदी–णाध विसुमरिदह्मि एदं वावारं णाधस्स प्पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति) (नाथ ! विस्मृतास्म्येतं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः।

आनन्द – ईच्छित वस्तु की प्राप्ति होना आनंद कहलाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता की अनुमति मिलने पर राजा 'जैसा देवी कहें' इतना कहकर ईप्सित रत्नावली के पाणि का ग्रहण करता है।

और जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी अपने ईप्सित केशसंयमन को प्राप्त करती है। द्रौपदी के इस 'आनन्द' की व्यंजना इस उक्ति में हो रही है–'नाथ मैं केश संवारने का व्यापार भूल गयी हूँ, अब फिर से आपकी कृपा से सीख लूँगी।

अथ समयः–

-समयो दुःखनिर्गमः।। ५२।।

यथा रत्नावल्याम्–'वासवदत्ता–(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए।' ('समाश्वहिहि समाश्वसिहि भगिनिक।। इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः।

यथा च वेणीसंहारे–'भगवन् ! कुतस्तस्य विजयादन्यत् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणा मङ्गलान्याशास्ते।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्तिं गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम्।

अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा।।'

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति।

समय – नायकादि के दुःख का समाप्त हो जाना समय कहलाता है।

जैसे रत्नावली में वासवदत्ता रत्नावली का आलिंगन करके उससे कहती है–'बहन, आश्वासन रखो'। यहाँ दोनों बहनों के परस्पर मिलने से दुःख–निर्गम हो गया है, अतः समय (निर्वहणांग) है।

और जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर की निम्न उक्ति उसके दुःख की समाप्ति की द्योतक है :–

'भगवन्, कृष्ण, उस पुरुष के लिए विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, जिसके मंगलों की आशा स्वय पुरातन पुरुष नारायण (आप) ही किया करते हैं। हे स्वामिन्, महत्तत्व (प्रकृति) आदि के चञ्चल करने से जिन्होंने मूर्ति को उत्पन्न किया है (जिसके प्रकोप से चंचल–क्षुब्ध –प्रकृति से सारी सांसारिक मूर्तियां उत्पन्न हुई), तथा जो गुणी है, एवं प्रजाओं (जीवों) के उदय नाश तथा पालन के कारण हैं, उन अजर, अमर तथा अचिन्त्य परात्पर सत्तारूप आपका चिन्तन करके ही मनुष्य इस संसार में दुःखी नहीं होता फिर आपके दर्शन पाकर दुःखी कैसे हो सकता है ?

टिप्पणी – समय=सम+अय। अमरकोश के अनुसार अयः शुभावहो विधिः। अथवा सौभाग्य अतः समय परम सौभाग्य दुःख का अत्यन्ताभाव।

अथ कृतिः–

कृतिर्लब्धार्थशमनम्

यथा रत्नावल्याम्–'राजा–को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ?। वासवदत्ता–उज्जुत्त ! दूरे से मादुउलं तं तथा करेषु जथा बन्धुअणं न सुमरेदि।' ('आर्यपुत्र ! दूरेऽस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुखितस्य उपशमनात्कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे–'कृष्णः–एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि–' इत्यादिना 'अभिषेकमारधवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः !

कृति – लब्ध अर्थ के शमन करने को कृति कहते हैं। प्राप्त वस्तु का स्वाभाविक रूप से अंगीकरण या दृढीकरण।

जैसे रत्नावली में रत्नावली के प्राप्त हो जाने पर राजा को खुश करने के लिए वासवदत्ता तथा वासवदत्ता को खुश करने के लिए राजा परस्पर वचनों के द्वारा उपशमन करते हैं, अतः यहाँ कृति है।

'राजा–देवी वासवदत्ता की कृपा की महत्ता को कौन नहीं मानेगा।

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, इस (रत्नावली) का नैहर दूर है, इसलिए यह जिस ढंग से अपने बान्धवों को याद न करे, ऐसी चेष्टा करें।

और जैसे वेणीसंहार में, कृष्ण युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति को अभिषेक के द्वारा स्थिर करते हैं, अत यह भी कृति है इसकी सूचना कृष्ण की यह उक्ति देती है–'ये भगवान् व्यास, बाल्मीकि आदि × × × अभिषेक आरम्भ कर रहे हैं।

टिप्पणी – धनंजय की कृति भरत के अनुसार द्युति है।

अथ भाषणम्–

-मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।

यथा रत्नावल्याम्–राजा–अतः परमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभो यस्मै करोमि स्पृहाम।।

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद्भाषणमिति।

इस समस्त कथावस्तु का फिर से दो तरह का विभाजन होता है। इस वस्तु के कुछ अंश केवल सूच्य होते हैं–अर्थात् उनकी केवल सूचना ही दी जाती है, उन्हें मंच पर दिखाया नहीं जाता। दूसरे अंश दृश्य तथा श्रव्य दोनों होते हैं, अर्थात् उन्हें मंच पर दिखाया जाता है, वे सुने भी जाते हैं।

(काव्य के दो भेद होते हैं :– १.दृश्य तथा २. श्रव्य। श्रव्य काव्य में वस्तु की सीमा का बन्धन नहीं। किन्तु दृश्य काव्य रंगमंच पर खेले जाने के कारण देश तथा काल की संकुचित सीमा में आबद्ध रहता है। यही कारण है कि किसी नायक के जीवन से सम्बद्ध घटना को अंगोपांगसहित ठीक उसी रूप में नाटक (रूपक) में नहीं बताया जा सकता, जिस रूप में उसका वर्णन कवि श्रव्य काव्य में कर सकता है। यही कारण है कि नाटककार अत्यधिक प्रयोजनवती घटनाओं का दिग्दर्शन मंच पर कराता है, बाकी घटनाओं को–अवान्तर गौण घटनाओं को–जो नाटक के कार्य से अप्रधानरूपेण संबद्ध हैं, पात्रों के वार्तालाप, नेपथ्य या और किसी प्रकार से सूचित कर देता है। यही नहीं, कई मुख्य घटनांश भी ऐसे हैं, जिनका मंच पर बताना नाट्यशास्त्र के विरुद्ध माना जाता है। भारतीय–परम्परा इन अंशों को भी मंच पर न बता कर सूचना ही देती है। इस प्रकार के दृश्यों का वर्णन प्रसंगवश आगे आयेगा। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य परम्परा भारतीय परम्परा से भिन्न है, जहाँ निधनादि के दृश्य मंच पर दिखाये जा सकते हैं। आधुनिक भारतीय साहित्य के नाटकों में इस प्रकार के दृश्यों की योजना इसी पाश्चात्य नाट्यपद्धति का प्रभाव है।)

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह–

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः। दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः।। ५७।।

ये वस्तुएं (वस्त्वंश) जो नीरस हैं, जिनमें रसप्रवणता नहीं–जिनका मंच पर दिखाया जाना (नैतिकता आदि के) योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कहलाते हैं। मधुर, उदात्त (नैतिक), रस तथा भाव से निस्यन्द वस्त्वंश जिनका मंच पर दिखाना नाटककार के लिए नाटक में प्रभावोत्पादकता तथा रसमयता लाने के लिए अनिवार्य है, दृश्य कहलाते हैं।

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह–

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्। विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः।। ५८।।

सूच्य वस्त्वंशों की सूचना पांच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों (अर्थ–कथावस्तु) के उपक्षेपक (सूचक) के द्वारा की जाती है। वे अर्थोपक्षेपक हैं :– विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, तथा प्रवेशक।

तत्र विष्कम्भः–

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।। ५९।।

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति।

इन नीरस तथा अनुचित वस्त्वंशों की सूचना किस ढंग से दी जाती है, तथा वे ढंग कितने हैं, इसे बताते हैं–

विष्कम्भक नाटक (रूपक) में घटित घटनाओं या भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं (कथाओं) का वह सूचक है, जिसमें मध्यपात्रों के द्वारा संक्षेप में इन कथांशों की सूचना दी जाये। विष्कम्भ वह सूच्य अर्थोपेक्षक है, जो अतीत या भावी कथांशों की सूचना एक मध्यम पात्र अथवा दो मध्यम पात्रों के वार्तालाप के द्वारा देता है।

टिप्पणी – नाटक के पात्रों को उत्तम, मध्यम तथा अधम, इन तीन भेदों के आधार पर विभाजित किया जाता है। राजा, राजमन्त्री, पुरोहित आदि उत्तम पात्र हैं। चोर, व्याध, सेविका, सेवक, सिपाही आदि अधम पात्र हैं। बाकी पात्र मध्यम श्रेणी में आते हैं। मध्यम श्रेणी के शिक्षित पात्र संस्कृत बोलते हैं, अशिक्षित शौरसेनी, प्राकृत।

स द्विविधः शुद्धः, संकीर्णश्चेत्याह–

एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः संकीर्ण इति।

एक अथवा अधिक (दो) मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध तथा मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त संकीर्ण (या मिश्र) कहलाता है।

(विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना जरूरी है। मिश्र (संकीर्ण) विष्कम्भक में कम से कम एक मध्यम श्रेणी के पात्र का होना इसे विष्कम्भक बनाता है यदि दोनों ही पात्र अधम होंगे, तो वह विष्कम्भक न रहेगा, प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक हो जायेगा।)

(यद्यपि ५६ वीं कारिका में प्रवेशक की गणना अन्त में है, किन्तु विष्कम्भक से भेद बताने के कारण तथा दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थोपक्षेपक होने के कारण, इसका वर्णन चूलिकादि से पूर्व किया जा रहा है।)

अथ प्रवेशकः—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।। ६०।।

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमांके प्रतिषेध इति।

प्रवेशक भी उसी तरह (विष्कम्भक की तरह) अतीत और भावी कथांशों का सूचक है। इसमें प्रयुक्त उक्ति उदात्त नहीं होती। इसकी भाषा सदा प्राकृत होगी, तथा यह प्राकृत भी शिष्ट (शौरसेनी) प्राकृत न होकर मागधी, शकारी आदि अशिष्ट प्राकृत होगी। तथा इसमें नीच पात्रों का प्रयोग होता है। प्रवेशक की योजना सदा दो अंकों के बीच ही की जाती है, तथा यह भी शेष अर्थों (कथांश) का सूचक है।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भेद इस प्रकार है—

तुलना व भेद

विष्कम्भक	प्रवेशक
१. यह अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।	१. यह भी अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।
२. इसमें एक मध्यम पात्र या दो मध्यम पात्रों का प्रयोग होता है।	२. इसके सारे पात्र (एक या दो) नीच कोटि के होते हैं।
३. इसकी भाषा संस्कृत व शौरसैनी प्राकृत भी निम्न कोटि की होगी यथा मागधी, शकारी, आभीरी, चाण्डाली, पैशाची आदि।	३. इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होगी। प्राकृत होगी।
४. इसका प्रयोग नाटक के प्रथम अंक के पहले भी हो सकता है (जैसे मालती-माधव नाटक में वृद्धा तापसी की उक्ति वाला विष्कम्भक), दो अंकों के बीच में भी जैसे शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के पहले)	४. इसका प्रयोग सदा दो अंकों के बीच में होगा। रूपक के आदि में इसका प्रयोग कभी भी नहीं होगा। इसका प्रथम अंक में कभी भी नहीं होगा। (अंकद्वयस्यान्त इति प्रथमांके प्रतिषेध इति)।
५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल का चतुर्थ अंक का विष्कम्भक।	५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल के षष्ठ अंक के पहले का प्रवेशक इति)।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।। ६१।।

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—:(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना) इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका।

जहाँ अर्थ (कथावस्तु) की सूचना जवनिका के उस ओर अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा दी जाये वहाँ चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है। नेपथ्यपात्र के द्वारा अर्थ की सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे उत्तररामचरित के दूसरे अंक के शुरु में आत्रेयी के आगमन पर उसे नेपथ्य से उसका स्वागत करती है—'(नेपथ्य में) तपोधना भगवती का स्वागत हो। (तब तपोधना मंच पर प्रवेश करती है।) इस प्रकार नेपथ्यपात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी के आगमन की सूचना दी गयी है, अतः यह चूलिका है।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः ! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः

सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्त्रमधुना।

विनेता क्षत्त्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः

शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते।।'

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका।

अथवा जैसे भवभूति के दूसरे नाटक वीरचरित (महावीरचरित) के चतुर्थ अंक के आरम्भ में नेपथ्यस्थित देवता इस बात की सूचना देते हैं कि दाशरथि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

'(नेपथ्य से) हे देवताओ, मंगल कार्यों का आरम्भ करो, आरम्भ करो।

कृशाश्व के शिष्य भगवान् ऋषि विश्वामित्र की जय हो ! सूर्य के वंश में अब भी विजयी क्षत्रिय (क्षत्र) विद्यमान हैं, उसकी जय हो। क्षत्रियों के शत्रु, परशुराम को जीतने वाले (ठीक करने वाले) समस्त संसार को अभयदान देने का जिन्होंने व्रत धारण कर लिया है, ऐसे लोगों के शरण्य, सूर्यवंश के चन्द्रमा (भगवान् रामचन्द्र) की जय हो।

(यद्यपि मूल पाठ में पद्य में 'जयति' तथा 'विजयते' पदों का 'वर्तमाने लट्' का प्रयोग है, किन्तु हिन्दी अनुवाद में सुन्दरता लाने के लिए हमने यहाँ 'जय हो' यह अनुवाद किया है, वैसे शाब्दिक अनुवाद 'जय है' होगा।)

टिप्पणी – राम जी उपाध्याय के अनुसार चूलिका और नेपथ्योक्ति में अन्तर है। चूलिका मूलतः सूत मागधवन्दी आदि की उक्ति है जिनसे नायक या राजा को समय की गतिविधि का ज्ञान होता है। यह दो अंकों को सुश्लिष्टतया जोड़ने के उद्देश्य से प्रयुक्त होती है।

अथाङ्कास्यम्–

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्का– स्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते–'(प्रविश्य) सुमन्त्रः–भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः। इतरे–क्व भगवन्तौ ?। सुमन्त्रः–महाराजादशरथस्यान्तिके। इतरे–तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्यन्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः), इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्मुखसूचनादङ्कास्यमिति।

अङ्कास्य – जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाये, वहाँ अंकास्य कहलाता है। अंक के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा (पूर्वअङ्क से) असम्बद्ध (विच्छिन्न) अग्रिम अंक की सूचना देने के कारण अंकास्य कहलाता है।

अंक के अन्त के पात्र अंकान्तपात्र कहलाते हैं, जहां इस प्रकार के पात्र के द्वारा विश्लिष्ट कथावस्तु की, जिसका वर्णन अगले अंक में आयेगा, सूचना दी जाये वहां उत्तरांकावतार अंकास्य कहलाता है। जैसे वीरचरित के दूसरे अंक के अन्त में सुमन्त्र (पात्र) आकर शतानन्द तथा जनक की कथा का विच्छेद कर, भावी अंक के आरम्भ की सूचना देता है, अतः वहाँ अंकास्य है। जैसे–

'(प्रवेश कर) सुमन्त्र–पूज्य वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, आपको भार्गव (शतानन्द) के साथ बुला रहे हैं।

दूसरे–वे कहाँ हैं ?

सुमन्त्र–महाराज दशरथ के पास।

दूसरे–उनके अनुरोध से वहीं चलते हैं। (अंक का अंत)

अथाङ्कावतारः–

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः।। ६२।।

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत्।

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः–तेण हि दुविवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं बिसज्जेथ अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द

एवैनमुत्थापयिष्यति।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसक्रान्तिदर्शन द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति।

इसके बाद अगला अंक--तब वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं--इस प्रकार आरम्भ होता है।

अङ्कावतार – जहाँ प्रथम अंक की वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अंक की वस्तु चले, वहां अंकावतार होता है। सूच्य वस्तु की सूचना इन के द्वारा देनी चाहिए, दृश्यों का मंच पर अंकों के द्वारा प्रदर्शन करे।

जब प्रथम अंक के पात्र किसी बात की सूचना दें, तथा वे ही पात्र उसी अंकार्थ (कथावस्तु) को लेकर उसे बिना विच्छिन्न किये हुए दूसरे अंक में प्रवेश करें, तो वहाँ प्रवेशक व विष्कम्भक आदि नहीं होता, यह अंकावतार है। जैसे मालविकाग्निमित्र म प्रथम अंक के अन्त में विदूषक इस वाक्य के द्वारा भावी अंक की वस्तु की सूचना देता है–

'तो तुम दोनों देवी के नाट्यगृह में जाकर संगीत की साज--सज्जा ठीक कर पूज्य मित्र के पास दूत भेज देना, अथवा मृदंग का शब्द ही इन्हें यहां से उठा देगा।

इसके बाद मृदंग के शब्द सुनने के बाद दूसरे अंक के आरम्भ में सारे ही पात्र प्रथम अंक में वर्णित पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के शिष्यशिक्षाक्रम का दर्शन करते हैं। इस तरह पहले अंक की कथा अविच्छिन्न रूप से ही द्वितीय अक में अवतरित हुई है अतः अंकावतार है।

(धनंजय के इस अंकावतार तथा अंकास्य के बारे में उनका मत चिन्त्य दिखाई देता है। धनिक तो वृत्ति में धनजय की ही बात कहते है।। साथ ही वृत्ति में दिये दोनों के उदाहरण में कोई भेद नहीं दिखाई देता। दोनों ही धनंजय की अंकावतार वाली परिभाषा में आ जाते हैं। वस्तुतः धनंजय व धनिक दोनों ने अंकास्य को स्पष्ट करने में कसर रक्खी है। भरत के नाट्यशास्त्र में पंचम अर्थोपक्षेप अंकास्य नहीं कहा गया है। वे इसे अंकमुख कहते हैं। यद्यपि दोनों का अर्थ एक ही है, पर परिभाषा में भेद है। भरत के मतानुसार अंकमुख वहाँ होता है, जहाँ किसी स्त्री या पुरुष के द्वारा अंक की कथा का संक्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाये।

विश्लिष्टमुखमंकस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा। यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते।। (ना० शा० २१।११६)

विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में पंचम अर्थोपक्षेपक के रूप में पहले 'अंकमुख' का ही वर्णन किया गया है। विश्वनाथ के मतानुसार जहां एक ही अंक में (दूसरे) अंकों की सारी कथा की सूचना हो, वह अंकमुख है। यह नाटकीय कथावस्तु के बीज का सूचक है।

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्गानां सूचनाऽखिला

तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्।। (सा०द० ६–५६)

साहित्यदर्पण की यह परिभाषा भरत पर ही आधृत होने पर भी विशेष स्पष्ट है। सा० द० में इसका उदाहरण मालतीमाधव के प्रथम अंक का आरंभ दिया गया है, जहां कामन्दकी व अवलोकिता, मालती तथा माधव के अनुराग की सूचना प्रसंगवश दे देती है। सा० द० का यह लक्षण व उदाहरण, साथ ही इसे अंकमुख कहना ठीक जंचता है।

साहित्यदर्पणकार ने अंकास्य की भी धनंजनय व धनिक वाली परिभाषा देकर वही उदाहरण दिया है। अंकमुख के बाद वे अर्थोपक्षेपक का धनंजय–सम्मत यह पञ्चम भेद भी करते हैं। पर वे धनंजय के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। ऊपर की कारिका के आगे ही कारिकार्ध की वृत्ति में वे लिखते हैं :– एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु 'अङ्कावतारेणैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः। विश्वनाथ को स्वयं को भी यह धनिकविरोधी मत ही पसन्द है। पर वे अपने मत्थे न मढ़कर 'अन्ये' शब्द का प्रयोग कर देते हैं। वस्तुत धनिक का मत अवैज्ञानिक ही है। धनंजय तथा धनिक यहाँ भरत का अनुसरण करते दिखाई नहीं देते। अन्यथा वह त्रुटि न हो पाती।

यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाये कि भरत अंकमुख का वर्णन अंकावतार के बाद करते हैं। ठीक यही विश्वनाथ ने किया है। धनंजय ने पहले अंकास्य को लिया है, बाद में अंकावतार को। रामजी उपाध्याय अंकास्य और अंकावतार को अर्थोपेक्षक नहीं मानते उनकी दृष्टि में ये पूर्वोत्तर अंक को संश्लिष्ट करते हैं।

टिप्पणी – ना० शा० में यह भी बतलाया गया है कि बहुत अधिक अर्थ के सूचन के लिए विष्कम्भक और प्रवेशक, उससे अल्प के लिए अंकास्य, अल्पतर के लिए चूलिका और अल्पतम के लिए अंकावतार का प्रयोग किया जाता है। अंकास्य तथा अंकावतार दोनों अंक के अन्तर्गत रहते हैं, विष्कम्भक तथा प्रवेशक अंक के बाहर, चूलिका यथासंभव भीतर या बाहर हो सकती है।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह–

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते।। ६३।।

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।

तत्र–

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वागतं मतम्।।६४।।

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह–

वस्तु फिर तीन तरह की होती है। नाटक (रूपक, नाट्य) की प्रकृति का निरीक्षण करके नाट्यधर्म की (अभिनय के नियम) की दृष्टि से कथावस्तु फिर से तीन तरह की मानी जाती है।

तीन प्रकार की किस तरह, इसे कहते हैं :– कुछ सबके लिए सुनने लायक (सर्वश्राव्य) होता है, कुछ परिमित लोगों (नियत लोगों) के लिए सुनने लायक (नियतश्राव्य) होता है, कुछ किसी भी पात्र के सुनने लायक नहीं (अश्राव्य) होता है।

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते। यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमितिशब्दाभिधेयम्।

सर्वश्राव्य वस्तु–सर्वश्राव्य कथनोपकथन प्रकाश कहलाता है, जो सर्वश्राव्य (कथनोपकथन) नहीं होता वह स्वगत कहलाता है।

नियतश्राव्यमाह–

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

दूसरा नाट्यधर्म–नियत श्राव्य वस्तु दो तरह का होता है। जनान्त (जनान्तिक) तथा अपवारित।

तत्र जनान्तिकमाह–

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।। ६५।।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वासह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

जनान्तिक – जहाँ (मंच पर) दूसरे पात्रों के विद्यमान होते हुए भी दो पात्र आपस में इस तरह मन्त्रणा करें कि उसे दूसरों को न सुनाना अभीष्ट हो, तथा दूसरे पात्रों की ओर 'त्रिपताकाकर' के द्वारा हाथ से संकेत कर इस बात की सूचना दी जाये कि उनका वारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक नामक नियतश्राव्य होता है।

जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथ की सारी उगलियां ऊँची कर अनामिका अंगुली को टेढ़ा रखना त्रिपताका कहलाता है, ऐसे ढंग से हाथ करना 'त्रिपताकाकर' का लक्षण है। इस ढंग से अन्य पात्रों का अपवारण कर बातचीत करना जनान्तिक है।

अथापवारितम्–

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम्।। ६६।।

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति।

जहाँ मुजहँ को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं।

टिप्पणी – जनान्तिक में बात किसी एक पात्र से छिपाई जाती है, अपवारित में बात बहुतों से। भरत के अनुसार त्रिपताक मुद्रा द्वारा अपवारित में वारण होना चाहिये। जनान्तिक में जनों के मध्य में ही कथा सन्दर्भ की बात कही जाती है। अपवारित में एक ओर मुड़कर।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह–

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्। श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम्।। ६७।।

स्पष्टार्थः।

आकाशभाषित – जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना ही बातचीत करे, तथा उसके कथन के कहे बिना भी, सुनकर कथनोपकथन करे, वह आकाशभाषित होता है।

(एक पात्र वाले रूपक–भाण–में इस आकाशभाषित का प्रयोग बहुत पाया जाता है। आज के एकाभिनय (Mono-acting) में भी इसका अस्तित्व है।)

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषामभारतीयत्वान्नाममात्रप्रसिद्धा केषांचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति–

कुछ लोगों ने प्रथम कल्प आदि और नाट्यधर्मों को भी माना है, वे भरत नाट्यशास्त्र के मतानुसार नहीं हैं, तथा उनका केवल नाम ही प्रसिद्ध है, तथा कुछ देशभाषा में प्रयुक्त होते हैं, अतः नाट्यधर्म नहीं है, इसलिए उनका लक्षण नहीं दिया है

(वृत्तिकार (अवलोककार) धनिक 'कैश्चिदुदाहृतानि' के द्वारा इनके पूर्ववर्ती नाट्यकारों का उल्लेख करते हैं, जो प्रथम कल्प आदि अन्य नाट्यधर्मों को मानते हैं। यह मत भरत के बाद के नाट्यशास्त्रियों का है, किन्तु भरत–सम्मत नही। इसका संकेत भी यहीं मिलता है। 'उदाहृतानि' पद स्पष्ट बताता है कि इस मत के प्रवर्तकों के नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ भी रहे होंगे। ये कौन थे, इनके ग्रन्थ कौन-कौन से थे, ये बातें अभी अन्धकार में ही पड़ी हैं। संभवतः भरत नाट्यशास्त्र के वृत्तिकारों में से ही किन्हीं के मत हों।)

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः।। ६८।।

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः।

वस्तुविभेदजातम्–वस्तु=वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः। रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यद्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य। तदनु=एतदुत्तरम। नेत्रिति–नेता *वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याचित्राम्=चित्ररूपां, कथाम्=आख्यायिकाम्।* चारूणि *यानि वचांसि* प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रथयेत्। तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्–'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः। कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रा निहतो नृपः।। योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः। चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा।।'

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम्!

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः।।

अब इस नाटक की कथावस्तु का उपसंहार करते हुए कहते हैं :–

(कवि) इस तरह कथावस्तु के समस्त भेदों का पर्यालोचन कर तथा रामायण (महाभारत, पुराण) आदि एवं बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता (नायक) तथा रस के अनुरूप सुन्दर कथा को उपयुक्त तथा सुन्दर कथनोपकथन के द्वारा निबद्ध कर।

(नाटकादि रूपकों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही नहीं होती, वे लौकिक कथाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी हो सकती है, इसलिए गुणाढ्य की बृहत्कथा को भी रूपक की कथा का स्रोतोमूल माना है।) जैसे मुद्राराक्षस नाटक का मूल बृहत्कथा ही है :–

'शकटार के घर में छिपकर उस चाणक्य ने कृत्या (डाकिनी) को पैदा कर राजा को पुत्रों सहित एक दम मार डाला। योगानन्द के कीर्ति के शेष रह जाने पर (मर जाने पर), पूर्वनन्द का पुत्र, चन्द्रगुप्त उस महापराक्रमी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया' इस प्रकार का संकेत बृहत्कथा में मिलता है। रामकथा रामायण में कही गई है।

टिप्पणी – इस वस्तु विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु' नामक तत्त्व के भीतर पाश्चात्य साहित्य समीक्षा शास्त्र के कथावस्तु कथोपकथन, उद्देश्य तथा अभिनेयता का समावेश किया जा सकता है।

।। प्रथमः प्रकाशः।।

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः।

प्रतिपाद्यते–

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्।

सम्पूर्णलक्षणात्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते।। १।।

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः शेषं प्रतीतम्।

प्रथम प्रकाश में नाटकीय कथावस्तु का विवेचन किया। तदनन्तर द्वितीय प्रकाश में दूसरे नाटकीय तत्त्व 'नेता' (नायक) का सपरिग्रह वर्णन किया। अब नाटक का तीसरा अंग प्रसंगोपात्त है। किन्तु रस के विवेचन में दशरूपककार धनंजय को कई बातें कहनी हैं। अतः विस्तारी विषय होने के कारण उसका उल्लंघन कर वस्तु, नेता तथा रस के भेद के आधार पर नाटकादि रूपकों का वर्णन तथा उनमें इनके विभाग का उपयोग किस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

(यहाँ 'सूचीकटाहन्याय' से रस के विस्तारी विषय को छोड़कर पहले संक्षिप्त व अल्प विषय का विवेचन आरम्भ किया गया है।

यहां सर्वप्रथम हम नाटक (रूपकभेद) का विवेचन कर रहे हैं। इसके तीन कारण हैं :– पहले तो नाटक ही अन्य रूपकभेदों की प्रकृति अथवा मूल है, उसी में वस्तु, नेता या रस के परिवर्तन करने से प्रकरणादि रूपकों की सृष्टि हो जाती है। दूसरे, नाटक में रस का परिपाक पूर्ण रूप से तथा अनेक रूप से पाया जाता है–उसमें शृंगार या वीर कोई भी रस अंगी रस हो सकता है, तथा अन्य सभी रस अंग रूप में संनिविष्ट किये जा सकते हैं। तीसरे, वस्तु व नेता के जो लक्षण हम कह चुके हैं, तथा रस के जिन लक्षणों का वर्णन हम आगे करने जा रहे हैं, वे सभी लक्षण नाटक में पाये जाते हैं।

नाटक के लक्षण का उद्देश हो चुका है, उनसे युक्त नाटक ही उन प्रकरणादि रूपकों का मूल कारण है, जिनका अभी वर्णन नहीं किया गया है। कारिका का शेष अंश स्पष्ट ही है।

तत्र–

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते। प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः।। २।।

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिनाप्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्। स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः।

जब सूत्रधार पूर्वरंग का विधान करने के बाद रंगमंच से चला जाता है, तो उसी की तरह दूसरा नट मंच पर प्रवेश कर काव्य की प्रस्थापना करे।

पूर्वरंग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–**'पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्**– जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले और यह नाट्यशाला पूर्वरङ्ग है। उत्थापनादि प्रयोग और यह नाट्यशाला में होता है। इस प्रकार पूर्वरंग का तात्पर्य नाट्यशाला से है (यह भ्रान्त पाठ है)। उस नाट्यशाला में नाटकादि रूपक के आरम्भ में जो औपचारिक क्रियाएं (प्रयोग, व्युत्थापनादि)–मंगलाचरण, देवतास्तवनादि–की जाती हैं, उन्हें पूर्वरंगता (पूर्वरंग का काम) या पूर्वरंग कहेंगे। भरत ने स्पष्ट परिभाषा दी है **'यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते। तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमैः।।** इस मंगलाचरणादि के कर लेने पर जब सूत्रधार लौट जाता है, तो उसी की तरह के वैष्णववेश में आकर कोई दूसरा नट नाटकादि कथावस्तु के काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करने के कारण स्थापक कहलाता है।

टिप्पणी – पूर्वरंग वास्तव में वे सब कार्यक्रम हैं जो नाटकादि से पूर्व मनोरंजन के लिए किए जाते हैं। इसमें गायक, वादक, नटी, नट, सभापति तथा सामाजिक सभी का मनोरंजन किया जाता है। रंग कहते हैं नाट्यशाला को, तो रंग में नाट्यशाला में जो गीत वाद्य आदि का कार्य किया जाता है वह पूर्वरंग सबसे महत्वपूर्ण है। वैष्णवस्थानकादिना–वैष्णववेशादिना। वस्तुतः वैष्णवस्थानक एक प्रकार की शरीर की अवस्था है जो चलने के समय, चलने के पूर्व तथा चलने के बाद भी होती है। इस अवस्था में दोनों पैर ढाई ताल (माप) के अन्तर से रहते हैं, उनमें एक समस्थित, दूसरा कुछ तिरछा, अंगुलियां पार्श्वों की ओर उन्मुख रहती हैं, जानु (घुटने) कुछ मुड़े रहते हैं और शरीर सीधा।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः। सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा।। ३।।

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दित्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्–वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा

वस्तु यथोदात्तराघवे–

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो- स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।

तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः।।

बीजं यथा रत्नावल्याम्-

''द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।।'

मुखं यथा-

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः।।'

पात्रं यथा शाकुन्तले-

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।।'

यह स्थापक कथावस्तु के अनुरूप ही वेशभूषा बनाकर प्रवेश करे। यदि वस्तु देवतासम्बन्धी (दिव्य) हो तो वह दिव्य रूप में मंच पर प्रवेश करे। यदि वह मानवसम्बन्धी (मर्त्य) हो तो वह नट मर्त्य रूप में आवे। कथावस्तु के मिश्र (दिव्यादिव्य) होने पर (जैसे रामायण की कथा में) वह या तो दिव्य रूप में या मर्त्य रूप में आ सकता है। मंच पर आकर काव्यार्थ की स्थापना करते समय वह काव्य (रूपक) की कथावस्तु, उसकी बीज नामक अर्थप्रकृति, मुख (श्लेष के द्वारा) या प्रमुख पात्र की सूचना दे।

इस प्रकार काव्यार्थ की स्थापना सूच्य के भेद से ४ प्रकार की हो जाती है। इन्हीं चारों प्रकारों को वृत्तिकार धनिक भिन्न-भिन्न नाटकों के स्थापना प्रकारों को लेकर उदाहृत करते हैं।

(१) वस्तुसूचना, जैसे उदात्तराघव नाटक (उदात्तराघव नाटक अनुपलभ्य है। इसके रचयिता कवि मायुराज थे इसका पता अन्यत्र चलता है।) में निम्नलिखित पद्य के द्वारा नाटक की समस्त कथावस्तु का संक्षिप्त संकेत देता है :–

अपने पिता की वन जाने की आज्ञा को माला की तरह सिर पर धारण कर रामचन्द्र वन के लिये रवाना हो गये, रामचन्द्र की भक्ति के कारण भरत ने माता कैकेयी के साथ ही समस्त राज्य का परित्याग कर दिया। रामचन्द्र ने अपने अनुचर सुग्रीव तथा विभीषण को अनुपम सम्पत्ति से विभूषित कर दिया, तथा रावण आदि समस्त उत्कट शत्रुओं को नष्ट कर दिया।

(२) बीजसूचना, जैसे रत्नावली नाटिका में स्थापक नाटकीय कथावस्तु के बीज की सूचना देता है :–

अनुकूल होने पर दैव अपने अभीष्ट अर्थ को किसी दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से भी लाकर एकदम मिला देता है।

(यहाँ दैव की अनुकूलता के कारण समुद्र में खोई रत्नावली भी यौगन्धरायण को मिल जाती है, इसी बीज की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार यौगन्धरायण के अभीष्ट रत्नावली उदयन समागम रूप फल के बीज की सूचना दी गई है।)

(३) मुखसूचना–दशरूपक के रचयिता या वृत्तिकार ने यहां मुख शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की सूचना दी जाती है। (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। यहाँ दिये गये उदाहरण से भी विश्वनाथ महापात्र का मत पुष्ट होता है। मुखसूचना में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्नोक्त पद्य में रङ्गदेवता भारती वृत्ति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन श्लिष्ट शब्दों से हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनकी नाटकीय वस्तु की भी सूचना होती है। मुख का अर्थ आरम्भ भी लिया जा सकता है। यहाँ रामकथा के आरम्भ की सूचना है।

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूल को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया के फूल फूलते हैं), सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड कर ठीक उसी रूप में प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को ध्वस्त कर दिया है) विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए; अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले, उग्र तथा सघन काल राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

(४). पात्रसूचना–इसमें स्थापक किसी पात्र की (नेता या अन्य किसी पात्र की) सूचना देते हुए प्रथम अंक में उसके भावी प्रवेश का संकेत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नट कह रहा है) :–

हे नटी, तेरे गीत के सुन्दर राग से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज वेग वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अंक में इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मंच पर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार स्थापक नट की यह स्थापना–पात्रस्थापना (पात्रसूचना) कहलायेगी।)

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।

ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्।। ४।।

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थनुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना हिया

तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।

दृष्टवाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे

संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः।।

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्।

स्थापक नट सर्वप्रथम काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रंगस्थ सामाजिकों को प्रसन्न कर, किसी ऋतु को वर्णित करते हुए भारती वृत्ति का प्रयोग करे (आश्रय ले)।

सबसे पहले काव्यार्थ से युक्त श्लोकों से रंगप्रशस्ति कर, स्थापक निम्न पद्य के सदृश भारती वृत्ति का प्रयोग (आश्रय ले) करे। जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में भारती वृत्ति का आश्रय लिया गया है :–

नववधू पार्वती के हृदय में अपने पति शंकर से मिलने की उत्सुकता है, इसलिए वह तेजी के साथ पति के पास जाना चाहती है, पर दूसरी ओर नारीसहज लज्जा उसे वापस लौटा रही है। उसकी दशा को देखकर पार्वती के बान्धव–सखियाँ आदि उसे अनेक प्रकार के वचनों से शंकर के प्रति उन्मुख करते हैं, और उन वचनों के द्वारा वह फिर से शंकर के सम्मुख ले आई जाती है। जब वह आगे बढ़ती है, तो अपने पति को देखकर भय तथा प्रेम दोनों से युक्त हो जाती है। इस नव संगम के समय उसे रोमांच हो जाते हैं। शंकर पार्वती को सामने देख कर हंसते हुए उसका आलिंगन कर लेते हैं। हँसते हुए शंकर के द्वारा इस तरह आश्लिष्ट शर्माई हुई पार्वती सामाजिकों की (आप लोगों की) रक्षा करे।

सा तु–

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः। भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः।। ५।।

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती, प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि।

नट के द्वारा संस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। उसके प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख ये चार भेद (अंग) पाये जाते हैं। विशेष पुरुषों द्वारा (स्त्रियो द्वारा नहीं), भारती का प्रयोग होता है, संस्कृत भाषा की अधिकता होती है। (क्योंकि कहीं कहीं प्राकृत का भी प्रयोग होता है) नटों का कथोपकथम मात्र वर्णनात्मक व्यापार होता है। इसमें प्ररोचना आदि चार अंग होते हैं।

अब नाम के साथ उनकी परिभाषा भी देते हैं :–

यथोद्देशं लक्षणमाह-

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतृणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्-

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन- र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।।'

काव्यार्थादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है अभिनेय नाट्यकथा की प्रशंसा कर प्रेक्षकों की मानसिक प्रवृत्ति को उन्मुख करना प्ररोचना है।

जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में नट अपने नाटक की प्रशंसा कर सामाजिकों को आकृष्ट करना चाहता है –

इस नाटिका का कवि श्रीहर्ष, है जो कविता में बड़ा निपुण है। सामाजिकों की यह सभा भी गुणों का ग्रहण करने वाली है। नाटक की कथावस्तु वत्सराज उदयन के चरित्र पर आधृत है, जो संसार में अतीव मनोहर (समझा जाता) है। साथ ही हम लोग भी नाट्यकला में बड़े दक्ष हैं। कहाँ तक कहें, एक–एक साधन से भी ईप्सित फल की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर यहाँ तो मेरे सौभाग्य की वृद्धि से सारे ही गुणों का समूह एकत्रित हो गया है, इसलिए नाटक के सफल होने में कोई सन्देह ही नहीं है।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते।।६।। वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः।

सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्ष वाऽथ विदूषकम्।। ७।। स्वकार्ये प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।

प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम्।। ८।। प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्याङ्गानि त्रयोदश।

आमुख – प्रसंगोपात्त वीथी तथा प्रहसन का वर्णन हम आगे करेंगे। वैसे वीथी तथा आमुख दोनों भारती भेदों के अंग एक ही हैं इस लिए उन भेदों का वर्णन हम यहीं कर रहे हैं। आमुख उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (वस्तु का संकेत करते हुए) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुख को प्रस्तावना के नाम से भी पुकारते हैं। इसके कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय ये तीन अंग पाये जाते हैं। वीथी के तेरह अंग होते हैं–(जिनका वर्णन हम इनके बाद करेंगे)।

टिप्पणी – सूत्रधार – स्थापक, क्योंकि वह सूत्रधार के समान ही होता है। मार्ष–पारिपार्श्विक, विदूषक–विदूषक का वेष धारण करने वाला नट। यहाँ नाटकादि में प्रसिद्ध विदूषक नहीं लिया जाता। आमुख में सूत्रधार नटी या मार्ष या विदूषक से अपना कार्य बतलाता है, किन्तु उक्ति की विचित्रता के कारण सूत्रधार की उस कार्य–सम्बन्धी उक्ति से नाट्यकथा की सूचना मिलती है। यही आमुख है–आमुख–**आङ्मर्यादायां, मुखात् पूर्वं या मुखपर्यन्तम्।** दशरूपक में वीथी के सभी अंगों को आमुख का अंग कहा गया है किन्तु भरत के अनुसार वीथी के केवल दो अंग उद्घात्यक और अवलगित, आमुख के अंग हैं और आमुख या प्रस्तावना पाँच प्रकार की बताई गई है–उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। किन्तु वीथी के किसी भी अंग से प्रस्तावना को जोड़ सकते है। दशरूपक के अनुसार आमुख के १६ अंग हो जाते हैं।

तत्र कथोद्घातः–

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः।। ९।। गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्-'यौगन्धरायणः -द्वीपादन्यस्मादपि-' इति।

कथोद्घात – सूत्रधार के समान घटना वाले वाक्य को या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई अन्य पात्र मंच पर (प्रथम अंक में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को कथोद्घात कहते हैं। उपर्युक्त भेद के आधार पर यह दो प्रकार का हो जाता है–वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक।

जैसे वाक्य का प्रयोग रत्नावली नाटिका में पाया जाता है, जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य–'द्वीपादन्यस्मादपि' इस वाक्य का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रविष्ट होता है।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे-'सूत्रधारः-

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।।'

वाक्यार्थ का प्रयोग वेणीसंहार की प्रस्तावना (आमुख) में मिलता है। भीमसेन सूत्रधार के वाक्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है। जैसे निम्नलिखित स्थल में–

सूत्रधार :–

शत्रुओं के शान्त होने से वे पाण्डव कृष्ण के साथ आनन्द करें, जिनके वैरियों की आग बुझ चुकी है। परिजनों से युक्त कौरव जिनके लड़ाई–झगड़े को समाप्त कर दिया है, तथा सारी पृथ्वी को प्रसन्न तथा परिपुष्ट कर दिया है, स्वस्थ रहें। (सपरिजन कौरव जिनके शरीर क्षतविक्षत हो गये हैं, खून से पृथ्वी को रंगकर, स्वर्ग में निवास करें।)

ततोऽर्थेनाह-'भीमः-

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।।'

भीम-

लाक्षागृह में आग लगाकर, विष के अन्न को देकर तथा सभा में हमें द्यूतक्रीड़ा में जीतकर, हमारे प्राण एवं सम्पत्ति पर प्रहार कर, क्या वे धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ रह कते हैं, जिन्होंनें पाण्डवों की वधू द्रौपदी के वस्त्र तथा केशों को आकृष्ट किया है ? (कथोद्‌घात–जिसमें कथा ऊपर की ओर पहुँचायी जाये। प्रस्तावना के क्षेत्र से आगे बढ़कर मुख सन्धि के क्षेत्र में चली आती है।

अथ प्रवृत्तकम्-

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम्।।१०।।

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा-

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं

रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः।।

प्रवृत्तक – प्रवृत्तक नामक आमुख भेद वह होता है, जहाँ ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है। अर्थात् जो समय चल रहा है उसके समान गुण का वर्णन करने से पात्र प्रवेश हो–

जैसे निम्न पद्य में शरत का वर्णन करने के साथ ही साथ श्लिष्ट शब्दों के द्वारा समान गुणों का वर्णन करते हुए राम के प्रवेश की सूचना दी गई है। (निम्न पद्य किस नाटक का है यह पता नहीं। धनिक ने भी यहाँ नाटक का उल्लेख नहीं किया है। वैसे इस पद्य को धनिक ने दो स्थान पर इसी प्रकाश में उद्धृत किया है।)

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसमें बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूल फूल गये हैं, सघन अन्धकार से पूर्ण वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह आया है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा, जिन्होंने) रावण के निर्मल चन्द्रहास खंग को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बांधवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए, अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर आये हैं।

अथ प्रयोगतिशयः–

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः। पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः।। ११।।

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः'।

'यह वह आ रहा है' इस प्रकार के वचन का प्रयोग कर जहाँ सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश करता है, वह प्रयोगातिशय नामक आमुख है। (ना०शा० के अनुसार जहाँ सूत्रधार अपने आरम्भ किए प्रस्तावना प्रयोग को छोड़कर नाट्य प्रयोग का निर्देश कर देता है और उससे पात्र का प्रवेश होता है वहां प्रयोगातिशय होता है।

जैसे शाकुन्तल में 'जैसे यह राजा दुष्यन्त' इस सूचना के कारण प्रयोगातिशय है।

अथ वीथ्यङ्गानि-

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्।

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके।। १२।।

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।

वीथी के जिन तेरह अंगों का संकेत ऊपर किया गया, वे ये हैं :– उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल,, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव।

तत्र–

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा।। १३।।

यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं यदुच्यते।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्तौ तद्द्विविधमुद्घात्यकम्। तत्राद्यं विक्रमोर्वश्या यथा-विदूषकः-भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं पुरीसो आदु इत्थिअ त्ति। ('भो वयस्य ! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति।') राजा-सखे।

मनोजातिरनाधीनां सुखेष्वेव प्रवर्तते।

स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते।।

विदूषकः-एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि।') राजा-वयस्य इच्छानुभवः स इति।

विदूषकः-किं जो जं इच्छादि सो तं कामेदित्ति। ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति।') राजा-अथ किम्।

विदूषकः-त्ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि।' (तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि।'

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे-

'का श्लाध्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः

किं दुःखं परिसंश्रयो जगति कः श्लाध्यो य आश्रीयते।

को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः

कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः।।'

उद्घात्यक – जहाँ दो पात्रों की परस्पर बातचीत इस ढंग की पाई जाये, कि वहाँ या तो गूढार्थ पदो तथा उनके पर्याय अर्थ की माला बन जाये, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की माला पाई जाये। कभी कभी एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ पदो का दूसरा पात्र नहीं समझ पाये, तथा वह उसका व्याख्यान करे, उसके पर्याय का प्रयोग करे, तो वह पहले ढंग का उद्घात्य या उद्घात्यक होता है। कभी कभी पात्र अपनी उक्ति में किन्ही बातों पर प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, यह प्रश्नोत्तर माला दूसरे ढंग का उद्घात्यक है इस तरह उद्घात्यक दो तरह का होता है।

पहले ढंग के उद्घात्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से नीचे दिया जा रहा है, जहाँ राजा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदो के प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है :–

विदूषक–हे वयस्य, यह 'काम' कौन है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो, वह पुरुष है या स्त्री।

राजा–मित्र, प्रेम का यह सुन्दर मार्ग जो केवल सुख की ओर ही प्रवृत्त होता है, तथा मन में उत्पन्न होता है, काम कहलाता है।

विदूषक–मैं वह भी नहीं जानता।

राजा–मित्र, वह काम इच्छा से उत्पन्न होता है।

विदूषक–तो क्या, जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी वह कामना करता है।

राजा–और नहीं तो क्या?

विदूषक–तो समझ गया, जैसे मैं सूपकारशाला (भोजनशाला) में भोजन की इच्छा करता हूँ।

दूसरी तरह के उद्घात्यक का उदाहरण पाण्डवानन्द नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया जा रहा है जहाँ प्रश्नोत्तर की माला है

सबसे अधिक शलाध्य वस्तु क्या है ? गुणियों की क्षमा। परिभव या तिरस्कार किसे कहते हैं ? वह तिरस्कार जो अपने ही कुल के द्वारा किया गया है। दुःख क्या है । दूसरे के शरण में रहना ही दुःख है। संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है, जिसकी शरण में दूसरा आता है। मौत किसे कहते हैं ? व्यसन को। शोक का त्याग कौन कर सकता है ? जो अपने शत्रुओं को जीत लेते हैं। ये सारी बातें किसने जान ली ? विराटनगर में अज्ञात रूप में छिपकर रहते हुए पाण्डवो ने।

अथावलगितम्-

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते।। १४।।

प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्तस्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्यऽनु (ण) प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः। द्वितीयं यथा छलितरामे-'रामः-लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि तदवतीर्य गच्छामि।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः।

जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते।।'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः।

अवलगित – जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाये, वह पहले ढंग का अवलगित होता है। अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो वह अवलगित का दूसरा प्रकार है। इस तरह अवलगित दो तरह का होता है।

जैसे पहले ढंग के अवलगित का उदाहरण उत्तरचरित (भवभूति के उत्तररामचरित) से दिया जा सकता है, जहाँ वनविहार की दोहद इच्छा वाली गर्भवती सीता के दोहद को पूर्ण करने के कार्य से वन में ले जाकर जनापवाद के कारण वहां छोड़ दिया गया है। यहां एक कार्य के समावेश (सीतादोहदपूर्ति रूप) से दूसरा कार्य वनत्याग भी सिद्ध हो गया है।

दूसरा प्रकार हम छलितराम (छलितराम नाटक अनुपलब्ध है तथा इसके रचयिता का भी पता नहीं) नाटक में देख सकते हैं – यहां राम इसलिए पैदल जाना चाहते हैं कि पिता से वियुक्त अयोध्या में विमान से प्रवेश करना ठीक नहीं। यहां प्रस्तुत वस्तु के होते हुए उन्हें आगे भरत के दर्शन (दूसरे कार्य) की सिद्धि हो जाती है।

'राम–लक्ष्मण, पूज्य पिताजी के द्वारा वियुक्त अयोध्या में मैं विमान पर बैठकर प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए उतर कर पैदल ही चलता हूँ।

अरे, सामने सिंहासन के नीचे, पादुकाओं के सामने कोई जटाधारी, अक्षमाला तथा चामर वाला व्यक्ति दिखाई पड़ रहा है।

टिप्पणी – दोनों में केवल इतना अन्तर है कि प्रथम प्रकार में दूसरा कार्य प्रयत्नपूर्वक किया जाता है, द्वितीय प्रकार में प्रसंग से (दैवात्) सिद्ध हो जाता है।

अथ प्रपञ्चः-

असद्भूतं स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः।। १५।।

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योयन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः। यथा कर्पूरमञ्जर्याम्-भैरवानन्दः-

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।

भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो।

('रण्डा चण्डा दीक्षिताधर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च।

भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः।।'

प्रपञ्च – प्रपञ्च वह वीथ्यंग है, जहाँ पात्र आपस में एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करे जो हास्य उत्पन्न करने वाली हो। (प्रपञ्च में अशोभनीय उपलब्धियों की झूठमूच प्रशंसा जिससे हंसी उत्पन्न हो।)

कारिका के असद्भूत अर्थ का तात्पर्य परस्त्रीलोलुपता आदि निपुणता से है, इस ढंग की परस्पर स्तुति जहां होगी, वह प्रपंच कहलाता है। जैसे राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी सट्टक में कापालिक भैरवानन्द अपने विषय में हास्यमय अनुचित प्रशंसा करते हुए कहता है '– बताइये तो सही, यह कौल धर्म किसे अच्छा न लगेगा, जहाँ विधवा दीक्षित स्त्रियां धर्मपत्नियाँ बन जाती हैं, खाने–पीने को मांस--मद्य मिलता हे, भिक्षा का भोजन प्राप्त होता है, चमड़े के टुकड़े की शैय्या होती है।

टिप्पणी – पर धनिककृत उदाहरण में परस्पर प्रशंसा नहीं है, हां निन्दनीय प्रवृत्तियों को प्रशंसा रूप में लिया जा सकता है।

अथ त्रिगतम्--

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह।

नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते।। १६।।

यथा विक्रमोर्वश्याम्-

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।

कैलासे सुरगणगसेविते समन्तात् किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः।।'

त्रिगत – जहाँ शब्द की समानता के कारण अनेक अर्थों (वस्तुओं) की एक साथ योजना की जाय, वह त्रिगत नामक वीथ्यंग होता है। नट आदि तीन पात्रों के आलाप के कारण पूर्वरंग में भी त्रिगत पाया जाता है।

त्रिगत का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया गया है। राजा, अप्सराओं के संगीत को सुनकर शब्दसाम्य के आधार पर भ्रमरों के कलकल निनाद तथा कोकिल की काकली की योजना करता है, अतः यह त्रिगत है।

फूलों के रस से मस्त भौंरों का यह कलकल है, यह कोकिल की गम्भीर काकली है। देवताओं के समूह के द्वारा चारो ओर से सेवित कैलाश पर्वत पर किन्नरियाँ रमणीय व मधुर अक्षरो में गा रही हैं।

टिप्पणी – त्रि यहां अनेकार्थ वाची है। त्रिगत का अर्थ है तीन से सम्बद्ध। तीन बोधव्य से सम्बन्धित होने पर वीथी का अंग त्रिगत और तीन वक्ताओं से सम्बद्ध होने पर पूर्व रंग का अंग।

अथ छलनम्–

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम्।

यथा वेणीसंहारे-'भीमार्जुनौ-

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी

राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः

क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।'

छल – जहां कोई पात्र बाहर से प्रिय लगने वाले, किन्तु वस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा दूसरों का विलोभन करके उनके साथ छल करे, वह छल नामक वीथ्यंग है।

जैसे वेणीसंहार में भीमसेन तथा अर्जुन दुर्योधन को ढूंढ़ते हुए निम्न उक्ति का प्रयोग करते हैं, जो ऐसे अप्रिय वाक्या से युक्त हैं जो बाहर से प्रिय–से मालूम पड़ते हैं :–

द्यूतक्रीड़ा के समय छल करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का पूज्य अग्रज (गुरु), अंगराज कर्ण का मित्र, वह अभिमानी राजा दुर्योधन; जो द्रौपदी के बालों व उत्तरीय को खोलने में चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं कहाँ है ? हे पुरुषो, हमें बता दो, हम उसे देखने आये हैं।

अथ वाक्केली–

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा।। १७।।

अस्येति वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते-वासन्ती-

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां

तामेव शान्तमथवा किमतः परेण।।'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्-'विदूषकः-भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका-हदास ण क्खु एसाचच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। ('हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदिखण्डकं खल्वेतत्।')

विदूषकः-**भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करिअन्ति। ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ?') मदनिका-णहि, पढीअदि खु एदम्।' ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि।**

वाक्केली – जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पाई जाये, अर्थात् साकांक्ष वाक्य को पूर्ण न कर उसको अधूरा ही कहा जाये तथा उसके भाव को गम्य रख दिया जाय; अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्ति प्रत्युक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाये, वहाँ वाक्केली नामक वीथ्यंग होता है। कारिका में अस्य (इसका) वाक्य का

(इस तरह वाक्केली दो तरह की होती है।)

पहले प्रकार की वाक्केली का उदाहरण उत्तरचरित के तृतीय अंक से दिया गया है, जहाँ सीता के साथ किये गये राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए वासन्ती (वनदेवता) राम से कह रही है :–

तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, मेरा दूसरा हृदय हो, मेरे नेत्रों को तृप्त करने वाली चन्द्रिका हो, मेरे अंगों को जीवन देने वाला अमृत हो, इस तरह के सैंकड़ों प्रिय वाक्यों से उस भोली सीता को भुलावे में डालकर, हाय, तुमने उसी को....(बनवास दे दिया); अथवा शान्त हो, इससे आगे के विषय में कहना व्यर्थ है।

दूसरे प्रकार की वाक्केली में दो–तीन बार उक्तिप्रत्युक्ति पाई जाती है, जैसे रत्नावली नाटिका के निम्न स्थल में :–

विदूषक–हे मदनिके, मुझे भी यह राग (चर्चरी) सिखा दो ना।

मदनिका–मूर्ख यह चर्चरी नहीं है, यह द्विपदीखण्डक है। (चर्चरी, द्विपदीखण्डक आदि गीतों की शैलियाँ हैं, जैसे ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी आदि हैं)

विदूषक–अरी क्या यह खण्ड (शक्कर) से लड्डू बनाये जाते हैं।

मदानिकारू–नहीं, इसे तो पढ़ा जाता है–गाया जाता है।

टिप्पणी – भरत ने एक दूसरी ही परिभाषा दी है जिनके अनुसार दो प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है।

अथाधिबलम्

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत्।

यथा वेणीसंहारे-'अर्जुनः-

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः।।

इत्युपक्रमे 'राजा-अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किन्तु-

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम्।।'
इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम्।

अधिबल – जहाँ नाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धा से अपने आधिक्य की उक्ति कहें उसे अधिबल कहते हैं। (अर्थात् स्पर्धा में अपनी डींग मारे, आत्मप्रशंसा करे।)

जैसे वेणीसंहार के निम्न स्थल पर अर्जुन, भीम व दुर्योधन का परस्पर वार्तालाप इस ढंग का पाया जाता है कि वे एक दूसरे की स्पर्धा करते हुए आधिक्य की सूचना करते हैं।

अर्जुन–हे पिता–माता, (धृतराष्ट्र व गान्धारी), जिस कर्ण में आपके पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीतने की आशा बंधी हुई थी, और जिसने घमण्ड से सारे संसार को तिनके की तरह नगण्य समझ रखा था, उसी राधापुत्र कर्ण को युद्धस्थल में मारनेवाला यह मध्यम–पाण्डव अर्जुन आप दोनों को प्रणाम करता है।

राजा–अरे, मैं तुम्हारी तरह आत्मप्रशंसा करने में चतुर नहीं हूँ। लेकिन मेरी गदा से टूटी वक्षःस्थल की हड्डियों के समूह के साथ भीषण दिखाई पड़ते हुए तुम्हें तुम्हारे बान्धव शीघ्र ही युद्धभूमि में सोया पायेंगे।

अथ गण्डः–

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्।। १८।।

यथोत्तरचरिते-'रामः-

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-

रसावस्याः स्पर्शो वपुषि वहलश्चन्दनरसः।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।।'

(प्रविश्य) प्रतीहारी-देव उअत्थिदो। ('देव उपस्थितः।') रामः-अयि कः ?। प्रतीहारी-देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो। (देवस्यासन्न परिचारको दुर्मुखः।')

गण्ड – जहाँ प्रस्तुत विषय में सम्बद्ध अर्थ से भिन्न वस्तु एकदम उपस्थित हो जाये, वहाँ गण्ड होता है।

(गण्ड वस्तुतः वह वाक्य है, जहाँ नाटककार भावी घटना का संकेत किसी भिन्न विषय पर दे जाता है। पाश्चात्य नाटकों की 'इमोटिव आयरनी' से यह कुछ कुछ मिलता–जुलता है।)

जैसे उत्तररामचरित में राम के 'इसका विरह बड़ा असह्य है' यह कहते ही 'देव यह उपस्थित है' इस वाक्य के द्वारा भिन्नार्थ की एकदम उपस्थिति पाई जाती है।

राम–यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी है; मेरी आँखों को आनन्द देने वाली अमृत की शलाका है। इसका स्पर्श अंगों को इतना शीतल लगता है जैसे सघन चन्दन का लेप हो। सीता का यह बाहु कण्ठ में इस तरह मालूम देता है जैसे शीतल तथा कोमल मोतियों की माला हो। सीता की कौन वस्तु सुन्दर तथा प्यारी नहीं लगती, केवल इसका विरह ही असह्य है।

प्रतीहारी (आकर)–महाराज, उपस्थित है।

राम–अरे कौन।

प्रतीहारी–महाराज, आपका सेवक दुर्मख।

अथावस्यन्दितम्–

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

यथा छलितरामे-'सीता-जाद कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। ('जात ! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तत्र स राजा विनयेन नमितव्यः।') लवः-अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ? सीता-जाद सो क्खु तुह्माणं पिदा। ('जात स खलु युवयोः पिता।') लवः - किमावयोः रघुपति पिता (सीता साशङ्कम्) जाद ण कखु परं तुमाण ह अलाए ज्जे पुहवीए।') ('जात न खलु परं युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः।') इतिं।

अवस्यन्दित – जहाँ भावावेश या सहज स्वभाव (रस) के कारण किसी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाये, और बाद में उस वाक्य की व्याख्या दूसरे ही ढंग से कर वास्तविकता को छिपा दिया जाये उसे अवस्यन्दित कहते हैं। यहाँ पाठ भेद भी है–रसोक्त के स्थान पर यथोक्तस्य मिलता है जिसके अनुसार यथोक्ति (पहले कही हुई।)

जैसे छलितराम नाटक के निम्न स्थल में भावावेश में लव के सम्मुख सीता के मुंह से यह बात निकल जाती है कि 'राम तुम्हारे पिता हैं'; पर वह बाद में इसकी व्याख्या दूसरे ही ढंग से कर देती है कि वे तुम्हारे ही नहीं सारी पृथ्वी के पिता हैं।

सीता–तात, कल तुम्हें अयोध्या जाना है, वहां राजा को नम्रता से प्रणाम करना।

लव–माता, क्या हमें राजा के नौकर बनना है ?

सीता – तात वे तुम्हारे पिता हैं।

लव – क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?

सीता–(आशंका के साथ) तात तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथ्वी के।

अथ नालिका–

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका।। १६।।

यथा मुद्राराक्षसे-'चरः-हंहो बहमण मा कुप्प किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि किं पि अहारिसा जणा जाणन्ति। ('हहो ब्राह्मण मा कुप्य' किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यास्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्यः-किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि। चरः-यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। ('यदि ते उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्यः-किमनेन ज्ञातेन भवति।' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः- चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्तं भवति।

नालिका – हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को ही नालिका कहते हैं।

जैसे विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में हास्य से युक्त तथा गूढार्थ पहेली 'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नहीं लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया जाता है जहाँ चन्द्र का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) से है।

चर–अरे ब्राह्मण, गुस्सा न करो, कुछ तो तुम्हारे आचार्य चाणक्य जानते हैं, कुछ हम जैसे लोग ही जानते हैं।

शिष्य–क्या तुम हमारे गुरु की सर्वज्ञता को चुनौती देने की इच्छा करते हो।

चर–अगर तुम्हारे आचार्य सारी बातें जानते हैं, तो बतायें कि किस व्यक्ति को चन्द्र (चन्द्रमा; चन्द्रगुप्त) अच्छा नही लगता।

शिष्य–इसे जानने से क्या फायदा।

× × ×

चाणक्य–चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को मैं जानता हूँ।

अथाऽसत्प्रलापः–

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तन्न-उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनाम- सम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा-

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-

रङ्गुल्या विषकर्वुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।

एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा

वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः।।'

यथा च-

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतितस्यास्त्वया हृता।

विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते।।

यथा वा-

'भुक्तं हि भया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।

हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि।।'

असत्प्रलाप – जहाँ उटपटांग असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाये, वह असत्प्रलाप नामक वीथ्यंग होता है। असत्प्रलाप=असम्बद्ध कथा यथोत्तर (एक के बाद दूसरी) होती है।

असम्बद्ध प्रलपित के बारे में यह शंका की जा सकती है कि नाटक में इसका पाया जाना दोष है, क्योंकि असम्बद्ध कथा में असंगति नामक वाक्यदोष आ जायेगा। इस शंका का निराकरण करते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि उनीदे, मदमस्त, पागल तथा बालक पात्रों की बातचीत में असम्बद्ध प्रलपित पाया जाना स्वाभाविक ही है।

बालक कार्तिकेय बालक्रीडा के कारण पिता शिव के गले में लटकते हुए वासुकि के प्रकाशमय मुखों को ओठों पर से फाड़ देते हैं। उसके बाद वे उसके जहरीले तथा चित्रविचित्र दांतों के अंकुरों को अंगुली से छू–छू कर गिनते हैं :– एक, तीन, नौ, आठ, सात, छः।

इस तरह कार्तिकेय की गणना में संख्या का कोई क्रम नहीं पाया जाता। क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की संख्या व्यतिक्रमयुक्त वचन से तुतलाई हुई वाणी आप लोगों के कल्याण को पुष्ट तथा अभिवृद्ध करे।

और जैसे प्रिया विरह के कारण उन्मत्त पुरूरवा की इस उक्ति में–

'हे हंस मुझे मेरी प्रिया को लौटा दे, उसकी चाल तूने छीन ली है। मेरी प्रिया के एकदेश (गति) को लेने वाले तर द्वारा मुझ से जो कुछ लौटाने योग्य है, उसे लौटा देना ठीक होगा।'

अथवा निम्न उन्मादोक्ति में :–

मैं पर्वतों को खा चुका हूँ, आग से नहा चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र हैं, इसलिए नाच रहा हूँ

टिप्पणी – भरत के मत में मूर्खों के सामने उसके हित की बात करें और वह अज्ञता के कारण उसके तात्त्विक अर्थ को न ग्रहण कर तो असत्प्रलाप होता है।

अथ व्याहारः–

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ।। २०।।

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने-'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषकः-मा दावउवएससुद्धा गमिस्ससि।' ('मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदासः-(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः। विदूषकः-पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्गिदा (मालविका स्मयते)।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तया लङ्घिता।') इत्यादिनो नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः।

व्याहार – जहाँ हंसी के लोभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे वाक्य का प्रयोग हो, जिसका अर्थ कुछ और ही हो, वह व्याहार कहलाता है।

जैसे मालविकाग्निमित्र में मालविका के द्वारा लास्य के प्रदर्शन किये जाने के बाद वह जाना चाहती है। इस पर विदूषक कहता है - नहीं, 'तुम उपदेश से शुद्ध हो (हमसे यह सीख कर) कर चली जाना।

गणदास–(विदूषक से आर्य कोई गलती हुई हो तो कहें।

विदूषक–पहले पहल प्रातःकाल में ब्राह्मण की पूजा की जाती है। उसने उस पूजा का उल्लंघन किया है।

(मालविका मुसकुराती है।)

यहाँ नायक को नायिका का विश्वस्त दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त वचन का प्रयोग विदूषक ने किया है, जो हास्यकारी है। अतः यहाँ व्याहार नामक बीथ्यंग है।

अथ मृदवम्–

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्।

यथा शाकुन्तले-

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः सत्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः।।'

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः।

यथा च-

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम्। गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम्।।'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः।

उभयं वा-

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा।

अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः।।'

मृदव – जहाँ कोई पात्र गुणों को दोष बताकर दोषों को गुण बता कर कहे, वह मृदव वीथ्यंग है।

ाले शाकुन्तल के इस पद्य में राजा के मृगया के दोषों को गुणों के रूप में रखा गया है :–

ग इस मृगया को झूठ में ही व्यसन (बुरी आदत) बताया करते हैं। भला इस जैसा आनन्द कहाँ मिल सकता है ? देखो, मृगया । शरीर की सारी चर्बी कम हो जाती है, पेट पतला हो जाता है, तथा शरीर उठने–बैठने के योग्य हो जाता है। दूसरी ओर मृगया खेलने से जंगली पशुओं के चित्त व आकृति में भय तथा क्रोध के समय क्या–क्या विकार होते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे, मृगया खेलने से चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करना पड़ता है, अतः उसके बाण चंचल लक्ष्य को विद्ध करने में सिद्ध हो जाते हैं, और यह धनुर्धारियों की बहुत बड़ी विशेषता है।

अथवा जैसे निम्न पद्य में राज्य के गुणों को दोष के रूप में वर्णित किया गया है–

शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाला यह राजा बड़े कष्ट के साथ जी रहा है–इसका मन कभी शान्त व स्थिर नहीं रहता, अनेक व्यथाएं इसे क्लेश दिया करती हैं, इसे न तो नींद ही आती है, न किसी के प्रति यह विश्वास ही करता है।

कभी कभी दोनों–गुणों का दोषीभाव तथा दोषों का गुणीभाव एक साथ भी पाये जा सकते हैं :–

सच्चरित्रता के उदय की इच्छा वाले तथा इसीलिए सदा दुखी रहने वाले सज्जन लोग, जो हमेशा लोगों के द्वारा की गई निन्दा से डरा करते हैं, बड़े दुःख व कष्ट के साथ जीवनयापन करते हैं। वस्तुतः सौभाग्यशाली तो वह प्राकृत (अज्ञानी) पुरुष है जो मौके की बात को भी नहीं सोच पाता, जो अच्छे या बुरे काम से कभी व्याकुल नहीं होता और भले–बुरे के ज्ञान से जिसका हृदय शून्य रहता है।

इति प्रस्तावनाङ्गानि।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत्।। २१।। प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत्।

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान्।। २२।। कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः।। २३।। तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायण-महाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति।

सूत्रधार इस प्रकार इनमें से (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख आदि या कथोद्घात प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और १३ वीथ्यंग) किसी के द्वारा (भारती वृत्ति का आश्रय लेते हुए) काव्यार्थ अथवा नाटकीय पात्र की सूचना दें। उसका संकेत तथा परिचय दे देने पर प्रस्तावना के अन्त में वह रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाये तथा तदनन्तर कथावस्तु को प्रपञ्चित करे, विस्तार करे।

यहाँ नाटक (रूपकविशेष) ही का प्रकरण चल रहा है। अतः नाटक के ही नायक तथा तत्सम्बन्धी वस्तु का ही संकेत करते हुए कहते हैं :– नाटक का नायक या तो प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उत्कृष्ट गुणों से युक्त होता है, धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापशाली होता है। वह यश तथा कीर्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों (वैदिक परम्परा) का रक्षक होता है। अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य–देवता–हो सकता है, जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है। उस नायक के विषय में इतिहास–पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक वस्तु रखना चाहिये। (यदि कवि उसके सम्बन्ध में रसानुकूल कोई कल्पित वस्तु का संन्निवेश करना चाहता है, तो वह प्रासंगिक रूप में ही की जानी चाहिये।) जिस इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) वृत्त में इस तरह का, इन गुणों व विशेषताओं से सम्पन्न, नायक हो, वही वृत्त नाटक के उपयुक्त होता है।

जिस कथा (इतिवृत्त) में सत्यवादी, नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध उक्त गुणों से युक्त तथा अनुचित कार्य न करने वाला रामायण–महाभारतादि–बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध धीरोदात्त कोटि का राजा या दिव्य नायक पाया जाता है, उसी प्रसिद्ध कथा को यहां नाटक की आधिकारिक कथावस्तु बताना ठीक होगा।

(जैसे शाकुन्तल की कथा का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त राजर्षि है, कथा महाभारत में प्रसिद्ध है। उत्तररामचरित की कथा भी रामायणादि में प्रख्यात है, तथा इसके नायक धीरोदात्त राजर्षि है, वैसे अवतार के कारण उन्हें दिव्यशक्ति–सम्पन्न होने से दिव्य भी माना जा सकता है। मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त राजा अवश्य है, यह दूसरी बात है कि उसमें–जिस रूप में वह वहाँ चित्रित हुआ है–उच्च कुलीनता नहीं मिलती है। फिर भी नन्द की मुरा दासी के पुत्र होने के कारण–प्रख्यातवंशत्व उसमें घटित हो ही जाता है। कथा भी बृहत्कथादि में प्रख्यात है ही।)

टिप्पणी – नाटक का नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि होना चाहिये। प्रख्यात का तात्पर्य सूर्य और चन्द्रवंश आदि माने जा सकते हैं। नायक का राजर्षि होना यहाँ उपयुक्त नहीं लगता। जिन राजाओं को भास, कालिदास आदि ने अपने नाटकों का नायक बनाया है,

उन्हें राजर्षि कहना समीचीन नहीं लगता। राजर्षि उदात्ततम विशेषण है जिसका अर्थ है ऐसा राजा जो पवित्रतादि अपने गुणों से ऋषि तुल्य हो गया हो। धीरोदात्त एक विशेष कोटि है, जबकि भरत ने केवल उदात्त का प्रयोग किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार उदात्त का अभिप्राय है वीर रस के योग्य और धीरोदात्त, धीरललितादि चारों प्रकार के नायक नाटक के योग्य हैं। धनञ्जय ने दिव्य कोटि का नायक भी स्वीकार किया है जबकि भरत, अभिनवगुप्त, नाट्यदर्पणकार के अनुसार दिव्य को नाटक का आधार नहीं बना सकते।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।। २४।। विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः। वीरचरिते तु रावण सौहृदेन रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः।

नायक की प्रकृति (धीरोदात्तता) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर या श्रृंगार) के प्रतिकूल जो कोई बात उस इतिवृत्त में पाई जाती हो तो कवि को चाहिये कि उसे इस तरह से परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे, या रस का यह प्रतिकूल तत्त्व हट जाये। इस तरह की जो कोई अनुचित बात हो या तो उसे छोड़ ही दे या परिवर्तित करके नये रूप में रख दे।

जैसे मायुराज ने अपने नाटक उदात्तराघव में राम के द्वारा छल से बालि का वध सर्वथा छोड़ दिया है, उसने इस घटना का हवाला नहीं दिया है। भवभूति के वीरचरित में रावण की मित्रता के कारण बाली राम के वध के लिये जाता है, और राम उसे मार देते हैं, इस तरह वह घटना बदल दी गई है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि राम जैसे दिव्यावतार तथा धीरोदात्त राजर्षि के उज्ज्वल तथा सात्त्विक चरित्र में बालि का छल से मारना कलंक है।

(इसी का दूसरा उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल से लिया जा सकता है। पद्मपुराण में जहाँ से यह कथा ली गई है दुर्वासा वाली घटना–शाप–का उल्लेख नहीं। इस प्रकार शकुन्तला को बिना किसी कारण भूल जाना दुष्यन्त की कामुकता व लम्पटता को सिद्ध कर उसके धीरोदात्तत्व को दूषित कर देता है। कविवर कालिदास ने धीरोदात्त दुष्यन्त के चरित्र को अकलुषित रखने के लिए दुर्वासा शाप की कल्पना की है :–

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्, कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।)

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च।। २५।। खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत्।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीज- बिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थ प्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत्। पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात्।

नाटक के रचयिता को चाहिये कि उस प्रख्यात कथा का आदि व अन्त कहाँ रखेगा इसका निश्चय कर ले। नाटक किस विशेष घटना से आरम्भ करेगा, और कहाँ आकर समाप्त करेगा, इसे निश्चित कर लेने पर उसे सारी कथा को पांच भागों में बाट लेना चाहिये। ये पाँच खण्ड ही पाँच सन्धियां –मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, व निर्वहण हैं। इन सन्धियों को विभागों, अंगो में भी विभाजित कर देना चाहिये।

जब रस व नायक के अनौचित्य व विरोध के परिहार से नाटकीय इतिवृत्त परिशुद्ध हो जाय तथा कवि इस बात का विभाग कर ले कि कथावस्तु में किन–किन बातों को उसे रंगमंच पर दिखाना है, किन किन बातों को नहीं। (अर्थात् किन किन की विष्कम्भकादि के द्वारा सूचना ही देना है)। इसके अनुसार वह इतिवृत्त में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन अर्थ–प्रकृतियों की कल्पना करें, इस प्रकार की उपक्लृप्त वस्तु को आरम्भादि पांच अवस्थाओं के अनुकूल पांच टुकड़ों में–मुखादि पाँच सन्धियों में बाट दे फिर इसके बाद मुख व गर्भसन्धि को बारह, प्रतिमुख व विमर्श को तेरह तथा निर्वहण सन्धि को चौदह अंगों में विभक्त कर दे।

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा।। २६।।

पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत्।। २७।।

अपरमपि प्रासङ्किमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

(नाटकीय कथावस्तु के आरम्भ से लेकर अन्त के विभागों को हम एक रेखाचित्र के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।)

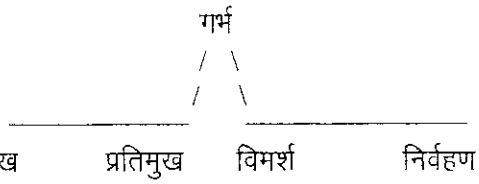

नाटकीय कथावस्तु एक सरल या सीधी रेखा की तरह एक ही दिशा में नहीं चलती। प्रतिमुख तक वह सीधी चलती है और फिर वह फलप्राप्ति की इच्छा में उन्नतिशील होती है। गर्भसन्धि इसकी चरम सीमा है जिसके अन्तर्गत 'संघर्ष' की स्थिति पाई जाती है। तदनन्तर वह नीचे आ जाती है। विमर्श के बाद फिर वह सीधी होकर नायक के कार्य तथा फलप्राप्ति की ओर उन्मूख होती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में कुछ लोग इसी तरह की पाँच स्थितियां नाटक की कथावस्तु में मानते हैं। यह दूसरी बात है कि वहाँ अन्त सदा सुखान्त न होता हो। कुछ लोग तीन ही अवस्थाएं मानते हैं–आरम्भ (Beginning), संघर्ष तथा उसकी चरम स्थिति (Climax) तथा अन्त (Denoument)।

इसी प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त के ६४ अंग होते हैं। दूसरा प्रासंगिक इतिवृत्त है। इसके पताका नामक भेद में पांचों सन्धियां हों यह आवश्यक नहीं। वह प्रधान वृत्त की अपेक्षा, एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों से न्यून हो सकता है। इसमें यथावश्यक रूप से अंगों का समावेश हो सकता है। प्रासंगिक कथा के प्रकरी नामक भेद में सन्धिसन्निवेश नहीं होना चाहिये।

दूसरा प्रासंगिक इतिवृत्त एकादि सन्धियों से न्यून हो अर्थात् प्रधान इतिवृत्त से एक, दो, तीन या चार अनुसंधियों से न्यून रूप में पताका इतिवृत्त का विन्यास करना चाहिये। इसके अंग यथावश्यक रूप में रखे जा सकते हैं, इस तरह कि प्रधान इतिवृत्त से उनका विरोध न पड़े। प्रकरी नामक प्रासंगिक इतिवृत्त में संधि की परिपूर्णता की जरूरत नहीं अतः उसमें सन्धि का विधान नहीं होना चाहिये।

टिप्पणी – पताका की सन्धियों को अनुसन्धि कहते हैं क्योंकि वह प्रधानवृत्त का अनुसरण करता है। पताका में अधिक से अधिक चार अनुसन्धियां होती हैं, जिनका अंगों में विभाजन, जैसी मिलती जायें कर दिया जाता है, प्रधानवृत्त से विरोध नहीं होना चाहिये और प्रधान वृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियां कम रखनी चाहिये। प्रकरी में सन्धि विन्यास नहीं होता।

तत्रैवं विभक्ते-

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः।

इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन कर लेने पर कवि नाटक के आरम्भ में कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अंक की व्यवस्था करे। यह योजना कार्य के आधार पर होगी।

इयमत्र कार्ययुक्तिः-

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम्।। २८।। यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते।। २९।। आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।

यदि आरम्भिक कथांश नीरस है किन्तु उसकी आवश्यकता नाटक की वस्तु की गतिविधि देने के लिये होती ही है, तो ऐसी दशा में कवि को चाहिये कि नीरस किन्तु आवश्यक वस्तु विस्तार को छोड़कर जब वह कथावस्तु के शेषांष को रंगमंच पर दिखाना चाहें तो वह उस नीरस कथांश की सूचना देने के लिए विष्कम्भक का सन्निवेश करे। इसको इस प्रकार भी लिया जा सकता है–सर्वथा अपेक्षित वस्तु कों (अंक के लिए) छोड़कर शेष नीरस वस्तु प्रपञ्च को जब बताना हो तो विष्कम्भक के माध्यम से ऐसा करना चाहिये। यदि कथावस्तु में आरम्भ से ही रसमय वस्तु पाई जाती है, तो ऐसी दशा में विष्कम्भक का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में शुरु में ही अंक का सन्निवेश करना चाहिये तथा प्रयोगातिशय आदि आमुख–भेदों के आधार पर आरम्भ में ही पात्रप्रवेश कर देना चाहिये।

(जैसे मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना के लिए विष्कम्भक की योजना पाई जाती है, जहाँ भगवती (तापसी) आकर भूत वस्तु की सूचना देती है, तब प्रकरण आरम्भ होता है। शाकुन्तल में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का सन्निवेश पाया जाता है, अतः नाटक अंक से शुरु किया गया है।)

स च-

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।।३०।। अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

रङ्गप्रवेश्यै साक्षान्निर्दिश्यमानंनायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः।

विष्कम्भक व अंक का भेद बताते हुए कहते हैं कि अंक में नाटकादि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। या तो वह स्वयं मंच पर आता है या मंच पर घटित घटना उसके चरित्र से साक्षात् सम्बद्ध होती है। उसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति व्याप्त पाई जाती है तथा वह नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनों का आश्रय होता है।

पात्र के रंगमंच पर प्रवेश करने पर जहां साक्षात् रूप से नायक का व्यापार मंच पर दिखाया जाता है, जहां बिन्दु का उपक्षेप पाया जाता है, अनेक प्रकार के प्रयोजन का विधान रहता है तथा जिसमें रस स्थित रहता है, उसे अक कहते हैं। चूंकि इसमें बिन्दु नायक का व्यापार तथा रसादि ठीक उसी तरह रहते हैं जैसे गोद में–इसलिये इसे 'अंक' (गोद, उत्संग) (उपमान के आधार पर) कहा जाता है

टिप्पणी – बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृत :– का भाव यह है कि जहाँ कोई एक एक प्रारम्भादि अवस्था समाप्त हो जाती है अथवा कार्यावस्था समाप्त नहीं होती, किन्तु ऐसी अवस्था में अभिनय करना सम्भव नहीं होता और अंक को समाप्त करना पड़ता है, वहाँ समाप्त होने वाले अंक का अग्रिम अंक से सम्बन्ध जोड़ने के लिए पूर्व अंक के अन्त में बिन्दु की योजना करनी होती है। बिन्दु उपक्षेपार्थ परिमित इस बिन्दु के उपक्षेप पर्यन्त ही अंक हुआ करता है। (३.३७ बिन्दुरन्ते च) और उस उपक्षिप्त बिन्दु का अग्रिम अक में विस्तार हुआ करता है। अतः बिन्दु अंकों के अन्त में होना ही चाहिए।

संविधान– किसी प्रधान घटना से सम्बद्ध सहायक घटनाओं–अवान्तर प्रयोजनों–विशेष प्रकार के कथा सन्निवेश या वस्तु संघटकों–को संविधान कहा जाता है।

तत्र च–

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ।। ३१।। गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम्।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः।

इस प्रकार अंकव्यवस्था के बाद कवि को चाहिये कि नाटक के अंगी रस को पुष्ट बनाये, उसका परिपाषण करे। यह रस की पुष्टि वह अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव के द्वारा करें। इनमें से वह कुछ को ले सकता है कुछ को छोड़ सकता है, इस तरह उन विभिन्न अनुभावों, विभावों तथा संचारियों का मिश्रण व त्याग वह आवश्यकतानुसार कर सकता है।

यहाँ मूलकारिका के 'अङ्गिनः" इस पद से अंगी रस के साथ ही साथ उसके स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है इसलिए कारिका में 'स्थायिना' पद से रसान्तरस्थायी–अङ्गिस्थायी से भिन्न स्थायीभाव–का ग्रहण करना चाहिये। गृहीतमुक्त का अर्थ परस्पर अभिश्रित होने से है।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।। ३२।।

रसं वा न तिरोध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

कथासंध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः।

रस का इतना अधिक परिपोष भी न किया जाये कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाये, और न वस्तु, अलंकार या नाटकीय लक्षणों से रस को ही तिरोहित कर दिया जाये।

(नाटक के सम्बन्ध में रस व वस्तु दोनों महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं, अत दोनों में समुचित सन्तुलन करने से ही नाटक की परिपूर्णता होगी।)

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा।। ३३।।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनैनैव रसान्तराणामङ्त्वमुक्तम्, तन्न-यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव।

नाटक में अंगी रस एक ही उपनिबद्ध होना चाहिये, वह या तो शृंगार हो सकता है या वीर। अंग रूप में और सभी रसों का निबन्धन हो सकता है। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया जाना चाहिए।

यहां दूसरे रसों के अंगत्व के विषय में इस कारिका में जो उल्लेख किया गया है, उसमें पूर्वपक्षी को पुनरुक्ति दोष दिखाई पड़ता है। इसी शंका को उठाते हुए वह कहता है।

ऊपर की ३१ वीं कारिका में स्थायी (भाव) का रसान्तरगतत्व निर्दिष्ट हो चुका है। स्थायी का ही परिपाक रस है अतः रसों के अंगी रस में दूसरे रसों की अंगता स्पष्ट हो ही जाती है। (फिर–फिर से रसान्तरों का अंगी रस में अंगत्व निर्दिष्ट करना पुनरुक्ति नहीं है, तो और क्या ?)

सी का उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी बताता है कि वस्तुतः यह बात नहीं है। ३१वीं कारिका के स्थायी के उल्लेख में रस का समावेश ी होता। क्योंकि दोनों की अवस्था भिन्न है। जहाँ किसी दूसरे रस का स्थायी इस ढंग से उपनिबद्ध किया जाये, कि वह अपने नुकूल अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी से युक्त हो, तथा उसका निबन्धन अच्छी तरह किया गया हो, वहां दूसरे रसों का अंगत्व ना जायेगा। जहां केवल स्थायी का निबन्धन हो वहां स्थायी का अंगत्व है, तथा वहां स्थायी भाव एक प्रकार से व्यभिचारी भाव ा ही काम करता है।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।। ३४।।

संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।

अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।। ३५।।

अङ्कैर्नैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः।

इस प्रकार रस का वस्तु में सन्निवेश कर लेने पर, कवि को इसे समझ लेना होगा कि कुछ बातें मंच पर बताने की नहीं हैं, यथा–लम्बा सफर, वा, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, पुरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्थान, सुरत, उबटन लगाना, वस्त्रों का पहनना आदि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से मंच पर नहीं बताना चाहिये।'

इन बातों का उपनिबन्धन अंकों के द्वारा कभी न करें, हाँ प्रवेशकादि सूचकों के द्वारा इनकी सूचना दी जा सकती है।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात्।

अधिकारी नायक के वध की सूचना प्रवेशकादि के द्वारा भी न दे, वैसे आवश्यक वस्तु देव–पितृ–कार्य आदि का निबन्धन अवश्य करें, उस आवश्यक वस्तु की उपेक्षा न करें।

टिप्पणी – किन्तु उसका एक अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि अधिकारी का वध नहीं करना चाहिये। किन्तु आवश्यक हो तो छोड़ना नहीं चाहिये।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्।। ३६।। पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात, तेषां पात्राणाम- वश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः।

अब अंकों का विभाजन, उसकी वस्तु की समय–सीमा तथा पात्र संख्या का उल्लेख करते हुए कहते हैं :–

एक अंक में वस्तु की योजना इस ढंग की हो कि वह केवल एक ही दिन की घटना (चरित) से सम्बद्ध हो, साथ ही एक ही प्रयोजन या एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो। उसमें नाटक का नायक आसन्न–समीपस्थ–हो तथा अधिक पात्रों की भीड़ का प्रवेश न कराया जाये, केवल तीन या चार ही पात्र वहाँ प्रवेश करें। अंक के अन्त में इन सारे पात्रों का निर्गम कर लिया जाये– वे सारे ही पात्र अंक के समाप्त होते समय मंच से निष्क्रान्त हो जावें।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत्।। ३७।।

एवमङ्का प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः।

पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम्।। ३८।।

इत्युक्तं नाटकलक्षणम्।

इस नाटक में भावी भावों के सूचकों–पताकास्थानकों का भी सन्निवेश होना चाहिये। इसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति का प्रयोग हो, तथा अन्त में बीज का परामर्श पाया जाये। (यहाँ प्रवेशादि का अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि उनके मंच प्रवेश तथा विष्कम्भादि होने चाहिये। नाटक के अंकों की संख्या पाँच अंकों या दस अंकों की होती है। इसमें पाँच अंकों का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अंकों का श्रेष्ठ।

(नाटकों को देखने पर पांच से लेकर दस तक अंकों वाले नाटक पाये जाते हैं। अधिकतर संस्कृत नाटक सप्ताक हैं :– यथा शाकुन्तल, उत्तररराम चरित, मुद्राराक्षस। वेणीसंहार में छः अंक है, तथा विक्रमोर्वशीय में पाँच। वैसे हनुमन्नाटक में चौदह तक अंक पाये जाते हैं। पर मोटे तौर पर नाटक में अंक संख्या ५ से १० तक पायी जाती है।

टिप्पणी – बीजवत का अर्थ भिन्न–भिन्न किया गया है। एक अर्थ के अनुसार अंक के अन्त में बिन्दु होना चाहिये जो अगले अंक की कथा का बीज हो। दूसरे अर्थ के अनुसार अन्त में बीज के समान ही बिन्दु रखना चाहिये।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्। अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्।। ३६।।

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम्।। ४०।।

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम्=अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

नाटक के बाद प्रकरण का लक्षण तथा विशेषताएं बताते हैं :–

प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित तथा लोकसंश्रय होता है। लोकसंश्रय का तात्पर्य यह है कि यह राजा आदि की कथा न होकर मध्यम वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है। इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या बनिये में से कोई एक हो सकता है। नायक धीरप्रशान्त कोटि का होता है, तथा विघ्नों से युक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम में तत्पर होता है। इसके अन्दर सन्धि प्रवेशक तथा रसादि का समावेश ठीक नाटक की ही तरह होता है।

इसका इतिवृत्त कवि–बुद्धि–विरचित तथा लोकसंश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है। मन्त्री आदि में से कोई एक इसका नायक होता है वह धीरप्रशान्त होता है, तथा उसके कार्य की सफलता विघ्नों से अन्तर्हित होती है। मन्त्री अमात्य ही होता है, सार्थवाह बनिया है। और सब स्पष्ट है।

(मृच्छकटिक प्रकरण की कथा कल्पित है तथा लोकसंश्रय भी। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है, धीरप्रशान्त है, इसका रस शृंगार है। मालतीमाधव की कथा भी कल्पित है। उसका नायक भी ब्राह्मण है, तथा धीरप्रशान्त है। दोनों में कार्य–सिद्धि विपदन्तर्हित है– एक में शकार की दुष्टता के कारण दूसरे में मालती के पिता के बैर तथा नियति की बिडम्बना के कारण, जिसमें मालती अघोरघण्ट कापालिक के फन्दे में फंस जाती है।

टिप्पणी – किन्तु कतिपय ऐसे भी प्रकरण हैं जिनकी कथावस्तु उपयुक्त कोटि की नही होती। साथ ही अश्वघोष का शारिपुत्र प्रकरण और विशाखदत्त का देवीचन्द्रगुप्त ऐतिहासिक कथानक का प्रकरण है।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा। क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।। ४१।।

कुलजाभ्यान्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः। आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कलम्।। ४२।।

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका। यदुक्तम्-

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता। लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि।।'

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति।

प्रकरण की नायिका दो तरह की हो सकती है–या तो वह कुलीन स्त्री हो या गणिका हो। किसी प्रकरण में अकेली कुलस्त्री ही नायिका हो सकती है, कहीं अकेली वेश्या ही। किन्हीं प्रकरणों में एक साथ दोनों–कुलस्त्री व गणिका–नायिका रूप मे पाई जा सकती हैं। कुलस्त्री आभ्यन्तर नायिका होती हैं, वेश्या बाहरी नायिका। इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुलस्त्री या गणिका या दोनों होंगी इनका व्यतिक्रम नहीं किया जा सकता। इस तरह प्रकरण तीन तरह का हो जाता है–कुलजानिष्ठ, गणिकानिष्ठ, उभयानिष्ठ जिस प्रकरण में धूर्त, विट, शकारादि का समावेश होता है वह प्रकरण संकीर्ण (मिश्रित) होता है।

वेश्या शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वृत्तिकार बताता है कि जिसका भरणपोषण–वेश ही जीवन है, वह वेश्या कहलाती है। गणिका वेश्या का ही भेद है। जैसा कि कहा गया है :–

'इन व्यक्तियों के द्वारा प्रार्थित, रूप–शील तथा गुण से युक्त वेश्या ही गणिका कहलाती है तथा वह सभाओं में स्थान प्राप्त करती है।' इस तरह प्रकरण में–कुलजा, वेश्या, दोनों–तीन तरह की नायिका होती हैं। जैसे तरंगदत्त प्रकरण में वेश्या नायिका है पुष्पदूषितक में कुलजा नायिका है, तथा मृच्छकटिक में दोनों हैं। धूर्त, जुआरी आदि पात्रों से सकुल होने पर प्रकरण संकीर्ण प्रकार का होता है, जैसे मृच्छकटिक।

(मालतीमाधव की नायिका मालती कुलजा है, मृच्छकटिक या भास के चारुदत्त की वसन्तसेना वेश्या है, चारुदत्त–वधू ब्राह्मण कुलजा।)

अथ नाटिका-

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

अथ केचित्-

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये।।'

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत्। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्, वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः, अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः-शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं संङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते।

यहां नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षण का निर्देश करने के बाद इनके संकीर्णभेद नाटिका (उपरूपक) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि दूसरे उपरूपक का निराकण करने के लिये यहाँ पर संकीर्ण (मिश्रित) नाटिका का लक्षण कर देते हैं।

कुछ लोग संकीण उपरूपकों में नाटिका, तथा प्रकरणिका दो भेदों को मानते हुए प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप में भरत के इस श्लोक को देते हैं :– **'अनयो....काव्ये।** इस श्लोक का अर्थ वे यों करते हैं कि 'नाटक व प्रकरण इन दोनों के योग से काव्य के दो भेद होते हैं–एक भेद प्रख्यात है–नाटिका; तथा दूसरा अप्रसिद्ध प्रकरणिका है। दोनों नाटक इस संज्ञा से अभिहित होते हैं।'

वृत्तिकार धनिक को यह मत स्वीकार नहीं है। वे तो प्रकरणिका को अलग भेद मानने से सहमत नहीं। उनका कहना है कि भरत के उद्धृत श्लोक में प्रकरणिका का नाम (उद्देश) व लक्षण दोनों नहीं पाये जाते। इसका कारण यह है कि प्रकरण के समान ही लक्षण प्रकरणिका में पाये जाते हैं तथा उनमें कोई भिन्नता नहीं। इस पंक्ति का अर्थ लिया गया है। यदि यह कहा जाये कि नाटिका और प्रकरणिका का समान लक्षण है तो कोई भेद नहीं होगा। साथ ही प्रकरणिका के वस्तु, रस तथा नायक प्रकरण से अभिन्न होते हैं। नाटिका का लक्षण मुनि भरत ने इसलिए किया है कि व उस पर कुछ जोर देना चाहते हैं। वैसे तो नाटिका का लक्षण शुद्ध रूपकों (नाटक व प्रकरण) के लक्षणों के संकर–मिश्रण से ही सिद्ध हो जाता है, पर फिर भी उसका अलग से लक्षणकरण इस बात का नियमन करता है कि संकीर्ण उपरूपक त्रोटकादि में विशेषतः कवि को नाटिका की ही योजना करनी चाहिये।

टिप्पणी – बहुविध रूपकों के परस्पर संकर से अनेक रूपक संकीर्ण कोटि के बनेंगे। उन सबमें महत्त्वपूर्ण नाटिका है क्योंकि यह अधिक महत्त्वपूर्ण दो रूपक–नाटक और प्रकरण के संकर से बनती है। अन्य संकर कोटिक रूपकों से सविशेष होने के कारण नाटिका को उनसे अलग कर देने के लिए नाटिका का लक्षण बताते हैं। यदि नायक धीरप्रशान्त प्रकरणोचित हो और कथावस्तु नाटकोचित प्रख्यात हो तो इस प्रकार के संकर को प्रकरिणका क्यों नहीं माना जा सकता इस पर धनिक मौन हैं। संकीणान्यनिवृत्तये का तात्पर्य यह है कि नाटक और प्रकरण के मिश्रण से केवल नाटिका नाम उपरूपक बनता है। अन्य कोई उपरूपक नहीं बन सकता। नाट्यशास्त्र में नाटिका का ही लक्षण दिया गया है, इससे यह अभिप्राय प्रमाणित होता है कि शुद्ध नाटक और प्रकरण के संकर से केवल नाटिका ही बन पाती है, अन्य कोई प्रकरिणकादि नहीं। किन्तु आगे चलकर नाटिका और प्रकरणिका को भिन्न भिन्न माना गया है। भरत ने नाटिका के कुछ विशेष लक्षण बताये हैं जिन्हें धनंजय ने ग्रहण नहीं किया है यथा नृत्त, गीत और पाठ्य का बाहुल्य, सम्भोग (राज्य प्राप्ति) का भी वृत्त, नायक द्वारा देवी आदि नायिकाओं के प्रति उपचार (सविनय व्यवहार), देवी का क्रोध, राजा का प्रसन्न करना आदि।

तमेव सङ्करं दर्शयति-

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।। ४३।। प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति, एवे च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात् यदि भेदस्तत्र (तदा)।

इसी संकर को बताते हैं कि नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है अर्थात् वह कविकल्पित होती है। उसका नायक नाटक से गृहीत होता है, वह राजा होता है। वह प्रख्यातवंश तथा धीरललित होता है। इसका अंगी रस शृंगार होता है।

कल्पित इतिवृत्त का होना प्रकरण की विशेषता है, प्रख्यात नृप का नायक होना नाटक की विशेषता। इस तरह नाटक, प्रकरण,

नाटिका के अतिरिक्त वस्तु आदि के भेद के अभाव से प्रकरिणका कोई अलग भेद नहीं जान पड़ता। वैसे अकों व पात्रों के भेद से ही अलग भेद माना जाये, तो फिर भेदगणना असीम हो जायेगी। रूपकों व उपरूपकों के अनेक व अनन्त भेद हो जायेंगे।

टिप्पणी - धीरललित-निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते।। ४४।।

एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव।

स्त्रीप्राय (स्त्री पात्रों की प्रधानता) तथा चार अंक ये नाटिका की विशेषता है। इनके कारण प्रकरणिका को भिन्न माना जाय तो एक दो, तीन अंकों या पात्रों के भेद से रूपकों के अनन्तरूप हो जायेंगे।

नाटिका की संज्ञा में स्त्रीत्व का प्रयोग इस बात का सूचक है कि इसमें स्त्रीपात्रों की प्रधानता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, जिसके नर्मादि चार अंग हैं तथा नाटिका में अवमर्श नामक सन्धि बहुत अल्प होती है, इसलिए इसमें चार अंकों का सन्निवेश उचित ही जान पड़ता है।

विशेषस्तु-

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।। ४५।। गम्भीरा मानिनि, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः।

नाटिका में कुछ विशेषता होती है :-

इसमें दो नायिका होती हैं। ज्येष्ठा नायिका देवी (महारानी) होती है, जो राजवंश में उत्पन्न तथा प्रगल्भ प्रकृति की होती है वह बड़ी गम्भीर तथा मानिनी होती है। नायक का कनिष्ठा नायिका के साथ संगम बड़े कष्ट से होता है, वह संगम इसी ज्येष्ठा देवी के अधीन होता है।

प्राप्या तु-

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा।। ४६।।

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः।

नायिका भी ज्येष्ठा की भांति ही होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है–(प्रगल्भ, गम्भीर या मानिनी नहीं) वह अत्यधिक मनोहर तथा सुन्दरी होती है।

(रत्नावली नाटिका का नायक राजा उदयन है, उसकी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता नृपवंशजा है। प्रकृति से वह गम्भीर प्रगल्भ तथा मानिनी है। उदयन व रत्नावली का समागम उसी के वश में है। **रत्नावली (सागरिका) भी सूर्यवंशोत्पन्ना है-वह मुग्धा तथा सुन्दरी है।**)

टिप्पणी -प्रगल्भा का लक्षण-यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके। विलीय- मानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना।। (द०रू० द्वि० प्र० १८)

मुग्धा-मुग्धा नववयःकामा रतौ वामाः मृदुः क्रुधि।। (द०रू६द्वि०प्र० १६)

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः।

अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम्।। ४७।।

नेता तत्र प्रवर्त्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः।

अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध के कारण वह नायिका राजा के श्रुतिपथ तथा दृष्टिपथ में अवतरित होती है। उसे देखकर तथा उसके बारे में सुनकर राजा उससे प्रेम करने लगता है। यह प्रेम अनुराग आरम्भ में नवीन होता है, धीरे–धीरे वह परिपक्व होता जाता है नायक यहाँ पर सदा महारानी के भय से शंकित रहता है–(फलतः उसकी अनुरागचेष्टा छिप–छिप कर चला करती है

इस मुग्धा नायिका को अन्तःपुर में संगीत आदि के समय नायक समीप पाकर उसके प्रति प्रेम करने लगता है। वह प्रेम देवी के प्रतिबन्ध के कारण छिपा रहता है, पर उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। नाटिका में नायक के इस प्रकार के अनुराग का निबन्धन होना चाहिये।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका।। ४८।।

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति।

इस नाटिका में कैशिकी के चार अंग–नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ प्रयुक्त होते हैं, तथा तदुपयुक्त चार अंकों की योजना की जाती है।

नाटिका वह है जहाँ हर अंक में उपयुक्त लक्षणवाले कैशिकी वृत्ति के चार अंकों नर्मादि का सन्निवेश किया जाये।

(नाटिका के उदाहरण स्वरूप–रत्नावली, प्रियदर्शिका, विल्हणकृत कर्णसुन्दरी, आदि काव्य लिये जा सकते हैं। इसी का एक विशेष प्रकार का भेद सट्टक माना जा सकता है, जहां केवल प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है। सट्टक का उदाहरण राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी है।)

अथ भाणः–

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा। यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः।। ४९।।

सम्बोधनोक्तिप्रयुक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः। सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंतवः।। ५०।।

भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम्। मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च।। ५१।।

धूर्ताश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः। एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति। अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ।

अब प्रसंगोपात्त भाण नामक रूपक का लक्षण उपनिबद्ध करते हैं :–

भाण वह रूपक है जहाँ कोई अत्यधिक चतुर तथा बुद्धिमान (पण्डित) विट (एककलापारंगत व्यक्ति) अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्तचरित्र का वर्णन करे। यहाँ पर सम्बोधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाशभाषित से किया जाता है। यहाँ पर कोई दूसरा पात्र नहीं होता। वही विट आकाशभाषित के द्वारा किसी से भाषण या कथोपकथन करता दिखाया जाता है। भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य के वर्णन कर शृंगार तथा वीर रस की सूचना दी जाती है इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है। इसमें पाँच सन्धियाँ नहीं बनाई जा सकती, अतः मुख तथा निर्वहण ये दो ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। इन दो सन्धियों के अंगों की योजना इसमें की जाती है, तथा दस लास्यांगों का सन्निवेश भी होता है।

जहाँ धूर्त, चोर, जुआरी आदि लोगों के चरित्र का स्वकृत अथवा परकृत वर्णन विट के द्वारा किया जाये, यह भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहलाता है। एक ही विट आकाशभाषित के द्वारा आशंका तथा उत्तर देकर उक्ति–प्रत्युक्ति का प्रयोग करता है। यहाँ रस की स्पष्टता नहीं पाई जाती अतः सौभाग्य एवं शौर्य के द्वारा क्रमशः शृंगार व वीर रस की सूचना दी जाती है।

(इस प्रकार भाण की ये विशेषतायें है। :–

१. इसकी वस्तु कल्पित व धूर्तचरितपरक होती है, जिसमें मुख व निर्वहण सन्धि होती है।
२. इसका नायक विट होता है, वही एक पात्र इस रूपक में पाया जाता है। वह कथनोपकथन का प्रयोग आकाशभाषित के द्वारा करता है।
३. इसमें भारती वृत्ति पाई जाती है।
४. वीर तथा शृंगार रस की सूचना दी जाती है।
५. इसमें केवल एक अंक होता है।

टिप्पणी – भाण में शौर्य और सौभाग्य (विलास का संस्तव (प्रशंसा, परिचय) यह भरत के अनुरूप नहीं है। वर्तमान भाणों में वीर और शृंगार रसो की तथा शौर्य और सौभाग्य की चर्चा का लेश भी दृश्यमान नहीं है।

लास्याङ्गानि-

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।

प्रच्छेदस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम्।। ५२।।

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।

लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम्।। ५३।।

शेषं स्पष्टमिति।

अथ प्रहसनम्-

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः।

टिप्पणी – भाण के सम्बन्ध में दस लास्यांगों का वर्णन किया गया है–ये दस लास्यांग–संगीत के भेद हैं। इनका वर्णन करना आवश्यक समझ कारिकाकार बताते हैं कि लास्य में इन दस अंगों की कल्पना की जाती है–गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोतमक तथा उक्त–प्रत्युक्त।

(१) गेयपदः– जहाँ पुरवस्थित नायक के सामने वीणा के द्वारा अभिनय से रहित शुष्कगान गाया जाय वह गेय पद है।

(तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः। शुष्कगानं गेयपदम्,)

(२) स्थितपाठय–स्थितपाठ्य वह है जहाँ नायिका मदन से उत्तप्त होकर प्राकृत में गीत पढ़ती है।

(स्थितपाठ्यं तदुच्यते। मदनोत्तापिता यत्र, पठति प्राकृतं स्थिता।।

(३) आसीन–जहाँ किसी भी वाद्य की स्थिति न हो, तथा शोक व चिन्ता से युक्त स्त्री गात्र को फैलाती हुई गीत गाव, वह आसीन लास्यांग है।

(निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताऽबला। सुप्रसारितगात्रं यदासीदासीनमेव तत्।।)

यहाँ अप्रसारित पाठ होने से, संकुचित शरीर वाली बैठकर गाना गाये।

(४) पुष्पगण्डिका–वह गेय जिसमें वाद्यों का प्रयोग होता है, विविध छन्द पाये जाते हैं, तथा स्त्री एवं पुरुष की विपरीत वेषभूषा पाई जाती है। या स्त्री पुरुष के वेश में नृत्त का बाहुल्य होता है। पुष्पगण्डिका है।

(आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च। स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका।।)

(५) प्रच्छेदक–पति को अन्यासक्त मानकर प्रेमविच्छेद के क्रोध व शोक में जब स्त्री वीणा के साथ गाती है, यह प्रच्छदक कहलाता है

(अन्यासंग पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः।।

इसकी एक अन्य परिभाषा भी है। अन्य में आसक्त होने पर भी नायिका उसकी छाया देखकर, उसमें आसक्त हाकर प्रसन्नतापूर्वक इसके सम्पर्क में हो।

(६) त्रिगूढ–जहां स्त्री–वेशधारी पुरुष नाचें व गायें, वह मधुर गान त्रिगूढक कहलाता है।

(स्त्रीवेशधारिणां पुसां नाट्यं लक्षणं त्रिगूढकम्।)

अन्य परिभाषा मुग्धा नायिका पुरुष की भूमिका में नाट्य करती है। इसमें कोमल कान्त पदावली, रंजक छन्द और अलंकारों से समन्वित वाणी के विलास का अभिनय रहता है।

(७) सैन्धव–जहां कोई नायक संकेतस्थल पर प्रिया के न आने पर, प्राकृत में इस प्रकार वचन कहता है कि उसका करण (गीतप्रेम) स्पष्ट रहता है, उसे सैन्धव कहते हैं।

(कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः। प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत् सैन्धवं विदुः।।)

अन्य परिभाषा–नायिका का सिन्धुप्रदेशीय भाषा में गान नायिका का मिलन न होने पर वीणा के साथ गीत गाना।

(८) द्विगूढ–मुख तथा प्रतिमुख से युक्त चतुरस्रपद गीत द्विगूढ है।

(चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुंखान्वितम्, द्विगूढम्।।)

अन्य परिभाषा–चारों ओर घूमकर नृत्य, कोमल भाव और रस।

(६) उत्तमोत्तमक–रस तथा भाव से युक्त गीत उत्तमोत्तमक कहलाता है। सर्वोत्तम उत्तरोत्तर रस का आश्रय, हाव, हेला से युक्त, विचित्र श्लोक रचना से मनोहर गायन।

(रसभावाढयमुत्तमोत्तमकं पुनः।।)

(१०) जहाँ मान तथा प्रसाद हो, नायक का तिरस्कार हो, रस से युक्त हो, हाव तथा हेला से युक्त हो, तथा चित्रबन्ध के कारण जो सुन्दर हो, जिसमें उक्ति–प्रत्युक्ति पाई जाती हो, तथा उपालम्भ हो एवं झूठी बातें हों, जिसमें शृंगारचेष्टा पाई जाती हो, ऐसा गीत उक्तप्रत्युक्त कहलाता है।)

(कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम्। हावहेलान्वितं चित्रलोकबन्धमनोहरम्।।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत्। विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते।।)

तद्वदिति-भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः।

तत्र शुद्धं तावत्-

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम्।। ५४।।

चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम्।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गहास्यविभावाः, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम्।

प्रहसन नामक रूपकभेद वस्तु, सन्धि, सन्ध्यंग, अंक तथा लास्यादि में भाण की ही तरह होता है। यह शुद्ध, विकृत तथा संकर इन भेदों से तीन तरह का होता है। इनमें शुद्ध प्रहसन में पाखण्डी, ब्राह्मण, आदि नौकर और नौकरानियां (चैट तथा चेटी) का जमघट होता है–वे इसके पात्र हैं। इनके वेश तथा इनकी भाषा के अनुरूप चेष्टा यहाँ पाई जाती है, तथा इनका वचन (कथनोपकथन) हास्ययुक्त होता है। (तथा यह हास्यपूर्ण वचन से युक्त होता है।)

पाखण्डी का अर्थ ढोंगी संन्यासी–बौद्ध, जैन आदि भिक्षुओं से है–ब्राह्मण बड़े भोले–भाले पात्र होते हैं, अथवा ये केवल अपनी जाति पर ही आश्रित रहते हैं। प्रहसन के हास्य रस के विभाव हैं। इनके उपयुक्त व्यापार का निबन्धन, जहाँ सेवक–सेविका का व्यवहार भी पाया जाता है शुद्ध कोटि का प्रहसन है।

विकृतं तु-

कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः।। ५५।। विकृतं सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्डकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात्। वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु।। ५६।।

इति स्पष्टम्।

जहाँ ऐसे नपुंसक, कंचुकी या तपस्वी पात्र निबद्ध हों, जो कामुक लोगों के वचन व वेष का प्रयोग करें, वह प्रहसन विकृत कहलाता है। धूर्त व्यक्तियों से पूर्ण प्रहसन संकीर्ण कहलाता है। इस प्रहसन में केवल हास्य रस का ही प्रयोग करना चाहिये। यह हास्य रस पूरी तरह से अपने छः भेदों में उपनिबद्ध होना चाहिये।

जहाँ पर नपुंसक, बुढ्ढा कंचुकी और तपस्वी (भुजंग) कामुक के समान उनकी भाषा व वेष का प्रयोग करें वहाँ वे अपने स्वरूप से गिर जाते हैं। इस प्रकार के विभाव के उपनिबन्धन के कारण वह विकृत कहलाता है। संकीर्ण में वीथ्यंगों का मिश्रण पाया जाता है। (इसमें हसित, अपहसित, उपहसित, अवहसित, अतिहसित, विहसित इन हास्य के छः रूपों का पूर्णतः सन्निवेश होता है।)

टिप्पणी – धनंजय ने प्रहसन के तीन भेद माने हैं। भरत ने दो–शुद्ध, संकीर्ण। भरत के अनुसार शुद्ध में कुत्सित कोटि के भगवत्, तापस, विप्र के परिहासात्मक भाषण मात्र, इनमें से एक ही नायक जिसका चरित हास्यास्पद होता है और संकीर्ण में भगवत्तापसादि पूर्वोक्त शुद्ध प्रहसन के साथ वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, बन्धकी आदि पात्र भी सम्पृक्त होते हैं। अनेक उपहसनीय पात्र होने से संकीर्ण। इस प्रकार भरत का शुद्ध धनंजय के विकृत के समकक्ष और धनंजय का शुद्ध भरत के संकीर्ण के आसपास पड़ता है।

धनंजय के विकृत का भी संकीर्ण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। तथा केवल वीथ्यंगों की संकीर्णता के आधार पर प्रहसन की संकीर्णता मानना चिन्त्य है क्योंकि इनका उपयोग सभी प्रकार के रूपकों में होता है। धनंजय के शुद्ध के उदाहरण के रूप में कन्दर्पकेतु सागर कौमुदी, विकृत के रूप में कलिकेलि और संकीर्ण के लिए सैरन्धिका लिए जा सकते है।

अथ डिमः-

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना। नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।। ५७।।

भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः। रसैरहास्यशृंगारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः।।५८।।

मायेन्द्रजालसंग्रामकोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि।। ६?५६।।

चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिमः, तत्रेतिहाससिद्धमितिवृत्तम्, वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः, रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट्, स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः, विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः, मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च-

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः।।'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।

डिम नामक रूपक की कथावस्तु प्रसिद्ध–रामायणादि से गृहीत होती है। इसमें कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों–सात्वती, आरभटी व भारती का समावेश होता है। इसमें नेता, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि मर्त्येतर जाति के होते हैं। अथवा भूत, प्रेत, पिशाच आदि पात्रों का भी समावेश होता है। इसके पात्र संख्या में १६ होते हैं तथा वे बड़े उद्धत होते हैं। इसमें शृंगार व हास्य के अतिरिक्त बाकी छः रसों का प्रदीपन पाया जाता है। इसका न्यायोचित अंगी रस रौद्र होता है तथा इसमें माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं तथा चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें केवल चार अंक होते हैं, तथा विमर्श सन्धि के अतिरिक्त बाकी चार सन्धियां पाई जाती हैं।

'डिम-संघाते' इस धातु से जिसका अर्थ घात–प्रतिघात करना है, डिम शब्द की व्युत्पत्ति होती है। अतः डिम का तात्पर्य वह रूपक है जहां नायक का संघात व्यापार हो। किन्तु डिम का अर्थ संघात–समूह भी है। नायकों का सामूहिक व्यापार होने से यह डिम कहलाता है। इसका इतिवृत्त इतिहास–प्रसिद्ध होता है, कैशिकी से इतर तीन वृत्तियां पाई जाती हैं तथा वीर–रौद्र–बीभत्स–अद्भुत–करुण–भयानक ये छः रस पाये जाते हैं। इनमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिये। विमर्श सन्धि इसमे नहीं होती मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण ये चार सन्धियां अंगों सहित पाई जाती हैं, इसमें माया, इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह होती है। यही बात महर्षि भरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की तुल्यता के बारे में बताई है :–

'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाइ में इसी लक्षण को बताया है। इसलिए त्रिपुरदाह डिमसंज्ञक है।

टिप्पणी – भरत डिम में उत्तम नायक मानते हैं। अभिनवगुप्त ने वीर और रौद्र दो को अंगी माना है।

अथ व्यायोगः-

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।। ६०।। हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।। ६१।। एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।

व्यायुज्यन्तेस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः, तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृंगार-रहिताः। वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते। अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः। शेष स्पष्टम्।

व्यायोग की कथावस्तु इतिहास–प्रसिद्ध होती है, तथा किसी प्रसिद्ध उद्धत व्यक्ति (पौराणिक व्यक्तित्व) पर आश्रित होती है। इसमें गर्भ तथा विमर्श ये दो संधियां नहीं होती। रसों की दीप्ति डिम की तरह ही होती है, अर्थात् हास्य व शृंगार से भिन्न रस इसमें हो सकते हैं। इसमें युद्ध वर्णित होता है, पर वह युद्ध स्त्री–प्राप्ति के कारण नहीं होता, जैसे जामदग्न्यजय नामक व्यायोग में परशुराम का युद्ध स्त्रीनिमित्तक नही है। व्यायोग की कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमें एक ही अंक होता है। इसके पात्रों में अंकों की संख्या पुरुष पात्रों की होती है।

'जिसमें अनेक पुरुष प्रयुक्त हों' (व्यायुज्यन्ते अस्मिन् बहवः पुरुषाः) या बहुत से पुरुष पात्र वैमनस्य के कारण पृथक् हों। इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्यायोग शब्द निष्पन्न हुआ है। इसमें डिम की तरह हास्य, शृंगारवर्जित छः रस होते हैं। रस वृत्ति से अभिन्न हैं अतः यद्यपि कारिका में व्यायोग की वृत्ति का उल्लेख नहीं, पर रस के अनुकूल कैशिकीरहित अन्य वृत्तियों की स्थिति स्पष्ट होती है। यहाँ युद्ध वर्णित होता है, जो अस्त्रीनिमित्तक होता है, जैसे परशुराम ने पिता के वध से कुपित होकर सहस्रार्जुन को मारा। अन्य सब स्पष्ट है।

अथ समवकारः-

कार्ये समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत्।। ६२।। ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः।। ६३।। द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने।। ६४।। अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः।।६५।। चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिकाघटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः।। ६६। नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।। ६७।। वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः; तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकाः, तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः, त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः, यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ, नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैकः शृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

समवकार में भी नाटक की तरह आमुख की योजना करनी चाहिये। इसकी कथा देवताओं व दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध वस्तु होती है। इसमें विमर्श–सन्धि नहीं होती। कैशिकी से भिन्न वृत्तियां पाई जाती हैं तथा इसके नेता–पात्र देवता व दानव होते हैं। ये नायक इतिहास–प्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में १२ होते हैं। इन सब का फल भिन्न–भिन्न होता है। ये सभी नायक वीररस से पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन में पाये जाते हैं (इस प्रकार इसका रस वीर होता है) इसमें तीन अंक होते हैं। जिसमें तीन बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम का शृंगार तथा तीन प्रकार के पात्रों में भगदड़ व विद्रव का संयोजन किया जाना चाहिये। इसके पहले अंक में मुख व प्रतिमुख ये दो सन्धियां होनी चाहिए तथा इसकी कथा २४ घड़ी (१२ नालिका) की होनी चाहिये। बाकी के दो अंकों में क्रमशः ४ तथा २ नालिका की कथा होनी चाहिए। नालिका से मतलब दो घड़ी से है। इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे वस्तु, स्वभाव, दैववशात् तथा शत्रुओं के द्वारा विहित होते हैं। इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव (पलायन) का वर्णन होता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम तीनों तरह का शृंगार पाया जाता है; तथा बिन्दु नामक अर्थप्रकृति, प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपक्षेपक) नहीं पाया जाता है। प्रहसन की तरह इसमें यथावश्यक वीथ्यंगों की योजना की जानी चाहिये।

'इसमें काव्य के प्रयोजन छिटकाये जाते हैं (**समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः**) इस व्युत्पत्ति से समवकार निष्पन्न होता है। इसमें नाटक की तरह ही आमुख होता है। कारिका का 'अपि' यह बताता है कि सारे रूपकों में आमुख अवश्य होना चाहिये। विमर्श–वर्जित चार सन्धियां होती हैं, तथा देव, दैत्य आदि १२ नायक–पात्र होते हैं। इन पात्रों के फल भिन्न–भिन्न होते हैं। जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि नेताओं को क्रमशः लक्ष्मी आदि की फल प्राप्ति होती है। इसमें वीर अंगी रस होता है, बाकी रस अंग होते हैं, तथा तीन अंक होते हैं। इनमें से प्रथम अंक का इतिवृत्त १२ नालिका का होता है। बाकी दो अंक क्रमशः चार नालिका व दो नालिका के इतिवृत्त से युक्त होते हैं। नालिका का तात्पर्य दो घड़ी है। हर अंक में तीन कपट में से एक एक कपट तथा नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि से जनित विद्रवों में से एक–एक विद्रव वर्णित होना चाहिये। वीथ्यंगों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिये। नाटक के बारे में बिन्दु व प्रवेशक का वर्णन किया गया है, पर यहाँ उनकी योजना नहीं की जानी चाहिये। यह समवकार का लक्षण है।

अथ वीथी-

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत्।। ६८।। रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः।। ६९।। एवं वीथी विधातव्या ह्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथीवद्वीथी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या। विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम्।

वीथी कैशिकी वृत्ति में निबद्ध की जानी चाहिये। उसमें सन्धि उसके अंग तथा अंक भाण की तरह होते हैं–अर्थात मुख निर्वहण ये दो ही सन्धियां होती हैं तथा केवल एक अंक। इसका सूच्य रस शृंगार होता है, वैसे यह दूसरे रसों को भी स्पर्श कर सकता है। यह प्रस्तावना के उद्घात्यक आदि उपर्युक्त अंगों से युक्त होती है। इस तरह वीथी में दो–एक पात्रों की ही योजना करनी चाहिए।

यह रूपकभेद मार्ग की तरह है, अतः वीथी कहलाता है। इसमें सन्ध्यगों का सन्निवेश भाण की तरह ही होना चाहिये। भेद यह है कि इसमें शृंगार रस होता है, उसका पूर्ण परिपाक न होने के कारण वह सूच्य होता है, और रसों का भी थोडा बहुत स्पर्श करना चाहिये। कैशिकी वृत्ति शृंगाररस के औचित्य के कारण ही विधेय है।

टिप्पणी – धनंजय के अनुसार शृंगार रस वीथी में सूच्य होता है और अन्य रसों का स्पर्श मात्र होता है जबकि भरत के अनुसार वीथी सर्वरसलक्षणाढ्य होती है। भरत के अनुसार वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के नायक हो सकते हैं। धनञ्जय ने वीथी में कैशिकी वृत्ति बताई है, किन्तु साथ ही वीथी और प्रहसन को भारती वृत्ति का भेद बताया है तो यहा स्ववचन विरोध भी होता है। वकुलवीथी और इन्दुलेखा इत्यादि वीथी रूपक हैं।

अथाङ्कः-

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्।। ७०।। रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।

भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवतैः।। ७१।। वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम्। शेषं प्रतीतमिति।

अंक अथवा उत्सृष्टिकांक नामक रूपकभेद में इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है, पर कवि को उसमें अपनी बुद्धि से हेर–फेर कर लेना चाहिये। इसका स्थायी रस करुण होता है, तथा इसके नेता–पात्र प्राकृत (सामान्य) मनुष्य होते हैं। इसके सन्धि, वृत्ति व अंक भाण की तरह होते हैं–अर्थात् इसमें केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियां होती हैं; भारती वृत्ति पाई जाती है, तथा एक अंक होता है। करुण रस होने के कारण इसमें स्त्रियों का रुदन होना चाहिये। इसके पात्रों में वाग्युद्ध की एवं जय तथा पराजय की योजना की जानी चाहिये।

कारिकाकार ने अंक को उत्सृष्टिकांक इसलिए कहा है कि नाटक के अन्तर्गत वर्णित अंक से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाय। यही कारिका स्पष्ट है।

टिप्पणी - उल्लंघ्य सृष्टिर्यस्य स उत्सृष्टिकः, स चासौअङ्कश्च इति उत्सृष्टिकाङ्क। अथवा उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टियत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः। अभिनवभारती तथा नाट्यदर्पण के अनुसार, 'उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः। ताभिरङ्कित्वाद उत्सृष्टिकाङ्कः। भरत की मान्यता के अनुसार इसमें युद्ध का समारम्भ होना ही नहीं चाहिये, इसकी कथा युद्धोत्तर होती है जैसे महाभारत के स्त्रीपर्व की कथा।

अथेहामृगः-

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत्।। ७२।। नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ।

ख्यातौ धीरोद्धीतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत्।। ७३।। दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः।

शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत्।। ७४।। संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत्।

वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः।। ७५।।

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः। ख्याताख्यातं वस्तु अन्त्यः=प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः। स्पष्टमन्यत्।

ईहामृग की कथा मिश्रित–प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है। इसमें चार अंक होते हैं तथा तीन सन्धिया–अर्थात गर्भ व अवमर्श नहीं होते। नर तथा देवता के अनियम से इसमें नायक व प्रतिनायक की योजना होती है। ये दोनों इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं। प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कार्य करने वाला वर्णित होना चाहिये। वह किसी दिव्य स्त्री को – जो उसे नहीं चाहती, भगा कर ले जाना चाहता है–इस तरह कवि को चाहिये कि कुछ–कुछ इसका शृंगाराभास भी प्रदर्शित किया जाय।

इन नायक व प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक ले जाकर किसी बहाने से युद्ध को हटा दे, उसका निवारण कर दे। उसके वध के समीप होने पर भी उसका वध भी न कराये।

ईहामृग का यह नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें नायक हिरन की तरह–अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात व उत्पाद्य का मिश्रण होती है। कारिका का 'अन्त्य' शब्द प्रतिनायक का सूचक है, जो मिथ्या ज्ञान के कारण अनुचितकारी होना चाहिये। बाकी स्पष्ट है।

टिप्पणी – धनंजय और भरत की परिभाषाएं बहुत भिन्न हैं। भरत के अनुसार ईहामृग की कथा सुविहित एक अंक, दो संन्धियां, नायक केवल देवता होता है।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग- मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान्।

कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः।। ७६।।

स्पष्टम्।

।। इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः।।

कवि को चाहिये कि इस तरह से दशरूपक के लक्षणों से चिह्नित मार्ग को अच्छी तरह समझ कर, कथावस्तु का निरीक्षण कर तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अनुशीलन कर, स्वाभाविक (अयत्नज) अलंकारों से युक्त, तथा प्रकट एवं सरल छन्द वाले, उदार एवं मधुर–अर्थ की क्षमता वाले तथा रमणीय–वाक्यों के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करे।

टिप्पणी – अयत्नवत् के दो अर्थ हो सकते हैं–(१) यह कुर्यात् का क्रिया विशेषण –बिना आयास के प्रबन्ध की रचना करे (२) यह अलंकृति का विशेषण – स्वाभाविक अलंकारों से युक्त।

तृतीयः प्रकाशः

—— o ——

इकाई-III दण्डीकृत काव्यादर्श :

प्रस्तावना

अलङ्कारशास्त्र

काव्यशास्त्र समाज का चित्र माना जाता है, कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा समाज का सर्वांगीण चित्र अपने काव्यों में उपस्थित करत हैं, उसके नियमों का, स्वरूप का, दोष–गुण का और उसमें अपेक्षित रीति आदि का विवेचन भी काव्य के करने तथा यथार्थ रूप म समझने के लिए आवश्यक हो जाता है।'इसी तरह की विवेचना के लिये प्रस्तुत ग्रन्थों की गणना साहित्य शास्त्र क विभाग में क जाती है।

साहित्यशास्त्र का ही परिमार्जित रूप या, संक्षिप्त रूप अलंकारशास्त्र माना जाता है। आलोचक विद्वान् अपनी प्रतिभा के आधार पर काव्य के दोषों, गुणों तथा अन्यान्य उपयोगी अंगों की विवेचना करके काव्य को समझने की सुविधा उत्पन्न कर देते हैं।

इस तरह अलंकारशास्त्र काव्यांग होता है।, अत एव साहित्यदर्पणकार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है:–

'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वम्'

काव्य का फल भी उन्होंने इस प्रकार कहा है :–

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।

इसका प्रतिपदविवेचन साहित्यदर्पण में देखा जा सकता है।

अलङ्कार-शब्दार्थ

अलंकार शब्द का अर्थ भूषण माना जाता है। जिससे अंग की तथा उसके द्वारा अंगी की शोभावृद्धि होती है उसे अलंकार कहत है। अलंकार का लौकिक प्रयोग–विषय जितना प्रसिद्ध है, शास्त्रीय प्रयोग–विषय भी उतना ही प्रसिद्ध है। जिस प्रकार से शरीर–शोभा–वर्धन द्वारा शरीरी–की शोभा बढ़ाने वाले हारादि अलंकार कहे जाते हैं उसी तरह शब्दार्थ स्वरूप शरीर शोभा–वर्धन द्वारा रसरूप शरीरी की शोभा बढ़ाने वाले उपमादि अलंकार कहे जाते हैं। आचार्यों ने स्वीकार किया है:–

'हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।' 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।।'

अलंकारों का आविर्भाव

अलंकारों का आविर्भाव कब हुआ ? इस प्रसंग में विचार करने से प्रतीत होता है कि मानव समाज की आदि भाषा में भी इसका प्रयोग अवश्य होता रहा होगा। मानव–समाज की आदिम भाषा कौन थी, इसका निर्णय अवश्य कठिन है, परन्तु उसमें अलंकार का प्रयोग अवश्य होता रहा होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि संसार की कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जिसमे आलंकारिक प्रयोग नहीं होत हों जहाँ तक उपलभ्यमान भाषाओं का सम्बन्ध है, लोगों की मान्यता यही है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद में अलकारों क प्रयोग प्रचुर रूप में पाये जाते हैं :–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश।। (ऋग्० ४।१।४२)

सिंहा इवमा न्नदन्ति प्रचेतसः, पिशा इव सुधिशः विश्ववेदसः।। (ऋग्० १।६।४।८)

तद्विष्णोः परमं पदं-दिवीवचक्षुराततं, सदा पश्यन्ति सूरयः।। (ऋग्० १।२२।२०)

इन मन्त्रोंशों में रूपक एवं उपमा के प्रयोग स्पष्ट हैं।

उसके बाद के ग्रन्थो में तो अलंकारों के प्रयोग होते ही थे। इस प्रसंग में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

अलङ्कारशास्त्र

अलंकार शास्त्र – काव्य की समालोचना की विद्या के लिए सबसे पहले अलंकार शास्त्र नाम प्रचलित हुआ। यह नाम अति प्राचीन काल से बहुत लोकप्रिय रहा। प्राचीन आचार्यों–भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थों के नाम अलंकार शब्द पर रखे। भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है, उद्भट के ग्रन्थ को अलङ्कारसारसंग्रह कहा जाता है, वामन का ग्रन्थ काव्यालङ्कार सूत्र है तथा रुद्रट के भी ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है। समालोचना के प्रारम्भिक युग में काव्य का प्रमुख सौन्दर्यआधायक तत्त्व अलंकार को माना जाता रहा। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नामों के साथ अलंकार शब्द को संयुक्त रखा। समालोचना की विद्या के लिए पहिले काव्यालंकार पद का प्रयोग किया जाता रहा होगा, परन्तु बाद में अलंकारशास्त्र पद का प्रयोग होने लगा। यद्यपि काव्य के रस, गुण, दोष, अलंकारादि अनेक तत्त्व समालोचना के विषय रहे तथापि इन सबमें अलंकार को ही प्रधानता दिये जाने के कारण इस विद्या का नाम अलंकारशास्त्र ही प्रसिद्ध हुआ। प्रतापरुद्र यशोभूषण की रत्नापण टीका में मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी ने इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है, **"यद्यपि रसालङ्कारद्यनेकविषयामिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।'** (पृ० ३) छवि न्याय से इस शास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र है। किन्तु इसके अन्य नाम सौन्दर्य शास्त्र, साहित्य शास्त्र, क्रियाकल्प और काव्यशास्त्र भी हैं। काव्यों की समालोचना का सबसे प्रसिद्ध नाम काव्यशास्त्र है। 'शासनात् शास्त्रम्' या शंसनात् शास्त्रम् से इसका शास्त्र होना उचित है।

अलंकार का क्रम-विकास

अलंकारों के क्रम–विकास पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसके प्रयोगात्मक स्वरूप में विकास होने में जितना अधिक समय लगा होगा, लक्षणोदाहरणनिरूपण रूप विवेचनात्मक क्रम विकास में उतना समय नहीं लगा होगा। जितना समय वस्तु के बनने में लगता है उतना समय उसके नामकरण मे भी लगे, यह उचित नहीं है।

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में केवल चार ही अलंकारों का उल्लेख हो पाया है, इसके बाद अग्निपुराण में १६ अलंकारों के नाम आये हैं। अग्निपुराण के समय के सम्बन्ध में बड़ा सन्देह है, कुछ लोग पुराण–शब्द–प्रथा के आधार पर उसे प्राचीनतम और कुछ लोग अन्तरंग परीक्षा के आधार पर अनतिप्राचीन मानते हैं, अतः उसमें लिखे गये अलंकारों का क्या क्रम होगा, यह भी संदिग्ध है।

वास्तव में अग्निपुराण तक का अलंकार विभाग प्रामाणिक रूप में नहीं है। अग्निपुराण के बाद अलंकारग्रन्थ भामह का अलंकारसूत्र माना जाता है। उसमें निम्नलिखित अलंकार निरूपित हुए हैं :–

१. अतिशयोक्ति, २. अनन्वय, ३. अनुप्रास, ४. अपह्नुति, ५. अप्रस्तुतप्रशंसा, ६. अर्थान्तरन्यास, ७. आक्षेप, ८. आशीः, ९. उत्प्रेक्षा, १०. उत्प्रेक्षावयव, ११. उदात्त, १२. उपमा, १३. उपमारूपक, १४. उपमेयोपमा, १५. ऊर्जस्वी, १६. तुल्ययोगिता, १७. दीपक, १८. निदर्शना, १९. पर्यायोक्त, २०. परिवृत्ति, २१. प्रेयः, २२. भाविक, २३. यथासंख्य, २४. यमक, २५. रसवत्, २६. रूपक, २७. विभावना, २८. विरोध, २९. विशेषोक्ति, ३०. व्यतिरेक, ३१. व्याजस्तुति, ३२. श्लेष, ३३. सन्देह, ३४. समासोक्ति, ३५. समाहित, ३६. संसृष्टि, ३७. सहोक्ति, ३८. स्वभावोक्ति।

इस प्रकार भामह ने ३८ अलंकारों का निरूपण किया है।

दण्डी ने इसमें कुछ घटा–बढ़ाकर ३७ अलंकार स्वीकार किये हैं :–

स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपिकावृती। आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना। समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः। प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।।

उदात्तापङ्गुतिश्लेषविशेषास्तुल्ययोगिता। विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने।।

सहोक्तिः परिवृत्त्याशीः, सङ्कीर्णमथ भाविकम्। इति वाचामलङ्कारादर्शिताः पूर्वसूरिभिः।।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।। (काव्यादर्श २।३–७)

वामन ने केवल ३१ अलंकार ही निरूपित किये हैं, जिनके नाम ये हैं :–

१. अतिशयोक्ति, २. अनन्वय, ३. अनुप्रास, ४. अपह्नुति, ५. अप्रस्तुतप्रशंसा, ६. अर्थान्तरन्यास, ७. आक्षेप, ८. उत्प्रेक्षा, ९ उपमा, १०. उपमेयोपमा, ११. तुल्ययोगिता, १२, दीपक, १३, निदर्शना, १४. परिवृत्ति, १५. प्रतिवस्तूपमा, १६. यथासंख्य, १७. यमक, १८. रूपक, १९. वक्रोक्ति, २०. विभावना, २१. विरोध, २२. विशेषोक्ति, २३. व्यतिरेक, २४. व्याजस्तुति, २५. व्याजोक्ति, २६. श्लेष, २७. सन्देह, २८. समासोक्ति, २९. समाहित, ३०. संसृष्टि, ३१. सहोक्ति।

इसी प्रकार रुद्रट ने २६ अलंकार तथा उद्भट ने ४१ अलंकार स्वीकार किये हैं।

इस प्रसंग में उन सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों की सूची प्रस्तुत करना अनावश्यक है, इससे इतना ही पता लगता है कि क्रमशः अलंकारों के सन्दर्भ में उपयुक्त विचार करके आचार्यों ने अलंकारों की संख्या घटाई या बढ़ाई।

सर्वाधिक प्रभावशाली, प्रामाणिक तथा वाग्देवतावतार प्रकाशकार ने अपने काव्यप्रकाश में ६६ अलंकार स्वीकार किये है -

उपमानन्वयस्तावदुमेयोपमा ततः। उत्प्रेक्षा च ससंदेहो रूपकापह्नुती तथा।।

अप्रस्तुतप्रशंसातिशयोक्ती परिकीर्त्तिते। श्लेषस्तथा समासोक्तिः प्रोक्ता चैव निदर्शना।।

प्रतिवस्तूपमा तद्वद् दृष्टान्तो दीपकं तथा। तुल्ययोगितया चैव व्यतिरेकः प्रकीर्त्तितः।।

आक्षेपो विभावना च विशेषोक्तिस्तथैव च। यथासंख्यमर्थान्तरन्यासः स्यातां विरोधवत्।।

स्वभावोक्तिस्तथाव्याजस्तुतिः प्रोक्ता सहोक्तिवत्। विनोक्तिपरिवृत्ती च भाविकं काव्यलिङ्वत्।।

पर्यायोक्तमुदात्तं च समुच्चय उदीरितः। पर्यायश्चानुमानं च प्रोक्तः परिकरस्तथा।।

व्याजोक्तिमुदात्तं च विज्ञेये हेतुमालया। अन्योऽन्यमुत्तरं सूक्ष्मसारौ तद्वदसङ्गति।।

समाधिस्तु समेन स्याद्विषमस्त्वधिकेन च। प्रत्यनीकं मीलितं च स्यातामेकावली स्मृती।।

भ्रान्तिमांस्तु प्रतीपेन सामान्यं च विशेषवत्। तद्गुणातद्गुणौ चैव व्याख्यानः परिकीर्त्तितः।।

संसृष्टिसंकरौ चैवमेकषष्टिरुदीरिताः।

इसी प्रदीपोक्ति के अनुसार ६१ अर्थालंकार और ८ शब्दालंकार (योग ६६) हुए।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिकोणों से विचार करने पर यह भी ज्ञात होता है कि लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी तक अलंकार के विषय में एक प्रकार की निश्चिन्तता आ गई थीं। इस विषय में इयत्तावधारण करना तो संभव नहीं है, क्योंकि वाग्भङ्गी के भेद से नये–नये अलंकार उत्पन्न होते रहते हैं और वाग्भङ्गी का नियन्त्रण करना संभव भी नहीं है, वक्ता की बुद्धि के भेद से वाग्भङ्गी सदा बदलती रह सकती है, इसलिये कहा है :–

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति।। (काव्यादर्श २–१)

'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः, प्रकाश्यन्ते च।' (ध्वन्या० १)

आगे चलकर अलंकारों की संख्या बहुत अधिक वेग से बढ़ने लगी। १२वीं शताब्दी ईस्वी के बाद और १८वीं ईस्वी शताब्दी के बीच में बने हुए ग्रन्थों में अपनाये गये अलंकारों का विवरण इस प्रकार है।

जयदेव ने चन्द्रालोक में ८ शब्दालंकार और ८१ अर्थालंकार कुल मिलाकर ८६ अलंकार निरूपित किये हैं। मम्मट द्वारा स्वीकृत अलंकारों में संकर, संसृष्टि, सूक्ष्म नामक तीन अलंकारों को छोड़कर शेष ६६ अलंकार जयदेव ने मान लिये है। और शेष स्वीकृत अलंकार खुद उद्भावित किये हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने १२ शब्दालंकार, ७० अर्थालंकार और ७ रसवदादि अलंकार कुल ८६ अलंकारों का निरूपण किया है। उनके द्वारा निरूपित अलंकारों में ८४ अलंकार ऐसे हैं, जिनका निरूपण उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किया जा चुका था, ५ अलंकार की उद्भावना उन्होंने स्वयं की है।

द्वितीय वाग्भट ने अपने काव्यानुशासन में अन्य और अपर नामक दो अलंकार उद्भावित किये हैं।

अप्पय्यदीक्षित ने सब मिलाकर ११८ अलंकार माने हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का रसगङ्धर अपूर्ण है, अतः उनके द्वारा स्वीकृत अलंकारों की संख्या नहीं निर्णीत की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में एक बात और जाननी चाहिये कि सभी आचार्यों ने सूचित अलंकारों की सूची को वर्गों में विभक्त कर दिया है, जैसे शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। एक दूसरे प्रकार का वर्गीकरण भी पाया जाता है, जैसे सादृश्यमूलक, कार्यकारणभावमूलक आदि।

ोनतम आलोचको ने निम्नलिखत रूप से अलंकारों का वर्गीकरण किया है।

उपमामूलक–उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरणादि।

आरोपमूलक–रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान् आदि।

३. अध्यवसायमूलक–उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि।

४. गम्यमान सादृश्यमूलक–तुल्ययोगिता, दीपकादि।

५. भेदमूलक–व्यतिरेक, विनोक्ति आदि।

६. विशेषणादिवैचित्र्यमूलक–समासोक्ति, परिकरादि।

७. विरोधमूलक–विरोध, विभावना, व्याघात आदि।

८. तर्कमूलक–अनुमान, काव्यलिङ्गादि।

९. काव्यन्यायमूलक–यथासंख्य, पर्याय आदि।

१०. लोकवृत्तोपन्यासमूलक–मीलित, सामान्य, तद्गुणादि।

११. गूढार्थाभिव्यक्तिमूलक–सूक्ष्म, व्याजोक्ति।

१२. रसादिसम्बन्धमूलक–रसवत्, प्रेयः आदि।

अन्याय अलङ्कारशास्त्री

(१) **भामह** – भामह ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें ३८ अलंकारों का निरूपण किया गया है। उद्भट, आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे प्रतिष्ठित आचार्यों ने भामह का नाम तथा मत गौरव के साथ लिया है। भामह का न्यायदोषप्रकरण अत्यन्त विवेचनापूर्ण है।

(२) **धर्मकीर्ति** – धर्मकीर्तिने भी अलंकारशास्त्र पर कुछ लिखा था, उनका लिखा हुआ ग्रन्थ यद्यपि नहीं मिलता है, तथापि–'**अलङ्कारो नाम धर्मकीर्तिकृतो ग्रन्थविशेषः**' इस प्रकार के शिवरामलिखित अवतरण से पता चलता है कि धर्मकीर्ति ने अलंकार शास्त्र पर भी कुछ लिखा था। उनका बौद्धशास्त्रीय प्रबन्ध तो प्रथित ही है।

(३) **वामन** – वामन ने अपने काव्यालंङ्कारसूत्र में ३३ अलंकार निरूपति किये हैं। वामन के काव्यालंकारसूत्र में रीतिसम्प्रदाय का समर्थन किया गया है, जिसकी आलोचना मम्मट ने की है। समय ८०० ई० है।

(४) **उद्भट** – उद्भट का 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें ४१ अलंकारों का निरूपण किया गया है। उद्भट काश्मीर नरेश जयपाल के सभास्तार थे, जिसके सम्बन्ध में कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है–

'विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः। भट्टोऽभूदभटस्तस्य भूमिभर्त्तः सभापतिः।।'

जयपाल का समय ७७९ से ८१३ ई० माना जाता है, उद्भट का भी वही समय है। उद्भट का समय ७५० ई० से पूर्व नहीं, अतः ७५०–८५० ई० सिद्ध होता है।

(५) **लोल्लट** – लोल्लट ने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, जिसका अब पता नहीं लगता है, केवल अभिनवगुप्त द्वारा दिये गये खण्डन के प्रसंग में लोल्लट के मत का प्रसंग आया है। राजशेखर ने भी लोल्लट के मत की आलोचना की है, जिसमें राजशेखर ने लोल्लट को 'अपराजित' का पुत्र कहा है। अपराजित का समय राजशेखर के समय से मिलता जुलता है।

(६) **शंकुक** – शंकुक के रससम्बन्धी विचार की आलोचना अभिनवगुप्त ने की है, शंकुक काश्मीरी राजा अजितापीड़ के समय में वर्तमान थे, अजितापीड़का काल ८१४–८५१ ई० माना जाता है। शंकुक ने भावनाभ्युदय नामक काव्य भी लिखा है।

(७) **घण्टक** – घण्टक नामक आचार्य के मत की आलोचना अभिनवगुप्त के लोचन में आई है, घण्टक का नाम नाटकसम्बन्धी ग्रन्थकर्त्ता के रूप में लिया है।

(८) **आनन्दवर्धन** – आनन्दवर्धन का नाम ध्वन्यालोककार के रूप में प्रसिद्ध है। आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा नामक राजा के समय में थे, जिनका समय ८५५ से ८८४ ई० माना जाता है।

(६) **भट्टनायक** – भट्टनायक का मत भी अभिनवगुप्त द्वारा आलोचित हुआ है। भट्टनायक भी अवन्तिवर्मा के दरबारी कवि माने जाते हैं, अतः उनका समय भी ६०० से १००० के मध्य माना जा सकता है।

(१०) **मुकुल** – मुकुल का 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, उनका समय भी ६०० – ६२५ ई० है।

(११) **राजशेखर** – राजशेखर का साहित्यिक आलोचना सम्बन्धी 'काव्यमीकांसा' नामक ग्रन्थ अतिप्रसिद्ध है। राजशेखर आलोचक होने के साथ ही उत्तम कवि भी थे। राजशेखर का रचनाकाल ८८४ से ६२५ ई० तक प्रमाणित है।

(१२) **रुद्रट** – रुद्रट काश्मीरी थे, उनके लिखे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, काव्यालंकार तथा शृंगारतिलक। रुद्रट का समय नवम शताब्दी का उत्तर भाग माना जाता है। रुद्रट का समय ८२५ – ८५० ई० के मध्य मानना चाहिये। रुद्रट का काव्यालंकार आर्याछन्द मे लिखित तथा सोलह अध्यायों में विभक्त है। अलंकारों को रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष और श्लेष नामक नामविभागों मे विभक्त किया है।

(१३) **नमिसाधु** – नमिसाधु नामक श्वेताम्बर जैन ने रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका लिखी है। वह टीका ११२५ – ११५६ के बीच लिखी गई है।

(१४) **धनंजय** – धनंजय का लिखा हुआ दशरूपक नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। धनंजय प्रतिहारेन्दुराज द्वितीय के समय मे थे, अतः उनका काल ६७४ से ६९५ तक माना जाता है।

(१५) **अभिनवगुप्त** – अभिनवगुप्त एक प्रतिष्ठित आचार्य थे। उनके लिखे हुए 'अभिनव भारती' तथा लोचन नामक ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के लिये प्रमाणभूत माने जाते हैं। अभिनवगुप्तचार्य का जन्मकाल लगभग ९५६ ई० निश्चित होता है।

(१६) **उत्पलदेव** – उत्पलदेव अभिनवगुप्त के गुरुओं में से थे। उनका लिखा हुआ प्रत्यभिज्ञा दर्शनविषयक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उनका समय दशम शतकका आदि भाग है।

(१७) **भट्टतौत** – भट्टतीतविरचित काव्यकौतुक नाम ग्रंथ अब अप्राप्य हो गया है, परन्तु उसका उद्धरण माणिक्यचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में किया हे, जिससे पता चलता है कि वह ग्रन्थ साहित्यशास्त्र का था। उनका समय भी दशम शतक का प्रारम्भ माना जा सकता है, क्योंकि उनके मत का उल्लेख लोचन में भी आता है और अभिनवगुप्त के गुरु थे।

(१८) **भट्टेन्दुराज** – भट्टेन्दुराज का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ अब नही पाया जाता है, परन्तु उनका उल्लेख क्षेमेन्द्र रचित औचित्य विचार चर्चा में आया है। भट्टेन्दुराज का समय नवम शतक हो सकता है।

(१९) **क्षीरस्वामी** – क्षीरस्वामी भट्टेन्दुराज के शिष्य थे, उनके द्वारा विरचित 'अभिनवराघव नामक ग्रन्थ का अवतरण रामचन्द्र ने दिया है। उसका समय नवम शतक हो सकता है।

(२०) **भोज** – धाराधीश महाराज भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश नामक ग्रन्थयुगल साहित्यशास्त्र में विख्यात है। भोज का समय एकादश शतक का आदि भाग निश्चित है।

(२१) **अजितसेन** – अजितसेन ने अलंकार चूड़ामणि नामक ग्रन्थ अलंकार पर तथा शृंगार मञ्जरी नामक ग्रंथ रसशास्त्र पर लिखा था। उनके ग्रंथ पद्यबद्ध थे। वह दशम शतक में विद्यमान थे।

(२२) **क्षेमेन्द्र** – क्षेमेन्द्रविरचित औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थ औचित्यसम्प्रदाय–प्रवर्त्तकतया स्वनामख्यात है। क्षेमेन्द्र का समय लगभग ९९० से १०६६ ई० है।

(२३) **कुन्तक** – कुन्तकविरचित वक्रोक्तिजीवित 'वक्रोक्तिसम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ माना जाता रहा है। कुन्तक ने ध्वनि का वकोक्तिस्वरूप माना है। कुन्तक का समय दशम शतक और ११ शतक का मध्य भाग है।

(२४) **महिमभट्ट** – महिमभट्ट ने अपने समय के प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक का खण्डन अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में बड़े जोरदार शब्दों में किया है, उनका भी एक अपना खास व्यक्तित्व है। काव्यालोचकों में महिमभट्ट की महिमा विख्यात है। उनका समय ११ शतक का आदि भाग है।

(२५) **मम्मट** – मम्मट का नाम वाग्देवतावतार के रूप में प्रसिद्ध है। इनका काव्यप्रकाश स्वनामख्यात है। उनका समय एकादश शतक निश्चित है।

(२६) **माणिक्यचन्द्र** – माणिक्यचन्द्र काव्यप्रकाश के सर्वप्रथम टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध है। उनकी संकेत नामक टीका ११६० ई० में लिखी गई थी, अतः उनका समय वही माना जाता है।

काव्यप्रकाश की टीकाओं में संकेत के अतिरिक्त सरस्वतीतीर्थ कृत टीका (समय १२४२ ई०), जयन्तभट्टकृत जयन्ती टीका (समय १२६४ ई०), श्रीवत्सलाञ्छनकृत टीका (समय १६वीं शताब्दी), सोमेश्वरकृत टीका (समय १४ शतक), साहित्यदर्पणकर्ता विश्वनाथकृत टीका (समय १४ शतक), चण्डीदासकृत टीका, चक्रवर्तीकृत टीका (समय १५ शतक), महेश्वर न्यायालंकारकृत टीका (समय १६ शतक), आनन्दराजानककृत शिवपक्षीय टीका (समय १७६५ ई०) कमलाकरकृत टीका (समय १६१२ ई०), नृसिंहठाकुरकृत टीका (समय १७२३ ई०), रत्नकण्ठरचित्त सारसमुच्चय टीका (समय १७ शतक का उत्तरार्द्ध), गोविन्द ठाकुरकृत काव्यप्रदीप (समय १६वीं शताब्दी) अपने प्रामाणिकत्व के लिए प्रसिद्ध हैं, अतः इन टीकाकारों की गणना अलंकारशास्त्रियों में की जाती है। काव्यप्रकाश की अन्य टीकायें व्याख्यामात्र हैं, अतः उनके विषय में विवरण नहीं दिया जा रहा है, उनकी संख्या बहुत बड़ी है।

(२७) **हेमचन्द्र** – हेमचन्द्र का काव्यानुशासन प्रसिद्ध अलंकारग्रन्थ है। उसकी रचना १०८८–११७४ के बीच में हुई है। इन्हीं के समसामयिक जयमंगल ने कवि शिक्षानामक ग्रन्थ तथा नागवर्माने काव्यालोचन नामक ग्रन्थ लिखा है।

(२८) **वाग्भट** – वाग्भट ने वाग्भटालंकार नामक ग्रन्थ १०६४ – ११४३ के बीच में लिखा है।

(२९) **देवेश्वर** – देवेश्वर ने कविकल्पलता नामक ग्रन्थ लिखा है, उनका समय १२०० ई० के लगभग माना गया है।

(३०) **वाग्भट (द्वितीय)** – वाग्भट (द्वितीय) ने काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ लिखा है। उनका समय त्रयोदश शतक का अन्त समझा जाता है।

(३१) **रुय्यक** – रुय्यक का अलंकार–सर्वस्व एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका पाण्डित्य गौरव प्रख्यात है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं, सूत्र और वृत्ति। इतिहासज्ञों का मत है कि रुय्यक ने सूत्रमात्र बनाये हैं, वृत्तिभाग मंखक या मंख की कृति है। इस वृत्तिग्रन्थ पर जयरथकृत टीका प्रसिद्ध है।

(३२) **आशाधर** – आशाधर का समय १२४० ई० माना गया है, उनकी बहुत सी कृतियों में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र प्रसिद्ध है।

(३३) **धर्मदास** – धर्मदास एक बौद्ध विद्वान् हुए हैं। उनकी कृति विदग्धमुखमण्डल प्रसिद्ध है। उनका जीवनकाल १४वीं शती का उत्तर भाग है।

(३४) **शारदातनय** – शारदातनय का 'भावप्रकाशनम्' नामक ग्रन्थ प्रख्यात है। उनका समय १२–१३ वें शतक का मध्य माना जा सकता है।

(३५) **शोभाकर** – शोभाकर विरचित अलंकाररत्नाकर यशकर विरचित मूल ग्रन्थ की व्याख्या के रूप में है। ये १३ वें शतक में विद्यमान थे।

(३६) **सिंगभूपाल** – सिंगभूपाल १४ वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में विद्यमान थे। उनके दो ग्रन्थ मिलते है, जिनमें एक रस पर तथा दूसरा नाटक पर है।

(३७) **विश्वनाथ** – साहित्यदर्पण–निर्माता विश्वनाथ अतिप्रसिद्ध हो गये हैं, उनका समय १४ वां शतक अभ्रान्तरूप में निर्धारित हो गया है।

(३८) **विश्वनाथ (द्वितीय)** – पारासुर निवासी विश्वनाथ प्रसिद्ध विश्वनाथ से भिन्न आचार्य थे। उनका लिखा 'साहित्यसुधासिन्धु' नामक ग्रन्थ मिलता है। उनका समय अनिश्चित है, परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ में काव्यप्रकाश के व्याख्याकार चण्डीदास को याद किया है, जिससे उन्हें चण्डीदास के बाद का ही मानना होगा।

(३९) **भानुदत्त** – भानुदत्त मिश्र मिथिलानिवासी तथा रसमंजरी के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध है। उनका समय १४५०–१५०० ई० के मध्य है।

(४०) **जयदेव** – जयदेव का चन्द्रालोक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका समय क्या है ? इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। यदि चन्द्रालोककार को ही प्रसन्नराघव निर्माता मान लिया जाये तो इनका समय १२वीं और १३वीं शताब्दी के मध्य में हो सकता है, और यदि मैथिल सम्प्रदाय के मन्तव्यों के अनुसार प्रसन्नाराघव के प्रणेता और चन्द्रालोक के प्रणेता में भेद माना जाये तो उनका अर्वाचीन होना ही युक्तिसंगत माना जायेगा।

(४१) **वेमभूपाल** – वेमभूपाल का लिखा साहित्यचिन्तामणि नामक अलंकारग्रन्थ उपलब्ध होता है। उनका समय १५वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है, क्योंकि १४२० मे उनका देहावसान बताया जाता है।

(४२) **अनुरथमण्डन** – अनुरथमण्डन नाम के एक जैन विद्वान हो गये हैं। उनके द्वारा लिखे गये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं–अल्पकल्पलता और मुग्धमेधाकर। उनका समय १८वीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित है।

(४३) **अप्पयदीक्षित** – अप्पयदीक्षित का कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा नामक ग्रन्थ अलंकारशास्त्र में अतिप्रसिद्ध है। अप्पयदीक्षितका समय १५५४–१६१३ ई० है।

(४४) **कृष्णशर्मा** – कृष्णशर्मा का मन्दारमण्डनचम्पू नामक ग्रन्थ अलंकारका अच्छा–ग्रन्थ है। यद्यपि नाम में चम्पू शब्द जुड़ा हुआ है परन्तु उसे अलंकार तथा रस के लिये विश्वकोष समझा जाता है। उनका समय १७वीं शताब्दी है।

(४५) **विश्वेश्वर** – विश्वेश्वर पर्वतीय अल्मोड़ा के रहने वाले तथा अतिप्रतिभाशाली थे। वे ३४ वर्ष की अवस्था म ही स्वर्ग सिधार गये थे। उनके लिखे ग्रन्थों में –अलंकारकौस्तुभ, अलंकाराभरण, आर्यासप्तशती, अलंकारप्रदीप, अलंकारमुक्तावली आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी दशमी पीढ़ी के लोग आज भी विद्यमान हैं, इसी से उनके समय का अन्दाज लगाया जा सकता है।

(४६) **विद्यानाथ** – विद्यानाथ का प्रताप रुद्रयशोभूषण एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका समय १२६८–१३२८ ई० माना गया है।

(४७) **विद्याधर** – विद्याधर ने एकावली नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका समय १३ वीं शताब्दी का आदि भाग माना जाता है

(४८) **कर्णपूर** – गोस्वामी कर्णपूर ने अलंकारकौस्तुभ नामक ग्रन्थ लिखा है। कर्णपूर का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।

(४९) **रूपगोस्वामी** – रूपगोस्वामी का उज्ज्वलनीमणि नामक रसविषयक ग्रन्थ है। उसका रचनाकाल १५वीं शताब्दी है।

(५०) **आचार्य केशव** – किसी बौद्धाचार्य ने शोद्धोदनि नाम से अलंकार पर कारिकायें लिखी थीं जिन्हें आधार बनाकर केशव मिश्र ने अलंकार शेखर नामक वृत्तिग्रंथ बनाया है। इनका समय १६ वां शतक है। उनके द्वारा व्याख्यात कारिकाओं का समय १२ वा शतक माना जाता है।

(५१) **पण्डितराज** – पण्डितराज जगन्नाथ का रसगङ्गाधर अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचना पद्धति के लिए प्रसिद्ध है। उनका समय १७ वीं शताब्दी आदि से तृतीय चरण तक माना जाता है।

(५२) **मुरारिदान तथा सुब्रह्मण्यम्** – मेवाड़नरेश यशवन्तसिंह के नाम को अमर बनाने के लिये कविराजा मुरारिदान तथा सुब्रह्मण्यशास्त्री ने यशवन्तयशोभूषण नामक ग्रन्थ की रचना की। उनका समय १९ वीं शताब्दी का परार्ध माना गया है।

इनके अतिरिक्त अलंकारशास्त्र के कुछ और भी ग्रन्थों तथा उनके रचयिताओं के नाम दिये जा रहे हैं। उनका काल निर्देश संदिग्ध होने से नहीं किया जा रहा है।

	ग्रन्थनाम	**निर्मात्नाम**
(१)	काव्यालङ्कारसूत्र	यास्कमुनि, अखिलानन्दाश्रमकृत टीका
(२)	अलङ्कारविचार	जीवनाथ
(३)	अलङ्कारप्रकाशिका	जीवनाथ
(४)	अलङ्कारशेखर	जीवनाथ
(५)	अलङ्कारशिरोभूषण	कुण्डलाचार्य
(६)	अलङ्कारमाला	दामोदरभट्ट
(७)	अलङ्कारकौमुदी	ब्रह्मभट्ट
(८)	अलङ्कारसार	नृसिंह
(९)	अलङ्कारकौस्तुभ	वेङ्कटाचार्य
(१०)	अलङ्कारसूत्र	चन्द्र
(११)	अलङ्कारचन्द्रिका	
(१२)	अलङ्कारकारिका	
(१३)	अलङ्कारकौमुदी	बालकृष्ण
(१४)	अलङ्कारमयूख	बालकृष्ण
(१५)	अलङ्कारानुक्रमणिका	बालकृष्ण

(१६)	अलङ्कारप्रकरण	बालकृष्ण
(१७)	अलङ्कारप्रकाशिका	बालकृष्ण
(१८)	अलङ्कारसारसंग्रह	बालकृष्ण
(१९)	अलङ्कारग्रन्थ	बालकृष्ण
(२०)	अलङ्कारवादार्थ	बालकृष्ण
(२१)	अलङ्कारसार	बालकृष्ण
(२२)	अलङ्कारमञ्जरी	त्रिमल्लभट्ट
(२३)	अलङ्कारमञ्जूषा	देवशंकर
(२४)	अलङ्कारसमुद्रक	शिवराम
(२५)	काव्योल्लास	नीलकण्ठ
(२६)	काव्यसारसंग्रहत्रय	श्रीनिवास
(२७)	काव्यचन्द्रिका	रामचन्द्र न्यायवागीश
(२८)	काव्यवृत्तरत्नावली	नारायण
(२९)	काव्यकण्डकोद्धार	नरसिंह शास्त्री

दण्डी

दण्डी का महत्त्व-

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में दण्डी का विशेष महत्त्व है। इनका अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' शताब्दियों से अलंकारशास्त्र के आचार्यों के लिए आदर का पात्र बना हुआ है। दण्डी ने न केवल अलंकारशास्त्र के आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठा प्राप्त की, अपितु कवि के रूप में भी महान् यश उपार्जित किया था। विद्वान् समालोचकों का कथन है कि पहले तो केवल एक ही कवि वाल्मीकि थे, व्यास के होने पर दो कवि हो गये तथा दण्डी के होने पर इनकी संख्या तीन हो गई।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।

कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।। सुभाषितरत्नभाण्डागार।।

संस्कृत साहित्य में यदि कालिदास अपनी उपमा के लिए, भारवि अर्थ के गौरव के लिए प्रसिद्ध हैं तो दण्डी अपने पदलालित्य के लिये प्रसिद्ध हैं।

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्। दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

दण्डी का समय और जीवनवृत्त-

भारत के प्राचीन कवियों और लेखकों ने अपने जीवन वृत्तान्त एवं समय के विषय में प्रायः बहुत कम लिखा है। यही समस्या दण्डी के साथ भी है। इस कारण दण्डी के समय को निर्धारित करने के लिए बाह्य प्रमाणों का ही आश्रय लेना पड़ता है। दण्डी के समय को पूर्व और अपर प्रमाणों के द्वारा निम्न प्रकार से निश्चित किया जा सकता है।

दण्डी को उनके उत्तरवर्ती लेखकों ने बहुत उद्धृत किया है। अतः यह निश्चित है कि वे उन लेखकों से पहले ही हुये थे। इनकी यह सीमा इस प्रकार है–

(१) रुद्रट के 'काव्यालंकार' की टीका में नमिसाधु ने दण्डी को उद्धृत किया था। नमिसाधु ने यह टीका १०७५ ई० में लिखी थी। अतः दण्डी को इनसे पहले होना चाहिये।

(२) राजशेखर ने दण्डी को दो बार उद्धृत किया है। एक बार तो उन्होंने अनेक कवियों के साथ दण्डी का भी नाम लिया और दूसरी बार उन्होंने दण्डी की तीन रचनाओं का उल्लेख किया।

भासो रामिलसौमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्को कवि

र्मेण्ठो भारवि कालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।

दण्डी बाणदिवाकरो गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः

सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते।। सुभाषितहारावली।।

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।

त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।। सुभाषितहारावली।।

राजशेखर कान्यकुब्ज के नरेश महेन्द्रपाल के गुरु थे, जो कि प्रतिहारवंशीय राजा थे। इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा। अतः राजशेखर का भी यह समय होगा। दण्डी इनसे पहले ही हुये। राजशेखर ने जिन कवियों का उल्लेख किया है वे प्रायः सब सातवीं शताब्दी या उससे पहले के हैं। अतः दण्डी को भी राजशेखर से दो तीन शताब्दी पहले का माना जा सकता है।

(३) 'शाङ्गधरपद्धति' में एक श्लोक कवयित्री विज्जका के नाम से उद्धृत है। इस श्लोक में बिज्जका कहती है कि नीले कमल की पंखुड़ियों के समान श्यामल वर्ण की मुझ बिज्जका को न जानते हुए दण्डी ने यह व्यर्थ ही कहा कि सरस्वती शुक्लवर्ण की है

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता। वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।। शाङ्गधरपद्धति।।

इससे प्रतीत होता है कि दण्डी या तो बिज्जका से पहले हुये थे या उसके समकालीन थे।

बिज्जका के श्लोकों को मम्मट और मुकुल भट्ट ने उद्धृत किया है, अतः वे इन समालोचकों से पहले ही हुई होगी। 'शाङ्गधरपद्धति' के अनुसार राजशेखर ने कर्नाटक देश की रहने वाली विजया को सरस्वती के समान कहा था।

सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ। या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्।। शाङ्गधरपद्धति।

हो सकता है कि यही विजया विज्जका हो। इसके अतिरिक्त चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन् द्वितीय की पुत्रवधू तथा चण्डादित्य की पत्नि का नाम विजयभट्टारिका था। यह समय ६६० ई० था। यदि इस विजयभट्टारिका को ही विज्जका समझा जावे तो बिज्जका का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जा सकता है। यह भी हो सकता है कि दण्डी ने अपनी रचना को इस समय प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका के अवलोकन के लिये भेजी हो तथा उसने दण्डी के काव्यादर्श के प्रथम श्लोक पर जिसमें सरस्वती को सर्वशुक्ल कहा गया है, इस प्रकार व्यंग्य किया हो।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' की भूमिका से विदित होता है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर, जो कि प्रसिद्ध कवि भारवि के मित्र थ, पुलकशिन् के भाई काञ्चीनरेश विष्णुवर्धन की राजसभा में आये थे। यह विज्जका या विजयभट्टारिका विष्णुवर्धन के भतीजे चन्द्रादित्य की पत्नी थी। इससे भी दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया जा सकता है।

(४) सिंहली भाषा के एक अलंकार ग्रन्थ 'सिया–वस–लकार' (स्वभाषालंकार) की रचना 'काव्यादर्श' के आधार पर हुई थी। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के अनुसार इसकी रचना राजवंश में प्रसूत सिलमेघसेन ने की थी। ग्रन्थकर्त्ता ने दण्डी के काव्यादर्श को अपने ग्रन्थ की रचना का आधार माना है। सिंहल की प्रसिद्धि के अनुसर यह रचना राजा सेन प्रथम की है, जिसका समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। डा० एल० बर्नट (जनरल आफ रायल ओरिण्टल सोसायटी १६०५, पृ० ४१) ने इस रचना पर सम्मति देते हुए सिलमेघसन और राजा सेन प्रथम को एक ही बताया है। और यह किसी भी तरह नवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता। दण्डी का इनसे पूर्व का ही होना चाहिये।

(५) कन्नडी भाषा का एक अलंकार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' भी 'काव्यादर्श' के आधार पर लिखा गया था। इसकी अधिकांश सामग्री 'काव्यादर्श' से ही ली गई थी। ग्रन्थ की रचना राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोधवंश नृपतुंग ने की थी। इनकासमय ८१५ – ८७७ ई० का था। अतः दण्डी को इनसे पहले होना चाहिये।

(६) वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से अवश्य ही परिचित रह होंगे। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में दो रीतियों का ही उल्लेख किया है, जबकि वामन एक अन्य रीति पाञ्चाली का भी निर्देश करते हैं। इससे विदित होता है कि दण्डी वामन से पहले हुए थे। वामन का समय आठवीं शताब्दी का है। इसलिये दण्डी आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में या उससे पहले हुए थे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दण्डी की उत्तरकालीन अवधि सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रही। इनका इसके पश्चात् नहीं ले जाया जा सकता। दण्डी की पूर्वकालीन अवधि को भी निश्चित किया जा सकता है।

(१) दण्डी ने 'मृच्छकटिक' नाटक के एक श्लोक को एक स्थान पर उत्प्रेक्षा अलंकार के उदाहरण के रूप में तथा दूसरे स्थान पर संसृष्टि अलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः। असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।। मृच्छकटिक १.१.३४।।

इससे सिद्ध है कि वे इस नाटककार के पश्चात् हुए। मृच्छकटिक' नाटक के रचयिता शूद्रक का समय ई० पूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है।

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रमापनेयगतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।। कादम्बरी शुकनासोपदेश।।

(२) दण्डी की रचना पर कालिदास का भी प्रभाव है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रसिद्ध श्लोक के अंश "मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति" को दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस प्रकार लिखा है--"लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रनीतिसुभगं वचः"। इससे सिद्ध है कि दण्डी कालिदास के पश्चात् हुए।

(३) 'दण्डी' पर बाण का भी प्रभाव है। 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश के एक अंश का भाव दण्डी की रचना में देखा जा सकता है।'

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः। दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।। काव्यादर्श २.१६७।।

अतः इस भावसाम्य के आधार पर दण्डी को बाण का उत्तरवर्ती कहा जा सकता है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था।

(४) दण्डी पर माघ के 'शिशुपालवध' का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। 'शिशुपालवध' के एक श्लोक का प्रभाव 'काव्यादर्श' के एक श्लोक पर है।

रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः। ज्ञातो लंकेश्वरःकृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः।। काव्यादर्श २.३०२।।

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे। एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव।। शिशुपालवध।। २.४।।

माघ का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही समझा गया हैं

(५)--दण्डी पर भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' का प्रभाव है।''काव्यादर्श' के दूसरे परिच्छेद के १४० श्लोक में दण्डी ने कर्म के तीन भेद किये--निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। डॉ० के०पी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के इन भेदों की कल्पना भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' (३.४४) से ली थी। अतः 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि दण्डी से पहले हुए थे, यह मानना चाहिये। भर्तृहरि का समय भी सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।

(६) भामह के समय की विवेचना करते समय दण्डी और भामह के पूर्वापर सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित हुआ था। कुछ विद्वानों ने दण्डी को भामह के बाद का मान लिया है। दण्डी के विषय में पी०वी० काणे का कथन है, "इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि भामह को पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं वे अत्यन्त निर्बल हैं।...इसी प्रकार दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए जो आधार प्रस्तुत किए है, वे अपेक्षाकृत सबल होने पर भी ऐसे नहीं हैं जो अन्तिम निष्कर्ष तक पहुंचा सके और परीक्षक असन्दिग्ध निर्णय प्राप्त कर सके। प्रतीत होता है भामह और दण्डी एक दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र परम्पराओं के अनुयायी हैं। भामह का सम्बन्ध अलंकार परम्परा के साथ है और दण्डी का भरत की परम्परा के साथ। पूर्ववर्ती कोई भी हो किन्तु दोनों का समय एक दूसरे के अत्यन्त निकट है। सम्भवतया दोनों ६५०--७५० ई० के मध्यवर्ती हैं। यदि उपरोक्त सामग्री के आधार पर ऐसा माना जाता है कि एक ने दूसरे से सामग्री ली है अथवा उसका खण्डन किया है और दोनों द्वारा स्वतन्त्र परम्पराओं के अनुसरण के तृतीय विकल्प को स्वीकार नहीं किया जाता तो मैं यही कहूँगा कि दण्डी भामह के पूर्ववर्ती हैं। मेरे मत में दण्डी की पूर्ववर्तिता सिद्ध करने वाले प्रमाण भामह की अपेक्षा अधिक बलवान हैं, फिर भी उन्हें अन्तिम नहीं कहा जा सकता'। (काव्यशास्त्र का इतिहास, १९६६, पृ० १४३--१४४)।

सुशील कुमार डे के अनुसार काव्यादर्श के रचयिता दण्डी का कालनिर्णय अलंकार शास्त्र के आचार्यों के पौर्वापर्य निर्धारण में सबसे विकट समस्या है। आनन्दवर्धन ने भामह की तरह प्रकट रूप से उनका उल्लेख नहीं किया है। दण्डी के नाम का प्राचीनतम उल्लेख प्रतीहारेन्दुराज (२६) में मिलता है। दण्डी के अपने ग्रन्थ में भी कोई संकेत नहीं मिलता।...दण्डी की तिथि की निश्चित सीमा दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्राप्य अलंकार ग्रन्थों से ही निर्धारित होती है। ये ग्रन्थ शायद नवीं शताब्दी में लिखे गये थे और इनमें दण्डी का प्रतिष्ठित और प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार दण्डी के ग्रन्थ की अर्वाचीनतम सीमा नवीं शती प्रतीत होती है। वामन की अपेक्षा दण्डी की पूर्वभाविता तो पर्याप्त रूप से सिद्ध हो ही जाती है और इस प्रकार उनकी तिथि की अधिकतम सीमा आठवीं शती के अन्त और नवीं शती के आरम्भ में ठहराई जा सकती है। दण्डी के काल की प्राचीनतम सीमा निर्धारित करना आसान

नहीं है। महेशचन्द्र न्यायरत्न के मतानुसार पीटर्सन का कहना है कि दण्डी ii.१६७) बाण रचित कादंबरी के एकप्रसग पृ० १०२।१५, नि० बम्बई संस्कृत सीरीज) का स्मारक है। जैकोबी इस बात को मानते हैं। जैकोबी ने दण्डी iii.३०२ और माघ ii.४६ मे परस्पर समान्ता निर्दिष्ट की है।...यदि भामह को निश्चित रूप से दण्डी से पूर्ववर्ती ठहराया जा सके तो दण्डी की तिथि की लगभग संतोषजनक सीमा प्राप्त हो जाती है। किन्तु इन दोनों विद्वानों के ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से तो भामह की पूर्वभाविता ही अनुमानित हो सकती है। अनेत तर्क देते हुए डे का कथन है कि उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दण्डी को भामह की रचना ज्ञात थी। ...यदि इस निष्कर्ष को भामह की संभावित अग्रता मान लिया जाये तो उनकी तिथि को दण्डी की तिथि की ऊपरी सीमा माना जा सकता है। उनकी तिथि की निचली सीमा...भामह की तिथि से अभिन्न है, अर्थात् उनकी तिथि उद्भट के समकालिक वामन की ही तिथि है। संभवतः दण्डी आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही हुए हैं। (काव्य शास्त्र का इतिहास, १९८५, पृ० ५४–६३)

यद्यपि यह विवादास्पद है कि दण्डी भामह के बाद हुए हैं या पहले ? भामह का समय ५वीं –छठी शताब्दी ई० के मध्य का निश्चित किया गया था। अतः दण्डी का समय सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मानने में कोई बाधा नहीं है।

ऊपर की विवेचना में दण्डी के सम्बन्ध में पूर्व और अपर सम्बन्ध का विचार करते हुए उनके समय को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का निश्चित किया जा सकता है।

जीवनवृत्त–'अवन्तिसुंदरीकथा' नामक गद्यकाव्य की प्राप्ति से पूर्व दण्डी के जीवन–वृत्तान्त के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। इस काव्य के प्रारम्भ में दण्डी ने अपने परिवार के तथा अपने जीवन के वृतान्त के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। इसके अनुसार दण्डी के पूर्व नारायणस्वामी के एक पुत्र दामोदर नाम के हुये। दामोदर की 'किरातार्जुनीयम्', महाकाव्य के लेखक भारवि से मित्रता थी। ये काञ्चीनरेश विष्णुवर्धन की राजसभा में आये थे। दामोदर के तीन पुत्र हुए। इनमें मंझले पुत्र का नाम मनोरथ था। मनोरथ के चार पुत्र हुये, जिनमें सबसे छोटे पुत्र का नाम वीरथ था। वीरथ तथा उनकी पत्नी गौरी दण्डी के माता–पिता थे। ये दोनों ही दण्डी की बाल्यावस्था में स्वर्गवासी हो गये।

दामोदर के पूर्वज पश्चिमोत्तर प्रदेश के आनन्दपुर नामक स्थान पर रहते थे। वहाँ से ये नासिक के अचलपुर नामक स्थान पर आकर बस गये। दामोदर की मैत्री काञ्ची के राजा विष्णुवर्धन से हो गई। परन्तु विष्णुवर्धन के अनाचार से दुःखी होकर वे गगवशीय राजा दुर्विनीत के यहां रहने लगे। तदनन्तर वे कांची से पल्लववंशी राजा सिंहविष्णु के आश्रय में रहे। सिंहविष्णु के राज्यारोहण का समय ५७५ ई० निश्चित किया गया है। इसका पुत्र महेन्द्रवर्मा हुआ। महेंन्द्रवर्मा का पुत्र नृसिंह वर्मा हुआ, जिसने पुलकेशिन द्वितीय को पराजित किया था। यह विष्णु, सिंहविष्णु अथवा नृसिंहविष्णु नाम से भी प्रसिद्ध हुआ था। इसका राज्य ६२५–६४५ ई० तक रहा। विवरणों से प्रतीत होता है कि भारवि इस राजा की राजसत्ता में रहे थे। अतः भारवि का समय ६१०–६४५ ई० रहा होगा। दण्डी के प्रपितामह भारवि के मित्र थे, अतः दण्डी का जन्म ६५० ई० के लगभग हुआ होगा।

दण्डी की बाल्यावस्था मे ही उनके माता–पिता की मृत्यु हो गई थी। इस समय कांची में महान् विप्लव हुआ और इस नगरी का महान् विनाश हुआ। उस समय दण्डी इस नगरी को छोड़कर चले गये। वे वर्षों तक अनेक स्थानों पर भ्रमण करके विद्याध्ययन करते रहे। अन्त में युवा होने पर वे कांची में वापिस आये। यहां सरस्वती के आदेश से इन्होंने अपने मित्रों को विद्याधर नरेश राजवाहन की कथा सुनाई, जो कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर की भारवि से मित्रता थी। भारवि का सर्वप्रथम उल्लेख चालुक्यवशी राजा पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल शिलालेख (६३४ ई०) में मिलता है।

येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म। स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।।

–एहोल का शिलालेख।

विष्णुवर्धन ने, जो कि पुलकेशिन द्वितीय का भाई या पुत्र कहा जाता है, आन्ध्र और कलिंग में चालुक्य वंश का राज्य स्थापित किया था। उसका शासन–काल ६१५–६३३ ई० तक रहा। इसकी राजसभा में दण्डी के प्रतितामह दामोदर आये थे। दण्डी को हम इनके ५० वर्ष बाद का भी रख सकते हैं। अतः दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हो सकता है। भारवि या तो पुलकेशिन के समकालीन रहे होंगे, या उससे कुछ पहले हुये होंगे। भारवि की कृति 'किरातार्जुनीयम्' पर राजा दुर्विनीत ने, जिनके आश्रय में कुछ समय तक दामोदर रहे थे, एक टीका लिखी थी।

किरातार्जुनीय पञ्चदशमसर्गे टीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।।

–गंगवंशीय राजा दुर्विनीत का एक शिलालेख।।

दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भास, सुबन्धु, बाण मयूर आदि कवियों का उल्लेख किया है, अतः इनको इन सबका उत्तरवर्ती होना चाहिये। यद्यपि बाण और मयूर, इनका समय बहुत बाद का न होकर निकटवर्ती ही होना चाहिये तथा इनकी ग्रन्थ–रचना का काल ६७५–७१० ई० का सरलता से माना जा सकता है।

दण्डी का नाम दण्डी क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती प्रसिद्ध है। वह यह है कि 'दशकुमारचरितम्' के 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरूहो नालदण्डः'" में दण्ड शब्द के प्रयोग के कारण लोगों ने इनको दण्डी कहना प्रारम्भ कर दिया।

स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणद्ण्डिमयूरादिद्प्रमुखान्।

शिथिलोदुर्मता नीकृतभिमाननिजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार।।

माधवचार्यकृत 'शंकरजय' नामक ग्रन्थ के अनुसार शंकराचार्य ने दण्डी आदि प्रमुख कवियों को पराजित किया था। अतः कुछ समालोचकों का यह अनुमान है कि दण्डी दर्शनशास्त्र के आचार्य भी थे। परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता।

दण्डी की रचनाये

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, राजशेखर ने दण्डी की तीन रचनाओं की चर्चा की थी।

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शितः। सा विद्या नौर्तितीर्पूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।। काव्यादर्श १.१२।।

'काव्यादर्श' के प्रणेता दण्डी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी की रचना निर्विवाद रूप से मान लिया गया है। परन्तु दण्डी की तीसरी रचना के विषय में बहुत अधिक मतभेद रहा है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के प्रकाशन ने यद्यपि इस विवाद को बहुत कुछ समाप्त कर दिया था, तथापि कुछ समालोचक इसको दण्डी की तीसरी रचना मानने में आपत्ति करते रहे।

'काव्यादर्श और 'दशकुमारचरित' के अतिरिक्त दण्डी की तीसरी रचना कौन सी है, इस प्रश्न के समाधान का पहला प्रयास पिशेल ने किया था। 'काव्यादर्श' में "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि०" श्लोक दो बार उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। एक बार तो 'उत्प्रेक्षा अलंकार के उदाहरण के रूप में और दूसरी बार संसृष्टि अलंकार के उदाहरण के रूप में। यह श्लोक 'मृच्छकटिक' में भी आता है इस आधार पर पिशेल ने कहा कि दण्डी की तीसरी रचना 'मृच्छकटिक' है। परन्तु पिशेल के इस मत का समर्थन अन्य किसी ने नहीं किया। यह श्लोक केवल 'मृच्छकटिक' को दण्डी की रचना नहीं मान सकते। इस पद्य को मृच्छकटिक में ही नहीं है, अपितु इससे पूर्व की भास की रचनाओं 'चारुदत्त' और 'बालचरित' में भी है। अतः इस श्लोक के आधार पर 'मृच्छकटिक' को दण्डी की रचना नहीं मान सकते। दण्डी इस पद्य को मृच्छकटिक से भी तथा उनसे पहले के भास के नाटकों से भी उदाहरण के रूप में ले सकते थे।

पिशेल के पश्चात् जैकोबी और पीटरसन् ने इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न किया। इनका कथन था कि दण्डी की तीसरी रचना 'छन्दोविचिति' है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद में 'छन्दोविचिति' नामक रचना का उल्लेख किया है। **छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शित सा विद्या नौतितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।** परन्तु यह धारणा भी भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः 'छन्दोविचिति' किसी ग्रन्थ का नाम नही है, अपितु शास्त्र या विद्या का नाम है। प्राचीन शास्त्रों में 'छन्दोविचिति' को विद्या कहा गया है, जैसा कि चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' (अर्थशास्त्र–चाणक्य।। १.३.१०) में और 'आपस्तम्ब धर्मग्रन्थ' में षडङ्गो वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्यतिषं निरुक्तं शिक्षा–छन्दोविधि तिरिति।। (आपस्तम्ब धर्मसूंत्र २.४.८.११ लिखा है। दण्डी ने स्वयं ही "सा विद्या नौर्विवक्षूणाम्" लिखकर इस तथ्य की पुष्टि की है।

कुछ समालोचकों के अनुसार दण्डी की तीसरी रचना 'कलापरिच्छेद' है परन्तु अधिकांश समालोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखा गया था। पी०वी० काणे की मान्यता है कि 'कलापरिच्छेद' स्वतन्त्र न होकर 'काव्यादर्श' का ही एक भाग था यह भी हो सकता है कि दण्डी ने परिच्छेद' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की योजना बनाई हो, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है–

इत्थं कलाचतु-षष्टिविरोधः साधु नीयताम्। तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति।। काव्यादर्श ३.१७।।

दक्षिणी भारत से भोजराज का 'शृङ्गारप्रकाश' नामक एक अलंकार विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में दण्डी के 'द्विसन्धान' नामक काव्य का एक श्लोक उद्धृत है–

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः। धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः।। शृङ्गारप्रकाश।

कुछ समालोचकों का यह विचार है कि यह काव्य ही दण्डी का तीसरा ग्रन्थ रहा होगा। परन्तु दण्डी का यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है यद्यपि धनञ्जय कवि की एक रचना 'द्विसन्धान' काव्य प्रकाशित हो चुका है।

दक्षिण भारत से दो ग्रन्थों की उपलब्धि ने दण्डी की रचनाओं के सम्बन्ध की चर्चा को बहुत बदल दिया है। इसमें एक ग्रन्थ गद्य में तथा दूसरा ग्रन्थ पद्य में है। परन्तु किसी भी ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता का नाम नहीं है। गद्य ग्रन्थ का नाम 'अवन्तिसुन्दरीकथा' है जो कि एक गद्यकाव्य है। पद्य ग्रन्थ इसी कथा का पद्यों में विद्ध सार है तथा इसका नाम 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' है।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' का आरम्भ कुछ श्लोकों से हुआ है। इसमें पहले हिरण्य गर्भ, ईशान और हरि के रूप में प्रभु का नमस्कार किया है। तदनन्तर प्राचीन लेखकों एवं रचनाओं की प्रशंसा की गई है। इनमें रामायण, महाभारत, सुबन्धु बृहत्कथा, मूलदेव, शूद्रक भास तथा उसके नाटक, सर्वसेन तथा उनका हरिविजय सेतु वैदर्भी रीति–निपुण कालिदास काव्य का रचयिता नारायण, एक अर्धकवि मयूर, विज्जक आदि कुछ कवयित्रियां उल्लिखित हैं। अन्तिम श्लोक में सरस्वती तथा कवि समाज की स्तुति की गई है इसके पश्चात् गद्य भाग प्रारम्भ होता है।

इस काव्य में कथानक का प्रारम्भ करते हुये दण्डी ने पहले अपना इतिवृत्त दिया है। इसके अनुसार दण्डी के पूर्वज दामोदर ने अपने मित्र भारवि के परामर्श और प्रेरणा से राजा सिंहविष्णु से मित्रता की। दण्डी के बाल्यकाल में कांची में महान् उपद्रव हुआ और दण्डी कांची छोड़कर चले गये। कुछ वर्ष पश्चात् वे पुनः कांची पल्लव नरेश की राजसभा में आये। देवी सरस्वती ने स्वप्न में उनको आदेश किया कि वे विद्याधर नरेश राजवाहन की कथा प्रसारित करें। अगले दिन यह कथा उन्होंने अपने मित्रों को सुनाई। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का उपलब्ध भाग 'दशकुमारचरित' के पहले आधे भाग की कथा के समान ही है।

'अवन्तिसुन्दरीकथासार' पद्यबद्ध है तथा इसमें गद्यकाव्य की कथा का सार दिया गया है। इसमें सात परिच्छेद हैं तथा सातवां परिच्छेद खण्डित रूप में मिला है।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' और 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' जिस समय प्रकाशित हुये उसी समय से इनको दण्डीकृत मानने या न मानने का विवाद प्रारम्भ हो गया। कुछ समालोचकों ने तो दोनों रचनाओं को दण्डीकृत माना, कुछ ने एक को और कुछ ने एक को भी दण्डीकृत नहीं माना। म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डीकृत मानने में सन्देह प्रकट किया। परन्तु इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग से यह दण्डी द्वारा लिखित ही प्रतीत होता है। अन्य प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि इस गद्यकाव्य की रचना दण्डी ने की थी।

"जर्नल आफ ओरिएण्टल रिसर्च, मद्रास' के भाग ५ खण्ड २, पृष्ठ ४ पर डा० राघवन् ने अप्पय दीक्षित के इस वाक्य को उद्धृत किया है–**"निरस्ता पल्लवेषु काञ्ची नाम नगरीत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात्।"** इस वाक्य से 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का दण्डीकृत होना सिद्ध होता है। अन्य अनेक उद्धरणों से भी इस गद्यकाव्य के दण्डीरचित होने के प्रमाण मिलते हैं।

पी०वी० काणे का मत है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' दण्डी की ही कृति है और यह 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका है। परन्तु वे 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' को दण्डी की रचना नहीं मानते। काणे महोदय ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डीकृत मानने में कुछ संकोच अवश्य किया था और इस संकोच के निम्न कारण बताये थे–

(१) इस रचना में भारवि की कृति 'किरातार्जुनीयम्' का या अन्य किसी कृति का संकेत नहीं है।

(२) 'दशकुमारचरित' की तुलना में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का कथानक सीमित है।

(३) 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में दैवी तत्त्वों का प्रवेश बहुत अधिक है।

(४) 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की शैली और भाषा में भिन्नता है।

परन्तु इस संकोच को व्यक्त करके भी काणे ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डी द्वारा रचित स्वीकार किया और उसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर दण्डी का समय ६६०–६८० ई० निर्धारित किया। वर्तमान समय में प्रायः सभी समालोचकों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डी की रचना स्वीकार कर लिया है।

कुछ समालोचकों ने यह भी प्रश्न उठाया है कि 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' ये दोनों रचनायें एक ही व्यक्ति की नहीं हैं। इनमें श्री त्रिवेदी और अगाशे प्रधान हैं। इनकी युक्ति यह है–'काव्यादर्श के प्रणेता का मत है कि काव्य में सूक्ष्म सा दोष होने पर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपु सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। –काव्यादर्श १।७

इस सम्बन्ध में काव्यादर्श के लेखक ने–

"कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते"।। –काव्यादर्श १.६३

में ग्राम्यत्व दोष बताया है। दण्डी के अनुसार यदि इस श्लोक में ग्राम्यत्व दोष हो सकता है, तो यह दोष 'दशकुमारचरित' में अनेक स्थानों पर है। उसमें तो इससे भी अधिक ग्राम्यत्व तथा अश्लीलता के उदाहरण है। अतः दण्डी जैसे प्रखर आलोचक द्वारा इस प्रकार की दोषपूर्ण कृति की रचना करना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' इन दोनों की भाषा और शैली में बहुत अन्तर है। पहली कृति की शैली निर्दोष, सरल, कोमल तथा अर्थ–गाम्भीर्य से युक्त है जबकि 'दशकुमारचरित' क शैली अनेक स्थानों क्लिष्ट एवं लम्बे समासों से भरी है।

किन्तु काव्यादर्श तथा दशकुमार के लेखकों में भिन्नता स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। दोनों की अभिन्नता को निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया जा सकता हैं।

(१) समालोचना तथा कवित्व के व्यवहार में सदा अन्तर होता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। समालोचक अन्य कृतियों में दोषों की खोज कर लेता है, परन्तु अपनी ही कृति को सर्वथा दोषों से मुक्त कर सके ऐसा सम्भव नहीं है। इस तथ्य को व्यक्तिविवेककार ने अपने ग्रन्थ में व्यक्त किया है।

स्वकृतिष्वनियन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्। वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्।।

–व्यक्तिविवेक

'औचित्यविचारचर्चा' में क्षेमेन्द्र ने स्वयं अपनी कृतियों में दोष बताये हैं (औचित्यविचार चर्चा कारिका २०–२१)। अतः आलोचक दण्डी के स्वरचित काव्यों में दोषों की उपस्थिति की संभावना हो सकती है।

(२) यह हो सकता है कि 'दशकुमारचरित' की रचना दण्डी ने उस समय की हो, जबकि वे अधिक युवा रहे हों, एवं 'काव्यादर्श' की रचना उन्होंने अधिक प्रौढ़ आयु में की हो। प्रौढ़ आयु में बुद्धि के परिपक्व हो जाने से दोषों की सम्भावना कम हो जाती है तथा स्वल्प से भी दोष खटकने लगते हैं।

(३) 'काव्यादर्श' के श्लोकबद्ध होने के कारण उसमें अधिक लम्बे समासों के लिए अवकाश नहीं था। तो भी इसमें श्लोकार्ध तक के समास फिर भी मिल जाते हैं।

पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।। –काव्यादर्श १.८५।।

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता।। –काव्यादर्श ३.१०३

'दशकुमारचरित' गद्यबद्ध होने से उसमें लम्बे समासों का होना सम्भव भी था और वांछित भी। दण्डी ने स्वयं समास की अधिकता को ओजोगुण बताया तथा उसको गद्य का प्राण कहा।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।। –काव्यादर्श १.८०

अतः 'दशकुमारचरित' के अधिक क्लिष्ट एवं समासबहुल होने के आधार पर इसको दण्डी की रचना न मानना युक्तिसंगत नहीं है।

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह बात निस्संकोच रूप से कही जा सकती है कि दण्डी की निश्चय रूप से ये तीन रचनायें हैं–'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' तथा 'अवन्तिसुन्दरीकथा'। यह भी हो सकता है कि दण्डी की कुछ अन्य रचनायें भी रही हों, परन्तु ये अधिक प्रसिद्ध न हों। उनकी ये तीन ही रचनायें प्रसिद्ध रही हों। यदि कभी उनके 'कलापरिच्छेद', 'द्विसन्धान' आदि ग्रन्थ प्राप्त हो सकें, तभी इस सम्बन्ध में और कुछ कहा जा सकता है।

काव्यादर्श का परिचय-

अलंकार–ग्रन्थ के रूप में 'काव्यादर्श' ने बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। वर्तमान समय में भी इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसका पहला संस्करण कलकत्ता से प्रेमचन्द तर्कवागीश की टीका के साथ प्रकाशित हुआ था। पुनः बॉथलिक ने इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया, जो १८६० ई० में प्रकाशित हुआ। प्रो० रंगाचार्य ने इस ग्रन्थ को दो प्राचीन टीकाओं के साथ १९१० ई० में मद्रास से प्रकाशित कराया था। तदनन्तर बेलवेलकर ने और शास्त्री रंगाचार्य रेड्डी ने इसको अपनी टीका के साथ १९१७ ई० में पूना से प्रकाशित कराया। जीवानन्द विद्यासागर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ पर टीकायें लिखीं, जो कि विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुई। प्रायः सभी संस्करणों में इसके तीन परिच्छेद दिये गये हैं, परन्तु रंगाचार्य वाले संस्करण में चार परिच्छेद हैं। अन्य

संस्करणों में तृतीय परिच्छेद को इन्होंने दो भागों में विभाजित कर दिया है। इन्होंने तृतीय परिच्छेद के दोष प्रकरण को पृथक करके चतुर्थ परिच्छेद बनाया। इस ग्रन्थ के कलकत्ता तथा पूना के संस्करण में ६६० श्लोक और मद्रास के संस्करण में ६६३ श्लोक हैं। परिच्छेद के क्रम से इसकी विषय वस्तु निम्न प्रकार से है–

प्रथम परिच्छेद – 'काव्यादर्श' के पहले परिच्छेद में मंगलाचरण के अनन्तर काव्य की परिभाषा करके उसके तीन भेद–गद्य, पद्य तथा मिश्र दिये गये हैं। तत्पश्चात् सर्गबन्ध काव्य का स्वरूप बताया गया है। कथा और आख्यायिका के भेद निरूपण देते हुये दण्डी ने कहा है कि वस्तुतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। साहित्य के भाषागत भेद–संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और मिश्र बताये गये हैं। वैदर्भ एवं गौड मार्गों का वर्णन करके दस गुणों का वर्णन है। अनुप्रास के लक्षण तथा उदाहरण दिए गये हैं। अन्त में कवित्व के तीन साधनों–प्रतिभा, पठन और अभ्यास की चर्चा है।

द्वितीय परिच्छेद – दूसरे परिच्छेद में अलंकार शब्द की परिभाषा करके ३५ अलंकारों की गणना भी की गई है। इसके पश्चात् इन अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। ३५ अलंकार निम्न है–

स्वाभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म लेश (लव), यथासंख्य (क्रम), प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण और भाविक।

तृतीय परिच्छेद – तीसरे परिच्छेद के पहले ७७ श्लोकों में यमक अलंकार का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् १८ श्लोकों में गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतो–भद्र, सर्वस्व, स्थानवर्णनियम आदि चित्रबन्ध अलंकारों के लक्षण और उदाहरण हैं। तदनन्तर २६ श्लोकों में प्रहेलिकाओं की विवेचना है। अन्त में ६३ श्लोकों में इस प्रकार के दोषों का वर्णन है।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में गुणों और अलंकारों का विशद विवेचन किया है। अतः इनको अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है। दण्डी ने रीतियों की भी विवेचना की है, परन्तु उसके लिये वे रीति शब्द का नहीं अपितु वर्त्म या मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होंने काव्य की रचना करने के लिये दो प्रकार के मार्गों का निर्देश किया है–वैदर्भ और गौड। दण्डी का कथन है कि सूक्ष्म भेद वाली वाणी की शैलियों के अनेक भेद हैं। इनमें उन्होंने वैदर्भ और गौड मार्गों का वर्णन किया है, क्योंकि इनमें अधिक भेद दृष्टिगोचर होता है।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेद परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।। –काव्यादर्श १.४०

इस आधार पर पी०वी काणे ने दण्डी को अंशतः अलंकार सम्प्रदाय का समर्थक और अंशतः रीति सम्प्रदाय का समर्थक कहा है (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी०वी० काणे, पृ० १११)। परन्तु 'काव्यादर्श में दण्डी ने न तो रीति पद का प्रयोग ही किया है और ना ही वामन आदि के समान रीतियों की विवेचना की। अतः इनको अंशतः अलंकारवादी और अंशतः रीतिवादी कहने का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। दण्डी को अलंकारवादी आचार्य कहना ही अधिक उपयुक्त है।

अलंकारवादी होते हुए भी दण्डी रस के माधुर्य से परिचित थे और काव्य में रस की स्थिति को अनिवार्य मानते थे।

मधुरं रसवदवाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।। –काव्यादर्श १.५१

परन्तु रस का संचार करने के लिए वे अलंकार को साधन के रूप में आवश्यक मानते थे।

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।। –काव्यादर्श।

रस को उन्होंने काव्य में प्रधान नहीं माना तथा उसको रसवद् आदि अलंकारों में परिगणित कर दिया। रस से उपपन्न आनन्ददायक कथन को उन्होंने रसवद् अलंकार कहा – (रसवद्रसपेश –काव्यादर्श २.२७५)। उन्होंने गुणों को भी अलंकार रूप माना था। इस प्रकार रस, रीति आदि की विशेषता को स्वीकार करते हुए भी दण्डी ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया था। अतः दण्डी को अलंकारवादी आचार्य कहना अधिक उपयुक्त है।

'काव्यादर्श' की शैली अधिक सरल है तथा सारगर्भित है। कवित्व की दृष्टि से भी दण्डी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने काव्यादर्श में जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अधिकांश स्वरचित हैं। कुछ ही उदाहरण अन्य काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। दण्डी का पदलालित्य प्रसिद्ध है (दण्डिनः पदलालित्यम्)। 'काव्यादर्श के पदों में लालित्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। दण्डी ने जिन प्रसाद, माधुर्य सौकुमार्य अर्थव्यक्ति, कान्ति आदि गुणों की विवेचना की है, वे सब उनकी इस रचना में उपस्थित है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्' कहकर जिस अभिमान को व्यञ्जित किया है, दण्डी ने भी मूकभाव से आचरण द्वारा उसी अभिमान को व्यञ्जित किया है। ऐसा लगता है कि पण्डितराज के कुछ अंशों में दण्डी पथ–प्रदर्शक बने थे। जहां तक अनुमान किया जा सकता है–पण्डितराज ने काव्यलक्षणनिर्वचन में भी **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** को ही परिष्कृत करके **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः'** का रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार दण्डी द्वारा अवलम्बित स्वकृतोदाहरणप्रदर्शन पद्धति से प्रभावित होकर ही पण्डितराज ने 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' कहा है।

जहाँ तक कवित्व का सम्बन्ध है, दण्डी ने अनुष्टुप् छन्द में भी बड़ा उत्तम कवित्व प्रदर्शित किया है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :–

शब्दप्रयोग की उपयोगिता के सम्बन्ध में दण्डी ने कहा है :–

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाभिधं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

कैसी सुन्दर सरस उक्ति है।

दृष्टान्त का यह प्रयोग कितना चमत्कारक है :–

गुणदोषानशास्त्रज्ञः 'कथं विभजते नरः।' किमन्धस्याधिकारोस्ति रूपभेदोपलब्धिषु।।

अनुप्रासकृत चारुत्व से काव्य की शोभा बढ़ाने में दण्डों की चतुरता स्तुत्य है :–

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा। पीनस्तनस्थितातामकवस्त्रेव वारुणी।।

अलंकारों के उदाहरण में कवि ने बड़ा सुन्दर काव्य–निर्माण किया है। यहां बहुत से उदाहरण न देकर कुछ ही छन्द प्रदर्शित किये जाते हैं :–

स्वभावोक्ति- **तुण्डैरातामकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः। त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः।।**

संशयोपमा- **किं पद्मन्तर्भ्रान्तालि किन्ते लोलेक्षणं मुखम्। मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा।।**

ललितरूपकम्- **हरिपादः शिरोलग्नजह्नुकन्याजलांशुकः। जयत्यसुरनिःशंकसुरानन्दोत्सवध्वजः।।**

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि दण्डी केवल आलोचक विद्वान ही नहीं, उत्कृष्ट कोटि के सहृदय कवि भी थे, इसीलिये तो उन्होंने उदाहरण के लिये भी दूसरों के पद्य नहीं अपनाये हैं। इससे भी बड़ी बात इनके ग्रन्थ में यह है कि परमतखण्डन तथा स्वमतसमर्थन आदि शास्त्रीय शास्त्रार्थ को भी उन्होंने कवित्वपूर्ण भाषा में इस आसानी के साथ समझाया है कि वह प्रसंग भी कवित्वमय मालूम पड़ता है।

काव्यादर्श में उल्लिखित अन्य तत्त्व-

'काव्यादर्श' के उदाहरणों में कुछ तथ्य ऐसे आ गये हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। कुछ ऐतिहासिक नाम इस प्रकार आये हैं :–

(१) **मलय** – मलय पर्वत की वायु दक्षिण देश से आती है। यह अनुकूल होती हुई जन–जन को सुख देती है (२.१.७४)। यह वायु कपूर के वृक्षों के स्पर्श से सुगन्धित होती है (३.१६५)।

(२) **कावेरी तथा चोल देश** – चोल देश की भूमियाँ काले अगरु से सुगन्धित है और कावेरी नदी के तट पर हैं ३.१६६)।

(३) **काञ्ची** – एक ऐसी नगरी, जिसके मध्य में अनुनासिक वर्ण है तथा जो दोनों ओर चार वर्णों से सुशोभित है। (३.११४)। इस पहेली का उत्तर काञ्ची है–क्+आ+ञ्+च +ई=काञ्ची। इसमें आठ वर्ण वाले राजा रहते हैं। कुछ टीकाकारों का कहना है कि यह पद पल्लव वंश का संकेत करता है। परन्तु पल्लव पद में सात ही वर्ण हैं। अतः कुछ समालोचक इससे पुण्ड्रक वंश को ग्रहण करते हैं। परन्तु दण्डी के समय में इस वंश की प्रतिष्ठा के प्रमाण नहीं मिलते।

(४) कलिंग–कलिंग देश में उत्पन्न हाथी मृगों के समान होते हैं (३.१६५)।

(५) **अवन्ती** – यह अवन्ती (अवन्ती देश की राजकुमारी) मुझको इस जन्म में ही कैसे मिल गई (२.२८०)। इस प्रसंग में कुछ समालोचकों ने अवन्ती पद से अवन्ती देश की राजकुमारी वासवदत्ता के प्रति संकेत माना है और इसका सम्बन्ध वत्सराज उदयन के साथ जोड़ा है। कुछ के अनुसार यहां अवन्ती पद राजवाहन की प्रेमिका अवन्तिसुन्दरी की ओर संकेत करता है।

(६) **राजवर्मन (रातवर्मन्)** – साक्षात् देवता के रूप राजा राजवर्मा को देखने पर जो प्रसन्नता प्राप्त हुई है, उसको प्रेय समझना चाहिये (२.२७६)। रात्तवर्मा (राजवर्मा) पल्लवनरेश नृसिंहवर्मा द्वितीय का विरुद था। दण्डी ने यह संकेत उसकी ओर ही किया होगा, क्योंकि वे प्रायः काञ्ची की राजसभा में रहे थे।

(७) **वराह** – राजसमूह से उद्धार की गई यह पृथिवी आज आपकी भुजा द्वारा धारण की जा रही है। यह पहले वराह द्वारा उद्धार की गई थी और शेषनाग पर स्थित थी (३.२५)। यहां वराह पद चालुक्य वंश के राजचिह्न की ओर संकेत करता है।

(८) **कालकाल** – श्लोक ३.५० में कालकाल पद का यमक के रूप में अनेक बार प्रयोग हुआ है। यह शब्द काञ्चीनरेश नृसिंहवर्मा द्वितीय का विरुद था।

(९) **पल्लव** – श्लोक ३.५० में पल्लव पद से पल्लव वंश की ओर संकेत प्रतीत होता है। दण्डी के प्रपितामह दामोदर पल्लववंशी राजा दुर्विनीत के भी आश्रय में रहे थे।

(१०) **भाषायें** – श्लोक १.३२ के अनुसार साहित्य की चार भाषायें हैं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। संस्कृत दैवी भाषा है जिसको महर्षियों ने कहा था। प्राकृत भाषायें तीन प्रकार की होती हैं–तद्भव, तत्सम और देशी। महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी, लाटी आदि अनेक प्राकृत भाषायें हैं। आभीर आदि अपभ्रंश भाषायें हैं।

(११) **बृहत्कथा** – बृहत्कथा की रचना भूतभाषा (पैशाची–प्राकृत) में हुई थी (१.३८।

(१२) **सेतुबन्ध** – सेतुबन्ध आदि काव्य महाराष्ट्र में बोली जाने वाली उत्कृष्ट प्राकृत भाषा के हैं (१.३४)।

(१३) **छन्दोविचिति** – श्लोक १.१२ में उल्लिखित 'छन्दोविचिति' को कुछ समालोचक दण्डी की एक रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश समालोचकों के विचार के अनुसार यह केवल छन्दःशास्त्र का नाम है। 'छन्दोविचिति' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख वामन ने किया है। हो सकता है कि दण्डी की भी कोई रचना 'छन्दोविचिति' नाम की रही हो, परन्तु वह अब प्राप्य नहीं है।

(१४) **कलापरिच्छेद** – श्लोक ३.१७१ में कलापरिच्छेद नाम का उल्लेख है। कुछ समालोचकों का विचार है कि दण्डी ने इसका 'काव्यादर्श' के एक परिच्छेद के रूप में लिखने का विचार किया था। कुछ का विचार है कि यह एक स्वतन्त्र रूप होगा। हो सकता है कि दण्डी ने इसको 'काव्यादर्श' के एक परिच्छेद के रूप में या स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखा हो, परन्तु वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है।

(१५) **महाभाष्य** – श्लोक २.२२७ में आप्तभाषित पद का प्रयोग है। विद्वानों की धारणा है कि इस पद का प्रयोग 'महाभाष्य' के लिए हुआ है।

(१६) **भरत नाट्यशास्त्र** – श्लोक २.३६७ में दण्डी ने कहा है कि आगमान्तर (दूसरे शास्त्र) में जो सन्धि तथा उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, लक्षण आदि कहे गये हैं, उन सबका अन्तर्भाव अलंकारों में ही हो जाता है। समालोचकों का विचार है कि दण्डी ने यहाँ आगमान्तर पद द्वारा भरत के 'नाट्यशास्त्र' की ओर संकेत किया है।

(१७) **न्याय** – श्लोक ३.१७३ में दण्डी ने हेतुविद्या को न्याय नाम दिया है।

(१८) **सुगत** – श्लोक ३.१७४ में सुगत के नाम से बौद्ध दर्शन का उल्लेख है कि संस्कार नश्वर नहीं होते।

(१९) **सांख्य** – श्लोक १.१७५ में कपिल नाम से कपिलप्रोक्त सांख्यदर्शन की ओर संकेत है।

काव्यादर्श की टीकायें-

दण्डी का 'काव्यादर्श' बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ था। इस पर प्राचीनकाल में अनेक टीकायें लिखी गई थीं। निम्न टीकाओं का परिचय प्राप्त होता है–

(१) 'काव्यादर्श' की सबसे प्राचीन टीका 'तरुण वाचस्पति' द्वारा लिखित है। इसको रंगाचार्य ने सम्पादित करके मद्रास से प्रकाशित किया है। इस टीका में तरुण वाचस्पति ने 'दशरूपक' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को उद्धृत किया है। तरुण वाचस्पति के पुत्र केशवभट्टारक की 'तात्पर्यनिर्णय' नाम की एक टीका भी 'काव्यादर्श' पर मिली है। केशवभट्टारक महाराजाधिराज रामनाथ के गुरु थे। रामनाथ होयसल वंशी राजा थे और १२५५ में सिंहासन पर बैठे थे अतः तरुण वाचस्पति का समय १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझा जा सकता है।

(२) हृदयङ्गमा टीका – इस टीका के लेखक का नाम विदित नहीं है। यह टीका 'काव्यादर्श' के केवल दो परिच्छेदो पर ही प्राप्त हुई है। इसको भी प्रो० रंगाचार्य ने मद्रास से प्रकाशित कराया था।

(३) मार्जन टीका – इस टीका की रचना महामहोपाध्याय हरिनाथ ने की थी। हरिनाथ के पिता का नाम विश्वधर तथा बड़े भाई का नाम केशव था। हरिनाथ का कथन है कि उन्होंने 'काव्यादर्श' की 'मार्जन' टीका के साथ ही 'सरस्वतीकण्ठाभरण पर भी टीका लिखी थी। परन्तु यह टीका इस समय प्राप्य नहीं है। मार्जन टीका का समय १३वीं शताब्दी का समझा जा सकता है।

(४) काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी – इस टीका की रचना गोपालपुर (बंगाल) निवासी कृष्णकिङ्कर तर्कवागीश ने की थी।

(५) श्रुतानुपालिनी टीका – इस टीका की रचना वादिजंघाल ने की थी।

(६) वैमल्यविधायिनी टीका – इस टीका की रचना जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ ने की थी।

(७) विजयानन्दकृत व्याख्या – यह व्याख्या विजयानन्द ने की है।

(८) यामुनकृत व्याख्या – इस व्याख्या में 'काव्यादर्श' को चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। अन्तिम परिच्छेद दोषों का है

(९) रत्नश्री टीका – इस टीका को लंकानिवासी रत्नश्रीज्ञान ने लिखा था। इसका प्रकाशन श्री अनन्तलाल ठाकुर के सम्पादकत्व में मिथिला इन्स्टीट्यूट दरभंगा से हुआ है।

'काव्यादर्श की इन प्राचीन टीकाओं में तरुण वाचस्पति की टीका, हृदयङ्गम टीका और रत्नश्री टीका प्रकाशित हुई हैं

काव्यादर्शः

प्रथमः परिच्छेदः

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम। मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती।। १।।

अथ सकलशास्त्रपारदृश्वाऽऽचार्यदण्डी काव्यलक्षणपरिचायकं काव्यादर्शनामकमिमं ग्रन्थभारभमाणः 'मङ्गलदीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युः' इत्यनुशिष्टविधेताकमाचारपरम्पराप्राप्तं च मङ्गलं चिकीर्षुः सरस्वतीं स्तौति–चतुर्मुखेति। चत्वारि मुखानि यस्यासौ चतुर्मुखो ब्रह्मा तस्य मुखान्येवाम्भोजानि कमलानि तेषां वनं समूहस्तत्र हंसवधूः हंसीव सर्वशुक्ला सर्वतः श्वेता शुक्लावर्णा सरस्वती विद्याधिष्ठातृदेवता नित्यं सर्वदा मम मानसे हृदये रमतां प्रीतिमाधाय वसतु। हंसी हि कमलवनवासरसिका, अतः सरस्वत्या हंसीत्वेन रूपणे ब्रह्ममुखानां कमलत्वेन रूपणमावश्यकम्। यथा हंसी कमलवने विहरति तथा ब्रह्मणो मुखेषु स्वच्छन्दविहारिणीयं वाणीति रूपकार्थः। ब्रह्ममुखविहारिण्या वाण्या वेदरूपतया निरस्तसमस्तपुंदोषतया सर्वशुक्ला नितान्तनिर्दोषेत्युक्तम्। काव्यलक्षणप्रपञ्चकेऽत्र ग्रन्थे सरस्वत्याः स्तुतिरतिसमुचिता। अत्र सरस्वत्यां हंसवधूत्वारोपं प्रति ब्रह्ममुखेऽम्भोजवनत्वारोपो हेतुरिति परम्परितरूपकमलङ्कारः, मुखमुखेति छेकानुप्रासश्च।।१।।

हिन्दी – काव्यलक्षणात्मक अपने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ की समाप्ति एवं प्रचार की कामना से आचार्य दण्डी ने ग्रन्थारम्भ में सरस्वती की वन्दना की है। सरस्वती ब्रह्मा के मुखकमलसमूह में सतत वास करने के कारण निर्दोष है, वेदरूपा वाणी ब्रह्ममुखवास के कारण निरस्तसमस्तपुंदूषणतया निर्मल है, वह वाणी हमारे हृदय में रमण–सप्रेम निवास करे। काव्यलक्षण प्रपञ्चात्मक ग्रन्थ बनाने के लिये तत्पर आचार्य के लिये सबसे आवश्यक वस्तु यही है कि उसके हृदय में निर्दोष वाणी का निवास हो, इसीलिये वाणी से ऐसी प्रार्थना की गई है। 'चतुर्मुख' को अम्भोजवन कहकर हंसीस्वरूपा सरस्वती के विहार की योग्यता ध्वनित की गई है। एक बात और ध्यान देने के योग्य है कि हंसी शुक्लवर्णा होती है, अतः हंसीत्वेनाध्यवसिता सरस्वती भी शुक्लवर्णा हो, इसीलिये सर्वशुक्ल विशेषण दिया गया है। सरस्वती की शुक्लवर्णता के विषय में लिखा है :–

आविर्बभूव तत्पश्चान्मुखतः परमात्मनः।
एका देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी।।
कोटिपूर्णेन्दुशोभाढया शरत्पङ्कजलोचना। (ब्रह्मवैवर्त्त)

किसी–किसी टीकाकार ने 'मम सरस्वती शिष्याणां मानसे रमताम्' ऐसा अध्याहार करके यह अर्थ किया है कि हमारी वाणी विद्यार्थियों के हृदय में विहार करे, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ बनाने वाले आचार्य की पहली कामना यही हो सकती है कि वाणी का प्रकाश हमारे हृदय में हो जिससे ग्रन्थ अच्छी तरह लिखा जाये। विद्यार्थियों के हृदय में अपनी वाणी के निवास की कामना तो ग्रन्थ के बनने के बाद की जा सकती है। दूसरी बात जो सबसे अधिक खटकने वाली है वह यह है कि इस अर्थ में 'मानसे' का एकवचन बाधक है, 'विद्यार्थियों' बहुवचन है, उनका एक मन कैसे होगा ?

इस श्लोक में ब्रह्मा के मुख को कमलवन से रूपक दिया है, वह तभी संगत होगा जब वाणी को हंसी का रूपक दिया जाये, अतः परम्परितरूपक नामक अर्थालंकार तथा 'मुखमुख' शब्दसाम्य से छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास है।

इसी श्लोक में 'सर्वशुक्ला विशेषण देखकर–'विज्जिका' नामक विद्यागर्विता महारानी ने कहा था–

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता। वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती।।'

'सर्वशुक्ला' विशेषण से सरस्वती का निर्दोषत्व ही प्राधान्येन अभिप्रेत है। प्रेमचन्द तर्क वागीश नामक व्याख्याकार ने इसे वर्णपरक मानकर करचरणनयनादिभिन्न अंगों में श्वैत्य को स्वीकार किया है। कवियों ने सुन्दरी स्त्री के रूप में किसी भी शरीरावयवको श्वेत नहीं वर्णित किया है, अतः उनका यह कहना कि–'सति बाधे सङ्कोचस्यादरणीयत्वेन सर्वपदस्य करचरणतलाधरनयनादिभिन्नाङ्गपरत्वादुपपन्नम्' ठीक मालूम नहीं पड़ता है।। १।।

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च। यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षण।। २।।

पूर्वेषां प्राचां शिलालिभरतप्रभृत्याचार्याणां तैर्विरचितानि नाट्यसूत्रप्रभृतीनि संहृत्य समुच्चित्य संक्षिप्य तान्यर्थतः संगृह्येत्यर्थः, प्रयोगान्

व्यासवाल्मीकिकालिदासप्रभृतिमहाकविग्रन्थेषु स्थितानि तत्प्रयुक्तनि लक्ष्याणि च उपलक्ष्य सूक्ष्मेक्षिकया विभाव्य निपुणमालोच्य यथासामर्थ्यम् स्वबुद्धिवैभवानुकूलम् अस्माभिः दण्डिना काव्यलक्षणम् इतरव्यवच्छेदकं काव्यपर्याप्तवृत्तिधर्मविशेषरूपं लक्षणं काव्यपरिचायकं वस्तुवर्णनम् क्रियते विधीयते। अयमाशयः—यथासामर्थ्यमित्यनेन नम्रता प्रदर्शिता, काव्यलक्षणं क्रियते इत्यनेन काव्यपरिचायकं वस्तु निरुच्यते इति विवक्षा। लक्ष्यते ज्ञायते स्वरूपमनेनेति लक्षणम्, तच्च द्विविधं तटस्थलक्षणं च, यथा ब्रह्म किमिति जिज्ञासायां—यतो जगतो जन्मादि तत्तदिति तटस्थलक्षणं, सच्चिदानन्दं ब्रह्मेति तत्स्वरूपलक्षणम्। एवमिहापि काव्यस्य स्वरूपलक्षणं वक्ष्यत इति बोध्यम्। अनेनास्य ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यं प्रदर्शितम्। तथा च काव्यस्वरूपं प्रतिपाद्यम्, तज्जिज्ञासुरधिकारी, व्युत्पत्तिः प्रयोजनम्, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावश्च सम्बन्ध इति चतुष्टयमनुबन्धस्य सूचितम्।। २।।

हिन्दी – पूर्वाचार्य शिलालिभरतप्रभृति द्वारा निर्मित नाट्य–सूत्रादिका संग्रह करके उनके द्वारा किये गये विवेचनों का संक्षप रूप म संग्रह करके और व्यास बाल्मीकि कालिदास प्रभृति महाकवियों की कविता में उनके उदाहरणो को सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके म (दण्डी) अपनी बुद्धि के अनुसार काव्यलक्षण का निर्वचन करूंगा। इसमें अपनी बुद्धि के अनुसार कहने से नम्रता प्रकट की गई है 'पूर्व–शास्त्राणि संगृह्य' कहकर आचार्य दण्डी ने स्वोक्त अर्थ का कपोलकल्पितत्व का निरास कर के उपादेयत्व सूचित किया है 'पूर्वशास्त्राणि संगृह्य' 'प्रयोगानुपलक्ष्य च' इन दोनों विशेषणो से यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में कहे गये पदार्थ केवल लक्षणानुमोदित ही नहीं, लक्ष्यानुसारी भी हैं। लक्षण शब्द का अर्थ 'इतरव्यवच्छेदक' होता है, वह वस्तु लक्षण है जिसके कहे जाने पर जिसका लक्षण किया जाये उससे अतिरिक्त पदार्थों का व्यवच्छेद–पृथक्करण–हो जाये। जैसे घट का लक्षण किया–'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' इस लक्षण के द्वारा पटादि पदार्थ का व्यवच्छेद हो गया। लक्षण दो तरह के होते हैं, – १. स्वरूपलक्षण, २–तटस्थलक्षण। जैसे ब्रह्म का स्वरूपलक्षण–"सच्चिदानन्द ब्रह्म'। तटस्थ लक्षण–'जन्माद्यस्य यतः' है। प्रकृत में आचार्य ने काव्य का स्वरूप लक्षण ही किया है जो आगे कहा जायेगा। इस श्लोक से अनुबन्धचतुष्टय भी प्रदर्शित हो जाता है। काव्यस्वरूप प्रतिपाद्य विषय, जिज्ञासु जन अधिकारी काव्यस्वरूपज्ञान प्रयोजन एवं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव ही सम्बन्ध है।।२।।

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा। वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते।। ३।।

इह अनादिविविधविचित्ररचनाप्रपञ्चचारुतरेऽतरे अस्मिन् संसारे शिष्टैः शब्दशास्त्रप्ररूढमतिभिः पाणिनिवररुचिप्रभृतिभिः अनुशिष्टानां प्रकृतिप्रत्ययविभागादिभिर्व्युत्पादितानाम् साध्वसाध्वनुशासनविधया वा शासितानां (नियमितानां) संस्कृतप्राकृतानाम्, शिष्टानाम् केनापि प्रकारेण अनुशासनं न प्राप्तानां संस्कृतप्राकृतभिन्नानां देशभाषाणम्, वाचाम् एतस्त्रितयरूपाणां गिरामेव प्रसादेन अनुग्रहेण (कृपया वा) लोकानां देवानारभ्य पामरपर्यन्तानां प्राणिनां यात्रा व्यवहारः प्रवर्तते सिद्धयति। इह संसारे त्रिविधा वाच उपलभ्यन्ते–संस्कृताः, प्राकृताः देशयश्च। तत्राद्या पाणिन्यादिभिरनुशिष्टा, द्वितीया वररुचिना कृतानुशासना, शिष्टा च देशी वाक्। एता एव वाच आधारीकृत्य देवादिपामरान्तमिदं विश्वमुच्चावचव्यवहारमातनोति, वाचामभावे कः कथं स्वाभिप्रायं स्वेतरजनवेधं विधातुमीशीत अर्थात स्वाभिप्राय कथमितरान् बोधयेत्।

इदमेवमनसि कृत्योक्त भर्तृहरिणा

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।'

सर्वेषां ज्ञानानां शब्दानुविद्धत्वकथनेन व्यवहाराणां शब्दनैरपेक्ष्येणासम्भवतोक्ता। तत्रोत्तमानां संस्कृतभाषया मध्यमानां प्राकृतयाऽधमानां च देशभाषया व्यवहारः सिद्ध्यतीति यथायथमवगन्तव्यम्।। ३।।

हिन्दी – शिष्टजन–अनुशासन के जानने वाले पाणिनि, वररुचि आदि–से अनुशिष्ट प्रकृतिप्रत्ययविभागज्ञापन द्वारा साधित सस्कृत और प्राकृत, तथा इनके अतिरिक्त शिष्ट–अशासित–देशी वचनों के प्रसाद से ही यह लोकयात्रा–देवादिपामरान्त जनसमूह का समस्त व्यवहारकलाप–चला करता है। संसार की वाणियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–शिष्टानुभिन्न तथा तद्भिन्न। शिष्टानुशिष्ट कहने से संस्कृत–प्राकृत वाणियां ली जा सकती हैं क्योंकि उनका अनुशासन है। शिष्टानुशिष्टभिन्न देशी भाषा मानी जाती है, इन्हीं तीनों प्रकार की वाणियों से इस देवादिपामरान्त जनसमूह का व्यवहार प्रवृत्त होता है। उत्तम लोक सस्कृत से, मध्यम लोक प्राकृत से तथा अधम लोक देशी वाणी से अपना व्यवहार चलाते हैं। इसी बात को भर्तृहरि ने वाक्यदीप में कहा है :–

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। ३।।

इस पद्य में शिष्टाशिष्टा में यमक अलंकार है–शिष्ट–शासित, शिष्ट शेष।

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। ४।।

कृत्स्नं समस्तं भुवनत्रयम् लोकत्रितयम् अन्धंतमः प्रगाढान्धकारेण व्याप्तं भवेत् यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः प्रकाशकरम किमपि तत्त्वम् सारम् सृष्टिकालात् आरभ्य न दीप्यते न प्रकाशेत। शब्दनाम्नः प्रकाशस्य एवायं महिमा यदयं लोको व्यवहारेषु न मुह्यति,यदि शब्दा स्तदा लोकोऽयं व्यवहारं कर्तुं न पारयेत्तदधीनत्वात्सर्वव्यवहाराणाम्। यथाहि सूर्यादिज्योतिरभावे सर्वे, पदार्था अन्धकारेण व्याप्ता इव भवन्ति तथैव शब्दाभिधज्योतिरभावे तन्मात्रसम्पाद्यानां व्यवहाराणामनभ्युपायतया लोकोऽयमन्ते तमसीव मग्नो सकललव्यवहारश्च जायेतेत्याशयः पूर्वश्लोकेन शब्दानां व्यवहारसाधनत्वमन्वयमुखेनोक्तं तदेवात्र व्यतिरेकमुखेनोक्तम्।। ४।।

ी – यह भुवनत्रय तीनो लोक गाढ़े अन्धकार से व्याप्त हो जायें। जैसे अंधकार में व्यवहार की असाध्यता उत्पन्न हो जाती है ी तरह सभी तरह के व्यवहार लुप्त हो जायें, यदि शब्दरूप ज्योति सृष्टिकाल से ही अपना प्रकाश न फैलाती रहे। यह शब्दरूप ोति का ही महत्त्व है कि यह संसार व्यवहार–लोप को प्राप्त करके अन्धकारनिमग्न–सा नहीं हो जाता है, 'आसंसारं न दीप्यते' समें 'आसंसारम्' पद का आङ अभिव्यापक अर्थ में है, 'संसार की उत्पत्ति से लेकर अन्त तक' यह उसका तात्पर्य है, जो यह द्योतित रता है कि सृष्टि करने वाला 'नामरूपे व्याकरवाणि' ऐसी इच्छा करके रूप से पहले नाम की ही सृष्टि करता है जिससे नाम रूप शब्द ज्योति की सहायता से समस्त व्यवहार निर्बाध चला करते हैं। किसी बात का कथन दो प्रकार से होता है–अन्वय द्वारा तथा व्यतिरेक द्वारा जैसे किसी लड़के को अध्ययनाभिमुख करने के लिए कहा जाता है कि 'पढ़ोगे तो आराम से रहोगे' यह अन्वय मुख से कथन है, इसी अर्थ को यदि कहें कि 'नहीं पढ़ोगे तो कष्ट में रहोगे' यह व्यतिरेकमुख से कथन हुआ। इसी तरह पूर्वश्लोक द्वारा शब्द का व्यवहारोपयोगित्व अन्वय मुखेन' कहा गया था, इस श्लोक द्वारा वस्तु व्यतिरेक मुख से कही गई है। अतः पौनरुक्त्य नहीं है। इस श्लोक में आचार्य ने शब्द को ज्योति कहा है, 'ज्योतिर्द्योतनात्' प्रकाशक तत्त्व ज्योति कहा जाता है अतः शब्द भी सकलव्यवहार प्रकाशक या ज्योति कहा जा सकता है, बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है :– 'वाचेवायं ज्योतिषा आस्ते'। इसी व्यवहारप्रवर्त्तकतत्त्वकों दृष्टि में रखकर कवियों ने वाणी को बड़े आदर से स्मरण किया है, सुबन्धु ने कहा है :–

'करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवयः। पश्यन्ति सूक्ष्ममतयः सा जयति सरस्वती देवी'।।

इन दो श्लोकों द्वारा आचार्य दण्डी ने अन्वयमुख एवं व्यतिरेक से वाणी के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, इसमें वाणीसामान्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है, काव्य वाणीविशेष है, उसका महत्त्व आगे बता रहे हैं।। ४।।

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्। तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति।। ५।।

आदिकालीनाः प्राचीनसमयजाताः ये राजानः इक्ष्वाकुमान्धातृदिलीपप्रभृतयस्तेषां यशोरूपं कीर्तिरूपं बिम्बं प्रतिरूपं छायात्मकम्, वाङ्मयम् कविकृतकाव्यप्रबन्धरूपमादर्शम् दर्पणं प्राप्य इदानीम् तेषां राज्ञाम् असन्निधाने समवधानाभावेऽपि, अविद्यमानेऽपि न नश्यति न विलीयते, इति स्वयम् आत्मनैव पश्य विभावय। इदमत्र बोध्यम्–किमपि बिम्बान्तरमादर्शप्रतिबिम्बितं सत् तावदेव प्रकाशते यावततत्र तिष्ठति, बिम्बापगमे प्रतिबिम्बापगमनैयत्यात, इह तु काव्यात्मकं दर्पणं प्राप्तं प्राचां राज्ञां यशोबिम्बं सदैव प्रतिबिम्बसृष्टिं करोति, बिम्बस्थानीये यशसि गतेऽपि काव्यदर्पणे तत्प्रतिबिम्बं भासमानमेव तिष्ठति। अपरेषु शब्देषु दर्पणे कस्यचित् वस्तुनः बिम्बं प्रतिबिम्बितं भवति यदा तत् विद्यते किन्तु काव्य दर्पणे, प्राचीन राजेषु गतेष्वपि तेषां कीर्तिरूपं बिम्बं प्रतिबिम्बितम् (सुरक्षितं) अस्ति। एतेनातीतानां राज्ञां यशःख्यापनं काव्यप्रयोजनमुक्तम, इदमुपलक्षणम्, काव्यकर्त्तुस्तदोद्बुश्चापि यशःप्रभृतीनि काव्यप्रयोजनानि बोध्यानि। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे–

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

भामहस्तु सर्वानपि पुरुषार्थान् काव्यनिबन्धफलत्वेनोपगतवान्, तदुक्तं तेन–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।।

अत्र श्लोके उपमानभूतलौकिकादर्शापेक्षयोपमेयभूतवाङ्मयादर्शस्याधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकोऽलङ्कारः, तच्चाधिक्यमत्र विस्म्बापगमेऽपि प्रतिबिम्बप्रकाशनात् प्रत्येयम्।। ५।।

हिन्दी – जो राजागण कालक्रमानुसार व्यतीत हो चुके हैं, इहलोकलीला समाप्त कर कालधर्म को प्राप्त हो गये हैं, उनकायशरूप बिम्ब इस शब्दरूप दर्पण में अब भी प्रतिबिम्बरूप में भासमान हुआ करता है, नष्ट नहीं होने पाता है, इस बात को आप स्वयं देख लें। लोक ं बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का साधारण क्रम यही है–यावत्कालपर्यन्त बिम्ब सम्मुखावस्थित रहता है, तावत्कालपर्यन्त ही प्रतिबिम्ब दर्पणादि प्रतिबिम्बग्रहण समर्थ द्रव्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। बिम्बापाय हो जाने पर प्रतिबिम्ब का भी अपाय अवश्य हो जाया करता ै, परन्तु इस शब्दरूप दर्पण में प्राक्तन नृपतियों के यशरूप बिम्ब का प्रतिबिम्ब बिम्बापाय हो जाने भी प्रतिबिम्बात्मना भासमान ही रहता है। वह नष्ट नहीं होता है। इस बात को आप स्वयं देख लें। इसमें अन्यप्रतिबिम्बापे क्षया यह विशेषता है कि यह बिम्ब हट जाने पर भी प्रतिबिम्ब रूप में सदा शब्दरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। 'स्वयं पश्य' कहकर आचार्य ने अपने कथन में प्रमाण

दे दिया है, इसमें बोध्यजन का प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अतः यह बात असन्दिग्धरूप में मान्य है।

इससे अतीत नृपतियों का यशःख्यापन काव्य का प्रयोजन है यह बात कही गई है। यह उपलक्षण है, काव्यनिर्माण करने वाले तथा उसके ज्ञाता के यशः प्रभृति को भी काव्यप्रकाशकार आदि परवर्ती आचार्यों ने काव्यप्रयोजन माना है।

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'।।

इस कारिका में आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन प्रतिपादित किये हैं, १. यश, २. अर्थ, ३. आचारज्ञान, ४. अमङ्गलनिवारण, ५. रसानुभवजन्यानन्द और ६. उपदेश।

आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में लिखा है :–

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिवेषणम्'।।

इनके मतानुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं, १. पुरुषार्थ चतुष्ट्य और कलाओं में विशेष निपुणता, २. कीर्ति और ३. रसानुभव।

इन आचार्यों ने समय–प्रवाह में काव्यप्रयोजनतया प्रतीत होने वाले यथासम्भव अधिकतम विषयों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है

आचार्य रुद्रट ने भी अपने 'काव्यालंकार' में काव्य प्रयोजन का प्रतिपादन बड़े विशद शब्दों में किया है :–

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्। स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।।

अर्थमनर्थोपशमं शममसममथवा मतं यदेवास्य। विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः।।

तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यदिभरविकलां कुशलैः। अधिगतसकलज्ञेयैः कर्त्तव्यं काव्यममलमलम्'।।

इन उद्धरणों से काव्य का प्रयोजन विशदरूप में अवगत हो जाता है।

पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है :–

'Delight is the Chief,if not the only end of the poetry. Instruction can be admitted in the Second place, for poetry only instructs as it delights.

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रायः सभी आचार्यों ने कीर्त्ति को काव्य प्रयोजन माना है। हाँ, उसके साथ अन्यान्य प्रयोजन भी यथावत वर्णित हुए हैं।। ५।।

गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति।। ६।।

इतः पूर्वं वाचः सप्रयोजनकत्वमुक्त्वा सम्प्रति तस्या निर्दोषतायां यतनीयमित्यभिधास्यति, तत्र प्रथमं सुप्रयोगकुप्रयोग– वैलक्षण्यमाह–गौर्गौरिति। सम्यक् दूषणराहित्येन गुणालङ्कारादिपूर्णतया च प्रयुक्ता व्यवहृता गौः वाक् बुधैः पण्डितैः कामदुधा सर्वकामप्रदात्री स्मर्यते आख्यायते, तदुक्तं महाभाष्ये–'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इति, तदेवं सुप्रयोगस्य सर्वफलदत्वमुक्तम्, दुष्प्रयोगे दोषमाह सैव गौः दुष्प्रयुक्तास्वरवर्णमात्रादिवैगुण्येन सन्दर्भसङ्केताद्यविचारणया चोच्चारिता सती प्रयोक्तुः दुष्टप्रयोगकर्त्तुः कवेः वक्तुश्च गोत्वं बलीवर्दत्वं मूर्खभावम् शंसति प्रथयति, सरलेषु शब्देषु वाक् सुष्ठु प्रयुक्ता विद्वांसै : कामपूरिका धेनुरिव उच्यते, सा एव यदि दोषयुक्ता तर्हि, कवे : मूर्खत्व, अशक्तित्वं च प्रकटयति। अत्र यमकोऽलङ्कोऽपि विद्यते। एतदप्युक्तम्–'वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः इति। अनेन सुप्रयोगस्य सकलफलप्रदत्वेन कामदुघात्वस्य कुप्रयोगस्य च मूर्खताप्रथकत्वस्याभिधानेन दोषाणां परिहेयत्वम्, गुणानां च संग्रहणीयभाव उच्यते।। ६।।

हिन्दी – अभी तक वाणी और तद्विशेषरूप काव्य के प्रयोजन बतलाये गये थे, अब उनकी निर्दोषता के विषय में सावधान करने के लिए सुप्रयोग तथा दुष्प्रयोग में भेद कहने जा रहे हैं। गौर्गौरिति। सम्यक् भलीभाँति, दोषों से बचाकर और गुणालंकारादि से युक्त करके प्रयोग की गई वाणी विद्वानों द्वारा कामदुधा–कामधेनु–सकलाभिमतार्थदात्री कही गई है, और यही वाणी यदि दुष्प्रयुक्त–स्वरवर्णमात्रादि वैगुण्य से सन्दर्भसंकेतादि दोष से अथवा अन्य किसी प्रकार के दोष से युक्त प्रयुक्त होती है तब प्रयोग करने वाले की मूर्खता प्रकट करती है। यदि आपने शब्दों का सुप्रयोग किया तब तो आपके लिये सकलाभिमतार्थदात्री कामधेनु सिद्ध होगी, यदि आपने वैसा नहीं किया, उसमें स्वरमात्रा सन्दर्भ सकैतादि का दोष उत्पन्न करके प्रयोग किया। तब वह आपको मूर्ख प्रख्यापित करेगा, इस बात को महाभाष्यकार ने प्रमाणित किया है :– 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग भवति और 'वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः'। यह कथन कबीर के एक दोहे का स्मरण दिलाता है :–

'साधु कहावन कठिन है लम्बा पेड़ खजूर। चढै तो चाखै प्रेमरख गिरे तो चकनाचूर।।'

इन अवतरणों तथा कथनों से यह सिद्ध होत है कि दोषों के त्याग तथा गुणों के संग्रह में प्रयत्न करना आवश्यक है।। ६।। (इसमें गौगो में अर्थ भिन्न होने से वाणी और धेनु यमकालंकार भी है।)

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। ७।।

दोषाणां हेयत्वं गुणानां संग्राह्यत्वं च समर्थितं सामान्येन, सम्प्रति विशिष्य दोषाणां हेयत्वं दृष्टान्तद्वारा विशदयति–तदल्पमिति। तत् तस्मात् दोषस्यानेकविधायशःप्रख्यातपकत्वाद् निषिद्धत्वाच्च काव्ये अल्पम् पदपदांशगतमपि (किं पुनः शब्दार्थरसगतम्) दुष्टं दोषः कथञ्चन केनापि प्रकारेण नोपेक्ष्यम न अवहेलनीयम्, सर्वथैव दोषाणां स्वल्पानामपि परिहाराय यत्नः करणीय इत्यर्थः, ननु स्वल्पो दोषो गुणसन्निपाते चन्द्रकरेष्वङ्क इवं निमङ्क्ष्यति, कृतं तत्परिहारप्रयासेनेत्यत्राह–स्थादिति। यथा सुन्दरमपि सुविभक्तसुगठितसर्वाङ्गशालितया यथोचितपरिधानपरिष्कृततया च सुन्दरमपि रमणीयमपि वपुः शरीरम् एकेन कुत्राप्यङ्गविशेषेऽवस्थितेन लघुना श्वित्रेण श्वेतकुष्ठेन दुर्भगं सौभाग्यवर्जितम् निन्दापात्रं स्यात् जायेत, यथा शरीरे क्वचनाङ्गभेदेऽवस्थितेन श्वेतकुष्ठेन सुन्दरमपि शरीरं दुर्भगं जायते तद्वत् स्वल्पेन क्वचन पदांशे स्थितेन दोषेण काव्यमेव सकलं निन्दापात्रं भवति, अतः सर्वथा तत्परिहाराय यतनीयमिति भाव। अल्पेनापि दोषेण काव्यं दुष्टं भवति, हेयं भवति यथा अल्पेनपि श्वेतकुष्ठदोषेण सुन्दरमपि शरीरं हेयं दोषयुक्तं भवति। अतः सर्वथा काव्ये दोषाः परिहरणीया। दुष्टमिति भावे क्तः, दोष इत्यर्थः। दोषस्यात्यन्तपरिहार्यत्वे प्रकान्ते भामहेनाप्युक्तम् :–

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।

अत्रोपमानोपमेयभूतयोः पूर्वोत्तरवाक्ययोः बिम्बप्रतिबिम्बभावेन भिन्नधर्मनिर्देशाद् दृष्टान्तो नामालङ्कारः।। ७।।

हिन्दी – सगुण शब्द का सुप्रयोग करने वाला प्रशंसा का पात्र होता है और सदोष शब्द का प्रयोग करने वाला मूर्ख कहा जाता है, अतः काव्य में (जो शब्द की उत्तम श्रेणी में है) थोड़े से दोष की भी, पद–तदंशगत दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि बहुत से गुणों में वर्त्तमान छोटा सा दोष क्या कर सकेगा, 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेश्विवाङ्कः" सब जगह यह न्याय काम नहीं करता, देखिये–एक सुन्दर शरीर वाले तथा बढ़िया वस्त्र पहने हुए बालक के किसी अंग विशेष में श्वेतकुष्ठ का धब्बा दीख पड़ता है तो वह घृणा का पात्र बन जाता है। शरीर के एक भाग में वर्त्तमान वह श्वेतकुष्ठ जैसे सभी गुणों के समवधान में भी उस सुन्दर बालक को घृणा का पात्र बना देता है, उसी तरह एक भाग में वर्त्तमान थोड़ा सा भी दोष काव्य की उत्कृष्टता को समाप्त कर डालता है, इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में दोष न आ पड़े इसके लिए पूर्ण सतर्क रहना चाहिये। इसी प्रसंग में कही गई भामह की उक्ति ऊपर संस्कृत व्याख्या में लिखी जा चुकी है।। ७।।

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः। किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु।। ८।।

दोषाणां परित्यागो गुणानां संग्रहंश्च कार्यत्वेनोक्तः, ते च ज्ञाताः सन्त एव हेया उपादेयाश्च भवितुं शक्नुवन्ति, तज्ज्ञानं च शास्त्रैकसम्पाद्यमित्याह–गुणदोषानितिं अशास्त्रज्ञः गुणदोषपरिचयप्रदसाहित्यशास्त्रज्ञानविधुरो जनो लोकः गुणान् उपादेयधर्मान्, श्लेषः प्रसाद इत्यादिना वक्ष्यमाणान् (काव्यशोभाजनकतयोपादेयान, अनुप्रासोपमादीनलङ्काराश्च),दोषान् हेयतयोक्तान् अपार्थत्वादीन् कथं विभजते केन प्रकारेण इमे गुणा इमे च दोषा इति प्रातिस्विकरुपेण परिचिनुयात् शब्दानुशासनादिज्ञानसम्पन्नः कथंचित्पदतदर्थज्ञानं लब्धुं क्षमोऽपि भवेद्, परं यावत्तस्य साहित्यशास्त्रज्ञानं न भवति, तावद् गुणान् दोषाँश्च परिच्छेतुमसौ नैव क्षमेतेत्यर्थः। सरलेषु शब्देषु साहित्यशास्त्रस्य अनभिज्ञः लोकः गुणदोषान्तर कर्तुं कथं समर्थो भवेत् नेत्रशक्तिहीन जनः किं रूपस्यभेदान् कर्तुं समर्थो। नहि। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन विशदयति–किमिति। किं रूपस्य चक्षुरिन्द्रियमात्रयाह्यगुणविशेषस्य भेदः श्वेतपीतादिरूपः तदुपलब्धिषु तत्परिज्ञानेषु अन्धस्य चक्षुरिन्द्रियविकलस्य अधिकारः क्षमत्वम् अस्ति ? नास्तीत्यर्थः। अयमभिप्रायः–यथा चक्षुरिन्द्रियविकलो जनो रूपभेदान् श्वेतपीतीदीनवधारयितुमशक्तो भवति, तद्वत्साहित्यशास्त्रज्ञानविधुरो जनो गुणदोषविभागाक्षमो भवति, विभज्य तज्ज्ञानं चावश्यकं पूर्वोदीरितफलवत्त्वादतः साहित्यंशास्त्रस्य ज्ञानमावश्यकम्। साहित्यशास्त्रं च स प्रयोजनमित्यावेदितं बोध्यम्। पूर्वश्लोकवदत्रापि दृष्टान्तोऽलङ्कारः ।। ८।।

हिन्दी – जो साहित्य शास्त्र से परिचित नहीं होगा, वह गुण–दोष का विभाग किस प्रकार कर सकेगा ? क्योंकि साहित्यशास्त्र में ही गुण दोषों का निरूपण किया जाता है। क्या रूपभेद को परखने का अधिकार अन्धों का होता है ? जिसको साहित्य–शास्त्र का ज्ञान नहीं है, उसे (शब्दानुशासन का ज्ञान रहने पर) पदपदार्थ का ज्ञान कदाचित् हो भी जाये, परन्तु उपादेयता निर्दिष्ट श्लेष, प्रसाद आदि गुण तथा वर्जनीयतया कथित अपार्थत्व प्रभृति दोषों का विभक्ततया ज्ञान कैसे संभव होगा ? उसको दोष गुण का पृथक्–पृथक् परिचय नहीं प्राप्त हो सकेगा, जैसे चक्षुरिन्द्रिय से हीन व्यक्ति को रूपभेद (श्वेतपीतादि का विभक्ततयां ज्ञान) होना सम्भव नहीं है, क्योंकि पीले आदि का अन्तर वही कर सकता है जो देख सकता है। इस श्लोक से साहित्य शास्त्र का प्रयोजन कहा गया है। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।। ८।।

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।। ६ ।।

तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।

अतः गुणदोषविभागज्ञानपूर्वककाव्यपरिशीलजन्यानन्दस्य साहित्यशास्त्रज्ञानाधीनत्वात् सूरयः भरतादयो विद्वांस प्रजाना लोकानाम व्युत्पत्तिम् काव्यतो व्यवहारपरिज्ञानकौशलम् तद्विरचनचातुर्यम् वा अभिसन्धाय उद्दिश्य–एते लोकाः काव्यतो व्यवस्थित– व्यवहारज्ञानवन्तो भवेयुः, काव्यं कर्तुं च वा क्षमेरन्निति प्रजाव्युत्पत्तिमीहमानाः सन्त इत्याशयः, विचित्रमार्गाणाम् नानाप्रकाराणाम् वैदर्भगौडीयादिरीतिभेदन शब्दार्थालङ्कारभेदेन च भिद्यमानरचनाप्रकाराणाम् वाचाम् काव्यात्मकगिराम् क्रियाविधिम् निर्माणपद्धतिं निबबन्धु शास्त्रपरिभाष्या विरचयामासुः। अत्र सूरयो निबबन्धुरिति तदुक्तीनामप्रमादत्वसंभावना, तया च तदनुसारिणो ममाप्युक्तेः सारवत्त्वमिति ध्वनितम।। ६।। अतः विद्वांसः आचार्याः लोकानां व्युत्पत्तिः व्यवहारनैपुण्यं लक्ष्यीकृत्य भिन्नभिन्नमार्गात्मकानां काव्यात्मकरचनानां प्रयोगविधिं विरचयामासु तै विद्वांसैः विभिन्नकाव्यानां शब्दार्थरूपं वपुः अनुप्रासोपमादयश्च अलङ्काराः प्रकटिताः।

तैः पूर्वसूरिभिः भरतादिभिः काव्यानाम् इष्टार्थयुतवाक्यानाम् गद्यपद्यमिश्रादिभेदेन भिन्नानाम् शरीरम् आत्मस्थानीयेष्टार्थाश्रया दह अलङ्काराः अनुप्रासोपमादयः च दर्शिता', प्राञ्चो भरतादयः सूरयोऽभीष्टार्थमात्मानम्, तदाश्रयं शब्दस्तोम दहन, तत्प्रसाधनपटूनलङ्काराननुप्रासोपमादीन्, चकाराद्दोषांश्च प्रदर्शितवन्त इत्याशयः। गुणास्तु श्लेषादयो वैदर्भरीतेः प्राणतया मता अत पदावलीसंस्थानविशेषात्मकवैदर्भरीतेः शरीररूपतया तादृशशरीरनिरुक्त्यैव निरुक्ता इति पृथगत्र गुणपदानुक्तावपि न्यूनत्वं नाशङ्कनीयम।

हिन्दी – गुण तथा 'दोष का विभागपूर्वक' ज्ञान – ये गुण हैं, ये दोष हैं, इस प्रकार का धर्मभेदप्रकारक ज्ञान–साहित्यशास्त्रज्ञान के बिना नहीं हो सकता, इसलिये प्राक्तन आचार्य भरत आदि विद्वानों ने लोक को व्यवस्थित व्यवहारज्ञान मिल सके इसलिये नाना प्रकारों में – वैदर्भी गौडीप्रभृति रीतियों एवं शब्दार्थालंकारादि प्रभेद से भिन्न – काव्यात्मक वाणी के निर्माण का प्रकार बताया है। भरत आदि आचार्यों ने देखा कि सकल जन को व्यवहार–ज्ञान व्यवस्थित रूप से काव्य के द्वारा ही हो सकता है, अतः उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों तथा शब्दार्थालंकारादिकों के प्रभेद से बहुधा विभक्त इस काव्यात्मक वाणी के निर्माण–प्रकार का यथावत् वर्णन कर दिया है।। ६।।

भरतादि प्राचीन आचार्यों ने काव्य का स्वरूप बताया है, काव्य का लक्षण प्रदर्शित कर दिया है और काव्य की विशिष्टता प्रकट करने वाले अलंकारों का भी निर्वचन करके बताया है। यहाँ अलंकार शब्द उपलक्षण है अतः अलंकार से उपस्कारकमात्र–रीति तथा गुणादि भी लिये जा सकते हैं। शरीर–निर्वचन से ही प्राणभूत रीतियों का निर्वचन हो जाता है।।

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।। १०।।

तावदिति पदं वाक्यालङ्करणाय प्रयुज्यमानं बोध्यम्, इष्टाः अभिलषिताः सरसतया मनोहरतया च वर्णयितुमुद्दिष्टाः ये अर्थाः कविप्रतिभाप्रतिफलिताः सुन्दराः पदार्थाः तैर्व्यवच्छिन्ना युक्ता पदावली शब्दसमूहः शरीरं काव्यशरीरम्, इष्टार्थः पदसमुदयः काव्यमिति यावत्। नन्वेवं काव्यस्येष्टार्थपदसमूहत्वेन परिचेयत्वे 'कामिनी कमलं चन्द्रः क्षीरोदधिरहस्करः' इत्यादिपदसमुदयस्य काव्यत्वापत्तिरिति चेन्न, पदसमूहस्य साकाङ्क्षस्यैव काव्यशरीरत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टत्वात्। अत्र सुन्दरपदार्थकानामप्येषां पदानां परस्परनिराकाङ्क्षत्वात। न च सांकाङ्क्षपदसमुदयस्यैव काव्यशरीरत्वेनोपादानं निष्प्रमाणकमिति शङ्कनीयम्, तादृशपदसमुदयस्यैवेष्टार्थव्यवच्छिन्नत्वस्य सम्भवेन तादृशस्यैव पदसमुदयस्यात्र ग्रहीतुं योग्यत्वात। इष्टार्थत्वं च चमत्कृतिबहुलत्वम्, चमत्कारश्च लोकोत्तर आह्लादः, आह्लादगत लोकोत्तरत्वं च कविप्रतिभयोपस्थापितेनालौकिकसामग्रीविशेषेण सम्पादितः सुखत्वव्याप्योऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। तेन पुत्रस्त जातः' 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्यानन्दस्य न लोकोत्तरत्वमतो न तद्वाक्ययोः काव्यत्वप्रसक्तिः। तादृशाह्लाद प्रति शब्दार्थानां कारणत्वं व्यङ्ग्यविशेषद्वारेण दोषाभावोपस्कृतगुणालङ्कारकृतसौन्दर्येण च, तेन काव्यस्य त्रैविध्यं फलति, यत्र वाच्यचमत्कृत व्यङ्ग्यचमत्कृतिः प्रधानतया परिस्फुरति तत्र ध्वनिकाव्यत्वव्यपदेशः, यत्र व्यङ्ग्यचमत्कृतिर्वाच्यचमत्कृतिसमाविष्टा सत्यङ्गभाव भजत तत्र गुणीभूतव्यङ्गत्वव्यवहारः, यत्र व्यङ्ग्यचमत्कृतिनिरपेक्षा वाच्यचमत्कृतिस्तत्र, चित्रकाव्यत्वप्रथा।। १०।।

आचार्य दण्डी अधुना काव्यं लक्षयति इष्टार्थेन, रमणीयार्थेन, अलौकिकचमत्कारयुक्तार्थेन युक्तानां योग्यताकांक्षासन्निधि समन्वितानां पदानां समूहः काव्यस्य शरीरम्। दण्डिनः काव्यलक्षणं पण्डितराजजगन्नाथस्य काव्यलक्षणस्य पूर्वभावः।

हिन्दी – काव्य का शरीर–स्वरूप क्या है? काव्य किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस कारिकार्ध में दिया गया है–शरीरमिति। इष्ट–सरस मनोहरतया वर्णन करने के लिये अभिप्रेत अर्थ से युक्त शब्द को काव्य का शरीर कहा जाता है। इष्ट अर्थ से युक्त पदसमुदाय को काव्य कहते हैं। यहाँ पर इतना जानना आवश्यक है कि इष्टार्थयुक्त पद होना–भर ही काव्य शरीर कहलाने के लि

पर्याप्त नहीं है, उन पदों का साकांक्षत्व–योग्यत्वादि अपेक्षित है, अतएव 'कामिनी कमल' आदि निराकांक्ष पदसमुदाय को काव्य नहीं कहा जा सकता। यह साकांक्षत्वनिवेश कोई निष्प्रमाणक बात नहीं है, इष्टार्थव्यवच्छिन्नत्वान्यथानुपपत्त्या सिद्ध ही है।

संक्षेप में इष्ट अर्थात् रमणीय अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार से युक्त योग्यताकांक्षासत्ति से युक्त पदों का समूह काव्य है।

इष्टार्थत्व से यहाँ पर चमत्कारयुक्तत्व अभिमत है, चमत्कार का अभिप्राय लोकोत्तर आह्लाद से है और आह्लादगत लोकोत्तरत्व कविप्रतिभोपस्थापित लौकिक सामग्री से सम्पादित सुखत्वव्याप्य अनुभवसाक्षिक जातिविशेषस्वरूप है, अतएव 'पुत्रस्ते जातः' 'धनं ते दास्यामि' इत्यादि लौकिकवाक्यार्थबुद्धिजन्य लौकिक आह्लाद से इस वाक्यसमूह को काव्यत्वप्राप्ति का अधिकार नहीं मिलता है। उस अलौकिक आह्लाद के प्रति शब्द तथा अर्थ की कारणता तीन प्रकारों से संभव है, १–मुख्य व्यङ्ग्यविशेष द्वारा, २– अमुख्य व्यङ्ग्यविशेष द्वारा, ३–दोषासंपृक्त गुणालङ्कारसमुद्भावित चमत्कार द्वारा। अतः काव्य के तीन भेद शुद्ध होते हैं, जहाँ पर वाच्यार्थसौन्दर्यापेक्षया व्यङ्ग्यार्थ सौन्दर्य प्रधानतया प्रकाशित होता हो वहां पर ध्वनिकाव्यत्वव्यवहार होता है, इसमें मुख्य व्यङ्ग्यविशेषद्वारक आह्लाद है, जहां पर व्यङ्गार्थ सौन्दर्य 'वाच्यार्थसोपन्दर्यापेक्षया गुणीभूत हो जाये, वाच्यार्थ सौन्दर्य कुक्षिप्रविष्ट–सा हो जाये उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य नाम से व्यवहृत करते हैं, इसमें अमुख्यव्यङ्ग्यद्वारक आह्लाद है, और जहाँ पर दोषाभाव के साथ गुणसद्भाव हो तथा वाच्यार्थमात्रकृत आह्लाद हो उसे चित्रकव्य कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने चित्रकाव्य के दो भेद माने हैं, अर्थचित्र तथा शब्दचित्र। अर्थचित्र का स्वरूप तो यही माना है जो यहाँ कहा गया है, शब्दचित्र का स्वरूप उन्होंने कहा है–यदि अर्थ की विशेष चिन्ता न करके शब्द को संजोकर उपस्थित करने का प्रयास किया जाये, जैसा कि नवाभ्यासी कवि लोग किया करते हैं तो वह चित्र शब्दचित्र है।

इस प्रकार इष्टार्थव्यच्छिन्न पदावली को काव्यशरीर मानने वाले दण्डी के मत में रमणीयार्थयुक्त वाक्य ही काव्य होता है, वाक्य उस पदसमुदाय को कहते हैं, जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो। अतः इनका लक्षण शब्दकाव्यवादी सिद्ध होता है।

काव्य शब्द का अर्थ क्या है ? शब्दार्थयुगल अथवा केवल रमणीयार्थयुक्त शब्द ? इस विषय में पक्षभेद चला आता है–कुछ आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य मानने के पक्ष में हैं और कुछ लोग रमणीयार्थक शब्द को ही काव्य मानते हैं, जैसे–

भामह–'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा;।

वामन–'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'।

रुद्रट–'शब्दार्थौ काव्यम्'।

मम्मट–'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'।

आनन्दवर्धन–'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्'।

हेमचन्द्र–'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च काव्यम्'।

वाग्भट–'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्'।

विद्यानाथ–'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्'।

विद्याधर–'शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः'। यह शब्दार्थयुगल को काव्य मानने वालों का पक्ष है।

काव्य पद का अर्थ केवल शब्द ही माना जाये, इस पक्ष में भी बहुत से आचार्य हैं जैसे

अग्निपुराण–'संक्षेपाद् वाक्यदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्'।

दण्डी–''शरीरं तावष्टिार्थवच्छिन्ना पदावली'।

शौद्धोदनि–'रसादिमद् वाक्यं काव्यम्'।

विश्वनाथ–'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

जगन्नाथ–'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्'।

जयदेव–'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता'।

सालङ्कारसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्'।।

माणिक्यचन्द–'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्'।

इस तरह हम देखते हैं कि काव्य के लक्षण में बड़ा भारी मौलिक उपभेद है। कुछ लोग जितनी दृढ़ता के साथ शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, कुछ अन्य लोग उतनी ही दृढ़ता के साथ शब्दमात्र को काव्य स्वीकार करते हैं।

गद्यं' पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्। पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।। ११।।

काव्यस्वरूपमुक्तं प्राग्, इदानीं प्रोक्तस्वरूपस्य काव्यस्य भेदानाह–गद्यमिति० गद्यते स्वाभाविकरूपेण स्वाभिधेयार्थबोधनाय लोकैरुच्चार्यत इति गद्यम्, पद्यम् श्लोकचरणमर्हतीति पद्यम्, मिश्रम् गद्यपद्योभयमिलितम्–एवं गद्यपद्यमिश्रनामप्रकारत्रयेणोपलक्षितं तत् काव्य त्रिधैव त्रिष्वेव प्रकारेषु व्यवस्थितम् नियतम्, काव्यस्य त्रय एव भेदाः संभवन्ति, गद्यपद्योभयरूपत्वात्। एवं भेदत्रयमभिधाय तत्र प्रथम भेद लक्षयति–पद्यमिति० काव्यभेदेषु प्रथमं पद्यम् श्लोकात्मकम् चतुष्पदी चतुर्भिः पादैश्चरणैर्निबद्धम् भवति, चतुर्णां पदानां समाहारश्चतुष्पदी, पादचतुष्टयात्मकं पद्यमित्यर्थः। यद्यपि वेदे द्वित्रिपद्यादयोऽपि दृश्यन्ते, तथापि केवललौकिकवृत्तपरत्वादत्र चतुष्पदीत्युक्तम्। वस्तुतस्तु चतुष्पदीत्युपलक्षणम्, तेन षट्पद्यादयोऽपि संग्राह्याः। तच्च पद्यम्–वृत्तम् जातिः इति प्रकारद्वयेन द्विधा द्विप्रकारकम्। तत्र अक्षरसख्यात वा वर्णैः गणितम् वृत्तम्, मात्रासङ्ख्याता मात्रैः गणिता जातिः, तदुक्तम्–

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा। वृत्तमक्षरसङ्ख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्'।। छन्दोमञ्जरी।। १५।।

हिन्दी – जिस काव्य का स्वरूप हम कह आये हैं वह काव्य तीन प्रकार का होता है–गद्य, पद्य और मिश्र (मिश्रित–गद्यपद्य उभयरूप)। गद्य उसे कहते हैं जिसे हम स्वभावतः बोलते हैं, जिसमें राग नही होता है, जो केवल अपना भाव प्रकाशित करने के लिए स्वभावतः प्रयुक्त होता है। साहित्यदर्पणकार ने गद्य के लक्षण तथा भेद इस प्रकार कहे हैं–

'वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च। भवेदुत्कालिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।।

मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका प्राय और चूर्णक ये चार उसके भेद हैं।

मुक्तक में समास बिल्कुल नहीं रहता है, वृत्तगन्धि में छन्दोबन्ध के कुछ अंश हों, परन्तु उनका क्रम कायम नही रह पाता हो, उत्कलिकाप्राय में लम्बे–लम्बे समास किये गये हों और चूर्णक में समास हों परन्तु कम। इनके उदाहरण ये हैं –

मुक्तक–गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्जुनो यशसि'।

वृत्तगन्धि–'समरकण्डूयननिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटक्कारोज्जागरितवैरिनगर'। यहाँ कुण्डलीकृतकोदण्ड' यह अनुष्टुप का चरण है।

उत्कलिकाप्राय–'वन्दारुवृन्दारकवृन्दशिरस्सुमस्यन्दमानमकरन्दबिन्दुवन्द्यमानचरणयुगलचारुताधरीकृत–लोलालिप्यमानकाश्मीरजद्रवदर–विकसदरविन्दानाम्'।

चूर्णक–गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन,जनरञ्जन'।

पद्य का लक्षण कहा है–'छन्दोबद्धपदं पद्यम्'। छन्द अनेक प्रकार के होते हैं–मालिनी, शिखरिणी वसन्ततिलक आदि। यह पद्य प्राय चार चरणों का होता है, इसीलिये आचार्य दण्डी ने 'पद्य चतुष्पदी' कहा है। वस्तुतः पद्य के चरणों की संख्या नियत नहीं होती है, विश्वविदित गायत्री तीन ही चरणों की है, इतना ही नहीं, 'षट्पदी' नामक वृत्त भी प्रसिद्ध है, अतः 'चतुष्पदी' पद उपलक्षण मानना चाहिये। पद्य के दो प्रकार होते हैं–वृत्त एवं जाति। अक्षरसंख्यात चरण को वृत्त तथा मात्रासंख्यात चरण को जाति कहते हैं। उदाहरण के लिये स्रग्धरा आदि वृत्त हैं और आर्या आदि जाति हैं। वृत्तों के भी सम, अर्धसम, विषम आदि भेद कहे गये हैं। समवृत्त जैसे–स्रग्धरा, अर्धसम–पुष्पिताग्रा, विषमवृत्त–वैतालीय। मिश्र शब्द से गद्यपद्योभयमिश्रण विवक्षित है। नाटक, चम्पू आदि इस प्रभेद में आते हैं। अन्यान्य आचार्यों ने काव्य के भेद इस प्रकार बताये हैं, 'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्'। उनके अनुसार काव्य दो प्रकार के हैं–दृश्य और श्रव्य। श्रव्य के भेद काव्य, आख्यायिका, चम्पू आदि। दृश्य के भेद, नाटक, रूपक, प्रहसनादि।। ११।।

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः। सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गभीरं काव्यसागरम्।। १२।।

वृत्तविभागस्य वक्तव्यतायाः प्रकरणप्राप्ततया तद्विषये वक्तव्यमाह–छन्द इति। छन्दांसि विचीयन्ते लक्षणत उदाहरणतो भेदप्रभेदतश्च निरुध्यन्ते यस्यां सा छन्दोविचितिर्नाम छन्दःशास्त्रविषयकः प्रबन्धः, तस्यां सकलः समग्रः तत्प्रपञ्चः वृत्तजात्योर्विस्तारः निदर्शित उदाहृतः, उक्थादयः समार्धसमविषमादयो वृत्तभेदाः आर्यागीत्यादयो जातिभेदाश्च तत्र सामग्रयेण विवेचिताः, अतश्छन्दोज्ञानार्थं तादृश एव ग्रन्थ परिशीलनीय इत्यर्थः। सा विद्या छन्दोविचित्यादिग्रन्थसम्पाद्यं छन्दःशास्त्रविषयकं ज्ञानम् गभीरम् दुरवगाहम् काव्यसागर काव्यरूप महोदधिं तितीर्षूणाम् पारं जिगमिषूणाम् नौः पोतः भवतीति शेषः। यथाहि सागरपारं जिगमिषूर्जनः नावमवलम्बते, तत्र तन्मात्रस्योपायत्वात्तथा छन्दोविवेकज्ञानाय छन्दःशास्त्रमेव परिशीलनीयं तस्य तदेकोपायकत्वात् छन्दोज्ञानं हि काव्यस्य करणे परिशीलने चोपयुङ्क्ते इत्याशयः।

'छन्दोविचितः' नाम छन्दोग्रन्थो दण्डिना प्रणीत इति बहव आंहुः, 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च' इति च ते तदुपोद्वलकं स्मारयन्ति।।

हिन्दी – वृत्तजाति आदि छन्दोभेद का विस्तारपूर्वक विवेचन 'छन्दोविचिति' नाम छन्दोग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया गया है, अतः उसका ज्ञान उसी ग्रन्थ से करना चाहिये क्योंकि काव्यरूप सागर (शब्दार्थ रूप पाने की इच्छा से) पार करने के इच्छुक लोगों के लिये छन्दोज्ञान नौका रूप है। जिस प्रकार नौका लेकर समुद्र में जाने वाले अव्यापन्नभाव से स्वाभीष्ट रत्नादिसंग्रहण में समर्थ हुआ करते हैं अन्यथा असफल रहते हैं, उसी तरह छन्दोज्ञान सम्पन्न जन काव्यसागर में शब्दार्थरत्न का संग्रह कर पाते हैं अन्यथा नहीं। 'छन्दोविचिति' नामक एक छन्दोग्रन्थ दण्डिकृत था (जो अब अप्राप्य हो गया है) उसी का नाम इस पद्य में आया है, इसी के आधार पर लोग 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च' मानते हैं।। १२।।

मुक्तकं कुलकं कोषः सङ्घात इति तादृशः। सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः।। १३।।

'गद्यं पद्यं च मिश्रञ्चेति काव्यत्रैविध्यमुक्तम्, तत्र पद्यकाव्यस्य बहवो भेदाः कथ्यन्ते 'मुक्तकम', 'कुलकम्', 'कोषः', 'संङ्घातः', इत्यादय, सर्वेषां तेषां विस्तारेणात्र वर्णभं न वाञ्छितं सर्वेषामपि तेषां महाकाव्यांशरूपत्वान्महाकाव्यवर्णनेनैव तेषामपि वर्णनस्य कृतप्रायत्वात्, अयमभिप्रायः, यद्यपि पद्यकाव्यस्य मुक्तकादय बहवः भेदाः परं ते सर्वे महाकाव्यस्यांशरूपेणं समाहिताः अतः न पृथक् वर्णनमंपेक्षन्ते। तदाह–मुक्तकमिति। मुक्तकम्–'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्' यथा–अमरुशतकादिः। यस्मिन्नै कस्मिनैव श्लोके भावः पर्यवसितः तत्मुक्तकम्।

कुलकम्–

'द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते। कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।।'

यथा–तत्र तत्र काव्यादौ वर्णनविशेषाः।

कोषः–

'कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः। व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः।।'

यथा–आर्यासप्तशत्यादिः।

सङ्घातः–'यत्र कविरेकमर्थं वृतेनैकेन वर्णयति काव्ये सङ्घातः स निगदितः।'

यथा–वृन्दावन–मेघदूतादिः।

एवंलक्षणलक्षिताः पद्यप्रभेदाः पृथगत्र न प्रपञ्चिताः, तेषां सर्वेषां सर्गबन्धांशरूपत्वात् सर्गबन्धात्मकमहाकाव्यांशरूपत्वात्, तत्र मुक्तककुलकौ नामाद्यभेदौ साक्षादंशरूपौ, अन्त्यौ कोषसङ्घातौ तु महाकाव्ये तत्तदुच्चावचवर्णने सम्भवत एवेति पृथगत्र न प्रपञ्चितौ।।१३।।

हिन्दी – मुक्तक, कुलक, कौष, संघात आदि पद्य विस्तर का इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है क्योंकि वे सभी सर्गबन्धात्मक महाकाव्य के अंगभूत हैं, इनमें मुक्तक तथा कुलक साक्षात् अंग हैं और कोष तथा संघात तत्तद्वर्णन में अंग ही आया करते हैं। मुक्तक का लक्षण है–'अन्यानपेक्ष एकश्लोकनिबन्धो मुक्तकम्'। कुलक–'अनेकपद्यैनैकक्रियाऽन्वितेनैकवाक्यार्थकथनं कुलकम्'। कोषः–'असंहतार्थानाम् एककवेरनेककवीनां वा वाक्यानां काव्यात्मनां निबन्धः कोषः'। संघातः–'कल्पितवस्तुकः एकच्छन्दोनिर्व्यूढः पद्यसमुदयः संघातः'। इस तरह सभी भेदों के लक्षण अलग–अलग बताये गये हैं, ये सभी महाकाव्य के अंगभूत हैं, अतः इनका विस्तृत वर्णन यहाँ पर नहीं दिया जा रहा है।।१३।।

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्। आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।। १४।।

मुक्तककुलकादीनां काव्यप्रभेदानां सर्गबन्धांशरूपत्वमुदीरितं, तत्र सर्गबन्धस्य स्वरूपं ज्ञपयितुमवशिष्यते, तदाह–सर्गबन्ध इत्यादिना। महाकाव्यमित्युद्देश्यपदम्, सर्गबन्ध इति च विधेयम्, महाकाव्यं नाम सर्गबन्धपदाभिलप्यमिति तदाशयः महाकाव्यं सर्गेषु बद्धो भवति सर्गः अवान्तर प्रकरणविशेषः, तत्कृतः बन्धो रचना महाकाव्यम्, यत्र प्रकरणानि सर्गपदेन व्यवच्छिद्यन्ते तादृशी रचना महाकाव्यम्, तस्य लक्षणम् इतरव्यावृतिकरं चिह्नम् उच्यते वक्ष्यमाणेनेति शेषः। आशीर्नमस्क्रियेत्यारभ्य जायते सदलङ्कृतीति पर्यन्तेन सन्दर्भेण काव्यं लक्ष्यत इत्यर्थः। तन्मुखम् तस्य महाकाव्यस्य मुखम् प्रारम्भः आद्याकृतिः आशीः नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोऽपि वा एतत्त्रितयान्यतमद्वारा तत्प्रारम्भः क्रियत इत्यर्थः। तत्र आशीर्नाम स्वेष्टजनस्य स्वस्य वा शुभाशंसनम्। एके तु स्वेष्टजनस्य शुभाशंसनमात्रमाशिषमाहुः, तदुक्तम्–

'वात्सल्याद्यत्र मान्येन कनिष्ठस्याभिधीयते। इष्टावधारकं वाक्यमाशीः सा परिकीर्तिता।। नमस्क्रिया–मदपेक्षया त्वमुत्कृष्ट इति परोत्कर्षसूचनपूर्वकस्वापकर्षबोधनानुकूलो व्यापारविशेषः, स च करशिरःसंयोगादिरूपस्तत्तदेशविशेषभिन्नः। स चात्र शब्दोनिबद्धो वेदितव्यः। वस्तुनिर्देशः वर्णनीयकथाभागस्य प्रकारेण केनचिदुपनिबन्धः, स च क्वचिनायक–निर्देशेन क्वचित्तदावासदेशनिर्देशादिप्रकारेण वा क्रियते।। १४।।

हिन्दी – पहले श्लोक में मुक्तक, कुलक आदि काव्यो को महाकाव्यांश मान लिया गया है, उसी का लक्षण इस श्लोक से लेकर उन्नीसव श्लोक तक बता रहे हैं। सर्गबन्ध शब्द से महाकाव्य लिया जाता है, उसकी रचना सर्गों के आधार पर की गई होती है, इसीलिये वह सर्गबन्ध कहलाता है, उस महाकाव्य का मुख–प्रारम्भ तीन प्रकारों से किया जाता है–आशी; नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश। आशी से आशीर्वाद की विवक्षा है, आशीर्वाद शब्द का अर्थ होता है स्वेष्टजन अथवा अपने शुभ की इच्छा प्रकट करना, 'पुत्रस्ते भवतु धन में स्यात्' इत्यादि वाक्यों से वैसा ही भाव प्रकट होता है। नमस्क्रिया का अर्थ है अपनी अपकृष्टता के साथ दूसरे का उत्कर्ष प्रदर्शित करने वाला व्यापारविशेष, वह व्यापार कहीं पर करशिरःसंयोगात्मक होता है, कहीं पर शिरोभूमिसंयोगात्मक या अन्य किसी प्रकार का। वस्तुनिर्देश का अर्थ है कथाभाग का निर्देश करना, वह कई प्रकारों से किया जाता है, कहीं नायकनिर्देश द्वारा और कहीं पर नायक के आवासदेशकालादि निर्देश द्वारा और कहीं पर कथा–भागागत वस्तु' निर्देश द्वारा। उनके उदाहरण के लिये निम्नलिखित काव्यों के उद्धरण दिये जाते हैं–

आशीर्वाद–(स्वेष्टजनशुभांशसन)–

'श्रियं क्रियाघस्य सुरागमे नमस्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता। सभा बभौ रत्नमयैर्महोत्पलैः कृतोपहारेव स बोऽग्रजा जिनः

(चन्द्रप्रभाकाव्य)

स्वशुभाशंसन–'पूतं स्वतः पूततरं ततो यद् गाङ्गं पयः शङ्करमौलिसंगात्।

तत्पातु मातुः प्रणयापराधपादाहतैः पूततमं ततो नः'।। (शिवलीलार्णव)

नमस्कार–'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'।। (रघुवंश)

वस्तुनिर्देश (नायकनिर्देश)–

'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।

वशन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः।। (शिशुपालवध)

(नायकस्थानादिनिर्देश)–

'राकासुधाकरसितद्युतिदीप्यमानसौधावलीविलसिता मधुराभिधाना

आसीदशेषविभवैरुपचीयमानैर्युक्ता पुरा युदकुलोत्तमराजधानी ।। (कृष्णविभव)

(कथाभागनिर्देश)–

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'।। (कुमारसभव)

इन्हीं प्रकारों में से अन्यतम का अवलम्बन करके महाकाव्यों का प्रारम्भ किया जाता है। यह निर्वचन लक्ष्यानुसारी है, यदि कोई कवि वसन्तवर्णन से ही किसी महाकाव्य करे प्रारम्भ करे तो कोई बाधा नहीं होगी।। १४।।

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्। चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।। १५।।

इतिहासेति। इतिहासकथोद्भूतम् इतिहासवर्णितकथामाधारीकृत्य प्रबद्धम्, इतिहास–महाभारतं रामायणं च, अन्यद्वा राजतरङ्गिण्यादि। सदाश्रयम्–इतरद्वा, सतामापामरप्रसिद्धसद्भावानां बुद्धादीनां कथामाश्रित्य प्रवृत्तम्, यथाश्वघोषकृतबुद्धचरितादि। इतिहासप्रसिद्धकथा विहायापि प्रसिद्धस्य सत आश्रयेण प्रवृत्तं महाकाव्यं भवति, यथा प्रोक्तबुद्धचरितादि। चतुर्वर्गफलायत्तम्–चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्ग समूहः तत्र फले आयत्तं तत्फलमुद्दिश्य प्रणीतम्, तत्र काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्ध कामप्राप्तिश्चार्थद्वारा, मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यफलाननुसन्धानात्। चतुरोदात्तनायकम्–चतुरो व्यवहारकुशलः उदात्तः धीरोदात्तो नायककथाप्रधानपुरुषो यत्र तादृशम्। इदं महाकाव्यलक्षणघटकम्।। १५।।

हिन्दी – इतिहास की कथा पर आधारित होना, अथवा इतिहासप्रसिद्धि को छोड़कर किसी सत्पुरुष की कथा का आश्रय लेना, धर्म अर्थ–काम–मोक्ष की सिद्धि रूप फल को उद्देश्य करके बनाया जाना एवं चतुर तथा उदात्त नायक का कथा का मुख्य पात्र होना महाकाव्य में अपेक्षित है। इतिहास पद से महाभारत, रामायण तथा अन्यान्य पुराण परिगृहीत होते हैं, इनमें वर्णित पुरुष को महाकाव्य में प्रधान नायक बनाया जाता है। यह कोई अनुल्लंघनीय नियम नहीं है, इतिहासप्रसिद्धि के नहीं रहने पर भी किसी सत्पुरुष को प्रधान नायक बनाकर महाकाव्य की रचना की जा सकती है, जैसे अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध को नायक बनाकर 'बुद्ध चरित' नामक

महाकाव्य बनाया। महाकाव्य का फल धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग की सिद्धि मानी गई है। इसी फल को उद्देश्य बनाकर महाकाव्य की रचना की जाती है। उसमें–धर्म की प्राप्ति भगवान् के चरणारबिन्दों की स्तुति द्वारा, अर्थ की प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध, कामप्राप्ति अर्थ द्वारा तथा मोक्षप्राप्ति काव्यजन्य धर्मार्थकामरूप फलों के विषय में अनासक्ति करने से सिद्ध होती है। महाकाव्यों में नायक को चतुर तथा उदात्त होना चाहिये। नायक का लक्षण शास्त्रकारों ने इस प्रकार बताया है–

साहित्यदर्पण–

'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही। दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।।

दशरूपक–

'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः। रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।। बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः। शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः'।।

इस प्रकार लक्षित नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरलक्षित, धीरप्रशान्त–भेद से चार प्रकार के होते हैं। महाकाव्य में चारों प्रकार के नायक लिये जाते हैं, अतः उदात्त पद को उपलक्षण समझना चाहिये। नायक कहीं एकदेव, कहीं एक सद्वंश ज क्षत्रिय, तथा कहीं एक वंशज बहुत से क्षत्रिय हुआ करते हैं, जैसे–शिशुपालवध में एक देव श्रीकृष्ण नैषधीयचरित में सद्वंशज एक क्षत्रिय नल, एवं रघुवंश में एकवंशज बहुत से क्षत्रिय दिलीपादि अग्निवर्ण पर्यन्त हैं।। १५।।

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।' उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।। १६।।

नगरार्णवेति। नगरं नायकाध्युषितं पुरम्, तद्वर्णनं यथा शिशुपालवधे तृतीयसर्गे द्वारकावर्णनम्, अर्णवः सागरः, तद्वर्णनं यथा रघुवंशे त्रयोदशलोके। शैलः पर्वतस्तद्वर्णनं यथा कुमारसम्भवस्य प्रथमे सर्गे शिशुपालवधस्य चतुर्थे च सर्गे। ऋतवो वसन्तादयः तद्वर्णनं यथा शिशुपालवधस्य षष्ठे सर्गे। चन्द्रार्कौ चन्द्रमसूर्यौ तयोरुदयः अत्रोदयेन प्रात्रीदये नास्तमयमपि बोध्यत उपलक्षणविधया, तथा चन्द्रसूर्ययोरुदयास्तमयवर्णनं फलितं, तद्यथा–किरातार्जुनीये नवमसर्गे शिशुपालवधे च नवमैकादशसर्गयोः। उद्यानमुपवनं सलिलं जलाधारः सरिदादिस्तत्र क्रीडाविहारः तद्वर्णनं शिशुपालवधस्याष्टमसर्गे। मधुपानं मद्यसेवनं तद्वर्णनं, यथा–किरातार्जुनीय नवमसर्गे। रतं सम्भोगशृङ्गारस्तद्वर्णनं यथा–रघुमाघादौ तत्र तत्र। अत्र तृतीयान्तपदं वक्ष्यमाणेनाष्टादशश्लोकगतेनालङ्कृतमिति पदेनान्वेति। तथा चैमिर्वर्णनविशेषैरलङ्कृतं काव्यंकल्पान्तस्थायि यशोजनकंजायते इति पर्यवसितोऽर्थः।। १६।।

हिन्दी – महाकाव्य में नगर का, समुद्र का, पर्वत का, ऋतुओं का, चन्द्रोदय–सूर्योदय एवं चन्द्रास्त–सूर्यास्त का, उद्यानविहार का, जलक्रीडा का, मधुसेवन तथा संभोग का वर्णन होना चाहिये। उदाहरणस्वरूप तत्तत् काव्योंके स्थल ऊपर की व्याख्या में बता दिये गये हैं। प्रसंगवश यहाँ पर जानना चाहिये कि किस वस्तु के वर्णन में क्या होना चाहिये।

नगरवर्णन–

'पुरेऽट्टपरिखावप्रप्रतोलीतोरणादयाः। प्रासादाध्वप्रपारामवाप्यो वेश्या सतीस्वरी'।।

अर्णववर्णन–

'अब्धौ द्वीपाद्रिरत्नोर्मितपोतयादोजगत्प्लवाः। विष्णुकुल्यागमश्चन्द्रादवृद्धिरौर्वोऽब्दपूरणम्'।।

शैलवर्णन–

'शैले मेघौषधीधातुबंशकिन्नरनिर्झराः शृङ्गपादगुहारत्नवनजीवाद्युपत्यकाः'।।

ऋतुवर्णन–

'सुरभौ दोलाकोकिलमारुतसूर्यगतितरुदलोद्भेदाः। जातीतरपुष्पचयाम्रमञ्जरीभ्रमरझङ्काराः।।

ग्रीष्मे पाटलमल्लीतापसरः पथिकशोषवातालयः। सक्तुप्रपाप्रपास्त्रीमृगतृष्णाभ्रादिफलपाकाः'।।

'शरदीन्दुरविपटुत्वं जलाच्छतागस्त्यहंसवृषदर्पाः। सप्तच्छदपद्मसिताभ्रधान्यशिखिपक्षमदपाताः'।।

हेमन्तेदिनलघुताशीतयवस्तम्बमरुबकहिमानी'। शिशिरे करीषधूमः कुमुदाम्बुजादहशिखिरतोत्कर्षा''।।

सूर्योदयवर्णन–

'सूर्येऽरुणतारविमणिचक्राम्बुजपथिकलोचनप्रीतिः। तारेन्दुदीपकौषधिधूकतमषश्चौरचन्द्रकुलटार्त्तिः'।।

चन्द्रोदयवर्णन–

'चन्द्रे कुलटाचक्राम्बुरुहविरहितमोहानिरौज्ज्वल्यम्। जलधिजनिनेत्रकैरवचकोरचन्द्रद्राश्मदम्पतिप्रीतिः'।।

उद्यानवर्णन–

'उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलतादुमाः। पिकालिकेलिहंसाद्याः क्रीडावान्यध्वगस्थितिः'।।

सलिलक्रीडावर्णन–

'जलकेलौ सरःक्षोभचकहंसापसर्पणम्। पद्मग्लानिः पयःक्षेपो दृग्रागो भूषणच्युतिः।।

मधुपानवर्णन–

'सुरापाने विकलता स्खलनं वचने गतौ। लज्जमानच्युतिः प्रेमाधिक्यं रक्तेक्षणभ्रमः'।।

रतोत्सववर्णन–

'सुरते सात्त्विका भावाः सीत्कारः कुडमलाक्षता। काञ्चीकङ्कणम ञ्जीररवोऽधरनखक्षते'।।

इसी प्रकार के वर्णन होते हैं। इसमें कविगण अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन किया करते हैं।। १६।।

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः। मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।। १७।।

विप्रलम्भैरिति। विप्रलम्भो विप्रलम्भशृङ्गारः, 'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ' इति लक्षित। स च 'पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकतया चतुर्विध' इति द्योतनायैवात्र बहुवचनप्रयोगः, तत्र पूर्वरागो नैषधीयचरिते चतुर्थसर्गे, मानो यथा कृष्णवैभवे राधायाः, प्रवासौ यथा तत्रैव, करुणों यथा कादम्बर्यां महाश्वेतायाः। विवाहः पाणिग्रहणम्, तद्वर्णनं यथा रघुवंशेऽजेन्दुमत्याः। कुमारोदयः पुत्रोत्पत्तिः, तद्वर्णनं यथा रघुवंशे तृतीयसर्गे। मन्त्रः मन्त्रणा, रिपुजयार्थं प्रधानपुरुषैः, सह गुप्तसंभाषणं, तद्वर्णनं यथा शिशुपालवधस्य द्वितीयसर्गे। दूतः प्रेष्यः, स च निसृष्टार्थमितार्थसन्देशहारकभेदेन त्रिविधः यथा कादम्बर्यां केयूरकः। प्रयाणं विजययात्रा, तद्वर्णनं यथा रघुवंशे चतुर्थसर्गे। आजिः समरप्रसङ्गः, तद्वर्णनं यथा किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गे। नायकाभ्युदयः प्रधाननायकस्य विजयावाप्तिः, तद्वर्णनं यथा शिशुपालवधे श्रीकृष्णस्य विजयः। तत्र मन्त्रप्रयाणाजिविजयाः क्रमशः एव वर्णनमर्हन्तीति बोध्यम।। १७।।

हिन्दी – महाकाव्य में विप्रलम्भ शृंगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, दूत भेजना, विजय यात्रा, युद्ध प्रसंग, नायक का अभ्युदय आदि का वर्णन होना चाहिये। विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन महाकाव्य में होना चाहिये क्योंकि विप्रलम्भ के बिना शृंगार की पुष्टि नहीं होती है, लिखा है–

'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते।।'

विप्रलम्भ शृंगार की चार दशायें होती हैं–मान, प्रवास, पूर्वराग, करुण। इन चारों प्रभेदों का वर्णन यथावत् किया जाता है।

विप्रलम्भ में वर्णनीय–

'विरहे तापनिःश्वासचिन्ता मौनं कृशाङ्गता। अब्जशय्या निशादैर्घ्यं जागरः शिशिरोष्मता।।'

विवाह का वर्णन, उसमें वर्णनीय–

'विवाहे स्नानशुभ्राङ्गभूषालूलुत्रयीरवाः। वेदीसीमन्ततारेक्षा लाजामङ्गलवर्तनम्।।'

कुमार में वर्णनीय–

'कुमारे शस्त्रशास्त्रश्रीकलाबलगुणोच्छ्रयाः। वाह्यालीखुरलीराजभक्तिः सुभगतादयः।।'

दूत में वर्णनीय–

'दूते स्वस्वामितेजःश्रीविक्रमौन्नत्यकृद्वचः। शत्रुक्षोभकरी चेष्टा धाष्टर्यं दाक्ष्यमभीरुता।।'

प्रयाण में वर्णनीय–

'प्रयाणे भेरिनिःस्वानभूकम्पबलधूलयः। करमोक्षध्वजच्छत्रवणिक्ठकटवेशराः।।'

युद्ध में वर्णनीय– 'युद्धे तु वर्मबलवीररजांसि तुर्यनिःश्वासनादशरमण्डपरक्तनद्यः।
छिन्नातपत्ररथचामरकेतुकुम्भिमुक्तामरीवृतष्पटाः सुरपुष्पवर्षाः।।'

इस प्रकार प्रोक्त वर्णन से युक्त होना महाकाव्य की शोभा को बढ़ाता है। इन वर्णनों में सबका होना नितान्त अपरिहार्य नहीं है कुछ अंश में कमी क्षम्य होती है।। १७।।

अलङ्कृतमसलिङ्क्षप्तं रसभावनिरन्तरम्। सर्गैरनतिविस्तीर्णैः 'श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।। १८।।

अलङ्कृतमिति। नगरादारभ्य अभ्युदयपर्यन्तमुक्तानां वस्तूनां वर्णनैः अलङ्कृतमिति योजना असङ्क्षिप्तम्–अतिसङ्क्षेपवर्णितं हि वस्तु न ह्लादते, यथा–'वसुदेवात्समुत्पद्य पूतनां विनिपात्य च। कंसं हत्वा द्वारकायामुषित्वा स्वर्गतो हरिः' इति कृष्णकथानकं न रोचते। रसाः–शृङ्गारदयो नव, भावः – 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः लक्षितस्वरूपः। तै रसैर्भावैश्च निरन्तरम् पूर्णम्। अनतिविस्तीर्णैः साधारणतया विस्ताररभाग्भिरपि समरसतास्पृक्त्वेन वैरस्यमनावहद्भिः, श्रव्यवृत्तैः हतवृषातादिदोषास्पृष्टच्छन्दोनिबद्धैः, सुसन्धिभिः–मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणनामकैः सन्धिभिः साधुसमुपयोजितैर्युक्तैः सर्गैरुपेतमिति लक्ष्यमाणेनान्वयः।। १८।।

हिन्दी – नगर से लेकर नायकाभ्युदयपर्यन्त कहे गये विषयों के वर्णनों से युक्त सर्ग हों, उन सर्गों में सर्वत्र रसभाव की सत्ता हो, उनका विस्तार अनतिवृहत् हो, छन्द ऐसे हों अर्थात् नव अधिक संक्षिप्त हो न अतिवृहत् जिनमें इतवृत्तता आदि दोष नहीं आते हों, जो सुनने में मधुर हों सन्धियों का समावेश भलीभांति हो सका हो, ऐसे सर्गों से काव्य का उत्कर्ष सिद्ध होता है। महाकाव्यों में किस तरह के सर्ग हों, इसका विचार इस श्लोक में किया गया है। साहित्यदर्पणकार ने सर्गों के विषय में इस प्रकार कहा है–

'एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः। नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।।

नानावृत्तमयैः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते। सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।।

अनतिविस्तीर्ण सर्ग कहकर दण्डी ने कवि के सामर्थ्य पर इसके विस्तार को निर्भर कर दिया है, कुछ लोगों का कहना है कि प्रतिसर्ग में तीससे अन्यून तथा दो सौ से अनधिक श्लोक हों। सन्धियों का समावेश होना चाहिये, उनमें साङ्गनिर्वाह ही सुश्लिष्टत्व माना जाता है।। १८।।

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैमरुपेतं लोकरञ्जकम्। काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति।। १९।।

सर्वत्रेति। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैः प्रतिसर्ग भिद्यमानकथैः, अथवा सर्वेषां सर्गाणां समाप्तौ विपरीतछन्दोभिरित्यर्थः, पूर्णं सर्गं केनचिदेकेन च्छन्दसा निर्मायावसाने भिद्यमानेन वृत्तेन निर्माणमत्राभिप्रेत बोध्यम्। तदुक्तमन्यत्र–'एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति। एतत्प्रायिकं, नानावृत्तमयसर्गस्यापि दर्शनात्। यथा शिशुपालवधे चतुर्थः सर्गः। सदलङ्कृति–सत्यः शब्दार्थशोभाजननद्वारा रसोपकारिका अलङ्कृतयो यमकानुप्रासोपमोत्प्रेक्षादयो यत्र तादृशम्, एतेनालङ्कारसृष्टिं प्रति कवेरभिप्रायो निवेदितः। एतावत्पर्यन्तं महाकाव्यस्य लक्षणं प्रोक्तं, सम्प्रति तल्लक्षणलक्षितं काव्यं प्रशंसन् तस्य निर्माणे प्रवृत्तिमुपश्लोकयति–लोकरञ्ज्कमिति। तादृग्लक्षणकं हि काव्यं लोकरञ्जकं भवति, श्रोतृजनहृदयावर्जनक्षमं भवति, कल्पावसानपर्यन्तस्थायि च जायत इत्यर्थः। एतेनाक्षयकीर्त्तिप्राप्त्यभिलाषेण कविभिरत्र यतनीयम् इत्युक्तम्।। १९।।

हिन्दी – महाकाव्य के सर्गों में भिन्न भिन्न वृत्तान्त–घटनाओं का वर्णन होना चाहिये, अथवा 'भिन्नवृत्तान्तैः' का यह अर्थ है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में दूसरे प्रकार के वृत्त का दूसरा छन्द चुना जाये। जैसे रघुवंश के द्वितीय सर्ग में पूरा सर्ग उपजाति छन्द में लिखा गया है और अन्तिम श्लोक मालिनीछन्द का बनाया गया है। महाकाव्य में एक अपेक्षित गुण–'सदलङ्कृति' होना है, अलंकारों–शब्दार्थालंकारों–यमक, उपमा आदि का सुन्दर समावेश होना आवश्यक है, ऐसा होने से काव्य श्रोतृवर्ग का मनोरंजक होता है और वैसा ही काव्य कल्पान्तरपर्यन्त स्थायी कीर्ति प्रदान करने वाला होता है। अतः कल्पान्तस्थायी यश की कामना रखने वाले कवियों की तत्तत्लक्षणयुक्त काव्य के प्रति सोद्योग होना चाहिये।। १९।

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति। यद्युपात्तेषु सम्पत्तिरााधयति तद्विदः।। २०।।

न्यूनमिति – महाकाव्येऽपेक्षितत्वेन वर्णितास्ततद्वर्णनसद्भावादयोऽशतः खण्डकाव्येष्वपि दृश्यन्तेऽतः खण्डकाव्येषु तल्लक्षणप्रसक्तिरथ तद्वारणाय सामस्त्येन तत्तद्गुणसमावेशो विवक्ष्यते चेदांशिक्यां न्यूनतायां सत्यां महाकाव्यान्यपि स्वलक्षणेन न व्याप्येरन्निति प्रसज्यमानानामुभयतः पाशां रज्जुमपनोदितुमाह–न्यूनमिति। अत्र पूर्वोक्त–वर्णनीयसमुदयमध्ये कैश्चिदंशैर्न्यूनं रहितमपि काव्यं महाकाव्यम् न दुष्यति न दूषणीयं भवति, यदि उपात्तेषु वर्णयितुमङ्गीकृतेषु शैलादिषु सम्पत्तिः पूर्णताजनितो रसपोषः तद्विदः काव्यरहस्यज्ञातॄन् विदुषः आराधयति प्रसादयति, अयमाशयः–महाकाव्येषु वर्णनीयतयोक्तानां तेषां तेषां वस्तुनां कश्चितद वस्तुनि वर्णितानि, कतिचिच्च हीनानि न ततावता कापि हातिर्नविति यादि वर्ण वितमुपात्तोः पदार्थाः साधु वण्येमानाः सन्तो रसपरिपोषं जनयेयुः, रसपरिपोष एव हि तैर्वर्णनैश्चिकीर्षितः, स हि यद्यल्पसङ्ख्यकवस्तुवर्णनेनैव सम्पाद्यते तदानास्ति सर्वेषामेवोद्दिष्टानां वस्तूनां वर्णनस्य नितान्तावश्यकतेति। यथा यदि कुत्रापि महाकाव्ये शैलर्तुवर्णनेनैव रसपरिपोषः सम्पाद्यते, तदा तत्र कुमारोदयमन्त्रदूतवर्णनवैकल्येऽपि न कापि क्षतिरिति, तथा चोक्तं भोजराजेन–

नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय विदुषां मतम्। यदि शैलर्तुराज्यादेवर्णनेनैव तुष्यति।।'

तथा च तत्तद्वर्णनीयवस्तूपन्यासोऽन्यतमत्वेन विवक्षितो बोध्यः, प्राधान्येन रसपोषस्य यावता निष्पत्तिस्तावदपश्यमपेक्षितं मन्तव्यमिति। खण्डकाव्ये महाकाव्यलक्षणातिव्याप्तिशङ्का। तु चमत्कारवैलक्षण्येन वारणीया।। २०।।

हिन्दी – महाकाव्य के लिए जितने वर्णनीय विषय बताये गये हैं उनमें यदि कुछ विषयों के वर्णन नहीं भी किये गये हो, परन्तु जिनका वर्णन किया गया हो, उतने विषयों के वर्णन से ही यदि श्रोता तथा अध्येता आदि रसपुष्टिका अनुभव करते हों तो यह न्यूनता नहीं मानी जायेगी। महाकाव्य में तत्तद्वर्णनीय वस्तुजातकः वर्णन सामग्रयेण नहीं अपेक्षित है, अन्यतमत्वेन प्रायिकत्वेन वा अपेक्षित है ऐसा समझना चाहिये। यदि किसी कवि ने अपने निर्मेय महाकाव्य के लिए कुछ विषयों का वर्णन किया, कुछ को छोड़ दिया, तो यहाँ यह नहीं देखा जायेगा कि इन्होंनें वस्तु का वर्णन नहीं किया है, अतः इनका महाकाव्य दुष्ट है, परन्तु यह देखा जायेगा कि जितने विषयों का वर्णन किया गया है उतने में रस की पुष्टि होती है या नहीं। यदि रस की पुष्टि हो जाती है तब उस न्यूनता का कोई मूल्य नहीं है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि यदि कुछ विषयों का वर्णन न्यून रह जायेगा तो भी यदि महाकाव्य मानने लगेंगे तब खण्डकाव्यं भी महाकाव्य कहे जाने लगेंगे क्योंकि उन्हें भी तो 'खण्डकाव्यं महाकाव्यस्यैकदेशानुसारि यत्' इस लक्षण द्वारा ही निरुक्त किया गया है। इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि महाकाव्य तथा खण्डकाव्य में चमत्कारवैलक्षण्यकृत भेद है जो उसे असंकीर्ण बनाये रखता है। महाकाव्य तथा खण्डकाव्य में चमत्कार भिन्न–भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं, अतः वर्णनीयविषयसाम्यकृत अतिव्याप्ति का भय नहीं है।। २०।।

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम। निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः।। २१।।

गुणत इति। पूर्वोक्ते काव्यलक्षणे 'चतुरोदात्तनायक' मित्युक्तम्, तत्र नायकपदं प्रतिनायकस्याप्युलक्षणं मन्यते एतेन नायकप्रतिनायकयोरुत्कर्षापकर्षौ महाकाव्ये वर्णनीयावित्यायातं, तत्र द्वयी गतिः, प्राक् नायकस्य वर्णनं ततः प्रतिनायकस्य, तदनन्तर नायककृतः प्रतिनायकपराजयः इत्येकः प्रकारः, अन्यश्च पूर्वं प्रतिनायकस्य वर्णनं ततो नायकवर्णनपुरस्कृतस्तत्कृतस्तदुच्छेद इति तत्रानयोः प्रकारयोः प्रथमः प्रकारो रामायणे, द्वितीयश्च महाभारते, तत्र स्वमतं प्रकारं प्राधान्यं प्रापयितुं प्राकप्रचलितं प्रकारं दर्शयति–गुणत इति। प्राक् प्रथमम् 'गुणतः नायकगुणवर्णन द्वारा नायकं काव्यनेतारं प्रधानपुरुषम् उपन्यस्य अभिधाय, तेन तथा वर्णितेन नायकेन विद्विषाम्। प्रतिनायकानाम् निराकरणम् उच्छेदः (वर्ण्यते), एषः मार्गः प्रकारः (प्राङ्नायकं वर्णयित्वापश्चातदुच्छेद्य प्रतिनायकपुरस्कृतो नायकरचित तदुच्छेवर्णनम् इत्यंभूतः प्रकारः) प्रकृतिसुन्दरः स्वभावमनोरमः। काव्यस्य प्रधानमुद्देश्यं सदुपदेश. स च सत्पुरुषाभ्युदयासत्पुरुषविनिपातप्रतिपादनेनैव प्रकटीकृतो भवति, तदर्थं तयोः क्रमशो वर्णनमपेक्षितं भवति, यथा रामायणे प्राग रामस्य वर्णनं ततो रावणस्य वर्णनसहचरी तदुच्छेदकथा, तेनैवं वर्णनेन रामादिवत्प्रवर्त्तितव्यं न रावणादिवदिति सदुपदेशो गृहीतो भवति, तेनास्य मार्गस्य स्वभावसुन्दरत्वमावेदितं भवति।। २१।।

हिन्दी – महाकाव्य के स्वरूपनिर्वचन–प्रसंग में पहले कहा गया है –'चतुरोदात्तनायकम' इस विशेषण में आने वाला नायक पद प्रतिनायक का भी उपलक्षण माना जाता है, फलतः यह सिद्ध हुआ कि महाकाव्य में नायक, प्रतिनायक, उभय का वर्णन अपेक्षित है उसमें विचारणीय यह है कि किसका वर्णन पहले किया जाये ? इस सम्बन्ध में दो प्रकार का आश्रय लिया जाता रहा है, पहला प्रकार यह है कि पहले नायक के गुण–शौर्य–कुल–समृद्ध्यादि का विशुद्ध वर्णन करके बाद में प्रतिनायक का वर्णन किया जाये यह प्रकार स्वभावतः सुन्दर होता है, क्योंकि काव्य का सर्वोच्च प्रयोजन 'सदुपदेश' माना जाता है, ऐसा वर्णन करने से यह सिद्ध होता है। जैसे रामायण में पहले रामचन्द्र का वर्णन किया गया है, बाद में रावण का वर्णन तथा राम के द्वारा उसके उच्छेद का वर्णन किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि 'राम की तरह आचरण करना भला है, रावण की तरह आचरण करना ठीक नहीं है ।। २१।।

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।। २२।।

वंशवीर्येति– नायकवर्णने प्रकारद्वयमिति प्रागभिहितं तत्रैकः प्रकारः पूर्वश्लोके प्रदर्शितः। श्लोके द्वितीयं प्रकारं प्रस्तौति–वंशवीर्येति। वंश कुलम् वीर्यम् पराक्रमप्रकर्षः श्रुतं शास्त्रज्ञानम्, आदिनौदार्यनीतिज्ञत्वादिपरिग्रहः। रिपो प्रतिनायकस्य अपि वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा तज्ज्यात् तादृशस्य प्रतिनायकस्य जयात् उच्छेदात नायकोत्कर्षस्य नायकश्रेष्ठत्वस्य वर्णनम् नः अस्मान धिनोति प्रीणयाते। अयमाशयः–नायकवर्णनात् प्राक् प्रतिनायकवंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा तत्पश्चात् तादृशस्यापि प्रतिनायकस्य नायकद्वारोच्छेदो वर्ण्यमानो नायकस्यैव सारवत्तातिशयं पुष्णातीति पक्षोऽयमस्मान् सविशेषमानन्दयति, यतो विजेतव्योत्कर्षवर्णनं हि विजेतुरुत्कर्षातिशय गमयाते. अयं च प्रकारः किरातार्जुनीये समादृतः, तत्र हि दुर्योधननीत्यादिवर्णनपूर्वकं पाण्डवानामुत्कर्षप्रतिपादनं कृतम्। 'धिनोति नः इत्युक्त्यात्र स्वरुचिः प्रदर्शिता, तत्कारणं त्वत्र प्रकारे वस्तुवृत्तस्यानपलापो भवतीति, प्रतिनायकवर्णनपूर्वकनायकवर्णनेन कविप्रतिभाचमत्कारश्च भवति स्फुटं इति च बोध्यम्।। २२।।

हिन्दी – नायक के वंशादिवर्णन के पहले प्रतिनायक के कुल, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि उत्कर्ष का वर्णन कर लिया जाय, पीछे नायक का वर्णन हो और प्रतिनायक के संहार का भी वर्णन किया जाये, यह प्रकार मुझ (दण्डी) को बहुत अच्छा लगता है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रतिनायक का पूरा वर्णन कर लिया जाये, पीछे नायक के वर्णन से प्रारम्भ करके उसके द्वारा प्रतिनायक के उच्छेद तक

का वर्णन कर लिया जाये, यह दूसरा प्रकार मुझे अधिक पसन्द है, क्योंकि इस प्रकार का वर्णन किरातार्जुनीय में किया गया है। यहाँ पर एक आपत्ति उठाई जा सकती है कि प्रतिनायक का लक्षण तो निम्न प्रकार का बताया गया है–

'लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः।' (दशरूपक)

'धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः'। (साहित्यदर्पण)

'अन्यायवाँस्तदुच्छेद्य उद्धतः प्रतिनायकः'। (नाट्यदर्पण)

फिर आप 'वंशवीर्यश्रुतादीनि का वर्णन प्रमुख रूप से प्रतिनायक में किस तरह करना चाहते हैं ? इस आपत्ति का समाधान यह है कि भाग्यवश प्रतिनायक का जन्म बड़े कुल में हुआ, पूर्वसंस्कारवश उसने शास्त्र भी पढ़े, परन्तु अपने अविनय–अविवेक के कारण सकल अन्य गुणों के होते हुए भी उसका विनिपात हुआ, यह सदुपदेशप्रदान इस प्रकार के परिग्रह में अनायास सिद्ध होता है। वंशवीर्यश्रुतादिगौरवसम्पन्न होकर अविवेक पुरस्कार करने वाले का पराभव अवश्यंभावी है इस बात को प्रमित कराने के कारण ही आचार्य दण्डी ने इस प्रकार को स्वाभिमत कहा है। इस प्रकार में एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें वास्तविकता अपलाप नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के आश्रयण से कवि की प्रतिभा का चमत्कार भी प्रकट होता है।।२१।।

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा। इति तस्य प्रभेदो द्वौ तयोराख्यायिका किल।। २३।।

एवं महाकाव्यं निरूप्य क्रमप्राप्तं गद्यं निरूपयति–अपाद इति। पादो गणमात्रानियमितः पद्यतुरीयांशः तद्भिन्नः अपादः गणमात्रानियमवर्जित इत्यर्थः। एतादृशः पदसन्तानः सुप्तिङन्तपदसमुदयो गद्यमित्याख्यायते। अस्य गद्यस्य–मुक्तकवृत्तगन्धि– चूर्णकोत्कलिकाप्रायनायकाश्चत्वारो भेदाः सन्ति, तेऽपि कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भवन्तीति तानानुपन्यस्य कथारख्यापिकारूपं भेदद्वत्यंनिर्वक्ति – इति तस्येति। तस्य गद्यस्य द्वौ प्रभेदौ, कथा, आख्यायिका चेति। तत्र प्राचीनोक्तं कथाख्यायिकयोर्लक्षणमयं दूषयिष्यति, तदुपक्रमते–तयोरिति। तयोः कथाख्यायिकयोर्मध्ये आख्यायिका एवं लक्षणा प्राचीनैरुक्तेति भावः। प्राचीनमतानुसारिणा भामहेन कथाख्यायिकयोर्लक्षणमधिकृत्योक्तम्–

'प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना। गद्येन युक्तोदात्तार्था सोङ्कासाख्यायिका मता।। वृत्तमाख्ययायते यस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च।। कवेरभिप्रायकृतैरङ्कनैः कैश्चिदङ्किता। कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयान्विता।। न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छवासवत्यपि। संस्कृतंसंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा।। अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते। स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः।। अनिबन्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः। युक्तं वक्त्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।। तदेवं प्राचीनाः कथाऽऽख्यायिकयोर्लक्षणमाख्यातवन्तः। अत्रास्य लक्षणभेदस्य स्वानभिमतत्वसूचनाय किलशब्दप्रयोगो बोध्यः।। २३।।

हिन्दी – गणमात्रानियत पद्यतुरीयभाग पाद कहा जाता है, उससे रहित पद–सुबन्तितिङन्त समुदाय–को गद्य कहते हैं, अर्थात् जिस सुबन्त–तिङन्त पद–समुदाय में गणमात्रा नियत पाद नहीं हो, उसको गद्य कहते हैं। उसके दो भेद हैं–आख्यायिका एवं कथा। उनमें आख्यायिका का लक्षण यह है। प्राचीनोक्त आख्यायिका तथा लक्षणों की अतिप्रसिद्धतासूचनार्थ इस भेदप्रकाशक श्लोक में 'किल' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके स्वानभिमतत्व को वही किल शब्द प्रकट करता है।। २३।।

नायकेनैव वाच्यान्या नायकनेतरेण वा। स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ।। २४।।

प्राचीनाः कथाख्यायिकयोर्भेदं स्वमुखवाच्यत्वतदभावाभ्यां प्रयोजयतः, अर्थात् कथाख्यानयिकयोराख्यायिका स्वयं नायकेन वाच्या, अन्या कथा नायकेन तदितरेण वा केनापि पुरुषेण वाच्या। एवं च आख्यायिकायां नायकमात्रस्य वक्तृता, कथायां त्वंशभेदेन नायकस्य तदितरस्य च पुरुषस्य वक्तृतेति प्राचीनाभिमत्तलक्षणाशयः। नन्वेवं प्राचीनलक्षणे नायकेन निजवृत्तकथनं स्वविकत्थना स्यात्, तच्च न युज्यते, यथोक्तमत्र प्रसङ्गे भामहेन–'स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः' इति चेत्तत्राह–स्वगुणाविष्क्रियेति। भूतार्थशंसिनः यथार्थव्याहारिणो नायकस्य स्वगुणाविष्क्रिया निजगुणवर्णनम् न दोषः, स हि यथार्थवक्तृत्वेन स्वमपि गुणमाविष्कुर्वन्न दुष्यति, स्वगुणस्य प्रसङ्गागतस्य वस्तुसतश्चाभिधानस्यात्मविकत्थनान्तर्गतत्वात्, अर्थात् प्रसङ्गे अतिशयोक्तिपूर्वकं स्वगुणख्यापनेमेवदोषाय भवति, न तु सति प्रसङ्गे वास्तवगुणाभिधानं दोषायेति। एतावत्पर्यन्तं कथाख्यायिकयोः प्राचीनं लक्षणं व्याख्यातम्।। २४।।

हिन्दी – कुछ लोग ऐसा भेद मानते हैं कि आख्यायिका में नायक अपनी कथा अपने मुँह से कहता है और कथा में नायक स्वयं भी कहता है या दूसरे ही कहते हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ है कि कथा में नायक अपने मुँह से अपनी वर्णना कर लेता है। यहाँ पर कुछ लोग यह आशंका प्रकट करते हैं कि उच्चवंशीय कथानायक अपने मुँह से अपना वर्णन किस प्रकार करेगा ? आत्मश्लाघा करना भले आदमी को किस प्रकार पसन्द आयेगा ? इस शंका के उत्तर में आचार्य दण्डी ने पूर्वोक्त श्लोक का उत्तरार्द्ध कहा है, उसका अर्थ यह है कि अपने में वस्तुतः वर्त्तमान गुणों का वर्णन तो आत्मश्लाघा नहीं है। आत्मश्लाघा तो अवर्त्तमानगुणप्रख्यापन को कहते हैं, वस्तुसद्गुणों का वर्णन करने से नायक में आत्मश्लाषा का दोष नहीं लगेगा। इस तरह कथा एवं आख्यायिका में प्राचीनोक्त भेद

बताया गया। आगे के श्लोक में इस मत का विरोध किया जायेगा।। २४।।

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्। अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग् वा भेदलक्षणम। ? ।। २५।।

तदितः पूर्वमुपपादितं सम्प्रति तदपनुदति–'अपि त्विति। तत्राख्यायिकायामपि अन्यैः नायकभिन्नैरुदीरणात् वर्णनात् अनियमः आख्यायिका नायकेनैव वाच्येति प्राचीनोक्तनियमभङ्गः अपि दृष्टः। अयमाशयः–आख्यायिकायां नायक एव वर्णयेदिति नियमो न व्यावहारिकोऽन्यरूपे वर्णनस्य कृतस्य दर्शनात, एवं च नायं नियम इति। ननु नायकेतरकृतवर्णनसद्भावात् कथात्वमेव घटता मास्तु तथाभूतस्य गद्यकाव्यस्याख्यायिका रूपत्वं तत्राह– अन्यो वक्तेति। कथायामन्यो वक्ता तयाऽऽख्यायिकायां स्वयं वक्तेति भेदकारणं भिन्नत्वप्रत्ययहेतु वा कीदृक् ? न युक्तमिदं भेदकथनम्। स्वल्पवैलक्षण्यकृत एवानयोर्भेदो युक्तः, न वक्तृवैलक्षण्यकृत इत्याशयः।। २५।

हिन्दी – प्राचीनों ने कथा और आख्यायिका में यही भेद बताया है कि आख्यायिका का नायक स्वयं अपनी कहानी प्रस्तुत करता है और कथा में कहीं नायक स्वयं अपनी कहानी कहता है और कहीं दूसरे भी उसकी कथा का वर्णन कर लेते हैं, यह भेद संगत नहीं है, क्योंकि देखा गया है कि आख्यायिका में भी दूसरे के द्वारा कथा प्रस्तुत की गई है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जिस आख्यायिका में दूसरे के द्वारा वर्णन किया गया है उसे कथा ही में अन्तर्भूत कर लिया जाये ? इसका उत्तर यह है कि कथाख्यायिका में जब वक्तृव्यवस्था हो तब न ऐसा माना जाये, एक में यह वक्ता दूसरे में वह वक्ता इस तरह का भेदक धर्म क्या माना जाये ? स्वरूपभेद ही इनके भेदक हैं, वस्तुभेद नहीं। आचार्य दण्डी अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि आख्यायिका में नायक स्वयं वक्ता हो और कथा में कोई और यह कोई भेद लक्षण नहीं है।। २५।।

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम्। चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत्प्रसङ्गे न कथास्वपि।। २६।।

एवं प्रागुक्तश्लोकेन वक्तृभेदकृतं कथाख्यायिकोर्भेदं निषिध्य वक्त्रापरवक्त्रत्प्रछन्दोनिवेशादिकृतं भेदमपि प्रतिषेदधुमुपक्रमते–वक्त्रञ्चेति। वक्त्रम् अपरवक्त्रमिति च छन्दोभेदो 'वक्त्रं नाद्यान्नसौ स्यातामब्धयोऽनुष्टुभि ख्यातम्' इति वक्त्रलक्षणम्। 'अयुजिननरला गुरु स्म तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' इति वापरवक्त्रलक्षणम्। केचितु–'वैतालीयं पुष्पितायां चेच्छन्त्यपरवक्त्रकम्' इत्याहुः। उच्छ्वासः कथांशव्यवच्छेदसंज्ञा, स एव क्वचिदाश्वास इत्युक्तः, तत्सहितत्वं सोच्छ्वासत्वम् (एतत्त्रयम्) भेदकम् कथात आख्यायिकाया वैलक्षण्यप्रत्यायकम् चिह्नमिति चेत् तन्न युक्तियुतं वचः, प्रसङ्गतः कथायामपि वक्त्रापरवक्त्रयोर्निवेशस्य सम्भवात्। अयमाशयः–कथायामार्या निबन्धुमध्यवसितस्य कवेर्मनसि 'आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्' इति स्मृत्वा वक्त्रापवक्त्रयोर्निबन्धस्य प्रवृत्तिर्यदि जायते तदा सा नैव दोषाय भवति, कथायां वक्त्रापवक्त्रयोरनिवेशस्य मुखतः केनाप्यशिष्टत्वात् अपितु–'आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्' इति सामान्यत एव निर्दिष्टत्वात्। एवमेव सोच्छ्वासत्वमपि न भेदनिर्णयकरम्, लम्भः कथायाः परिच्छेदस्य सज्ञा, उच्छ्वासश्च आख्यायिकायाः परिच्छेदस्य संज्ञेति विशिष्य न व्यवस्थितम्, तयोः संज्ञयोर्भिन्नत्वेऽपि संज्ञिनोरभिन्नत्वात्, न हि कलशघटरुपसज्ञाभेदन घटरुपसंज्ञिभेदः प्रतीयते। रूपभेदो हि घटपटयोर्भेदको न संज्ञाभेदः, संज्ञाभेदेऽपि कलशघटयोरभिन्नात्वात्। तस्मादेतत् भेदकरणमृजुधियामृजुधीत्वमात्रप्रत्यायकमेवेति। तदेव वक्ष्यति पुरः तदिति।। २६।।

हिन्दी – प्राचीन आचार्यों ने कथा तथा आख्यायिका में भेद करने के लिए यह व्यवस्था की थी कि आख्यायिका मे परिच्छेदों को उच्छ्वास शब्द से व्यवहृत किया जाता है और कथा में लम्भक आदि अभिधानों से, इसी प्रकार आर्या छंद से आख्यायिका मे काम लिया जाता है और वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंदों से कथा में व्यवहार किया जाता है, परन्तु यह व्यवस्था सहन नहीं है क्योंकि यह भेदचिह्न कथा की तरह आख्यायिका में भी निबद्ध हो सकते हैं, इनके भेद से वस्तुभेद नहीं हो सकता। कथानिर्माण में प्रवृत्त कवि यदि इन चिह्नों से काम लेता है, तो वही कवि आख्यायिका में यदि भिन्न चिह्नो का प्रयोग करें तो इससे आख्यायिका तथा कथा में कुछ अन्तर नहीं होता।। ६६।। इसका अर्थ यह अधिक उपयुक्त लगता है कि यदि वक्त्र और अपरवक्त्र और उच्छवासा मे निबद्ध होना आख्यायिका का भेदक चिह्न है तो यह ठीक नहीं क्योंकि यह प्रसंग तो कथाओं में भी हो सकता है।

आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः। भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः।। २७।।

कथायामपि आर्यादिवत् वक्त्रापरवक्त्रयोः प्रवेशेः किं बाधकम् ? प्रसङ्गतः कदाचिदार्यानिबन्धने प्रसक्तः कविर्वक्त्रस्मरणेन तयानिबन्धन कुर्याच्चेत् न तद्दोषाय जायते। कथा वक्त्रापरवक्त्ररहितैव स्यादस्यार्थस्य स्पष्टं केनाप्यनुक्तैः। एवमेव लम्भादिकृतभेदस्यापि अयुक्तत्व बोध्यम्।। २७।।

हिन्दी – कथाकाव्य में भी आर्या आदि की तरह वक्त्र तथा अपरवक्त्र नाम छन्दो के समावेश में कुछ बाधक नहीं है। फलतः कथा तथा आख्यायिका उभयत्र आर्या, वक्त्र, अपरवक्त्र इन तीनों वृत्तों का यथेच्छ प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार लम्भक, उच्छवास आदि भी इनमें भेद सिद्ध नहीं कर सकते। कथा में भी लम्भकः उच्छ्वास आदि संज्ञा से प्रकरणविच्छेद किया जा सकता

है और आख्यायिका में भी, इन अवान्तर भेदों से कथा तथा आख्यायिका में कुछ भेद सिद्ध होते नजर नहीं आते हैं। इस प्रकार आचार्य दण्डी ने कथा तथा आख्यायिका में कुछ भेद नहीं माना है, संज्ञाभेद को घटकलशादिभेदवत् अप्रयोजक बताया है।। दण्डी कथा और आख्यायिका के भेद का खण्डन करते हैं कि आर्यादि के समान वक्त्र अपरवक्त्र का भी प्रयोग हो सकता है विभाजन लम्बकों में हो या उच्छवासों में इससे कोई तात्विक अन्तर नहीं पड़ता।

तत् कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता। अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।। २८।।

तत् तस्मात् संज्ञाभेदस्याप्रयोजकत्वात् कथा आख्यायिका चेति संज्ञाद्वयाङ्किता नामद्वितयाभिधीयमाना एका जातिः तुल्यः पदार्थः। कथायां आख्यायायिकायाश्च भेदो नास्ति, नामभेदस्त्वप्रयोजक इत्यर्थः। एवं कथाऽऽख्यायिकत्योरभेदं प्रतिपाद्य खण्डकथा परिकथा, कथालिका, इत्यादीनामपि परैरुक्तानां कथायामेवान्तर्भावं बोधयितुमाह–अत्रेवेति। शेषा उक्तायाः कथाया अतिरिक्ता आख्यानजातयो गद्यकाव्यानि अत्र कथायामेव अन्तर्भविष्यन्ति समावेक्ष्यन्ति। ता अपि नाममात्रभेदभाजः कथा एवेत्यर्थः। अग्निपुराणे–कथादिरूपप्रस्तावे पञ्चप्रकारता गद्यकाव्यनामभिहिता, तथा चोक्तं तेनैव–

'आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा। कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा।।'

दण्डी तु सर्वानपि गद्यभेदान् कथायामेवान्तर्भावयति, तदिदं तस्य प्रौढिवादमात्रम्, सम्प्रदाय– परिपन्थित्वात्तथाऽभिधानस्येति बोध्यम्।।२८।।

हिन्दी – कथा और आख्यायिका यह केवल संज्ञाभेद है, संज्ञाओं के भिन्न होने से भी संज्ञीवाच्य अर्थ में भेद नहीं होता, जैसे घटकलशरूप संज्ञाभेद होने पर भी वाच्यार्थरूप कम्बुग्रीवादिमत्पदार्थविशेष में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार खण्डकथा, परिकथा, कथालिका आदि गद्यप्रबन्धों का भी आख्यायिका में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये।। २८।। (यहाँ पर दण्डी भामह के विरुद्ध मत प्रतिपादित कर रहे हैं। अतः इससे दण्डी का भामह से बाद का होना सिद्ध होता है। दण्डी कथा और आख्यायिका में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। दोनों एक ही पदार्थ हैं केवल नाम या संज्ञा भिन्न–भिन्न है।)

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः। सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः।। २९।।

केचिदाचार्याः – 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता' इति प्राचीनोक्तिमनुसन्दधानाः कन्याहरणादीनि विशिष्याख्यायिकायां वर्णनीयत्वेन स्वीकुर्वन्तो वर्णनीयकन्याहरणादिभेदेन कथाऽऽख्यायिकयोर्भेदमातिष्ठन्ते, तदपि न युक्तम्, इत्याह–कन्याहरणेति। कन्याहरणमसम्पन्नपाणिग्रहणां कन्यां बलाद् हृत्वा तया सह क्रियमाणो विवाहः' स हि राक्षसविवाहनाम्ना स्मृतिषु व्यपदिश्यते–यथोक्तं मनुना–

'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं हठात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते'।। (३.३३)

समरः–युद्धक्रिया। स च विप्रकारकः, समः, विषमः, समविषमश्च। तत्र समौ द्वन्द्वयुद्धं चतुरंगयुद्धं च। द्वन्द्वयुद्धं, यथा रामरावणयोः। चतुरङ्गयुद्धं यथा कुरुपाण्डवानाम्। विषमो यथा–रामस्य खरदूषणत्रिशिरोभिः सह। समविषयो यथा महेश्वरार्जुनयोः किरातार्जुनीये। विप्रलम्भः–'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ' इति लक्षणलक्षितः। स च पूर्वरागमानप्रवासकरुत्णामकश्चतुर्धा स्यात्। अयं विप्रलम्भ संभोगस्याप्युपलक्षकः, विप्रलम्भस्य संभोगवर्णनसापेक्षत्वात्। उदयः–सूर्याचन्द्रमसोः, नायकस्य वाऽभ्युदयः। एते गुणाः सर्गबन्धसमाः महाकाव्यसदृशाः। एते हि वर्णनीयविधया महाकाव्य इव। यधेते विषयाः महाकाव्ये पद्यप्रबन्धविशेषेऽपि संभवन्ति तदा गद्यकाव्येभेदभूते कथारूपे किमिति न भवेयुः। एषां वर्णनं न आख्यायिकामात्रे क्रियते किन्तु पद्यप्रबन्धेपि, तदिदं भेदकथनं न युक्तमिति भावः ।। २९।।

हिन्दी – आख्यायिका में 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता' इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कन्याहरण–राक्षसविवाह, युद्ध, वियोग (संभोग), चन्द्रसूर्योदय, आदि का वर्णन होता है। अतः इस वर्णनीय भेद से कथा और आख्यायिका में भेद सिद्ध है, इस तर्क का भी खण्डन इस कारिका में किया गया है। यदि कन्याहरणादि वस्तु आख्यायिकामात्रनिष्ठ होते तब यह भेदक हो सकते थे, परन्तु यह कन्याहरणादि तो महाकाव्यों में भी वर्णनीयतया स्वीकृत है, अतः इनके वर्णन से आख्यायिका और कथा का भेद प्रमाणित नहीं हो सकता।। २९।।

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति। मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम्।। ३०।।

'कवेरभिप्रायकृतैरङ्कनैः कैश्चिदङ्किता' इति प्रतिपादयता भामहाचार्येण कथायां किञ्चित्तादृशं चिह्नं कविना निवेशनीयं येन कथाऽऽख्यायिकयोर्भेदः प्रमितः स्यादित्युक्तं, तद्दूषयितुमियं कारिका। अन्यत्र कथातो भिन्ने पद्यप्रबन्धे महाकाव्यादौ। कविभाव–कृतम्–कविना स्वेच्छया निबद्धम्। तथा हि दृश्यते महाकाव्येषु, शिशुपालवधे प्रतिसर्गान्ते श्रीशब्दप्रयोगात् श्रयङ्त्वम्। किरातार्जुनीये च लक्ष्म्यङ्कत्वम्। यथा महाकाव्यादौ कविः स्वेच्छया श्रयङ्कत्वादिकं निवेशयति तद्वत् कथाभिन्ने आख्यायिकादौ यदि किमपि स्वाभिमतं चिह्नं निवेशयेत्तेन न कापि त्रुटिः, तथा च न च तादृशशालित्वं कथामात्रनियतं, महाकाव्यादौ तद्दर्शनादतो न तादृशं चिह्नं

कथाख्यायिकथयोर्भेदप्रमापकम्। तदियता परिकरेण कथाऽऽख्यायिकयोर्भेदो निरस्तः। तादृशचिह्नस्य न कथाऽऽख्यायिकयोर्भेदमात्रज्ञापनपरत्व येन वैयर्थ्यं शङ्क्येत, किन्तु मङ्गलाद्यन्यप्रयोजनप्रमापकत्वमपीत्याह–मुखमिति। कृतात्मनाम् कृतिनाम् सूरिणाम् इष्टार्थसंसिद्ध मङ्गलादिरुपाभिमतार्थसम्पादने, मुखम्–उपायः, किन्न स्यात्, तादृशं चिह्नं मङ्गलाद्यर्थं कृतं वेदितव्यम्, कथाख्यायिकाभेदं बोधयितुमित्यर्थः ॥३०॥

हिन्दी – आचार्य भामह ने 'कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता' के अनुसार यह माना है कि कथा में कवि अपनी इच्छा के अनुकूल कुछ चिह्न लगाते हैं। यही कथा तथा अख्यायिका में भेद मानना चाहिये, परन्तु यह बात यदि कथाभाव में देखी जाती तब हम इस कथा से आख्यायिका का भेद समझते परन्तु ऐसा नहीं है। इस तरह के चिह्न तो पद्यप्रबन्ध महाकाव्यों में भी दीखते हैं तब भला इनसे कथा तथा आख्यायिका में भेद कैसे निर्णीत किया जा सकेगा। कवि लोग इस तरह के चिह्न कथा में, आख्यायिका में या महाकाव्य में जहां जी चाहे, लगाया करते हैं, तब इससे कुछ फल भामह के मत में नहीं होता। कृती कविगण चाहे जिस तरह के शब्द–प्रयोग द्वारा अपना अभीष्ट अर्थ मङ्गलादि की सिद्धि कर लिया करते है, उनकी वाणीपूजा में इतना सामर्थ्य होता है कि ये चाहे जिस शब्द से अभिप्रेत अर्थ साध लिया करते हैं।। ३०।। कवि के द्वारा प्रयुक्त कुछ अभिप्राय चिह्न अन्यत्र भी दोष नहीं होते कृतियों के लिए इष्टार्थ की सिद्धि में क्या उपाय नहीं होता।

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः। गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते।। ३१।।

आचार्य दण्डिनां 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्' इति काव्यभेदकथनप्रस्तावे प्रतिपादितम्, तत्र, गद्यपद्यया प्रभेदयो निरुच्यमानेषु सम्प्रति क्रमप्राप्तं मिश्रं नाम प्रभेदं जिज्ञपयिषुराह–मिश्राणीति। नाटकादीनि दृश्यकाव्यानि मिश्राणि गद्यपद्योभयात्मकतया मिश्राणि तत्पदव्यपदेश्यानि, तेषां नाटकादिदृश्यकाव्यानाम् अन्यत्र नाट्यशास्त्रादौ विस्तरः साङ्गं सरहस्यं च प्रतिपादन कृतमस्तीति शेषः, अतस्तानि तत एव परिज्ञानीयानीति भावः। एतच्च दृश्यात्मकमिश्रविषयम्, श्रव्यात्मकमिश्रमाह–गद्यपद्यमयीति। काचित् गद्यपद्यमयी गद्यपद्यप्रचुरा मिश्ररचना चम्पूरिति अभिधीयते, पद्यप्राचुर्यं गद्यसमकक्षतयाऽपेक्ष्यते, अन्यथाऽऽख्यायिकादावपि कतिपयपद्यसद्भावेन मिश्रसंज्ञकत्वप्रसक्तिः। काचिदित्युक्त्या सर्वो गद्यपद्यप्रबन्धो न चम्पूपदप्रतिपाद्यतार्ह इति व्यञ्जितं, तेन विरुपदभिलप्याया राजस्तुतेर्व्यवच्छेद तदुक्तं साहित्यदर्पणे–'गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते'। इति।। ३१।।

हिन्दी – आचार्य दण्डी ने प्रारम्भ में कहा है कि–'गद्यं पद्यं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्' इस प्रकार काव्य के तीन भेद कहे हैं, उनमें गद्य पद्य की प्रभेद–विवेचना के हो जाने पर मिश्रकाव्य की विवेचना कर रहे हैं। नाटक आदि दृश्य काव्य को मिश्र काव्य कहते हैं उनका विस्तृत विवरण नाट्यशास्त्र आदि अन्य ग्रन्थों में है। श्रव्यकाव्यों में भी कुछ मिश्र होते हैं, उन्हें चम्पूपद से अभिहित किया जाता है। श्रव्यकाव्यों के कुछ मिश्र भेद को चम्पू तथा कुछ को विरुद नाम से अभिहित करते हैं। यहाँ पर नाटकादि शब्द से–नाटक प्रकरण भाण, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क,, वीथी, प्रहसन, यह दशरूपक तथा नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टक नाट्यरासकम्। प्रस्थानोल्लासं काव्यापि प्रेङ्खण रासकं तथा।। "संलापकं श्रीगदितं शिल्पिकं च विशालिका। दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकत्यपि। अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।।' इन अठारह उपरूपकों का भी ग्रहण जानना चाहिये। इन सभी रूपकों तथा उपरूपकों के लक्षण–उदाहरण साहित्यदर्पण प्रभृति ग्रन्थों में पाये जाते हैं, वहीं से जानना चाहिये।। ३१।। दृश्य काव्यों से भिन्न श्रव्यकाव्यों में गद्य और पद्य से मिश्रित कोई रचना चम्पू कही जाती है, सब नहीं। विरुद में भी गद्य पद्य का मिश्रण होता है किन्तु चम्पू उससे भिन्न होता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि दण्डी के समय में चम्पू का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं हुआ था।

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।। ३२।।

इतः पूर्वं गद्यपद्यमिश्रात्मकतया सारस्वतविजृम्भितस्य त्रिप्रकारकत्वमुक्तं, सम्प्रत्यनया कारिकया तस्य भाषाभेदेन चतुर्विधत्वमभिधातुमुपक्रमते–तदेतदिति। तत् एतत् प्रकान्तनिरूपणं वाङ्मयं सारस्वतं काव्यम्, भूयः पुनः अपि संस्कृतम् तन्नाम्ना प्रसिद्धम प्राकृतम् अपभ्रंशः, मिश्रम्, संस्कृतादिनानाभाषामयं चेति चतुर्विधम् प्रकारचतुष्टयसनाथम् आर्याः काव्यशास्त्रनिरूपणप्रवणा आहुः संस्कृततापभ्रंशमिश्रभेदेन सारस्वतं साम्राज्यं चतुर्धा विभक्तं काव्याचार्याः स्वीकुर्वत इत्यर्थः। तदुक्तं सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजराजेन–

'संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः। शक्यो योजयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः।।

पैशाच्या शौरसेन्या च मागध्याऽन्या निबध्यते। द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन।।'

तदेवं भाषाभेदेन वाङ्मयस्य चातुर्विध्यमुक्तम्।। ३२।।

हिन्दी – इसके पूर्व 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधक्व व्यवस्थितम्' कहकर काव्यप्रपञ्च को तीन भागों में बांटा गया था, अब इसी काव्य को भाषा भेद से चार प्रकार का बता रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र। कुछ काव्य संस्कृत में लिखे गये हैं कुछ प्राकृत मे, कुछ अपभ्रंश भाषा में तथा कुछ संस्कृतादि विविध भाषाओं के मिश्रण में। इस प्रकार भाषाभेद द्वारा काव्य प्रपञ्च का चतुष्प्रकारकत्व सिद्ध होता है।। ३२।।

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः।। ३३।।

पूर्वकारिकाया। संस्कृतादिभेदेन काव्यभेदः प्रदर्शितस्तत्र संस्कृतादिपदं व्युत्पादयति–संस्कृतमिति। दैवी देवव्यवहार्या महर्षिभिः यास्कपाणिन्यादिभिः अन्वाख्याता, प्रकृतिप्रत्ययादिप्रदर्शनेन व्याख्याता वाक् संस्कृतमिति कथ्यते, नामेति प्रसिद्धिसूचकं पदम्। यास्कादिनिरुक्तकारैः पाणिन्यादिव्याकरणाचार्यैश्च प्रकृतिप्रत्ययादिप्रदर्शनविधया व्युत्पादिता देवैर्व्यवहारविषयीकृता वैदिकलौकिकभेदेन द्विविधा संस्कृतमिति नाम्ना व्यवहियमाणा वागेका। तद्भवः संस्कृतादुत्पन्नः प्राकृतरूपः–हत्त, कण्ण प्रभृतिः। तत्समः। संस्कृताभिन्नरूपः–कीरः, गौः, इत्यादिरूपः। देशी–तत्तद्देशरूढः, यथा–गजार्थे–'दोघ्घट'शब्दः, इति एवंरूपः प्राकृतक्रमः प्राकृतभाषाप्रपञ्चः अनेकः बहुविधः। अयमाशयः–प्राकृतस्य तद्भवतत्समदेश्यादिरूपो नानाप्रकारकः प्रपञ्चोऽस्तीति शेषः। प्राकृतपदस्य–प्राकृताः ग्राम्याः, तैर्व्यवहृतम् प्राकृतमिति व्युत्पत्ति केचिदाहुः, अपरे प्रकृतेः संस्कृतादुत्पन्नं प्राकृतमिति प्राहुः। प्राकृतभाषास्तद्भवादिरूपभेदेन त्रैविध्यमभिहितं भवति।। ३३।।

हिन्दी – पहली कारिका में आचार्य दण्डी ने संस्कृतादि भेद से काव्यप्रपंच के चार भेद बतलाये हैं, उन्हीं का निर्वचन इस कारिका में किया जाता है। संस्कृत उस भाषा का नाम है जिसे देवों ने अपने व्यवहार में उपयुक्त किया, तथा जिसे प्रकृतिप्रत्ययादिप्रदर्शन द्वारा यास्कप्रभृति निरुक्तकार तथा पाणिन्यादि आचार्य ने साधित किया है। प्राकृत–साधारणजन जिसे व्यव हृत करें, अथवा जो प्रकृतिसंस्कृत से उत्पन्न न हो उसे प्राकृत कहते हैं। वह अनेक प्रकार की है जैसे तद्भव, तत्सम तथा देशी। तद्भव शब्द उसे कहते हैं जो संस्कृत से बना परन्तु बिलकुल संस्कृत ही नहीं रह गया हो, जैसे हस्त के स्थान में 'हत्त' कर्ण के स्थान में 'कण्ण'। तत्सम उसे कहते हैं जिसमें आकार परिवर्तन नहीं हुआ हो, केवल विभक्तिच्युत हो, जैसे 'कीर' 'गौ' आदि। देशी शब्द वह है जिसका मूल संस्कृत दुर्ज्ञेय हो, जैसे –'दोघ्घट', 'मौनी'।। ३३।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।। ३४।।

प्राकृतभाषासु प्रकर्षापकर्षौ प्रतिपादयति–महाराष्ट्रेति। महाराष्ट्रं नाम स्वनामख्यातो दक्षिणापथवर्त्ती देशविशेषः, तदाश्रयाम् तद्देशवासिलोकव्यवहृतां भाषां वाचं प्रकृष्टं सर्वोत्तमं प्राकृतं विदुः, महाराष्ट्रं देशवासि जनै सढौ व्यवहृतां भाषां प्रकृष्टं प्राकृत जिद्वांसो निदुरित्यर्थः। महाराष्ट्रप्राकृतस्य सर्वोत्कृष्ट प्राकृतभाषात्वे कारणमाहसागर इति। यन्मथन यस्यां महाराष्ट्रप्राकृतभाषायां निबद्धं सेतुबन्ध्यादि सेतुबन्धनामकं प्रवरसेनकविकृतं काव्यं तदादि तत्प्रभृति काव्यं सूक्तिरत्नानां चमत्कारपूर्णवचनानां निधिः, यथा सागरे महार्घमणयो भवन्ति, तथैव महाराष्ट्रभाषानिबद्धे सेजुबन्धादौ काव्य विशेषे चमत्कारलोक्यो बाहुल्येनोपलभ्यन्तेऽतो महाराष्ट्रदेशीयं प्राकृतं सर्वोत्कृष्टमिति तात्पर्यम्। सेतुबन्धादीति आदिपदेन 'सतसई' प्रभृतिकाव्यरत्नानां ग्रहणम्। एभिरेव काव्यरत्नैः प्राकृतमुख्यत्वं महाराष्ट्रप्राकृतस्येति बोध्यम्।। ३४।।

हिन्दी – प्राकृत अनेक प्रकार के हैं–महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौंडी, मागधी आदि। उनमें महाराष्ट्री प्राकृत सर्वोत्तम है, ऐसा विद्वान् कहा करते हैं, क्योंकि उसी प्राकृतप्रभेद महाराष्ट्री में 'प्रवरसेन' नामक कवि ने 'सेतुबन्ध' नामक काव्य की रचना की है, 'सत्तसई' प्रभृति ग्रन्थ भी उसी प्राकृत में लिखे गये हैं, जिन ग्रन्थों में चमत्कारपूर्ण उक्तियां भरी पड़ी हैं। 'सेतुबन्ध', 'सत्तसई' प्रभृति उत्तम ग्रन्थों की भाषा होने के कारण ही महाराष्ट्री प्राकृत सर्वश्रेष्ठ प्राकृत मानी जाती है। उन ग्रन्थो की श्रेष्ठता इसलिये कही जाती है कि उनमें चमत्कारपूर्ण उक्तियां बहुतायत से प्राप्त होती हैं।। ३४।।

शौरसेनी व गौडी च लाटी चान्या च तादृशी। याति प्राकृतमित्येव व्यवहारेषु सन्निधिम् (पाठभेद सन्निधिः)।। ३५।।

शूरसेनो नाम कृष्णमातामहः प्रसिद्धस्तधिदकृतो मधुरासन्निहितो देशो भवति शूरसेनः, तदुक्तं भागवते–

'शूरसेनो यदुपतिर्मधुरामावसन् पुरीम्। माथुराञ् शूरसेनाँश्च विषयान् बुभुजे पुराः।। शूरसेनपदमत्र तद्देशवासिषूपचर्यते, तथा च शूरसेनाभिधदेशवासिजनव्यवहार्या प्राकृतभाषा शौरसेनी बोध्या।

गौडी प्राकृतभाषा सा कथ्यते या गौडदेशवासिभिर्व्यवहियते, गौडो नाम वङ्गसमीपवर्त्ती देशविशेषः, यदुक्तं शब्दकल्पद्रुमे–

'वङ्गदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिवे। गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः'।। लाटी लाटजनव्यवहार्या, लाटश्च कर्णाटसन्निहितो देशविशेषः, तथा चोक्तम्–

'ददौ तस्मै सपुत्राय प्रीत्या वीरवराय च। लाटदेशे ततो राज्यं स कर्णाटयुतो नृपः'।।

तादृशी महाराष्ट्र्यादिसदृशी तत्तद्देशनाम्नोपलक्षिता अन्या मागधी अवन्तिजा प्राच्या वा, तदुक्तं नाट्यशास्त्रे–

'मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेनार्धमागधी। वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः'।।

एताः सर्वा अपि भाषाः प्राकृतमिति, एवं प्राकृतनाम्नां एव व्यवहारेषु नाट्यशास्त्र– साहित्यशास्त्रादिव्यवहारेषु सन्निधिं याति प्राप्नोति, आचार्याः सर्वा अपीमा भाषाः प्राकृतपदेनैव व्यपदिशन्तीति भावः।। ३५।।

हिन्दी – शूरसेन नाम के राजा कृष्णभामह के रूप में प्रसिद्ध है, उनके द्वारा शासित भूखण्ड को शूरसेन कहा जाता है यह मथुरापुरी के आसपास है, वहां की जनता जिस प्राकृत का प्रयोग करती है, उसे 'शौरसेनी' प्राकृत कहते हैं। इसी तरह लाटदेशस्थ जनता द्वारा व्यवहृत भाषा लाटी कही जाती है। गौड देश की भाषा गौडी कही जाती है, ये सभी देशनामोपलक्षित भाषायें नाट्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के व्यवहारों में प्राकृत नाम से व्यवहृत होती हैं।। ३५।।

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्'।। ३६।।

देशनामोपलक्षिता भाषाः प्राकृतपदाभिलप्या इत्युक्त्वा सम्प्रति जातिनामोपलक्षित– भाषाणामपभ्रंशत्वमुपपादयति–आभीरेति। आभीरा गोपास्तदादयः आभीरशबरशकचाण्डालादयः, तेषां गिरस्तद्व्यवहार्या भाषाः आभीरीशाबर्यादयोऽपभ्रंश इति स्मृताः काव्येषु अपभ्रंशपदबाध्याः। आभीरादिगिरां केवलं काव्ये एवापभ्रंशपदवाच्यत्वं, शास्त्रेषु तु व्याकरणादिषु च्युतसंस्कृतीनाम् संस्कृतादन्यासां सर्वासामेव भाषाणां प्राकृतादीनामपभ्रंशपदबोध्यत्वमिति। शास्त्रे संस्कृतमपभ्रंशश्चेति द्वावेव प्रभेदौ, तत्र संस्कृतभिन्नमखिलमपि अपभ्रंशशब्दप्रतिपाद्यमिति भावः।। ३६।।

हिन्दी –इससे पहले वाली कारिका में देशनामोपलक्षित सभी भाषाओं को प्राकृत–प्रभेद कहा गया है, जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी आदि। अब जातिनामोपलक्षित भाषाओं को अपभ्रंश कह रहे हैं। काव्य में आभीर आदि जातियों द्वारा व्यवहृत होने वाली भाषायें अपभ्रंश मानी जाती हैं। परन्तु यह केवल काव्यविषयक नियम हैं, व्याकरणादि शास्त्र मे तो अपभ्रंश संस्कृत से भिन्न भाषासामान्य को कहा जाता है। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि यदि व्याकरणलक्षणहीन भाषा का प्रयोग होगा तो वह भाषा अपभ्रंश होगी, तथा उसके प्रयोक्ता म्लेच्छ समझे जायेंगे। देखिये–'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् (महाभाष्य– १–१–१)।। ३६।।

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत्। ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्।। ३७।।

भाषाभेदमभिधाय तत्तद्भाषाभेदेन पद्यप्रबन्धान् लक्षणमुखेन व्यवस्थापयति–संस्कृतमिति। सर्गबन्धादि महाकाव्यादिकम्–संस्कृतम्–संस्कृतभाषायामेव निबन्धनीयं भवति, महाकाव्यखण्डकाव्यादि संस्कृतभाषायामेव विरच्यते नान्यस्यामिति प्रथम–पादार्थः। तथा चोक्तमाग्नेय–

'सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्। तद्भवं न विशेषत्तत्र तत्समं नापि किञ्चन'।।

यथा–रामायणादि। स्कन्धकादि स्कन्धकः छन्दोविशेषस्तद्विरचितं काव्यमपि स्कन्धकं, तत्प्राकृतम् प्राकृतभाषायामेव निबन्धनीयमिति द्वितीयपादार्थः। उक्तं चान्यत्र 'छन्दसा स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्गलितकैरपि'। अस्योदाहरणं सेतुबन्धादि। ओसरो नामच्छन्दोभेदः, तद्ग्रथितं काव्यमपभ्रंशभाषायामेव विधातव्यम्, एतादृशे च काव्ये सर्गाः कुडवकाभिधा भवन्ति तदुक्तमन्यत्र–

'अपभ्रंशनिबन्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः। तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधानि च'।।

अपभ्रंशभाषायां निबद्धं काव्यम्–कर्णपराक्रमादि। नाटकादि तु मिश्रकम्–नानाभाषाभिमिश्रितं विधेयमिति यावत्। नाटकादौ पात्रभेदेन भाषानियम उक्तो यथा साहित्यदर्पणे–

पुरुषाणागयनीचानां संस्कृतं स्यात् कृतात्मनाम्। शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम्।।

आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत्। अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम।।

चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी। प्राच्या विदूषकादीनां धूर्त्तानां स्यादवन्तिका।।

योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हिं दीव्यताम्। शबराणां शकादीनां शाबरीं सम्प्रयोजयेत्'।।

तदेवं भाषाभेदेन काव्यलक्षणानि निरुक्तानि, तथा च महाकाव्यं संस्कृतमयम्, स्कन्धकं प्राकृतमयम्, औसरादिरपभ्रंशमयः नाटकादि तु नानाभाषामयमिति।। ३७।।

हिन्दी – इससे पूर्व में भाषा का विभाग बताया गया है, इस कारिका में भाषा–भेद से पद्यप्रबन्धों के लक्षण स्थिर किये जाते हैं। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य–खण्डकाव्य संस्कृत में ही लिखे जाते हैं, स्कन्धक–एक प्रकार का वृत्त, उसमें लिखे गये काव्य प्राकृतमय ही होते हैं, इसी तरह ओसर आदि छन्दों में लिखे गये काव्यों की भाषा अपभ्रंश भाषा ही होती है, नाटकों में सभी तरह की भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। नाटकों में पात्र भेद से विविध भाषा का प्रयोग होता है, जिसकी व्यवस्था ऊपर की टीका में दी गई है।। ३७।

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते। भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्।। ३८।।

महाकाव्ये संस्कृतमेव भाषा, स्कन्धादिवृत्तनिबद्धे प्राकृतमेव, ओसरादौ पुनरपभ्रंश इति काव्यप्रभेदप्रथमे पद्यकाव्य भाषानियम कृत्वा गद्यकाव्यगतं तन्नियममुपक्रमते–कथा हीति। कथालक्षणं प्रागुक्तं, सा हि कथा सर्वभाषाभिः सर्वविधाभिः प्राकृतभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते

विरच्यते, कथायां भाषानियमो नास्तीत्यर्थः। तत्र संस्कृतभाषानिबद्धकथोदाहरणं कादम्बर्यादि प्रसिद्धमेव। संस्कृतेतरभाषानिबद्ध–कथोदाहरणप्रदर्शनायाह–भूतभाषेति। भूतभाषामयीम् पैशाचभाषयोपनिबद्धाम् अद्भुतार्थाम् रमणीयवृत्तघटिताम् बृहत्कथाम् नामग्रन्थमाहुः। इयं बृहत्कथा सम्प्रति नोपलभ्यते, तदनुवादभूता बृहत्कथामञ्जर्यादयो ग्रन्थाः प्रथन्ते।। ३८।।

हिन्दी –महाकाव्य की भाषा नियमतः संस्कृत हो, स्कन्धकच्छन्द में निर्मित काव्य की भाषा प्राकृत हो, ओसर प्रभृति छन्दों के योग्य भाषा अपभ्रंश होती है, इस प्रकार पद्यकाव्यों की भाषा के विषय में निश्चय किया गया है, अब इस कारिका में गद्यकाव्य–कथा की भाषा के विषय में अपना विचार प्रकट करते हैं। कथा में भाषा का कुछ नियम नहीं है, कथा संस्कृत भाषा में तथा अन्यान्य भाषाओं में समानरूप से लिखी जाती है। उदाहरणार्थ संस्कृतभाषानिबद्ध कथा 'कादम्बरी' एवं भूतभाषानिबद्ध कथा 'बृहत्कथा' उपस्थित की जा सकती है। बृहत्कथा गुणाढ्य की रचना है, वह अपने मूल रूप में प्राप्य नहीं है, उसके अनुवाद–बृहत्कथामञ्जरी एवं कथासरित्सागर आदि मिलते हैं।। ३८।।

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थम् इतरत् पुनः। श्रव्यमेवेति सैषाऽपि द्वयी गतिरुदाहृता।। ३६।।

स्त्रीजनकृतं शृंगाररसप्रधाननृत्यं लास्यम् तथा चोक्तम्–

'लासः स्त्रीपुंसयोर्गावस्तदर्हं तत्र साधु वा। लास्यं मनसिजोल्लासकरं मृद्वङ्गासवत्।।

देव्यै देवोपदिष्टत्वात् प्रायःस्त्रीभिः प्रयुज्यते'। इति।

'कोमलं मधुरं लास्यं शृंगाररससंयुतम्। गौरीतोषकरं चापि स्त्रीनृत्यं तु तदुच्यते।। इति च।

छलितं पुंनृत्यम्, तदुक्तं प्रेमचन्द्रेण–'पुंनृत्ये छलितं प्राहुः इति। केचित्तु छलिकमिति पाठं प्रकल्पयन्तः–'छलिकं छद्मना वृत्तं सूरयस्तद्विदो विदुः' इति च्छलिकलक्षणमुपस्थापयन्ति। शम्पा पूर्वरङ्गान्तर्गतः वाद्यप्रयोगविशेषः, तदुक्तं नाट्यशास्त्रे–

'शम्पा तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च। पुनश्चैककला शम्पा सन्निपातः कलात्रयम्'।। इति।

आदिना ताण्डवहल्लीशरासकानां ग्रहणम्, तत्र ताण्डवलक्षणमुक्तं यथा–

'वीररौद्ररसाधारमद्भुतं शङ्करप्रियम्। पुरुषेण समारब्धं नृत्यं ताण्डवमुच्यते'।।

अन्यच्च–

'उद्धतं तु महेशस्य शासनात् तण्डुनोदितम्। भरताय ततः ख्यातं लोके ताण्डवसंज्ञया'।।

हल्लोशकलक्षणं यथा–

'मण्डलेन तु यत् स्त्रीणां नृत्यं हल्लीशकं तु तत्। तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः'।।

हल्लीशमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रासकमिति प्रेमचन्द्रशर्माणः। एतत् सर्वं लास्यादि प्रेक्षार्थम् अवलोकनमात्रफलम्, दृश्यं काव्यमिति यावत्। इतरत्–इतः प्रेक्षार्थाल्लास्यादेर्भिन्नम् महाकाव्यादि श्रव्यमेव श्रवणमात्रलक्षणम्। उक्तश्चायमर्थो भोजराजेन यथा–

'श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिनीयते। श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम्'।। २–१५२

एवम् एषा अपि द्वयी गतिः द्विप्रकारा पद्धतिः प्राचीनैः कथिता। 'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्' इत्यादिना प्राचीनैः काव्यस्य भेदद्वयमुक्तमिति भावः।। ३६।।

हिन्दी – लास्य–स्त्रीजन द्वारा प्रस्तुत किया गया शृंगाररसप्रधान नृत्य लास्य कहा जाता है। छलित–पुरुषों द्वारा प्रस्तुत नृत्य छलित शब्द से व्यवहृत होता है। शम्पा–पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत वाद्यप्रयोगविशेष को शम्पा कहते हैं। आदि पद से ताण्डव हल्लीशक तथा रासक का ग्रहण होता है। ताण्डव–उस नृत्य का नाम है जिसका आधर वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस हो जो शिवजी का अभीष्ट हो एवं पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किया गया हो। हल्लीश उस नृत्य का नाम है जिसमें बहुत–सी स्त्रियां एक पुरुष को नेता बनाकर मण्डलाकार में खड़ी हो नृत्य प्रस्तुत करती हो। रासक–हल्लीश नामक नृत्यप्रभेद में जब खास तालबन्ध का प्रयोग होता है तब वह रासक कहा जाता है। यह सकल–लास्यच्छलितशम्पादि केवल प्रेक्षार्थ–दृश्य है, इनके अतिरिक्त काव्य श्रव्य है। इस प्रकार से प्राचीनों ने काव्य के दो भेद कहे हैं। इससे पूर्व आचार्यदण्डी ने गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्' गद्य, पद्य एवं मिश्र कहकर काव्य के तीन प्रभेद बताये थे, उसी प्रसंग को समाप्त करते समय प्राचीनों के मत भी बता दिये गये हैं ३६।।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।। ४०।।

'वाचां विचित्रमार्गाणाम्' इत्यादिना पूर्वं वाग्वैचित्र्यमुपक्रान्तमियता परिकरेण व्युत्पादितं सम्प्रति तासामेव वाचा रीतिभदेन भेदता बोधयितुमुपक्रमते–अस्त्यनेक इति० परस्परं सूक्ष्मभेदः स्थूलबुद्धिजनावेद्यपार्थक्यः–केवलं परिपक्वबुद्धिविभवमात्रावगम्य पार्थक्य -गिरा वाचां मार्गः रचनाप्रकारः अनेक बहुविधः अस्ति, तदुक्तं वामनेन–रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टपदरचना रीतिः सा च त्रिविधा–वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली चेति। विश्वनाथस्तु रीतिनां चातुर्विध्यमाह–

'पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री। रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा'।

सरस्वतीकण्ठाभरणे रीतीनां षड्विधत्वमुक्तम्–

'वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा। लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते'। आसां पुना रीतीनां लक्षणोदाहरणानि परा भाषाटीकायामुच्यन्ते। तत्र एतादृशीषु तिसृषु चतसृषु षट्सु वा रीतिषु वैदर्भगौडीये एव रीती प्रस्फुटान्तरे स्फुटभेद, अन्यास्तु मिश्रिता अतः स्वल्पभेदानामन्यासां रीतीनां विशेषवर्णनं विहाय सुकुमारविकटबन्धात्मकतयाऽत्यन्तविसदृशौ वैदर्भगौडीये रीती वर्ण्येते इत्याशय।। ४०।।

हिन्दी – 'वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्' ऐसा कहकर जिस वाग्वैचित्र्यका उपक्रम किया गया था, वह रीतिभेद से ही सम्भव होता है, रीतियों के भेद के विषय में वामन ने तीन भेद माने हैं–वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। विश्वनाथ कविराज के मत में रीतियां चार हैं–'वैदर्भी चाथ गौड़ी च पाञ्चाली लाटिका तथा'। भोजराज ने छः रीतियां कही हैं–

वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयाऽऽवन्तिका तथा। लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते'।।

उन रीतियों के लक्षण–उदाहरण इस प्रकार हैं–

वैदर्भी–

लक्षण– 'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका। अल्पवृत्तिरवृत्तिवा वैदर्भी रीतिरिष्यते'।।

उदाहरण– 'मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः'।।

गौडीया–

लक्षण– ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी.....'

उदाहरण– 'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातनिष्पीडितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितपाणिरुत्तंयिष्यति कचाँस्तव देवि भीमः'।

पाञ्चाली–

लक्षण– '.....वर्णैः शेषैः पुनर्द्वये। समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता'।

उदाहरण– मधुरया 'मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे'।।

लाटी–

लक्षण– 'लाटी तु रीतिवैदर्भ पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता'।

उदाहरण– 'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि'।।

आवन्तिका–

लक्षण– 'अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः'।।

उदाहरण– 'एतानिनिस्सहतनोरसमञ्जसानि शून्यं मनः पिशुनयन्ति पदानि तस्याः।
एते च वर्त्मतरवः प्रथयन्ति तापमालम्बितोज्झितपरिग्लपितैः प्रवालैः।।'

मागधी–

लक्षण– 'पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी'।

उदाहरण– 'करिकवलनशिष्टैः शाखिशाखाग्रपत्रैररुणसरणयोऽमी सर्वतो भीषयन्ते।

चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्डध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः।।'

यहाँ रीतियों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं, इनके विषय में अधिक जानना हो तो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि ग्रन्थों में देखिये।। ४०।।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।। ४१।।

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। ४२।।

'तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ' इति प्रतिज्ञातं लक्षणादिनोपपादयति–श्लेष इत्यादिभ्यां द्वाभ्यां कारिकाभ्याम्। श्लेषादीनां लक्षणानि वक्ष्यति। एते दशापि गुणा अत्रोद्दिष्टाः। इति एते दशगुणाः श्लेषादयः वैदर्भमार्गस्य प्राणाः प्राणवत् स्थितिहेतवः स्मृताः भरतादिभिः स्वीकृताः, तदुक्तं भरतेन–

'श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।।'

एवं च श्लेषादिगुणगणशालिनी पदरचनावैदर्भीरीतिरिति लक्षणं पर्यवसन्नम्। एवं वैदर्भी निरूप्य गौडीं रीतिं निरूपयितुमाह–एषामिति। गौडवर्त्मनि गोडमार्गे गौडीयरीतौ एषां गुणानाम् विपर्ययः व्यत्यासः, स च कुत्रचिदत्यन्ताभावरूपः कुत्रचिदंशतः सम्बन्धरूपश्च प्रायशोदृश्यते। प्राय इति वैदर्भगौडीयरीत्योः क्वचिद् अनवसेयभेदत्वमपीति बोधयति, यथा ग्राम्यत्वानेयत्वादि विषये द्वयोरेकविधत्वम्, यथोच्यते–'एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि', 'नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि'। अत एव गौडी असमस्तपदेति केचित्प्रदर्शितवन्तः। इत्थं च वैदर्भी विरुद्धगुणवती पदरचना गौडीतिलक्षणं पर्यवसितम्। तादृशविरुद्धधर्मवत्त्वं च दीर्घसमासपरुषाक्षरप्राचुर्यौद्धत्वयोगिरचना विशेषशालित्वं बोध्यम्। उक्तञ्च–

'समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्। गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः'।।

पुरुषोत्तमोऽप्येवमाह–

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया। रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोभवाक्या च।।'

तदयमत्र विवेकः–एषु प्रागुक्तेषु दशसु गुणेषु श्लेषः, समता सुकुमारता ओजः इति, चत्वारः शब्दगुणाः, प्रसादः अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्तिः, समाधि ऐते पञ्चार्गुणाः माधुर्यं तूभयगुण इति दण्डिनो मतम्। वामनादयस्तु शब्दगुणा अर्थगुणाश्च प्रत्येक दशेति वदन्ति।।४१–४२।।

हिन्दी – श्लेष

'शिलष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा'।।

प्रसाद–

'प्रसादवत्प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति। लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतोति प्रतीतिसुभगं वचः'।।

समता–

'समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः। बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः।।

कोकिलालापवाचालो मामैति मलयानिलः'।

सुकुमारात–

'अनिष्ठुराक्षप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। मण्डलीकृत्यबर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।

कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि'।

अर्थव्यक्ति–

'अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोदधृता। भूःखुरक्षुण्णनागासृगलोहितादुदधेरिति'।

उदारता–

'उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते। तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः।।

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्। तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते'।

माधुर्य–

'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः'।।

ओजः–

'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्। पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्'।।

कान्तिः–'कान्तं सर्वजगत् कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।'

समाधि–

'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा।

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च। इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः।।'

इस तरह इन दश गुणों के लक्षण–उदाहरण इसी ग्रन्थ में यथास्थान लिखे गये हैं। इस प्रकार बताये गये यही दश गुण वैदर्भी रीति के प्राण–जीवनाधायक (स्वरूपोपदक) कहे गये हैं। यह प्राचीन दशगुणवादी मत नाट्यसूत्रकार भरतसमर्थित है, भरत ने–'काव्यार्थगुणान् दशैते' कहकर अपनी राय साफ बता दी है, अतः 'माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्तेन पुनर्दश' यह काव्यप्रकाशकारका साटोप कथन सम्प्रदायविरुद्ध मानना चाहिये। इन दशविध गुणों में श्लेष, समता, सुकुमारता, ओज ये चार शब्दगुण हैं। प्रसाद, अर्थव्यक्ति, उदारता कान्ति, समाधि ये पांच अर्थगुण हैं, और माधुर्य शब्दार्थोभय गुण हैं। ऐसा ही दण्डी का मत है। वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने दश शब्दगुण और दश अर्थगुण पृथक्–पृथक् स्वीकार किये हैं, इस विषय में उनका ग्रन्थ द्रष्टव्य है। इन गुणों का होना वैदर्भी रीति के प्राण माना गया है। गौडी रीति में इन गुणों का विपर्यय होता है, विपर्यय शब्द से यहाँ अत्यन्ताभाव और आंशिक सम्बन्ध दोनो विवक्षित हैं। गौड़ी रीति में इन गुणों का सर्वात्मना अभाव भी होता है, और कुछ स्थलों में अंशतः इन गुणों का समावेश भी होता है। प्राय कहने से कुछ अंशों में दोनों रीतियों की समता मानी जाती है, जैसे 'ग्राम्यत्व' दोनों रीतियों में अवश्य परिहार्य दोष माना गया है। ४१–४२।।

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा।। ४३।।

अस्पृष्टशैथिल्यम् अंशतोऽपि शैथिल्यमस्पृशत् यत् तत् श्लिष्टम् श्लेषगुणोपेतम्, यत्र वाक्ये शिथिलो वर्णविन्यासो न भवति तद् वाक्य श्लिष्टमित्यर्थः। शिथिलताविरहः श्लेष इत्युक्तं तत्र शैथिल्यमेव किमित्यपेक्षायामाह–अल्पप्राणेति। अल्पप्राणाः वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यरलवाश्च ते उत्तराः प्रधाना बहुला वा यत्र तादृशम् अल्पप्राणाक्षरोत्तरम् शिथिलम्, तदुदाहरणं यथा–मालतीमालेति। लोलालिकलिला सौरभाहरणचपलभ्रमरव्याप्ता मालतीमाला तदाख्यपुष्पस्रक् भातीति शेषः। अत्रोदाहरणेऽसंयुक्ताल्पप्राणवर्ण– बाहुल्याच्छैथिल्यं स्पष्टम। जगन्नाथपण्डितराजस्तु 'श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्' इति दण्डिलक्षणमुपन्यस्य तदित्थं परिष्करोति–'शब्दानां भिन्नानामपि एकत्वप्रतिभानप्रयोजक संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः'। उदाहरति च–'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्विद्वपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढ़पञ्चाननः'।। ४३।।

हिन्दी – जिस वाक्य में शिथिलता अंशतः भी नहीं आयी हो उसे श्लिष्ट श्लेषगुणयुक्त कहते हैं। शिथिलता की परिभाषा यह है कि–अधिक संख्या में अल्पप्राण वर्ण हों। उसका उदाहरण यही है–'मालतीमाला लोलालिकलिला'। इस उदाहरण मे असंयुक्त अल्पप्राणवर्णबाहुल्य विद्यमान है। श्लेषगुण के सम्बनध में आचार्यों ने अलग–अलग अपने मत प्रकट किये हैं, भरताचार्य ने स्वभावस्पष्ट किन्तु विचारगहनवचनो को श्लेष कहा है–

उनका लक्षण यों है–

'विचारगहनं यत्स्यात्स्फुटं चैव स्वभावतः। स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत् परिकीर्त्तितम्'।

इसका उदाहरण दिया है :–

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।

बलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः'।।

इस लक्षण में वामनादि आचार्यों को यह अरुचि मालूम पडी कि यह तो अभिधानाभिधेय पद्धति है सन्दर्भरचना नहीं, इसी अरुचि को हृदय में रखकर वामनादि ने कहा–

–मसृणत्वं श्लेषः, मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहूनि पदानि एक पदवद् भासन्ते'। कहा है–

यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि। अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः'।।

इसका उदाहरण–

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'।।

भोजराज ने– 'गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते'।

ऐसा लक्षण कहकर उदाहरण दिया है–

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्। तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः'।।

काव्यप्रकाशकार ने–

'बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा श्लेषः'।

यह लक्षण लिखा है। इस श्लेष नामक गुण का अर्वाचीन आचार्यों ने ओज में अन्तर्भाव माना है, साहित्यदर्पण में लिखा है–

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः। गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते'।।

भोजराजने इसी श्लेष को अर्थगुण भी माना है।। ४३।।

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्। वैदर्भैर्मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति।। ४४।।

प्रागुदाहृतस्वरूपं शैथिल्यं वैदर्भा नाद्रियन्ते, किन्तु गौडास्तच्छैथिल्यं केवलमनुप्रासानुरागेण बहु मन्यन्ते, एतदुक्तमत्र कारिकायाम्– अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टम् इत्यंशेन। वैदर्भास्तु शैथिल्यरहितं श्लिष्टं बन्धगौरवादाद्रियमाणाः श्लेषमुदाहरन्ति, मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति। अत्र संयुक्तमहाप्राणवर्णविन्यासात् शैथिल्यं नास्ति। ततश्चास्पृष्टशैथिल्यतया भवतीदं श्लेषोदाहरणमिति बोध्यम्।।४४।।

हिन्दी – इससे पूर्व की कारिका में श्लेष गुण के निर्वचन प्रसङ्ग में शिथिलता का लक्षण–उदाहरण बताया गया है, वह शिथिलता गौड़ लोगों को पसन्द है क्योंकि गौड़ लोग अनुप्रास के प्रेमी होते हैं। वैदर्भ लोगों को वह शिथिलता भली नहीं लगती, अतः शिथिलतारहित वर्णविन्यास–श्लिष्ट– श्लेषगुणयुक्त–बन्धगौरव के कारण उन्हें अधिक प्रिय होता है। श्लेष का उदाहरण–'मालती दाम लङ्घितं भ्रमरैः'। इस वाक्य में संयुक्त महाप्राणवर्णनबाहुल्य है, अतः यह श्लेषगुणयुक्त है।। ४४।।

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति। लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः।। ४५।।

प्रसादं नाम गुणं लक्षयति–प्रसादेति। प्रसिद्धार्थम् उभयार्थकशब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगे सति निहतार्थतारूपो दोष आपतेत्तद्वारणाय यत्र प्रसिद्धार्थकपदप्रयोगः, तादृशं प्रसिद्धार्थम्, अत एव च प्रतीतिसुभगं बोधसुन्दरम् अधिकपदत्वकष्टत्वादिदोषपरिहारेण झटित्यर्थोपस्थापकं वचः प्रसादाख्यागुणोपेतम्, यथा–इन्दोरिति। इन्दो चन्द्रमसः इन्दीवरद्युतिनीलकमलाभम् श्यामम् लक्ष्म कलङ्कः लक्ष्मीं तनोति शोभां विस्तारयति। अत्रेन्दीवरादयः शब्दाः प्रसिद्धेष्वर्थेषु प्रयुक्तताया श्रुतिमात्रेणार्थबोधकाः अत्रत्यमुदाहरणं कालिदासीयं–'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोती'ति पद्यं स्फुटमनुहरतीति विद्वांसो विभावयन्तु।। ४५।।

हिन्दी – जिस वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो जो सुनते ही अपना अर्थ प्रकट कर दें, वैसा वाक्य प्रसादगुण युक्त माना जाता है। अतः प्रसाद गुण का लक्षण यह है–'प्रसिद्धार्थकपदप्रयोगेणार्थप्रतीतौ चेतः सन्तोषापादको गुणः प्रसादः'। उदाहरण–'इन्दोरिन्दीवरद्युति लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' इस वाक्य के सभी शब्द शीघ्र अर्थप्रतीति कराने में समर्थ हैं, क्योंकि इनमें कहीं भी निहतार्थत्वादि दोष नहीं है। प्रसादगुण का लक्षण भरत ने यह कहा है–

अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते। सुखशब्दार्थसंयोगात प्रसादः परिकीर्त्यते'।

उदाहरण दिया है–

तस्याहुरतिगम्भीरजलदप्रतिमं गलम्। स वः करोतु निस्सङ्गमुदयं प्रति मङ्गलम्'।।

वामन ने प्रसाद गुण में शिथिलता तथा ओज का मिश्रण माना है, और लक्षण यह कहा है–

'श्लथत्वमोजसा युक्तं प्रसादं च प्रचक्षते'।

उदाहरण दिया है–

'कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः'।

यहाँ एक सन्देह होता है कि जैसे विरुद्ध–धर्म तेज–तिमिर का एक स्थान में समावेश नहीं होता है उसी प्रकार शिथिलता और ओज इन दो विरुद्ध धर्मों का एक वाक्य में समावेश किस प्रकार हो सकेगा ? इसका उत्तर वामन ने यह दिया है कि जैसे करुण रस के नाटकों को देखने से दुःख तथा सुख दोनों का उदय एक साथ होता है। वहाँ पर विरुद्धसुखदुःखोण्यसामानाधिकरण्य होता है उसी प्रकार प्रसाद में शिथिलता तथा ओज इन दोनों विरुद्ध वस्तुओं का एकाधिकरण्य मान लिया जायेगा। उनका वचन है-

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्लवः सुखदुःखयो। यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजः प्रसादयोः'।।

भोजराज ने प्रसाद के लक्षण उदाहरण इस प्रकार बताये है:–

लक्षण–'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते'।

उदाहरण–'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंङ्गैर्मुहुस्ताडितम्'।

काव्य प्रकाशकार ने प्रसाद के लक्षण उदाहरण यों कहे हैं–

लक्षण–

'श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेद्। साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः'।।

उदाहरण–

'परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनप्राप्य हरितम्।

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कृशांग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्'।।

वाग्भट–'झटित्यर्थापकत्वं यत् प्रसक्तिः सोच्यते बुधैः'।

विश्वनाथ ने–'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च'।।

यथा– 'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।

बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि'।।

यह लक्षण–उदाहरण दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रसाद का लक्षण–उदाहरण इस प्रकार लिखा है :–

लक्षण–'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः'।।

उदाहरण–

'किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन् धराखण्डल, क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।।

माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै– र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः'।।

उपर्युक्त प्रसाद शब्दगुण है। अर्थगुण प्रसाद भी कुछ आचार्यों ने माना है।

व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते'। 'पाठभेद रूढमितिष्यते)

यथानत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः।। ४६।।

गौडानामत्रप्रसादे नात्यादरस्ते हि तदभावेऽपि काव्यत्वमातिष्ठन्ते, तदाह–व्युत्पन्नमिति। गौडीयैः गौडदेशवासिभिः नातिरूढम अनतिप्रसिद्धम अपि निहतार्थतादिदोषयुक्तमपि व्युत्पन्नम् व्युत्पत्तियुतम् अवयवार्थयुक्तम् अवयवार्थयुक्तम् इति हेतोः इष्यते काव्यत्वेन स्वीक्रियते एतद्वाक्यं प्रसादगुणविरहितमतो न काव्यमिति गौडा न मन्यन्ते, ते हि बन्धगाढत्वसद्भावे प्रसादराहित्येऽपि काव्यत्वमभ्युपगच्छन्तीति भावः। तदुदाहरति–अनत्यर्जुनेति। अनत्यर्जुनम् अनतिधवलम् नीलं यदब्जन्मकमलं तेन सदृशः समः अङ्कः कलङ्को यस्य तादृशः नीलकमलोपमकलङ्कधारी वलक्षगुः शुभ्रकरश्चन्द्रो भातीति शेषः। अत्रार्जुनशब्दः कार्त्तवीर्यतृतीयपाण्डवयोः प्रसिद्धः, श्वेते तु निहतार्थः अब्जन्मशब्दः कमलार्थेऽवाचकः, उपमागर्भबहुब्रीहिणैव तदर्थबोधसंभवात् सदृशशब्दोऽधिकापदतादोषदुष्टः, श्रुतिकटुश्चवलक्ष–गुशब्दोऽप्रयुक्ततादोषयुतः, एवंविधबहुदोषयुक्तापीयं रचना व्युत्पन्ना अवयवार्थादिना अर्थबोधिकेति गौडास्तामाद्रियन्त इत्यर्थः। इत्थमत्र विचार्यते, प्रसादाभावेऽपि काव्यत्वमिति गौडा बाढमाद्रियन्ताम्, परं सदोषाणामपि तैः काव्यत्वे स्वीक्रियमाणे रीतिप्रवाहोच्छेदः स्यादतः एतादृशीयमाचार्यदण्डिन उक्तिस्तदधिक्षेपभावदृष्टयेति। उक्तं च प्रेमचन्द्रमहाशयेन–'वस्तुतस्तु वैदर्भपक्षपातितयैवमुक्तं ग्रन्थकृता, गौडानामपि दोषानङ्गीकारादिति।। ४६।।

हिन्दी – प्रसाद गुण का स्वरूप इससे पहले वाली कारिका में बताया गया है, उसी प्रसंग में गौड़सम्प्रदाय का मत इस कारिका में प्रदर्शित किया जा रहा है। गौड़ लोग 'नातिरूढम्–अनतिप्रसिद्धम् नेयार्थत्वादिदोषयुतम् अपि'–जिसमें नेयार्थत्वादि दोषहो, ऐसे काव्य को भी व्युत्पन्न योगार्थघटित–किसी प्रकार से स्वार्थबोधक होने के कारण काव्य मानते हैं। उनके मत में नेयार्थत्वादि दोष के सद्भाव में–प्रसाद के अभाव में भी योगिकार्थ के निकलते रहने के कारण काव्यत्व अव्याहत रहता है, जैसे–अनत्यर्जुनाजन्म। इत्यादि। इस पद्यांश में अनत्यर्जुन–अनतिधवल, नील, अब्जन्म–कमल के समान कलंकधारी श्यामलकमलोपमकलङ्कशाली– वलक्षगुः–शुभ्रांशु चन्द्रमा इस तरह अर्जुन पद कार्त्तवीर्य तथा पाण्डव में प्रसिद्धार्थ हैं और श्वेत में निहतार्थ है, अब्जन्म पद कमल अर्थ में अप्रसिद्ध है, उपमागर्भ बहुब्रीहि से ही काम चल जाता, अतः सदृक्ष पद अधिक है, श्रुतिकटु भी है, वलक्षगुः पद अप्रयुक्ततादोषयुक्त है, इस तरह नाना दोषयुक्त होने पर भी गौड़ लोग इसे योगार्थघटित होने के कारण काव्य मानते हैं। उनके सम्प्रदाय में प्रसाद के होने न होने का कोई महत्त्व नहीं है। बन्धकी गाढ़तामात्र से काव्यत्व अवस्थित होना चाहिये। आचार्य दण्डी ने स्वयं वैदर्भमार्गपक्षपाती होने के कारण गौडो को इस कारिका में निन्दित किया है। वस्तुतः गौड़लोग भी दोष का आदर करके काव्यत्व के पक्षपाती नहीं हुआ करते, उनके मत में प्रसाद का होना अनिवार्य है, परन्तु इससे दोष का स्वीकार किया जाना नहीं सिद्ध होता, आचार्य दण्डी ने गौडों को नीचा दिखाने के लिए प्रौढिवाद के रूप में ऐसा कह दिया है।। ४६।।

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः। बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः।। ४७।।

अथावसरप्राप्तां समतां लक्षयति–सममिति। बन्धेषु काव्यसङ्घटनासु अविषमम् अविभिन्नम्, यादृशो बन्धः प्रारम्भे तादृश एवं बन्धो यत्रोपसंहारे तादृशं वाक्यम् समम् समतानामकगुणोपेतमिति यावत्। एवञ्च येन बन्धेनोपक्रम्यते तेनैव बन्धेन समापनं समतेति पर्यवस्यति। तेषां बन्धानां भेदानाह–त इति। ते बन्धाः मृदु, कोमल, स्फुटो विकटः, मध्यमः तदुभयमिश्रः तदेवं त्रिविधो बन्धः, तेषां स्वरूपमभिधातुमुपक्रमते–बन्धा इति। मृदुतर्णविन्यासयोनिर्मृदुः स्फुटवर्णविन्यासयोनिः स्फुटः, मिश्र र्वाविन्यास केनिश्च मिश्रः, मृदुवो वर्णाः ह्रस्वस्वरवर्गान्त्यदन्त्यव्यञ्जनरूपाः, स्फुटाः विकटा वर्णा दीर्घस्वरौष्ठयठडशषसहाः, एषां मिश्रणे मिश्रा मध्यमाः एषां विन्यासो योनिः कारणं येषां ते तथोक्ताः। अत्र वर्णशब्दोऽसमासदीर्घसमासमध्यमसमासानामप्युपलक्षः एवञ्च त्रिविधवर्णसमासघटितानां बन्धानां त्रैविध्यात् तदुद्भविता समताऽपि त्रिविधा तत्र मृदुतायोनिं समतामुदाहरति–

'शिञ्जानमञ्जुमञ्जीरचारुकाञ्चनकाञ्चयः कङ्कणाङ्कभुजा भान्ति जितानङ्ग तवाङ्गनाः।।

विकटतायोनिं समतामुदाहरति–

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोधत– ष्टकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।

द्राक् पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर– भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति।

मिश्रवर्णयोनिं समतामुदाहरति–

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया। मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे'।।

एवञ्च वर्णानां समासानां च त्रैविध्येन प्रबन्धत्रैविध्यम्, मृदुस्फुटमध्यमाभिधम्, तत्र मृदुतायोनिषु वैदर्भी रीतिः, विकटताख्यस्फुटतायोनिषु गौडीरीतिः, मिश्रतायोनिषु च पाञ्चालीति फलति।। ४७।

हिन्दी – समता नामक गुण की परिभाषा बताते हैं – समम् – काव्यसंघटनाको जिस तरह के बन्ध से प्रारम्भ करें उसी तरह के बन्ध में यदि समाप्त करें तब समता नामक गुण होता है, बन्ध तीन प्रकार के हैं–मृदु, स्फुट (विकट) एवं मिश्र, इनमें मृदुबन्ध उसे कहते हैं जिसमें मृदुवर्णविन्यास हो, मृदुवर्ण हैं–हस्व स्वर, वर्ग के अन्त्याक्षर एवं दन्त्य व्यञ्जन। स्फुटवर्णविन्यास वाले बन्ध को स्फुट या विकट विन्यास कहते हैं, स्फुट वर्ण हैं–दीर्घस्वर, ओष्ठयवर्ण एवं ठडशषसह। इन दोनों के मिश्रित विन्यास को मिश्रवर्ण कहते हैं। यहां पर मृदु, स्फुट, मिश्रवर्ण–विन्यास से क्रमशः असमास, दीर्घसमास एवं अल्पसमास का भी उपलक्षण जानना चाहिये। इस प्रकार त्रिविधवर्णविन्यास एवं समास से उद्भावित होने वाली समता भी तीन तरह की होगी। यही तीन तरह की समता क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी एवं पाञ्चाली रीतियों का कारण बनती है। इनके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।। ४७।।

कोकिलाऽऽलापवाचालो मामैति मलयानिलः।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भः कणोक्षितः।। ४८
चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः।

पूर्वोक्तस्वरूपायाः समताया उदाहरणत्रयं दर्शयति–कोकिलालापेति। कोकिलानाम् आलापो मधुरध्वनिस्तेन वाचालः स शब्दः मलयमारुतो माम् इति मदभिमुखम् आगच्छति, अत्र मृदुबन्धेन प्रारब्धस्य सन्दर्भस्य तेनैव बन्धेन समापनान्मृदुबन्धात्मिका समता। उच्छलदिति। उच्छलन्तः उत्सर्पन्तो ये शीकराः जलबिन्दवस्तैरच्छाच्छम् अतिनिर्मलं यन्निर्झराम्भः तस्य कणैबिन्दुभिरुक्षितः सिक्तः, अत्रापि मलयमारुतो मामेतीति सम्बन्धनीयम्। अत्र विकटात्मकस्फुटबन्धेनोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव समापनात्स्फुट बन्धविषया समता मध्यमसमतामुदाहरति–चन्दनेति। चन्दनप्रणयेन चन्दनकानन संसर्गेण उद्गन्धिः उद्गतसौरभः मन्दः अनत्युल्वणः मलयमारुतः मामेति इति क्रियायाऽन्वयः। अत्र प्रारम्भे स्फुटो बन्धश्चरमे च मृदुरिति मिश्रबन्धता।। ४८।।

हिन्दी – समता नामक गुण के तीन प्रभेदों के उदाहरण बताते हैं। कोकिलेति। कोयलों की हूक से मुखरित मलयानिल मुझ छू रहा है। इस पद्यार्धभाग में मृदुबन्ध से प्रारम्भ किये गये अर्थ को उसी बन्ध से समाप्त किया गया है, अतः मृदु समता है। उच्छलदिति। उछलने वाले जलकणों से रमणीय दीखने वाले निर्झर जल से सिक्त यह मलयमारुत मेरी तरफ आ रहा है। यहा पर विकटात्मक स्फुटबन्ध से उपक्रान्त सन्दर्भ उसी बन्ध से समाप्त किया गया है, अतः यह स्फुट समता का उदाहरण है। चन्द्रनेति०। चन्दन वन के सम्पर्क से सुगन्धिपूर्ण तथा धीरे बहने वाला मलयमारुत हमारी ओर आ रहा है। इस पद्यांश में मिश्रसमता है क्योंकि स्फुटबन्ध से प्रारम्भ करके मृदुबन्ध से समाप्त किया गया है। इस प्रकार आचार्य दण्डी ने समता के तीन भेद बताये हैं। आचार्य भरत ने समता की परिभाषा यह कही है–

'नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः। न दुर्बोधा तैश्च कृता समत्वात्समता मता'।।

तथा च–परस्परविभूषणो गुणग्रामः समतेति लक्षणं फलति। इसका उदाहरण दिया है–

'स्मरनवनदीपूरेणोढा मुहुर्गुरुसेतुभिर्यदपि विधृता दुःखं तिष्ठन्त्यपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः'।।

वामन के मत में 'मार्गाभेदः समता' यही लक्षण है। उदाहरण में दिया है–

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'।।

भोजराज ने समता का लक्षण कहा है–

'यन्मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति। अवैषम्येण भणनं समता साऽभिधीयते।।'

उदाहरण– 'यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारमाजि बभ्राम बभ्रुणि जटापटले हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्जझङ्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः'।।

अविषमबन्धत्वं समतेति वाग्भटः, उदाहरण :–

'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि धर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः पथि पथिकवधूर्वीक्षिता शिक्षिता च'।।

पण्डितराज जगन्नाथ ने समता के लक्षण–उदाहरण इस प्रकार बताये हैं–

लक्षण–'प्रक्रमभङ्गेन अर्थघटनात्मकमवैषम्यं समता'।

उदाहरण–

'हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत्। हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेन्यन्नग भाति मे'।

आचार्य मम्मट ने – समता के विषय में अपनी राय यह प्रकट की है कि समता जहां पर मार्गाभेदस्वरूप है वहाँ तो वह गुण के स्थान के दोष ही हो जाती है, हाँ, जहाँ पर वह मार्गाभेदस्वरूपातिरिक्तस्वरूप है, वहाँ पर उसको प्रबन्धानुसार माधुर्यौजः प्रसादान्यतमान्तर्गत मान लिया जायेगा, उनका वचन परवर्ती कतिपय आचार्यों ने भी माना, तदनुसार विश्वनाथ तथा हेमचन्द्र ने भी समता को पृथक गुण नहीं माना, विश्वनाथ ने लिखा है–

'कवचिद्दोपस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी। अन्यथोक्तगुणेष्वस्थाका अन्तःपातोयथायथम्'।। ४८।।

स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामामुखानिलैः।। ४६।।

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालङ्कारडम्बरौ।

अपेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धति।। ५०।।

रुद्धमद्धैर्य इति। रुद्धमपसारितं मम धैर्यं गभीरत्वं येन तादृशः (मलयमारुतः) वररामाणां पद्मिनीनां रमणीनां मुखानिलैः सुरभिमुखपवनैः स्पर्द्धते मदीयस्य धैर्यस्य लोपकरो दक्षिणानिलः पद्मिनीनायिकामुखपवन यमं सौरभेस्पर्द्धत इत्यर्थ इति, अत्रोसादारणे 'स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यः' इत्यंशे स्फुटो विकटो बन्धः, 'वररामामुखानिलैः' इत्यंशे च मृदुः तदेवम् वैषम्यम् मृदुस्फुटयोर्बन्धयोर्विषमताम् अनालोच्य अविचार्य अर्थस्य अत्युक्तिरूपस्य अलंकारस्य वर्णानुप्रासस्य च डम्बरौ उत्कर्षौ अपेक्षमाणा काङक्षन्ती पौरस्त्या गौडीया काव्यपद्धतिः पद्यरचनासरणिः ववृधे। अयमाशयः—गौडाः कवयः केवलानुप्रासप्रवणमतयः मृदुस्फुटरचनाशालितया विषमगुणामपि रचनां बहुवाद्रियन्ते, काव्यत्वेन च स्वीकुर्वन्ति, वैदर्भास्तु अर्थांशे दत्तदृष्टयोऽनुप्रासं च न बहुमन्यमाना विषमे पूर्वोक्तसदृशे प्रबन्धे नादरं पुष्णन्ति इदमेव वैषम्यं बोधयितुमयं ग्रन्थः।। ४६—५०।।

हिन्दी – 'स्पर्द्धते रुद्धयद्धैर्यः' इस अंश में विकटबन्ध है, और 'वररामामुखानिलैः' इस अंश में मृदुबन्ध है, इस प्रकार पद्यार्ध में दोनों बन्धों को एक में समाविष्ट कर दिया गया है, यह दोनो बन्ध एक दूसरे के विरुद्ध हैं परन्तु गौड़ी रीति के प्रवर्त्तक गौड़देशवासी आचार्यगण इस वैषम्य की चिन्ता नही करते, वह केवल अर्थ तथा अलंकार पर दृष्टि रखते हैं, उनके विचार में इस पद्यार्ध में यदि अत्युक्तिरूप चमत्कारी अर्थ तथा अनुप्रासरूप शब्दालंकार विद्यमान है, तो इसे काव्य कहने में कुछ आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसी तरह की विचारधारा को पृष्ठभूमि में रखकर गौड़ीरीति की काव्यसरिता प्रवाहित होती रही है।

इस स्थल में गौडीयं सम्प्रदाय तथा वैदर्भीय सम्प्रदाय का अन्तर ध्यान में दिलवाने का प्रयास किया गया है, गौड़ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गण इस बात की चिन्ता नहीं रखते कि बन्धवैषम्य होगा, उन्हें विरुद्ध विषम बन्धवाली कविता में भी यदि अतिशयोक्तिरूप आर्थिक चमत्कार और अनुप्रासरूप शाब्दिक चमत्कार मिल जाये तो उसका आदर वह अवश्य करेंगे, परन्तु वैदर्भ लोग, जो अनुप्रास को कविता का प्राण नहीं मानते, बन्धविषमता स्थल में काव्यत्व को स्वीकार करने में सहमत नही होते।। ४६—५०।।

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनैव मधुव्रताः।। ५१।।

माधुर्य नाम गुणं लक्षयति—मधुरमिति। रसवत् सरसं वाक्यम् मधुरम् माधुर्याख्यगुणशालि, एतेन रसो माधुर्यमिति तयोरभेदः पर्यवस्यति, माधुर्य नाम गुणः, गुणास्तावच्छब्दार्थनिष्ठतया साक्षात् परम्परया वा रसोपकारकाः समभ्युपगताः, न तु रसाभिन्नता गुणानां तत्कथमत्र माधुर्यगुणस्य रसात्मकत्वमुच्यते, तत्राह—वाचीति। वाचि शब्दे वस्तुनि अर्थे चापि रसस्थितिः व्यञ्जकतया सम्बन्धः, तेन वाक्यस्य रसव्यञ्जक वर्ण रचनाशालित्वं रसव्यञ्जकार्थ युक्तत्वं वा माधुर्यमिति सिद्धम्। ननु रसस्वरूपमेव न ज्ञायते तत्कथं प्रागुक्तं माधुर्यलक्षणमवगच्छेमेत्यत्राह—येनेति। यथा मधुव्रता भ्रमरा मधुना पुष्परसेन माद्यन्ति आह्लादमनुभवन्ति, तथा येन वस्तुना धीमन्तो बुद्धिमन्तः सहृदया। माद्यन्ति स रसः ›काव्यार्थनुशीलनजन्मा चमत्कारापरपर्यायो लोकोत्तराह्लाद एव रसः, एवं च यस्य काव्यस्यासकृत्परिशीलनेऽपि सहृदया न वैरस्यमासादयन्ति, तत् मधुरं काव्यम्, इति स्वयमुन्नेयस्वरूपं माधुर्यं सिद्ध्यति।। ५१।।

हिन्दी – रसवत् वाक्य को मधुर कहा जाता है, फलतः रस तथा माधुर्य एक वस्तु है। गुण को आचार्यों ने साक्षात् परम्परया वा रसका उपकारक माना है, तब यहां पर माधुर्य नामक गुण को रसस्वरूप कैसे कहा जाता है इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये–'वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' यह अंश कहा है। शब्द तथा अर्थ दोनों में व्यञ्जकतया रस रहता है, तब रस व्यञ्जक वर्णरचनाशालित्व या रसव्यञ्जकार्थशालित्व, यही माधुर्य का लक्षण सिद्ध होगा। रस का स्वरूप बताने के लिये एक उपमा प्रस्तुत की गई है–'येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः' अलिगण जैसे पुष्पासबसे मत्त हो उठते हैं, उसी तरह जिस शब्दार्थजन्य आह्लादातिरेक से सहृदयगण आनन्दित हो, मत्त हो उठें, उसे ही रस कहा जाता है। इस प्रकार माधुर्य को रसस्थानीय मानकर लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

भामह ने माधुर्य का लक्षण इस प्रकार कहा है :–

'श्रव्य नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते'।

भरत ने–

'बहुशो यच्छ्रुतं काव्यमुक्तं वापि पुनः पुनः। नोद्वेजयति तस्माद्धि तन्माधुर्यमुदाहृतम्'।

यह लक्षण कहा है, परन्तु काव्यप्रकाशकार प्रभृति इस तरह के लक्षणों का विरोध करते हैं, उन लोगों ने स्पष्ट कहा है–

'ओजःप्रसादयोरपि श्रव्यत्वान्नैतल्लक्षणं निर्दोषम्'।

आचार्य वामन ने–शब्दगत माधुर्य का लक्षण इस प्रकार बताया है–

–यापृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्'।

इसका उदाहरण दिया है–

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः। वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः

परन्तु वामन का यह लक्षण संगत नहीं है, क्योंकि समासस्थल में भी माधुर्य का स्वाद मिलता है, अतः पृथक्कपदत्व को माधुर्य कहना ठीक नहीं है, देखिये–

'अनवरतनयनजलवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखान्तम्। करतलनिषण्णमबले वदनमिदं किन्न तापयति'।।

इस श्लोक में समासबाहुल्य होने पर भी माधुर्य स्पष्ट है।

काव्यप्रकाशकार ने–

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'।।

इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है। आचार्य वाग्भट ने भी–

'यत्र आनन्दमन्दं मनो द्रवति तन्माधुर्यं, तच रसभेदेन विविधम्'।

ऐसा कहकर उनके ही पदांकों का अनुसरण किया है।

दर्पणकार ने कहा है–'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते'।

पण्डितराज ने अर्थगत माधुर्य का लक्षण या उदाहरण इस प्रकार बताया है–

लक्षण–'एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनःकथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्'।

उदाहरण–

'विधत्तां निःशङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो सुखं शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।

कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः सवित्री कामानां यदि जगति जागर्त्ति भवती'।।

इस प्रकार भिन्न–भिन्न आचार्यों ने अपने–अपने मत व्यक्त किये हैं।। ५१।।

यया कयाचिच्छुत्या यत्समानमनुभूयते। तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा।। ५२।।

'माधुर्यलक्षणे निरुच्यमाने वाचि रसस्थितिः' इत्युक्त्या विशिष्टवर्णविन्यासस्य रसव्यञ्जकत्वमुक्तम्, तत्र वैदर्भाभिमतं श्रुत्यनुप्रासं निरूपयति यया कयाचिदिति। यया कयाचित् कण्ठ्यया तालव्ययाऽन्यया वा श्रुत्या उच्चारणेन यत् समानम् पूर्वोच्चारितवर्णसदृशम् अनुभूयते आस्वाद्यते तद्रूपा तादृशसादृश्यकरी पदासत्तिः अव्यवहितपदप्रयोगः सानुप्रासा श्रुत्यनुप्रासयुता (अतश्च) रसावहा रसपुष्टिकरी एतच्च कण्ठताल्वाद्यनेकस्थानोच्चार्यतया व्यञ्जनानां सादृश्यं श्रुत्यनुप्रास इति फलितम्। अलंकारस्यास्यात्र निरूपणं वैदर्भगौडसम्प्रदायभेदकथनप्रसङ्गातः कृतम्। तदग्रे वक्ष्यति–'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः'।। ५२।

हिन्दी – इससे पहली कारिका में 'वाचिरसस्थितिः' कहकर बताया गया था कि रस की व्यञ्जना में विशिष्टवर्णविन्यास को साधन माना जाता है। इस कारिका में उसी सम्बन्ध में बताना है कि वैदर्भमार्गानुगामी विद्वद्गण जिस श्रुत्यनुप्रास को रसव्यञ्जक मानते हैं उसका क्या स्वरूप है।

जिस पदसमुदाय में समानकण्ठादिस्थानजन्य वर्णों की अव्यवधानेन श्रुति उच्चारण किया गया हो, उसको श्रुत्यनुप्रासयुक्त कहते हैं वैसा पदसमुदाय रसव्यञ्जक होता है। जिस किसी स्थान कण्ठादि से जो समान उच्चारण का अनुभव किया जाता है वह रस निरन्तरतायुक्त पदसमुदाय अनुप्रासयुक्त रस का पोषक होता है। भोजराज ने श्रुत्यनुप्रास की बड़ी प्रशंसा की है–

'आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तर स्थिता। अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते।।

प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः। सनाथैव हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रिता'।।

'यथा ज्योत्स्ना शरच्चन्द्रं यथा लावण्यमङ्गनाम्। अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्त्तुमिह क्षमः'।।

यद्यपि यह प्रकरण अलंकारनिरूपण का नहीं था, अलंकारों का निरूपण अन्यत्र किया जायेगा, तथापि वैदर्भगौड़मार्गभेदप्रदर्शनार्थ प्रसङ्गतः यहाँ श्रुत्यनुप्रास का लक्षण–उदाहरण बता दिये गये हैं। इसलिये आगे चलकर कहा गया है कि–'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।। ५२।।

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः। तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्।। ५३।।

एष ब्राह्मणप्रियः दानादिना विप्रप्रीतिकरो राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् शासनाधिरूढः सन्समृद्धश्रीकोऽभवत्, तदाप्रभृति ततः कालात् अस्मिन् लोके धर्मस्य उत्सवः उत्कर्षः अभवत्। अस्मिन् राजनि सति धर्मः समेधमानोऽभूदित्यर्थः। अत्रैष राजेत्यंशे षकाररेफौ मूर्द्धन्यौ, जकारयकारौ च राजापदेत्यत्र तालव्यौ, यदा लक्ष्मीम इत्यत्र दकारलकारौ दन्त्यौ, एवम्! अपरत्रापि ते ते वर्णाः त स इत्यादय समानस्थानीयाः, इति स्थानसाम्याच्छ्रुत्यनुप्रासः, तदुक्तं साहित्यदर्पणे–

'उच्चार्यत्वाद्यदैकत्र स्थाने तालुरदादिके। सादृश्यं व्यञ्जनस्यैष श्रुत्यनुप्रास उच्यते'।।

हिन्दी – यह ब्राह्मणप्रिय राजा जब से शासनाधिरूढ़ हुआ है, तब से धर्म की अधिकाधिक उन्नति होने लग गई है, यही उदाहरणार्थ है। इस उदाहरण में स्थानसाम्य वाले वर्णों का विन्यास श्रुत्यनुप्रासप्रयोजक है।। ५३।। इसमें ष र मूर्धन्य, ज य तालव्य, प व ओष्ठ्य, त द स दन्त्य एक ही स्थान से उच्चरित होने से श्रुत्यनुप्रास है।

इतीदं नादृतं गोडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः। अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते।।। ५४।।

इति एवं भूतम् पूर्वप्रदर्शितप्रकारं रचनावस्तु श्रुत्यनुप्रासयुतं काव्यं गौडैः पौरस्त्यैः नादृतम् माधुर्यगुणशालितया नाभ्युपगतम् समानश्रुतिवर्णानां रसोपकारकचमत्कारशून्यतया नायमलङ्कारोऽतोऽत्र सत्यपि माधुर्यं नाम गुणो नोपपद्यत इति गौडानामाशयः। गौडाः श्रुत्यनुप्रासं नाद्रियन्ते, किन्तु अनुप्रासः वर्णवृत्तिरनुप्रास इति वक्ष्यमाणलक्षणः तत्प्रियः गौडानां हृदयङ्गमः, ते हि सदृशवर्णोच्चारणजां चमत्कृतिं रसावहां मन्यन्ते। वैदर्भास्तु अनुप्रासादपि श्रुत्यनुप्रासमधिकमाद्रियन्ते, तदाह–अनुप्रासादपि इति। 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्' इति दिशा गौडवैदर्भाणामत्र रुचिभेद एव निबन्धनं, न त्वस्य क्षोदक्षमं किमपि तत्त्वमिति भावः।। ५४।।

हिन्दी – इस श्रुत्यनुप्रास को गौड़ लोग अधिक महत्व नहीं देते हैं, उनके मत में समानस्थानजन्य वर्णों के सन्निवेशविशेष से रसोपकारक चमत्कृति नहीं उत्पन्न होती, अतः श्रुत्यनुप्रास होने से माधुर्य नामक गुण नहीं होता है, उनके मत में वर्णावृत्तिरूप अनुप्रास अधिक रसावह रसव्यञ्जक होता है, अतः वे अनुप्रासस्थल में ही माधुर्य गुण मानते हैं। ठीक इसके विपरीत वैदर्भसम्प्रदायवाले आचार्य अनुप्रास से भी अधिक श्रुत्यनुप्रास का आदर करते हैं, यह तो रुचिभेद का स्थान है, इसमें कुछ युक्ति तो दी जाती नहीं है।। ५४।।

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च। पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता।। ५५।।

पादेषु श्लोकचतुर्थभागेषु पदेषु सुपंडिन्तरूपेषु च वर्णावृत्तिः वर्णस्य वर्णयोः वर्णानाम् वा आवृत्तिः पुनःपुन रुच्चारणम् अनुप्रासः पुनःपुनः रुच्चारणजन्या वर्णानां साम्यप्रतीतिरनुप्रासः, तदुक्तं प्रकाशकृता–'वर्णसाम्यमनुप्रासः' अत्र वर्णपदं व्यञ्जनपरकम्, केवलस्वराणामावृत्तौ चमत्कारविरहात्। सादृश्यस्य भेदगर्भतया वर्णेषूच्चारणकालसम्बन्धकृतो भेदो बोध्यः। वर्णावृत्तिश्च समीपस्थैव चमत्कारिणी भवति, न दूरस्थेति बोधयितुमाह–पूर्वेति। पूर्वस्य पूर्वोच्चारणविषयस्य वर्णस्य योऽनुभवः श्रावणप्रत्यक्षम् तज्जनितो यः संस्कारो भावनाविशेषस्तस्य बोधिनी उद्बोधकरी अदूरता द्वितीयवर्णादीनां निकटस्थितिः यदि स्यात्। चमत्कारजननी एव सादृश्यप्रतीतिर्वर्णावृत्तिरूपालङ्कारस्तत्र सादृश्यप्रतीतिद्वित्रिवर्णमात्रव्यवधानं सहते, नाधिकवर्णव्यवधानम्, इति भावः। अस्यानुप्रासस्य भेदाः काव्यप्रकाशादिग्रन्थतोऽवसेयाः।। ५५।।

हिन्दी – वर्ण–व्यञ्जक अक्षरों की आवृत्ति समानश्रुति को अनुप्रास नामक अलंकार कहते हैं, वह पाद तथा पद में होता है, काव्यप्रकाश में, 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' यही लक्षण दिया गया है। सादृश्य भेदगर्भ होता है, अतः एक ही वर्ण के आवृत्तिस्थल में उन वर्णों में उच्चारण–काल–भेद–कृत भेद मानकर सादृश्य माना जाता है। आवृत्ति समीपस्थ रहने पर ही चमत्कारकारिणी होती है। अतः द्वित्रिवर्णव्यवधान से अधिक व्यवधान रहनेपर अनुप्रास नहीं मानते। इसी बात को बताने के लिये–'पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनो यद्यदूरता' कहा गया है। यदि समश्रुति उच्चारण वाले वर्णों की दूरता इतनी अधिक न हो जिससे पूर्वोच्चारित वर्णश्रावणप्रत्यक्षजात संस्कार समाप्त हो जाये। इसका स्पष्ट आशय यह है कि अभी जिस व्यंजन का उच्चारण किया गया, उसके सुनने से जात संस्कार जब तक मिटा नहीं है, तभी तक यदि दूसरा तत्सम वर्ण उच्चारित किया जाये, तब अनुप्रासनामक अलंकार होता है अर्थात् पूर्व उच्चरित वर्ण का संस्कार जब तक है किसी समीपता जाने पर ही पाद या पद में वर्ण या वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार होता है।। ५५।।

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तबकविभ्रमे। इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म संदधात्यलिनः श्रियम्।। ५६।।

कुन्दस्तबकविभ्रमे कुन्दनामकपुष्पगुच्छवत्सुन्दरे शरन्निशोत्तंसे शारदरात्रिभूषणायमाने चन्द्रे इन्द्रनीलनिभं श्यामलं लक्ष्म कलङ्कः भालन भ्रमरस्य श्रियम् शोभाम् सन्दधाति उत्पादयति, इन्द्रनीलमणिसमानकान्तिः (श्यामः) शशिनः कलङ्कः स्वच्छतया कुन्दपुष्पानुहारिणि चन्द्रमसि भ्रमर इव भासते इत्यर्थः। अत्र चतुर्ष्वपि पादेषु 'चन्द्र' 'इन्द्र' 'कुन्द' 'सन्द' इत्यंशेषु नकारदकाररेफाणां नकारदकारयोर्वा आवृत्ति कृतेति पादगतोऽयमनुप्रासः। स चायमनुप्रासः स्ववर्ण्यशृङ्गारविभावभूतं चन्द्रमुपस्कुर्वाणः शृङ्गारं पुष्णाति, इत्यर्थनिष्ठं माधुर्यं बोध्यम ।। ५५ ।।

हिन्दी – शरत्काल की रात के अलंकार स्वरूप तथा कुन्द पुष्प के गुच्छ की तरह दीखने वाले धवल चन्द्रबिम्ब में शोभायमान इंद्रनीलसमानवर्ण कलङ्क का धब्बा भ्रमर की शोभा धारण करता है। शरत्काल के धुले हुए आकाश में चमकता हुआ चन्द्रमा कुन्दस्तबक की तरह प्रतीत होता है और उसमें वर्तमान कलंक भ्रमर की शोभा धारण करता है। इस श्लोक में चारों चरणों में चन्द्र इन्द्र, क्रुन्द, सन्द, आदि पदों में नकार, दकार, रेफ तथा नकार–दकार की आवृत्ति होने से पादगत अनुप्रास है।। ५६।।

चारु चान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे। मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम्।। ५७।।

हे भीरु भयभीतनयने ! चारु त्वदीयचिन्तनरसक्षालितम् मन्मनः मम चित्तम् निर्दयं यथा तथा क्रूरतापूर्वकम् हन्तुम प्रहर्तुम् एतत् चान्द्रमसम ऐन्दवम् बिम्बम् अम्बरे व्योमनि पश्य अवलोकय। कस्यचित्कामुकस्य कुपितां नायकां प्रत्युक्तिरियम्। अत्र चतुर्षु पादेषु प्रथमे 'चारु- चान्द्र- भीरु इति पदेषु 'चा', रु'वर्णयोरावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासः, द्वितीये पादे मकारवकारयोः संयुक्तयोरावृत्तिरिति स च पदगतः। पूर्वत्रोदाहरणे पाद पाद तेषामावृत्तिरत्र तु पदे पदे इति तथा।। ५७।।

हिन्दी – हे भयग्रस्तनेवे वाले, तुम्हारी चिन्ता करने के कारण नितान्त पवित्र इस हमारे हृदय को निर्दयतापूर्वक सताने का उद्यत यह आकाशस्थित चन्द्रबिम्ब देखो। मैं तुम्हारे लिये चिन्तित हूँ, चन्द्रमा हमको सता रहा है, इस पर ध्यान दो। इस श्लोक में प्रथम पाद में चारु चान्द्रमस पदों में 'चा' एवं चारु,भीरु पदों में 'रु' का अनुप्रास है, वह पदगत है, अतः यह पदगत वृत्यनुप्रास का उदाहरण हुआ। द्वितीय पाद में बिम्ब और अम्बर में म् व् की तृतीय पाद में मन्म, मन्म की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।। ५७।।

इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम्। न तु रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति।। ५८।।

अनुप्रासलक्षणे पूर्वं निरुच्यमाने–'पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता; इत्युक्तं सम्प्रति तदेव प्रत्युदाहरणप्रदर्शनावधया प्रपञ्चयति–इत्यनुप्रासमिति। इति एवं प्रकारकं नातिदूरान्तरश्रुतिम् नातिविलम्बेनोच्चार्यमाणसदृशवर्णम् (यावता पूर्वानुभूतवर्णजनित संस्कारो न निवर्तते तावदव्राननतिदूरम) अनुप्रासम् इच्छन्ति, न तु अतिदूरान्तरश्रुतिम् तावता विलम्बेनोच्चारणे पूर्वानुभवजातस्य संस्कारस्य विलोपात्। तदेवोदाहरति–न त्विति अत्र रामापदगतमाशब्दश्रवणजः संस्कारश्चन्द्रमातेः पदघटकमाशब्दश्रवणपर्यन्तं नावतिष्ठते दूरत्वात् अत ईदृशं दूरान्तरश्रुतिम् अनुप्रासं नेच्छन्ति।। ५८।।

हिन्दी – अनुप्रासलक्षण में कहा गया था–'पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता, अर्थात् अनुप्रास वहीं पर माना जाता है जहां पर प्रथमोच्चारित वर्णजन्य संस्कार तत्सदृश दूसरे वर्ण के उच्चारण तक बना रहे। तभी समानश्रुतिक वर्णों के उच्चारण से अनुप्रास होता है, फलतः 'रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमाः' इस पद्यार्ध में 'रामा' पद के 'मा' का संस्कार 'चन्द्रमा' पदगत 'मा' के उच्चारणकाल तक नहीं रह पाता है अतः यहां पर अनुप्रास नामक अलंकार नहीं हुआ। अतिदूरान्तर श्रुति होने के कारण यह अनुप्रास नहीं है। किन्तु म वर्ण की राम, मुख, अम्भोज में आवृत्ति होने से अनुप्रास होगा।। ५८।।

स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपश्च नः कृशः। च्युतो मानोधिको रागो मोहो जातोऽसवो गताः।। ५९।।

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति। अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते।। ६०।।

अलंकारशास्त्रे प्रस्थानद्वयमेकं वैदर्भाणामपरञ्च गौडानां तयोराद्ये बन्धपारुष्यशैथिल्ययोः सद्भावे सत्यपि समानवर्णोच्चारणं न तत्तदलङ्कारस्वीकारः, गौडानां मते तु सतोरपि बन्धपारुष्यशैथिल्ययोः केवलं समानश्रुतिवर्णोच्चरणे भवन्त्यलङ्काराः, तदेतन्मतवैषम्यं स्पष्टयति च्युत इत्यादिना कारिकाद्वयेन। स्मरः कामः खरः तीक्ष्णः, कान्तः प्रियतमः खलः निष्ठुरः, नः अस्माकम् कायः शरीरम कान्तविषयः परस्त्रीसंगादिजन्मा क्रोधश्च कृशः क्षीणः, मानः स्वीयगौरवरिरक्षिषा च्युतः गलितः, रागः संभोगाभिलाषोऽधिक समुत्कः मोहः चित्तवैक्लव्यम् जातः प्रादुर्भूतः, असवः प्राणा गताः। अत्र प्रथमचरणे रेफकारयोः द्वितीये पादे ककाराणां चावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासः, तृतीयचतुर्थपादयोर्दन्त्यवर्णानां निवेशात् श्रुत्यनुप्रासः। प्रथमार्धे विसर्गबाहुल्यात् पारुष्यं द्वितीयार्धे संयुक्तवर्णविरहकृत शैथिल्यम। अत्र वृत्यनुप्रासश्रुत्यनुप्रासयोः पारुष्यशैथिल्यदोषग्रस्तत्वान्नेमौ अलङ्कारतां प्राप्नुतः। अतश्चाभ्यां विप्रलम्भशृङ्गारस्यानुपकृतत्वान्नात्र माधुर्यगुण। तदेतत्कण्ठत आह–इत्यादीति। इत्यादि पूर्वोक्तम् उदाहरणद्वयम् (आद्यपादयोर्बन्धपारुष्यम् अन्त्यपादयोः शैथिल्यं च) नियच्छति समर्पयति विसर्गबाहुल्यादाद्यपादयोः पारुष्यम्, तदुक्तम्–'अनुस्वारविसर्गौ तु पारुष्याय निरन्तरौ' इति। अन्तिमपादयोस्तु संयुक्तवर्णाभावात् शैथिल्यम। ईदृशं सदोषमलङ्कार दाक्षिणात्या नाद्रियन्ते– गौडास्तु केवलमनुप्रासलुब्धाः सदोषमपि तमङ्गीकुर्वन्तीति भावः।। ५९-६०।

हिन्दी – इस अलंकार में दोष के रहने पर क्या होगा, अलंकार माना जायेगा या नहीं ? इसी प्रश्न का उत्तर इन दो कारिकाओं में दिया गया है। कुछ आचार्य इस प्रकार के सदोष स्थल में अलंकार मानते है, उन्हें अलंकार–लोभ है, कुछ लोग रसानुपकारकतया इन सदोष अलंकारों को अलंकारताविरहित विसर्ग बाहुल्य बन्धपारूष्य समझते हैं। 'स्मरः खरः' इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में विसर्गहुल्य होने से बन्धपोसय है, क्योंकि रीतिशास्त्रियों ने कहा है–'अनुस्वारविसर्गौ तु पारुष्याय निरन्तरौ। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में संयुक्त वर्ण के नही होने से शैथिल्य दोष है। इस प्रकार सदोष इन अलंकारों का आदर दक्षिणात्य वैदर्भ लोग नहीं करते। गौड लोग इसका भी आदर करते हैं।। ५६–६०।।

आवृत्ति वर्णसंङ्घातगोचरां कवयो विदुः। तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते।। ६१।।

यथा वर्णावृत्तिरूपोऽनुप्रासो रसपोषकमाधुर्यगुणशाली मन्यते तथा पदाऽऽवृत्तिरूपं यमकमपि तथा मन्यते न वेत्यपेक्षायामाह–आवृत्तिमिति। वर्णनसङ्घमतगोचरां पूर्वोक्तवर्णसमुदायविषयाम् आवृत्तिम् भूयो भूय उच्चारणं–यथानुपूर्वीकाणां स्वरव्यंजनसमुदायानाम् असकृदुपादानं यमकं नामालङ्रमालङ्कारिका आहुः, तदुक्तं प्रकाशकृता'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते' इति। अनुप्रासे बहूनां क्वचिदेकस्वरसहितस्य व्यञ्जनस्यावृत्तिः, यमके तु स्वरसहितानां व्यञ्जनानाक्र मेण तेन तयैवानुपूर्व्यावृत्तिर्भवतीत्युभर्योभेदः। तत् यमकं तु नैकान्तमधुरं नात्यन्तमनोहरम्, अतः पश्चात् माधुर्यगुणनिरूपणानन्तरं शब्दालङ्कारप्रस्तावे विधास्यते। अनुप्रासे–'अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं वलयैः' इत्यादौ यादृशी चारुता न तादृशी यमके–'नवपलाशपलाशवनं पुरः' इत्यादौ। अपि च वर्णसङ्घातावृत्तौ अर्थावगमः क्लेशेन भवति, न तथाऽनुप्रास इत्यनुप्रासापेक्षयाऽत्र माधुर्यस्य न्यूनत्वं बोध्यम्।। ६१।।

हिन्दी – वर्णावृत्तिरूप अनुप्रास रसपोषक माधुर्यशाली माना जाता है, उसी तरह पदावृत्तिरूप यमक भी माधुर्यशाली माना जाये, इस प्रसंग में निषेधात्मक उत्तर देते हैं–आवृत्तिमिति। वर्णसङ्घात की आवृत्ति को यमक माना जाता है, वह अतिशय मधुर नही होता, अतः उसका साङ्गोपांग विवेचन माधुर्यगुणनिरूपण के बाद शब्दालङ्कारनिरूपण प्रसंग में किया जायेगा।

दण्डी के मत में अनुप्रास और यमक में अनुप्रास अधिक रसमाधुर्यपोषक होता है, यमक उतना रसबोधक नहीं होता, जैसे विजातीय पुष्पसंकीर्ण पुष्पमाला अधिक रमणीय होती है, तदपेक्षया एकप्रकारक पुष्पमाला कम रमणीय होती है। अनुप्रासस्थल में मध्य मध्य में भिन्न–भिन्न वर्णों के समावेश के हो जाने से उसका चमत्कार बढ़ जाता है, जैसे–'अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं वलयैः' इत्यादि स्थल में। यमकस्थल में एक प्रकार से वर्णसङ्घात की आवृत्ति हुई रहती है वह उतना आकर्षक नहीं होता, जैसे–'नवपलाशपलाशवनं पुरः, स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्' इत्यादि' श्लोक में।। ६१।।

कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु। तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।। ६२।

'मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः' इत्युदेशवाक्ये वस्तुनि–अर्थे रसस्थितिरुक्ता, तेनार्थगतं माधुर्यं निर्दिष्टं, तदिदानीं, प्रपञ्चयति–काममिति। सर्वः पूर्वप्रकारकः शब्दगतोऽर्थ– गतस्तदुभयगतश्चालङ्कारः। कामं यथायोगमर्थे वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मके वस्तुनि रसं चमत्कारविशेषं निषिञ्चतु उपपादयतु, काममर्थास्तैस्तैरलङ्कारै रसपुष्टिमासादयन्तु, परन्तु तथापि तत्तदलङ्काराणां रसोपकारकत्वे सत्यपि अग्राम्यता हालिकादिव्यवहारविमुखता विदग्धजनव्यवहारः भूयसा प्राधान्येन बाहुल्येन इमं रसोद्बोधकतालक्षणं भारं वहति। अयमाशयः–यद्यप्यलङ्काररणमस्ति रसपोषकत्वं तथापि ग्राम्यतारहितेष्वेव स्थलेषु ते रसपोषकतां बिभ्रति, न ग्राम्येषु अग्राम्यव्यवहारसमूहान्येव वाक्यानि प्राधान्येन रसं पुष्णन्तीति भावः।। ६२।।

हिन्दी – इससे पहले माधुर्यगुण के निरूपण प्रारम्भ में '–मधुरं' रसवद्वानि वस्तुन्यचि रसस्थितिः' यह कहकर वाच्यलक्ष्यव्यंग्यात्मक अर्थ में रसस्थिति कही गई थी, फलतः अर्थगत माधुर्य की स्वीकृति की ओर इंगित मिलता है, उसी अर्थमाधुर्य का विषद स्वरूप इस कारिका द्वारा बताते हैं। इसका अर्थ यह है कि भले ही सभी प्रकार के अलंकारगण (शब्दार्थ तदुभगत) अर्थ में रस का निषेक करें, परन्तु बाहुल्येन प्रायः करके अर्थ में रसनिषेक का भार अग्राम्यता ही होती है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अलंकारों के कारण भी अर्थ रसोद्दोष होते हैं, परन्तु बाहुल्येन वही अर्थ रसोदोष–समर्थ होते हैं जिनमें ग्राम्यता नामक दोष का विरह–अग्राम्यता हो। काव्य के हृदय रूप विदग्ध व्यवहार के हो जाने पर अलंकारों की जरूरत नहीं रह जाती। ऐसा देखा जाता है कि निरलंकार शब्दार्थ में भी रसपोषकता है। इस श्लोक में प्रतियोगिविधया निर्दिष्ट ग्राम्यता पद अश्लीलता आदि का भी उपलक्षक है। इस कारिका में 'भूयसा' कह कर आचार्य ने संकेत किया है कि कहीं–कहीं ग्राम्यता और अश्लीलता भी दोषस्वरूप नहीं होती। इसी बात को ध्यान में रखकर विश्वनाथ ने कहा है–'सुरतारम्भगोष्टयादावश्लीलत्वं गुणो भवेत'। इस प्रसंग में यह भी जानना आवश्यक है कि ग्राम्यता कई तरह से होती है, जैसे अवैदग्ध्ययग्राम्यत्व–

'स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिति तावदहं किमपैति ते।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम कर' स्वकरेण रुरोध सा'।।

असभ्यार्थनिबन्धनग्राम्यत्व--

'ब्रह्मचर्योपतप्तोऽहं त्वं च क्षीणा बुभुक्षया। भद्रे मजस्व मां तूर्ण तव दास्याम्यहं पणम्'।। ६२।।

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।। ६३।।

कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः। त्वयि निर्मत्सरो दिष्टयेत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः।। ६४।।

अग्राम्यताऽर्थगतं माधुर्यं भूयसा सृजतीत्युक्तं, तत्राग्राम्यतास्वरूपबोधनाय तदपेक्षितां ग्राम्यतां प्रथममुदाहरति–कन्ये इति। हे कन्ये कामयमानं रतये समुत्कण्ठमानं मां त्वं कथं न कामयसे, अत्र कन्यापदं दुहितृपरतया प्रसिद्धमिति प्रथममेवानुचितप्रयुक्त्या वैरस्यमाहात्म्य एवमेवात्रत्यः सर्वोऽप्यर्थो विस्पष्टमभिधीयमानतया सभ्यानां लज्जामुत्पादयन् रसास्वादवैमुख्यजनकः। अतश्चेदृशोऽर्थः सर्वथाऽनादरणीय अत्र यद्यपि शृङ्गारानुकूलयोः ककारमकारयोरावृत्त्या वृत्त्यानुप्रासो वर्तत इति शक्यते कथयितुं तथापि नासावनुप्रासो वर्ज्यमाना ग्राम्यार्थेन निकृष्टीभवन्तं शृङ्गारं प्रभवत्युपकर्त्तुम। अतोऽत्र ग्राम्यतादेपसद्भावो माधुर्यमपनयति तदेव ग्राम्यतामुदाहृत्य तद्विरुद्धस्वभावामग्राम्यतामाह– काममिति। हे वामाक्षि रमणीयायतलोचने, कन्दर्पचाण्डालः क्रूरप्रहारी कामः मयि निर्दयः अतिरुष्टतया नितान्तकुपितः, दिष्ट्या भाग्येन त्वयि निर्मत्सरः अपगतरोषः इति एतादृशः अग्राम्यः विदग्धजनव्यवहारविषयोऽर्थः रसावहः रसव्यञ्जकतया माधुर्यगुणोपेत इत्यर्थः। अनेनाग्राम्येणार्थेन विप्रलम्भः पुष्यते।। ६३–६४।।

हिन्दी – हे कन्ये, मैं काम से पीड़ित हूँ, तुम मुझे क्यों नहीं चाहती हो ? इससे तो ग्राम्य असभ्यजनव्यवहार्य अर्थ प्रयुक्त हुआ है जो श्रोता के हृदय में वैरस्य–विमुखता को उत्पन्न करता है। इस श्लोक में सर्वप्रथम 'कन्या' पद आया है, जो लड़की के लिये प्रयुक्त होता है, इसके प्रयोग से बड़ी विरसता आ गई हैं इसी प्रकार इसमें प्रयुक्त अर्थ खुलकर किये गये रति–निवेदन के कारण विदग्ध जनों के हृदयों में लज्जा की उत्पत्ति करता हुआ विरसता उत्पन्न करता है, अतः ग्राम्य है। इसी अर्थ की यदि सभ्यजनव्यवहार्य भाषा में कहेंगे तब अग्राम्य होगा, तथा उससे रस की पुष्टि होगी, इसका उदाहरण दिया है–कामम् इत्यादि। हे सुन्दर नयनों वाली रमणी कन्दर्प चाण्डाल मेरे ऊपर निर्दय है, परन्तु भाग्यवश वह तुम्हारे विषय में उतना अधिक कुपित नहीं है। कामदेव के निर्दय प्रहार से मैं जर्जर हो रहा हूँ, परन्तु तुम नहीं, इस तरह कहे गये इस अर्थ में सभ्यजनव्यवहार्य अर्थ का प्रयोग हुआ है, जो विप्रलम्भ शृंगार की पुष्टि करता है। इसमें वही अर्थ है जो पूर्वोक्त ग्राम्यतोदाहरणवाले पद्य में है, परन्तु अपने–अपने कथन प्रकार से भिन्न तरह का कार्य करताहै।। ६३–६४।।

शब्देऽपि ग्राम्यताऽस्त्येव सा सभ्येतरकीर्त्तनात्। यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे।। ६५।।

पदसन्धानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः। दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया।। ६६।।

माधुर्यप्रतिबन्धकमर्थगतं ग्राम्यत्वमुक्तं, सम्प्रति शब्दगतं तन्निरूपयति–शब्देऽपि इति। सभ्येतरस्य असभ्यस्य सभायामुच्चारणायोग्यस्य शब्दस्य कीर्त्तनात् उच्चारणात् शब्देऽपि ग्राम्यता नाम दोषः अस्त्येव, यथा रत्युत्सवनिरूपणे रतिक्रीडाप्रसङ्गे यकारादि 'याभपदम् 'यभ्' मैथुने इत्यतो धातोर्निष्पन्नं याभपदं नितान्तग्राम्यं, तद्धि श्रवणसमकालमेव वैरस्यं समापादयद् ग्राम्यम्। सुरतनिधुवनादिपिदानि रत्यर्थकान्येव सन्त्यपि ग्राम्यतां न स्पृशन्ति, तदर्थकमेव च याभपदंमश्लीलं ग्राम्यं च भवतीति शब्दस्वभावः। अयं च नार्थगत किन्तु शब्दगतो दोष इति बोध्यम्। सोयं ग्राम्यतादोषो विशिष्टपदनिष्ठः केवलं विशिष्टपद एव नायम्, पदानां सान्निध्यविशेषण वाक्यार्थविशेषण चापीदमीयः प्रतिभासः, तदाह–पदसन्धानेति। पदानां सन्धानेन सन्धिना वृत्त्या सत्तया पदानां परस्परसन्धौ सति ग्राम्यतोदयते, यथा– 'अल्डामरचेष्टितम्' इत्यत्र सन्धौ सति लण्डापदम्, अत्र पदसन्धानेनासभ्यार्थत्वम् एवमस्योदाहरणं कारिकागतं याभवतः प्रिया 'या भवतः इति विच्छिद्य पाठे न ग्राम्यतयाऽश्लीलत्वं, तस्यैव 'याभवतः' इति पदसन्धानेन पाठे याभवतः सततमैथुनानुरक्तस्य भवतः प्रिय सततसुरतप्रदानेनप्रीणयित्रीत्यर्थेनासभ्यत्वम्।। ६५–६६।।

हिन्दी – माधुर्यप्रतिबन्धक अर्थगत ग्राम्यत्व का स्वरूप पहले बताया गया है, इन दो कारिकाओं द्वारा शब्दगत ग्राम्यत्व का स्वरूप बताया जाताहै। सभ्येतर–असभ्य सभा में उच्चारण के अयोग्य अर्थ के कीर्त्तन–अभिधान से शब्द में भी असभ्यता की प्रतीति होती है, जैसे यकारादि 'यभ्' धातुनिष्पन्न पदों के उच्चारण से। यह शब्दगत ग्राम्यता दो प्रकार से संभव है–पदसन्धानवृत्ति एव वाक्यार्थतया दुष्प्रतीतिकर। पदसन्धान वृत्ति से मतलब यह है कि पदों के होने से जो असभ्य हो जाये, जैसे–या, भवतः ये दो पद अलग–अलग रहने पर ग्राम्य नही हैं, परन्तु इन्हीं दोनों पदों को यदि सन्निधानवृत्ति समीपस्थता सन्धि हो जावे तब याभवतः हो जाने पर सततमैथुनानुरक्त रूप अर्थ होने लगता है जो नितान्त ग्राम्य है। इन कारिकाओं में दो प्रकार से ग्राम्यता का सभव होना कहा है

पदसन्धानवृत्ति तथा वाक्यवृत्ति। इसमें पदसन्धिवृत्ति का उदाहरण 'यामवतः प्रिया' कहा गया है। वाक्यार्थत्वेन दुष्प्रतीतिकर रूप ग्राम्यत्व का उदाहरण उत्तर कारिका में ।। ६५–६६।।

खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति। एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।। ।।

वीर्यवान् पराक्रमशाली पुरुषो दशरथी रामः खरं तन्नामकं दैत्यभेदं प्रहृत्य हत्वा विश्रान्तो विश्रमं प्राप्तः। एषः प्राकरणिकोऽर्थः प्रथमं प्रतीयते, पश्चात्–वीर्यवान् गाढशुक्रः पुरुषः कश्चन कामुकः खरं गाढं प्रहृत्य मदनध्वजेन मदनमन्दिरं ताडयित्वा विश्रान्तः ग्लानि प्राप्त इत्यसभ्योऽर्थः प्रतीयते। एवं वाक्यार्थगताश्लीलदोषेण दुष्टत्वान्नात्रमाधुर्यम्।। ६७।।

हिन्दी – 'भगवान् राम ने खर नामक दानव को मार करके विश्राम किया। यह इस उदाहरण वाक्य का प्रधान अर्थ है, परन्तु प्रधान अर्थ की प्रतीति के पश्चात् यह भी अर्थ प्रतीत होता है कि वीर्यवान् किसी युवा कामुक ने मदनध्वज द्वारा कामशास्त्रोक्त भगताड़न करके विश्राम किया, इस अर्थ में असभ्यता है, इस तरह के अर्थ की प्रशंसा न वैदर्भमार्ग में है न गौड़मार्ग में। दोनों सम्प्रदाय के आचार्य इस ग्राम्यत्वदोष को हेय मानते हैं।। ६७।

भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते। विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता।। ६८।।

भगिनीभगवत्यादि पदं योनिलिङ्गादिग्राम्यार्थप्रतिपादकशब्दघटितमपि सर्वत्रैव गौडवैदर्भमार्गयोः सर्वविधेषु काव्येषु च अनुमन्यते निर्दुष्टतया शिष्टैः स्वीक्रियते। एषां शिष्टपरिगृहीतानां भगिनीभगवती– शिवलिङ्विश्वयोनिप्रभृतिशब्दानां प्रयोगः सर्वत्र व्यवहारे काव्येषु वैदर्भ्यादिषु रीतिषु च अनुमन्यते निर्दोषया स्वीक्रियते तथा चोक्तं भोजराजेन–

'ग्राम्यं घृणवदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम्। तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति'।

संवीतस्य हि लोकेऽस्मिन् न दोषान्वेषणं क्षमम्। शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना'।।

तदेवं माधुर्यं नाम गुणः सप्रपञ्चमुपदर्शितः, सम्प्रति क्रमप्राप्तां सुकुमारता निरुपयितुमुपक्रमते, तदाह–उच्यते सुकुमारतेति।।६८।।

हिन्दी – ग्राम्यता–अश्लीलता के वर्णन प्रसंग में कुछ अपवाद स्थल बताने के लिये यह कारिका लिखी गई है। भगिनी, भगवती, विश्वयोनि, शिवलिंग आदि पद लोकव्यवहार काव्य, वैदर्भी आदि रीतियां, सभी जगह निर्दोष माने जाते हैं, उनके प्रयोग में कुछ बाधा नहीं है। भोज राज ने इस प्रसंग में असभ्यार्थ शब्द–समुदाय के निर्दोष होने के तीन प्रभेद बताये हैं–'तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति'। संवीत से अभिप्राय है अपुष्टतया स्वीकृत से। अपुष्टतया अंगीकृत को ही संवीत कहते हैं।

इसका उदाहरण–

'तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व। योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम्।।

गुप्त उसको कहते हैं जहाँ प्रसिद्ध अर्थ से अप्रसिद्ध असभ्य अर्थ का गोपन हो जाये यथा–

'सुदुस्त्यजा यद्यपि जन्मभूमिः गजैरसंबाधमयां बभूवे। स तेऽनुनेयः सुभगोऽभिमानी भगिन्ययं न प्रथमामिभसन्धिः।।

यहाँ जन्मभूमि, सुभग, भगिनी आदि पद अपने जन्मस्थान, शंकर, सुन्दर, दहन आदि प्रसिद्ध अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, उनके अप्रसिद्ध अर्थ योनि, स्त्रीभग आदि गुप्त हो गये हैं, अतः इनका प्रयोग सर्ववादिसिद्ध है। इसी तरह लक्षित होने पर भी ग्राम्यता नहीं होती–

'ब्रह्माण्डकारणं योऽस्मिन् निदधे बीजमात्मनः। उपस्थानं करोम्येव तस्मै शेषाहिशायिने'।।

इस श्लोक में ब्रह्माण्ड, उपस्थान शब्दों से यद्यपि असभ्य अर्थ का स्मरण हो जाता है तथापि यहां इन पदों की लक्षणा अन्य अर्थों में हो गई है, अतः इन्हें ग्राम्य नहीं माना जाता।

इस प्रकार माधुर्य का सविस्तार वर्णन गौड़वैदर्भमार्ग में यथायोग्य किया गया है। इसके बाद सुकुमारता नामक गुण का निरूपण करेंगे। सारांश यह है कि गौड़सम्प्रदाय वाले आचार्य वृत्त्यनुप्रासप्रधान प्रबन्ध को मधुर मानते हैं, एवं वैदर्भसम्प्रदायानुगामी आचार्यगण श्रुत्यनुप्रासप्रधान काव्य को मधुर कहते हैं, इसी प्रकार माधुर्य विभागद्वय में अवस्थित है। उस माधुर्य का अन्त हो गया, अब सुकुमारता नामक गुण का वर्णन क्रम प्राप्त होने के कारण किया जा रहा है।। ६८।।

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले।। ६९।।

अनिष्ठुराणि श्रुतिकटुत्वदोषास्पृष्टानि कोमलानि प्रायः बाहुल्येन यत्र तत अनिष्ठुराक्षरप्रायम् बाहुल्येन कोमलवर्णघटितमिति यावत्, तादृशं, वाक्यं सुकुमारम् इह साहित्यशास्त्रे इष्यते कविभिरास्थीयते। सुकुमारतयाऽभिमते काव्ये केवलं कोमलाएव वर्णास्युर्नेदं नितान्तमपेक्ष्यते, किन्तु भूयसा सुकुमाराण्यक्षराणि स्युरेव, केवलकोमलाक्षरविन्यासे तु क्रियमाणे न केवलं लक्षणाव्याप्तिरेव, अपि

त्वनर्थान्तरमपि स्यात्, तथाहि सति सर्वकोमले बन्धशैथिल्यदोषोऽपि प्रसज्येत तदाह--बन्धेति। तथा चोक्तं शिथिलतालक्षणप्रस्तावे--शिथिलमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्, यथा--मालतीमालालोलालिकलिला' इति। एवं च यत्र कोमलाक्षराणां मध्ये मध्ये परुषाक्षरविन्यासेन मुक्तामालाया अन्तरान्तरा रत्नगुम्फनेनेव जायमानं किमपि चारुत्वं सुकुमारत्वमिति बोध्यम्। न चैव सति प्रागुक्तस्वरूपस्य श्लेषाख्यागुणस्यास्य सुकुमारत्वस्य चैक्यापत्तिः उभयोर्लक्षणसाम्यादिति वाच्यम्, श्लेषस्य महाप्राणमिश्रितात्यप्राणाक्षरविन्यासविशेषेण सुकुमारतायाश्चानिष्ठुराक्षरप्रायत्वेन द्वयोः परस्परभिन्नत्वात्।

काव्यप्रकाशकारादयस्तु सौकुमार्यं श्रुतिकटुत्वदोषाभावस्वरूपं मन्यमाना इदं पृथग् गुणत्वेन नाभ्युपगच्छन्ति, एवमेव तदनुगामिनः विश्वनाथप्रभृतयः। सौकुमार्गलक्षण--प्रसंगे भरत :--

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः। सुकुमारार्थसंयुक्तं सुकुमारं तदिष्यते।।

एतदुदाहरणं यथा--

'अङ्गानि चन्दनरजःपरिधूसराणि ताम्बूलरागसुभगोऽधरपल्लवश्च।

अच्छाञ्जने च नयने वसनं तनीयः 'कान्तासु भूषणमिदं विभवावशेषः'।।

भोजराजेन तु दण्डिन एव लक्षणोदाहरणे स्वीकृते।

वामनस्तु अजरठत्वं सौकुमार्यं तच्च्यापारुष्यस्वरूपं मन्यते, 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि कालिदासीयं च पद्य--सुकुमारबन्धमुदाहरति।

जगन्नाथपण्डितराजस्तु--अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता, यथा--'त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः' अत्र 'प्रियामरणकातर' इति पाठे पारुष्यं तद्रहितत्वात्सुकुमारतेति। आचार्यदण्डी सौकुमार्यं शब्दगुणमभिप्रैति, परे त्विदमर्थगुणं गुणयन्ति। वस्तुतस्तु अर्थसौकुमार्यस्यामङ्गलरूपाश्लीलताख्यदोषाभावस्वरूपत्वेन न गुणत्वं तदुक्तं दर्पणकृता-- 'ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता' इति।। ६५६।।

हिन्दी – जिसमें प्रायः करके--बाहुल्येन अनिष्ठुर, श्रुतिकटुत्व दोष से हित अक्षर हों, अर्थात कोमल वर्णों से जिसका संगठन किया गया हो, वैसे वाक्य को सुकुमार--अर्थात सुकुमारता नामक गुण से भूषित कहा जाता है। 'प्रायः' पद इस लक्षण में बड़ा उपयोगी है। उससे यह अभिप्राय निकलता है कि सुकुमार वाक्य में यह कोई नियम नहीं है कि सभी अक्षर अकठोर ही हों, इतना अवश्य चाहिये कि बाहुल्य कोमल वर्णों का ही हो, जैसे' मुक्तामाला में यदि बीच--बीच में रत्नान्तर लगा दिये जाते हैं, तो उसकी शोभा और बढ़ जाती है, उसी तरह सुकुमार वाक्यों में बीच--बीच में एकाध परुष वर्ण के हो जाने से कोई क्षति नहीं होती, प्रत्युत लाभ ही होता है। इसी बात को बताने के लिए उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा गया है कि यदि सभी वर्ण कोमल ही रहेंगे, तब बन्धशैथिल्यदोष उपस्थित होगा। जैसे--'मालतीमालालोलालिकलिला'।

इस सौकुमार्य गुण को काव्यप्रकाशकार आदि परवर्त्ती आचार्यों ने श्रुतिकटुत्वरूप दोष का अभावस्वरूप मानकर इस गुण को अस्वीकृत कर दिया है। कुछ लोग सौकुमार्य को अर्थगुण भी मानते है, उनके मत में अर्थगत सौकुमार्य वह है जिसमें अर्थगत पारुष्य नहीं आया हो, जैसे 'प्रियामरणकातरः' की जगह पर 'प्रियाविरहकातरः' कहकर पारुष्य से पृथक् रखा गया है। वस्तुतः यह अथगत सौकुमार्य गुण भी अमङ्गलरूपाश्लीलतादोषाभावस्वरूप ही है, अतः यह भी आवश्यक नहीं माना जायेगा।।६६।।

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः। कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि।। ७०।

पूर्वकारिकायां लक्षितस्य सुकुमारतानामकस्य गुणस्योदाहरणमुपन्यस्यति--मण्डलीति। जीमूतमालिनि मेघमेदुरे काले बर्हाणि स्वीयापेक्षानि मण्डलीकृत्य मण्डलाकारेण विस्तार्य मधुरगीतिभिः मधुरं शब्दायमानैः कण्ठैः कलापिनो मयूराः प्रनृत्यन्ति, नृत्यमारभन्ते, ध्वनत्सु जलधरेषु तद्ध्वनिश्रवण सन्तुष्टा मयूराः स्वीयानि पिच्छानि मण्डलाकारेण वित्य सानन्दं नृत्यन्तीत्यर्थः। अत्र निष्ठुराक्षरपरित्यागात्सुकुमारतागुणः ७०।।

हिन्दी – वर्षाकाल के उपस्थित होने पर मधुर शब्द करने वाले अपने कण्ठों से शब्द करते हुए गीत--सा गाते हुए एव अपनी पूँछ को मण्डलाकार में फैलाये हुए मयूर नृत्य करने लगते हैं। वाक्य में परुष वर्ण का अप्रयोग है, प्रायः कोमल अक्षरों के ही प्रयोग हो पाये हैं, अतः सुकुमारता नामक गुण माना जाता है।। ७०।।

इत्यनूर्जित एंवार्थो नालङ्कारोऽपि तादृशः। सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः।। ७१।।

सुकुमारताख्यस्य पूर्वं लक्षितस्योदाहृतस्य च गुणस्यावश्यस्वीकार्यत्वे युक्तिमुपन्यस्यति--इत्यनूर्जित इति। इति अस्मिन् पद्य अथ अनूर्जितः रससम्पर्कशून्यतयाऽनतिस्फुट एव अलङ्कारोऽपि न तादृशः अतिशययुतः, समासोक्तिः सत्यपि नातिरसस्पृक्, एतत्पद्यम्

सुकुमारतयैव सौकुमार्यनामकगुणसद्भावेनैव सतां मनः आरोहति, सद्भिरिदं यत्काव्यत्वेनाभ्युपेयते, तत्र केवलं सुकुमारता नामकगुणसद्भाव एव कारणं, नार्थविशेषः, तस्यानूर्जित्वात्, नाप्यलङ्कारविशेषः, तस्याप्यपरिनिष्ठितत्वात्, अतश्च सौकुमार्यमवश्यं गुणत्वेनास्थेयमिति भावः।। ७१।।

हिन्दी – पूर्वलक्षित एवम् उदाहृत सुकुमारता गुण के विषय में मतभेद हैं, कुछ लोग इसे स्वीकार करते हैं और कुछ लोग इसको श्रुतिकटुत्वरूपदोषाभावस्वरूप मानते हैं। भरतमुनि ने सुकुमारता को गुण माना है, परन्तु कुछ प्राचीन तथा तदनुवर्त्ती अर्वाचीन आचार्य इसे गुण नहीं मानते, उनका कथन है कि जब तक अर्थचमत्कृति न होगी, तब तक सुकुमारता का कोई लाभ नहीं है, वह स्वतः दोषाभावस्वरूप ही है, इसी मत का खण्डन इस कारिका में किया गया है। दण्डी का कहना है कि पूर्वोक्त उदाहरण श्लोक में अर्थ अनूर्जित–अनतितेजस्वी है, इसी तरह अलंकार भी अनतिप्रस्फुट है, फिर भी यह पद्य सज्जनों को भला लगता है, इसका एकमात्रकारण सौकुमार्ग गुण का सद्भाव ही है, इस स्थिति में सौकुमार्य गुण का माना जाना उचित है। दण्डी ने अलंकारापेक्षया और अर्थापेक्षया भी गुणों को काव्य में प्रधान अंग माना है, उनके मन में यह बात बैठ गई थी–

–तया कवितया किं या किं वा वनितया तया। पदविन्याससमात्रेण यया नापहृतं मनः'।।

दण्डी का स्पष्ट आशय मालूम पड़ता है कि गुणवैचित्र्य के नहीं रहने पर अर्थ और अलंकार रहकर भी काव्य की शोभा नहीं बढाते है, दण्डी को एक अच्छे समर्थक मिल गये हैं–भोजराज। उनका कथन है :–

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।

'यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते।।

जैसे किसी स्त्री के शरीर में सभी अलंकार सजा दिये गये हों परन्तु यौवन नहीं हो तो वह आकर्षक नहीं होती, उसी तरह यदि काव्य में गुण नहीं हों, किन्तु अलंकार हो तो वह काव्य फीका ही लगता है।। ७१।।

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते। न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति।। ७२।।

अपरैः गौडकविभिः दीप्तम् दीप्तियुतम् दीप्तिसंज्ञकौज्ज्वल्ययुक्तम् इति हेतोः कृच्छ्रोद्यम् कष्टोच्चार्यमपि पदं बध्यते काव्ये प्रयुज्यते। ओजस्विरचनानुकूलतया परुषवर्णघटितमत एव कष्टोच्चार्यमपि बध्यते गौडैः, एतदुदाहरणेन विशदीकरोति–न्यक्षेणेति। न्यक्षेणनिर्गतनेत्रेण जन्मान्धेन धृतराष्ट्रेण क्षत्रियाणां समस्तराजन्यानां पक्षः समूहः क्षणेन अल्पकालेन क्षपितः विनाशितः, दुर्मन्त्रद्वारा महाभारतयुद्धे विनाशं गमित इत्यर्थः। अत्र धृतराष्ट्रस्यायुध्यमानतयाः न वीररसप्रसङ्गः, वस्तुतस्त्वत्र करुणो रसः, तत्र चौजः प्रधानरचनायाः अयुक्तत्वान्न केवलमुच्चारणेनापि तु रसप्रसङ्गेनापि कृच्छ्रोद्यमिदं गौडा आद्रियन्ते।। ७२।।

हिन्दी – गौड़ लोग सौकुमार्य की अपेक्षा नही करते, इसी बात का वर्णन सोदाहरण इस कारिका में किया गया है। अपर–गौड सम्प्रदाय के कविगण दीप्त–ओजोगुणयुक्त मान कर कष्टोच्चार्य वर्णगुम्फित काव्य का भी निर्माण करते हैं। उदाहरण–न्यक्षेणेत्यादि। जन्मान्ध धृतराष्ट्र ने क्षत्रियों के समूह को थोड़े समय में समाप्त करवा दिया, अपने पुत्र दुर्योधनादि को ऐसी दुर्बुद्धि दी जिससे अन्ततः सारे क्षत्रिय कट मरे। इस पद्यार्ध में यहां पर ऐसा कष्टोच्चार्य पदकदम्ब नहीं प्रयुक्त करना चाहिये। लेकिन गौड़ जन केवल ओज के लोभ से ऐसा प्रयोग किया करते हैं।। ७२।।

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता। भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति।। ७३।।

क्रमप्राप्तमर्थव्यक्तिनामकं गुणं निरूपयति–अर्थव्यक्तिरिति। अर्थस्य पदप्रतिपाद्यस्य अनेयत्वम् अध्याहारादिकल्पनां विनैव प्रत्येयत्वम् अर्थव्यक्तिर्नाम शब्दगुणः, अर्थात् यावन्तोऽर्था अन्वयबोधोपयिकतयाऽपेक्ष्यन्ते तद्बोधनाय तावतां पदानां विन्यासोऽर्थव्यक्तिः, उदाहरणं यथा–हरिणा वराहरूपभृता भगवता विष्णुना खुरेण स्वशफेन क्षुण्णाः ताडिताः ये नागाः रसातलस्थाः सर्पास्तेषामसृग्भिः शोणितैः लोहितात् रक्तात् उदधेः सागरात् भूः उद्धृता उपरि नीता। अत्र सागरपयोरञ्जनकारणीभूतो नागासृक्सम्पर्कः पृथगुक्तिमन्तरा नेयः स्यात् अतः पृथगुक्त इति नात्र नेयत्वमिति भवत्यर्थव्यक्तिः। तदनुक्तौ तु नेयार्थत्वेन नार्थव्यक्तिः, अभिधास्यति तदग्रेतनोदाहरणेन।। ७३।।

हिन्दी – जिस वाक्य में विवक्षित अर्थ समझने के लिये अध्याहारादि कष्ट कल्पनायें नहीं करनी पड़े, सभी शब्द वाक्यार्थबोध में अपेक्षित अर्थों को स्पष्टतया बताते हों उस वाक्य में अर्थव्यक्तिनामक गुण माना जाता है। जैसे–हरिणा इति। भगवान् विष्णु वराहावतार में अपने खुर से कुचले गये नागों के शोणित से रक्तवर्ण समुद्र के जल से इस पृथ्वी को ऊपर ले आये अर्थात् पृथ्वी का उद्धार किया, प्रलयकाल में जलमग्न हुई इस पृथ्वी को पानी से बाहर निकाला। इसमें सागर का पानी लाल क्यों हुआ? इसका कारण यदि नहीं

कहा गया होता तो नेयार्थ हो जाता, जैसे आगे कहे गये प्रत्युदाहरणश्लोक – '–मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः' में सागर लाल होने में कारण नही कहने से नेयार्थ हो गया है। यह अर्थव्यक्ति शब्दगुण है ऐसा दण्डी का मत है, इस अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण का लक्षण अन्यान्य आचार्यों के अनुसार इस प्रकार है–

भरत–

'सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता। या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्तिता'।।

भोजराज–'यत्र संपूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्'।। यथा–

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'।।

वाग्भट–'यत्र सुखेनार्थप्रतीतिः सार्थव्यक्तिः'। यथा–

'वाले तिलकलेखेयं भले भिल्लीव राजते। भ्रूलताचापमाकृष्य न विद्मः हनिष्यति'।।

पण्डितराज जगन्नाथ–

झटिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः, इति शब्दगताऽर्थव्यक्ति, अर्थी स्वर्थव्यक्तिः–

वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोवर्णनमर्थव्यक्तिः। काव्यप्रकाशकार ने इस अर्थ का स्वभावोक्ति में अन्तर्भाव माना है। उनका कहना है–'अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण वस्तुस्वभाव– स्फुटस्वरूपार्थव्यक्तिः स्वीकृताः।

साहित्यपदर्णकार ने अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में किया है। कहा है :–

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः'।

इस प्रसंग में साफ–साफ यही समझना चाहिये कि शाब्दी अर्थव्यक्ति का प्रसाद गुण में अन्तर्भाव मानते हैं औरआर्थी अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्त्यलङ्कारस्वरूप। इस प्रकार दोनों तरह की अर्थव्यक्ति का अपलाप कर लेते हैं।। ७३।।

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः। इतीयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृजः।। ७४।।

पूर्वकारिकायामर्थव्यक्तिनिरूपणप्रस्तावेऽनेयार्थत्वमवश्यमपेक्ष्यत्वेन स्वीकृतं, तज्ज्ञानस्य नेयार्थत्वज्ञानाभावे सम्पत्तुमशक्यतया सम्प्राप्ते सोदाहरणं नेयार्थत्वमाह–महीति। अर्थः प्रागुक्तः, अत्र केवलम्– खुरक्षुण्णनागासृगिति नोक्तं, यदभावेऽम्बुधिलौहित्यमित्यनुपपद्यमान कष्टकल्पनादिनोन्नेयं प्रसज्यत इतीदं नेयार्थम्। उक्तश्चायमर्थो भोजराजेन–

'वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात्।

महीमहावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः।

इतीयत्येव निर्दिष्टे नेया लौहित्यहेतवः'।।

काव्यप्रकाशकारादयस्तु–रूढिप्रयोजनाभावदशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थत्वमाहुः।। ७४।।

हिन्दी – 'मही महावराहेण' इस उदाहरण में सागर के लाल होने का कारण नहीं बताया गया है, अतः कष्टकल्पना द्वारा लाल होने के कारण का उन्नयन किया जाता है अतः यह नेयार्थ होने के कारण अर्थव्यक्तिरहित है। यहाँ इतना बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि लक्षणा दो प्रकार से की जाती है–निरूढलक्षणा और प्रयोजनलक्षणा। निरूढलक्षणा एक तरह से अभिधा की तरह होती है क्योंकि वह प्रसिद्धि से उद्भूत होती है, इसलिये उसे अनादितात्पर्यमूलक कहते है।, जैसे 'कर्मणि कुशलः'। इसी तरह प्रयोजनवती लक्षणा किसी खास वस्तु को बताने के लिये की जाती है, जैसे 'गङ्गायां घोषः'। इसमें शैत्यप्रतीति प्रयोजन है। इन दोनों लक्षणाओं को कष्ट नहीं कहा जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ लक्षणायें ऐसी भी की जाती हैं, जिनके मूल में शब्दों की अशक्ति उच्चारित पदों का विवक्षितार्थ प्रत्यायनाक्षमत्व होता है। इस तरह की अशक्तिमूलक लक्षणा नही करनी चाहिये, वैसा करने से नेयार्थ दोष होता है इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने नेयार्थता दोष के स्वरूपनिर्वचनकाल में कहा है–रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशन नेयार्थत्वम्, उदाहरण दिया है –

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्। करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्।।

यहाँ पर 'चपेटापातनातिथि' शब्द से 'जित' अर्थ लक्षित किया गया है, जिसे रूढि या प्रयोजन दो में से कोई भी एक बल प्राप्त नहीं है। यह सारी बात कुमारिल ने स्पष्ट कह दी है–

'निरूढा लक्षणा काश्चित्ससामर्थ्यादभिधानवत्। क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित काश्चिन्नैव त्वशक्तितः'।।

इस कारिका में अन्तिम चरण द्वारा जिसका निषेध किया गया है, उसी लक्षणा के अवलम्बन में नेयार्थत्व का उदय होता है।। ७४।।

नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि। नहि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी।। ७५।।

ईदृशं नेयार्थम् वाक्यम् उभयोरपि गौडवैदर्भमार्गयोराचार्या न बहु मन्यन्ते नाद्रियन्ते, उभयोरपि सम्प्रदाययोराचार्या नेयार्थत्वं न युक्ततयाऽऽतिष्ठन्त इत्यर्थः, तत्र कारणमुपन्यंस्यति–शब्दन्यायः शाब्दबोधपद्धतिः वृत्त्युपस्थितानामेवार्थानां बोध इत्येवं रूपो व्यवहारस्तद्विलङ्घिनी तत्प्रतिकूलां प्रतीतिः नहि सुभगा न रमणीया, अत एव तादृश्याः प्रतीतेरहृद्यत्वमभ्युपेत्य संप्रदायद्वयेऽपि नादरो नेयार्थग्रहणप्रयोगादेरिति भावः।। ७५।।

हिन्दी – इस तरह के नेयार्थ वाक्य का कहीं भी आदर नहीं होता है, गौड या वैदर्भ किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य उसका आदर नहीं करते, क्योंकि शाब्दबोध के नियम–वृत्युपस्थापित, अर्थों का ही अन्वय हो–इस तरह के नियम का उल्लंघन करने वाली प्रतीति सुन्दर नहीं हुआ करती। जिस बोध में शाब्दबोध के सिद्धान्त की अवहेलना की जाती है वह बोध हृद्य नहीं होता है, इसीलिये गौड़वैदर्भ दोनों सम्प्रदाय के आचार्यगण नेयार्थ का त्याग ही अभीष्ट मानते हैं।। ७५।

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते। तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः।। ७६।।

यस्मिन वाक्ये उक्ते अभिहिते सति कश्चित् उत्कर्षवान् वर्णनीयवस्तुमहत्तासूचकः गुणो धर्मविशेषः प्रतीयते ज्ञायते, तद्वाक्यम् उदाराह्वयम् उदारम् उदारतानामकगुणयुक्तम् तेन उदारतानामकगुणेन काव्यपद्धतिः काव्यरीतिः सनाथ कृतार्था चमत्कृतेत्यर्थः, भवतीति शेषः। येन वाक्येन प्रयुज्यमानेन सता वर्णनीयस्य वस्तुनः कोऽपि महिमातिशयो बुद्धिगोचरो भवति तदुदारं वाक्यमित्याशयः, तत्र महिमातिशय उत्कर्षख्यापनेन आकर्षख्यापनेन चोभयथा संभवति, चमत्कारस्योभयथा समुत्पाद्यत्वात्। अयं चार्थगुणः, वाक्यस्यार्थद्वारैव गुणव्यञ्जकत्वात्। वामनस्तु विकटत्वस्वरूपमुदारत्वं शब्दगुणमेवाह, विकटत्वं तु पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्, यथा–'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त्तकीनां झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्चः।। ७६।।

हिन्दी – जिस वाक्य के प्रयुक्त होने पर वाक्यार्थ के द्वारा वर्णनीय वस्तु के लोकोत्तर चमत्कार की अवगति हो, उसमें उदारता नामक गुण होता है, उससे काव्यमार्ग सफल होता है, काव्य का प्रयोजन चमत्कार ही माना जाता है, उदारता से चमत्कार का पोषण होता है, अतः उदारता को काव्य का जीवन माना गया है। वहाँ पर यह समझना चाहिये कि वाक्य जब गुणव्यञ्जक होंगे तब स्वीय अर्थ द्वारा ही, इससे वह अर्थगुण हुआ, वामनादि ने भी एक उदारता मानी है वह विकटस्वरूप है अतः वह शब्दगुण है।

भरत ने उदारता की यह परिभाषा की है–

'दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गारादद्भुतचेष्टितम्। अनेकभावसंयुक्तमुदारं तत् प्रकीर्तितम्'।

भोजराज ने कहा है–विकटाक्षरबन्धत्वमायेरौदार्थमुच्यते'।

'भूत्युत्कर्षमुदारता'।

इसमें पहला लक्षण शब्द–गुण–उदारता का है और दूसरा लक्षण अर्थगुण उदारता का। इस उदारता को अर्वाचीन आचार्यगण गुणरूप में नहीं मानते, उनका आरोप है कि शब्दगुण उदारता का ओज में अन्तर्भाव होता है और अर्थगुण उदारता अग्राम्यतारोषाभाव स्वरूप है।।७६।।

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्। तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते।। ७७।।

इति त्यागस्य वाक्येस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते। अनेनैव पथान्यच्च समानन्यायमूह्यताम्।। ७८।।

पूर्वोक्तलक्षणमौदार्थं दृष्टान्तेन विशदयति–अर्थिनामिति। हे देव महाराज, अर्थिनां याचकानां कृपणा दीना दृष्टिः त्वन्मुखे सकृत् एकदा पतिता सती पुनः पश्चात् तदवस्था दीना भूत्वा अन्यस्य दात्रन्तरस्य मुखं नेक्षते न पश्यति, त्वयैव पूरिताभिलाषा दीना न याचनाय दात्रन्तरस्य मुखं नेक्षते न पश्यति, त्वयैव पूरिताभिलाषा दीना न याचनाय दात्रन्तरमुपसर्पन्तीत्यर्थः, एवमत्रोदाहरणे लक्षणसङ्गमायाह–इतीति। इति एवं वाक्येऽस्मिन् पूर्वोक्ते श्लोकंवाक्ये त्यागस्य दानस्योत्कर्षः साधु स्फुटं लक्ष्यते, एवमेव क्वचिदन्यस्य बलरूपादेरप्युत्कर्षप्रतीता वुदारत्वं शक्यसंभवमिति बोधयति–अनेनैवेति। अनेनैव त्यागोत्कर्षदर्शनसजातीयेन यथा प्रकारेण समानन्यायम् एतत्तुल्यम् उदाहरणान्तरम् ऊह्यताम् तर्क्यताम्।। ७७–७८।।

हिन्दी – पूर्वोक्तलक्षण उदारता का उदाहरण तथा उसका संगमन इन दो श्लोकों द्वारा किया गया है। जो याचक दीनभाव से एक बार आपका मुख देख लेता है उसे फिर कभी किसी का मुख याचक के रूप में नहीं देखना पड़ता। आप उसे इतना धन दे देते हैं

कि उसकी आर्थिक दीनता दूर हो जाती है। यही है इसका अर्थ। इस श्लोक में राजा के दान का उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है अतः उदारता गुण है, इसी तरह अन्यान्य वस्तुओं के उत्कर्षप्रतिपादन होने पर भी उदारता गुण होगा।। ७७–७८।।

श्लाध्यैर्विशेषणर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते। यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः।। ७६।।

स्वाभिमतमुदारतालक्षणं निरुच्य सम्प्रति परकीयं तल्लक्षणोदाहरणादि बोधयति–श्लाध्यैरिति। इदमग्निपुराणीयस्य लक्षणस्य कीर्त्तनम्, तत्र हि–'उत्तानपदतौदार्यं युतं श्लाध्यैविशेषणैः' इत्युक्तम्। तदुदाहरणं यथा–लीलाम्बुजेति। अत्र लीलाम्बुजपदेनाम्बुजे लीलेति विशेषणेन वर्णाकारसौर– भातिशयशालित्वम्, क्रीडासरःपदे सरसः क्रीडाविशेषणेन कमलसारसविहारनौकासनाथत्वम्, एवम् हेमाङ्गदपदस्यहेमपदेन रत्नखचितत्वं प्रतीयते, एवमेव मणिनूपुर–रत्नकाञ्ची– कनककुण्डलादिपदेषु।। ७६।।

हिन्दी – दण्डी स्वाभिमत उदारतालक्षण बता कर अब अग्निपुराणोक्त उदारतालक्षण प्रदर्शित करते हैं। श्लाघ्य विशेषणों से युक्त वस्तु को उदार कहा जाता है, जैसे लीलाम्बुजादि। यहाँ अम्बुज मे लीलाविशेषण लगाने से उसके आकार–वर्ण–सौरभ आदि गुणों का उत्कर्ष प्रतीत होता है, इसी तरह क्रीड़ासर, हेमांगद आदि पदों में भी।। ७६।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्। पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्।। ८०।।

ओजोगुणं निरूपयति–ओज इति। समसनम् द्वयोर्बहूनां वा पदानाम् एकपदत्वप्राप्तिः समासः समासभूयस्त्वम् समासबाहुल्यम् ओजो नाम गुणः, बहुपदसमास ओज इत्यर्थ, एतत् समासभूयत्स्वम् गद्यस्य जीवितम् प्राणस्वरूपम्, अस्मिन्हि सति गद्यमतीव स्वदते इत्यर्थः अदाक्षिणात्यानां पौरस्त्यानां गौडानाम पद्येऽपि इदं समासबाहुल्यम् एकं परायणम् अवलम्बनम्। गौडीवैदर्भाश्चोभयेऽपि ओजागुणमादियन्ते नात्र तयोर्वैमत्यम , तत्र गौडा गद्ये पद्ये च समानभावेनौजः समादियन्ते, वैदर्भास्तु गद्यमेवौजसा भूषणीयं जीवनीयं च मन्यन्त इति विशेषो बोध्यः।। ८०।।

हिन्दी – समास की बहुलता होने पर ओज गुण माना जाता है। इस गुण के सम्बन्ध में गौड वैदर्भ सम्प्रदायों में सहमति है, गौड सम्प्रदाय इसे मानने वाले हैं, अन्तर इतना ही है कि वैदर्भ लोग ओजगुण को गद्यमात्र का जीवन कहते हैं और गौड सम्प्रदाय गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचना के लिये इसे समान रूप से अवलम्बन मानते हैं। समास शब्दगत वस्तु है, अतः यह ओज शब्दगुण है, ऐसा दण्डी का मत प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने 'समासभूयस्त्वम् ओजः' यही लक्षण कहा है।

वामन ने 'अर्थस्य प्रौढिः ओजः ऐसा लक्षण करके अर्थगत ओज भी माना है। उन्होंने इसे पाँच प्रकार का बताया है। शब्दगत ओज का लक्षण वामन ने 'गाढबन्धत्वमोजः' कहा है।

भोजराज, वाग्भट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने भी ओज को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर लक्षण–उदाहरण दिये हैं।

काव्यप्रकाशकार ने–'ओजश्चित्तस्य विस्तारारूपदीप्तत्वजनकम्' ऐसा लक्षण किया है, और 'वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु' स्वीकार किया है, तदनुसार तीन उदाहरण भी दिये जाते हैं। विश्वनाथ कविराज ने भी उन्हीं के पदचिन्ह का अनुसरण किया है। ८०।।

तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्यात्पत्वमिश्रणैः। उच्चावचप्रकारं तद् दृश्याख्यायिकादिषु।। ८१।।

तत् ओजः गुरूणाम् दीर्घवर्णानाम् लघूनाम् ह्रस्चवर्णानां च बाहुल्येन आधिक्येन अल्पत्वेन न्यूनत्वेन मिश्रणेन उभयविधवर्णसाङ्कर्येण च त्रिधा भवति, क्वचित् दीर्घा एव वर्णा भूयांसः, क्वचिच्च लघव एव तथा क्वचिच्च तयोर्मिश्रणं तदेवमिदमोज उच्चावचप्रकारं नानाविधं तच्च आख्यायिकादिषु गद्यप्रबन्धेषु दृश्यम् द्रष्टव्यम्। अत्रादिपदं चम्पूविरुदादिगद्यप्रचुरग्रन्थसंग्राहकम्।। ८१।।

हिन्दी – पूर्वोक्त ओज गुण नानाप्रकार के होते हैं, कहीं गुरु वर्णो की बहुलता होती है, कही लघु वर्णों की बहुलता होती है और कही दोनों प्रकार के वर्णों की मिलावट होती है, इस प्रकार से अवान्तर भेदों के होने के कारण ओज अनेक प्रकार का होता है। ओज गुण का विशेष प्रयोग आख्यायिका, विरुद, चम्पू वगैरह गद्यप्रचुरग्रन्थों में देखने को मिलता है।। ८१।।

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा। पीनस्तनस्थितताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी।। ८२।।

इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः। अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।। ८३।।

पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका। कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति।। ८४।।

अस्तम् अस्ताचलस्तस्य मस्तके शिखरदेशे पर्यस्ताः व्याप्ताः प्रसृता ये समस्ता अर्कांशवः सायंकालिकसूर्यकिरणाः तैः संस्तरः आच्छादनं यस्याः सा तादृशी वारुणी पश्चिमाशा पीनः पुष्टो यः स्तनस्तस्मिन् स्थितम् आताम्रम् ईषल्लोहितम् कम्रम् सुन्दरम् च वस्त्रं यस्याः सा तादृशी इव भातीति शेषः। पश्चिमाशायाः वर्णनमिदम्; सन्ध्याकाले सूर्यस्य रक्ताभाः किरणाः पश्चिमाचलशिखरे प्रसरन्ति, मन्ये वारुणा

दिशा नायिका पीनस्तनभागे रक्तं वस्त्रमिव धारयति इत्याशयः। अनुप्रासपूर्णतया गौडा इदमोजस उदाहरणं मन्यन्ते। इति एवम् पद्येऽपि पौरस्त्या गौडा ओजस्विनीः ओजोगुणयुताः गिरः बध्नन्ति प्रयुञ्जते, अनुप्रासरसिका गौडा ओजोगुणं पद्येऽप्यादियन्त इत्यर्थः। अन्ये वैदर्भास्तु गिराम् वाचाम् अनाकुलम् अनाकुलत्वम् सुखोच्चार्यत्वम् हृद्यम् मनोहरम् ओजः ओजोगुणम् इच्छन्ति। तदुदाहरणम्–पयोधरेति। पयोधरो मेद्य एव पयोधरस्तनस्तस्य तटं प्रान्तदेशस्तदुत्सङ्गे मध्यभागे लग्नें सन्ध्यातपः सायंकालिकसूर्यकिरणा एव अंशुकं रक्तवासो यस्याः सा एतादृशी वारुणी, पश्चिमदिशा नायिका कस्य जनस्य चेतो हृदयं कामातुरम् अनङ्गपीडायुतं न करिष्यति सर्वमपि जनं कामातुरं करिष्यतीत्यर्थः। अत्र यद्यपि ओजोगुणायापेक्षितः समासोऽस्ति, परन्तु पूर्वोदाहरण इव क्लिष्टपदं नास्तीति वैदर्भा अभिमन्यन्ते। इदमत्र बोध्यम्–अयमोजोगुणो गौडवैदर्भयोरुभयोरपि सम्प्रदाययोरिष्टः, परं गौडसम्प्रदायानुगामिनोऽनुप्रासलोभात् कष्टपदबहुलसमासविन्यासने श्रोतृणां बुद्धीर्व्यामोहयन्ति, वैदर्भास्तु बन्धपारूष्यशैथिल्यादिदोषपरिहारेण प्रसन्नार्थकपदानां समासेन बुद्धीः प्रसादयन्ति, समासभूयस्त्वमुभयोः समानम्, परन्तु कष्टत्वसारल्यमात्रे भेद इति ।। ८२–८४।।

हिन्दी – सूर्य के समस्त किरणजाल से आच्छादित अस्ताचल पर बिखरी हुई शोभा से युक्त पश्चिम दिशा उस नायिका के समान मालूम पड़ रही थी, जिसने रक्त वस्त्र से अपने पीन कुचों को आच्छादित कर लिया हो। इस प्रकार से गौड लोग पद्य में भी ओजोगुणयुक्त वाणी का प्रयोग करते हैं, वैदर्भसम्प्रदायवाले वाणी में ओजगुण तभी पसन्द करते हैं जब वह स्पष्टार्थ तथा सरलतया हृदयगाहिणी होती है। सन्ध्याकालिक सूर्य के किरणजाल से बादलों के तटों (स्तनों के ऊपरी भाग) को आच्छादित कर पश्चिम दिशा (बाला) किसके मन को कामातुर नहीं कर देगी।। ८२–८४।।

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।। ८५।।

लौकिकस्य लोकप्रसिद्धस्यार्थस्य वस्तुनः अनतिक्रमात् अपरित्यागात् सर्वजगत्कान्तम् सर्वप्रियम् आपामरप्रसिद्धार्थोपनिबन्धनात् सर्वजनहृद्यं वाक्यम् कान्तं कान्तिनामकगुणयुतम, एवं च लोकप्रसिद्धार्थवर्णनं कान्तिरिति फलितम्। अयं च कान्तिगुणः आचार्यदण्डिमतेनार्थगुणः, अर्थानुसन्धानतः पूर्वमस्यानुदयात् तच्च कान्तिगुणोपेतं वाक्यं वार्त्ताभिधानेषु लौकिकोपचारवचनप्रयोगेषु तथा वर्णनासु प्रशंसापरकवाक्येषु च दृश्यते।। ८५।।

हिन्दी – लोकप्रसिद्ध वस्तु का अतिक्रमण–त्याग–नही करने के कारण जो सर्वलोकप्रिय हो, आपामरप्रसिद्ध अर्थ के प्रयोग से जो सबको अच्छा लगे, उसे कान्त अर्थात् कान्तिगुणयुक्त मानते हैं, इस गुण की अधिकता लौकिक उपचार में–प्रशंसापरक वचनों में मिलती है। आचार्य दण्डी ने कान्ति को–कान्ति गुण को–अर्थगुण स्वीकार किया है क्योंकि अर्थानुसन्धानहोने पर ही उसकी सर्वहृद्यता प्रतीत होगी।

भरत ने कान्ति का लक्षण यह कहा है–

यन्मनःश्रीत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत। लीलाद्यर्योपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः।।

इसका उदाहरण हेमचन्द्र ने दिया है–

ददृशुर्द्वारदेशस्थां सीतां वल्कलधारिणीम्। अङ्गदाहादनङ्गस्य रतिं प्रव्रजितामिव।।

वामनोक्त कान्तिलक्षण यह है–

ओज्ज्वल्यं कान्तिः, औज्ज्वल्यं नाम नवप्रतिभप्रकर्षः, यदभावे, पुराणीबन्धछायेयमिति व्यपदिशन्ति।

भोजराजने–'यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते'। कान्ति का इस प्रकार लक्षण कर के यह उदाहरण दिया है–

'निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालवकुले न साले सालम्बो लवमपि लवङ्गे न रमते।
प्रियङ्गौ नासङ्गं रचयति न चूते विचरति स्मरलक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः।।

काव्यप्रकाशकार ने कान्ति गुण को ग्राम्यत्वदोषाभावरूप माना है, इसे पृथक् गुण नहीं स्वीकार किया।

पण्डितराज ने– 'अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः' ऐसा लक्षण कहा है और यह उदाहरण दिया है–

'नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशालानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम्।।

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवांदृशः। संभावयति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः।। ८६।।

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः। अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे।। ८७।।

इति सम्भाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्। कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः।। ८८।।

तानि एव गृहाणि गृहपदवाच्यानि प्रशस्तानि गृहाणि, भवादृशो युष्मत्सदृशः तपोराशिः तपस्वी यानि गृहाणि पावन पवित्रतासम्पादक पादपांसुभिः चरणरजोभिः संभावयति आदरभाजनं करोति, यत्र भवादृशस्य तपस्विनः पद्धूलिः पतति तान्येव गृहाणि धन्यानि तदितरगृहाणि त्वधन्यानि तादृशसौभाग्यभाजनत्वाभावादिति भावः। अत्र सत्पुरुषचरणसम्पर्केण गृहाणां प्राशस्त्यवर्णनं लोकप्रसिद्धमेवेतीय वार्त्ताभिधानरूपः कान्तिः। वर्णनारूपा कान्तिमुदाहरति–अनयोरिति। हे अनवद्याङ्गि, सर्वानिन्द्यतनो सुन्दरि, तव बाहुलतान्तरे हस्तद्वयस्य मध्य वक्षोदेशे जृम्भमाणयोः वर्धमानयोः स्तनयोः कुचयो अवकाशः स्थानम् न पर्याप्तः न अलम्, विशालयोः कुचयोरवस्थान योग्य स्थान नास्ति तव वक्षसि तेन तदौन्नत्यविशालत्वे व्यञ्जिते। अत्र वर्णनायांकान्तिगुणः।

इति एतत्पूर्वदर्शितं स्थलद्वयम् वार्त्ताविषयं वर्णनाविषयं चोदाहरणद्वयम् सम्भाव्यम् लोकप्रसिद्धतयासभवदुक्तिकम न कविप्रतिभामात्रकल्पितम्, तदेवेदं स्वतःसम्भवि विशेषाख्यानसंस्कृतम् विशिष्टप्रकारकथनेन संस्कृतम् उपश्लोकितं रञ्जितं सत् सर्वस्य लोक यात्रानुवर्तिनः लोकव्यवहारनिपुणस्य जनस्य कान्तं रमणीयं भवति, वार्त्तावर्णनयोः करणीययोः केवलं सामान्यपदप्रयोगेण कथने सति न कान्तिगुणः, अपितु विशिष्टवर्णनात्मकप्रकारेणैव कान्तिगुण इति भावः।। ८६–८८।।

हिन्दी – वास्तव में वे ही गृह गृह हैं–सौभाग्यशाली गृह हैं–जिन गृहों को आपके समान तपस्वी जन अपने चरण की धूलि से गौरवशाली बनाते हैं। इस श्लोक में सत्पुरुषचरणधुलि से गृह की सौभाग्यशालिता का वर्णन किया गया है, जो लोकव्यवहारप्रसिद्ध है अत यहां पर वार्त्तानिधानरूप कान्ति गुण है। दूसरा उदाहरण देते हैं–हे अनिन्धसर्वावयवे सुन्दरि ! इन तेरे दोनों बढ़ते हुए स्तनों के लिये जल के समान तेरे दोनों हाथों के मध्यभाग में वक्षःस्थल पर पर्याप्त स्थान नहीं है, इन उभरे हुए कुचों के लिये जितना स्थान पर्याप्त रूप में अपेक्षित है, उतना लम्बा चौड़ा तुम्हारा वक्षःस्थल नहीं है। इस वर्णन से लौकिक अर्थ को बढ़ाकर कहा गया है, अत कान्त गुण है। इन दोनों उदाहरणों में जो बात कही गई है वह संभाव्य है–संभवदुक्तिक है, कहा जा सकता है, उसी की विशिष्ट प्रकार वर्णन प्रशंसा के लिये कहने के कारण रोचक हो गया है, अतः इस तरह का कथन लोकव्यवहारनिष्णात जन के लिए हृद्य होता है। ८६–८८।।

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः। योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः।। ८९।।

देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम्। युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकिल्बिषम्।। ९०।।

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा। इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम्।। ९१।।

इदमवत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम्। प्रस्थानंप्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः।। ९२।।

अत्यर्थम् लोकातीतः अत्यन्तं लोकसिद्धिमतिक्रान्त इव योऽर्थः अध्यारोप्य कवि प्रतिभया कल्पितः सन् विवक्षितः वक्तमिष्टो भवति य कमपि कल्पनामात्रनिष्पभस्वरूपं वस्तुविशेषम् कवयो विवक्षन्ति, तेन तादृशेन कल्पितार्थेन विदग्धाः चतुरा गौडा एव अतितुष्यन्ति नेतरे प्रीतिमावहन्ति, इतरे जनाः वैदर्भाः न, अतितुष्यन्तीत्यर्थः। लोकप्रसिद्धिमतिक्रम्य स्थितेन कविकल्पितेनार्थेन केवलं गौडा एव सन्तुष्यन्ति, न वैदर्भाः, सेयं वस्तुस्थितिः। तत्र कान्तिगुणप्रकमे कविप्रतिभामात्रकल्पितेऽर्थे वार्त्ताप्रशंसयोरूदाहरणद्वयं दर्शयति– देवाधिष्ण्यमिवेति अल्पमिति च। अद्यप्रभृति अद्यारभ्य युष्मत्पादरजसां भवच्चरणधूलीनाम् पातेन पतनेन धौतं क्षालितं निःशेषं किल्बिषं सकलं पातकं यस्यतादृशम् नो गृहम् अस्मदीयमागारम् देवधिष्यम् देवमन्दिरमिव आराध्यम् अजायतेति शेषः, यथा देवागारं लोका बहवाद्रियन्त तथैव भवच्चरणधूलिपतनसञ्जातपातकनिवृतीदं मम गृहं लोका बहुमानेन संभावयिष्यन्तीत्यर्थः। अत्र हि कविकल्पित वस्तुना लोकप्रसिद्धिरतिक्रम्यते, लोके हि सत्पुरुषचरणरजःसंपर्केण गृहस्य पवित्रतैव प्रसिद्धा नैव देवागारवदाराध्यताः सा तु तत्र कविनाऽध्यारोपिता अत्र लौकिकार्थातिक्रमान्नेयं वैदर्भाणां मते कान्तिः, किन्तु गौड़ा इमा कान्तिमाहुः। वर्णनायां गौडाः मिमतां कान्तिमाह–भवत्या इद पुरतो दृश्यम् स्तनजृम्भणम् कुचकलशविकासः एवंविधम् समस्ताकाशव्यापकम् भावि भविष्यत् अनालोच्य मनसाऽप्यचिन्तयित्वा वेधसा ब्रह्मणा आकाशम् अल्पम स्वल्पविस्तारम् निर्मितम्। यस्मिन्नाकाशाभोगे मेरुमन्दरादयोऽसंबाधमासते तत्रापि व्योमनि वर्द्धमानयोः स्तनशारवकाशाप्त्या ब्रह्मणा स्तनयोर्विस्तारमविचिन्तर्यवाल्पं व्योम निर्मितं, यदि भवदीययोः स्तनियोर्विस्तारं ब्रह्मा पूर्वमचिन्तयिष्यत्तद नेतादृशमल्पं व्योम निर्माय कृतित्वमाकलयिष्यदित्यर्थः।इदं वर्णनमतिशयोक्तिरूपम्, इदमपि गौडा एव कान्तात्वेनोदाहरन्ति, न वैदर्भा इति बाध्यन एव गौडवैदर्भयोः कान्तिविषयं सिद्धान्तभेदं निरूपयति–इदम् पूर्वोक्तस्वरूपं काव्यम् अत्युक्तिः अतिशयोक्तिरूपम् इत्युक्तम अलंकारशास्त्रनिष्णातै एतत् अतिशयोक्तिरूपतया स्वीकृतम्, एतत् गौडोपलालितम् गौडैः कान्तिगुणत्वेनाभ्युपेतम्, प्राक् प्रणीतं पूर्वोक्तम्–कान्तं सर्वजगत्कान्तमित्यादिना पूर्वं निरूपितम् प्रस्थानं मार्गः अन्यस्य वर्त्मनः गौडभिन्नस्य वैदर्भसम्प्रदायस्येत्यर्थः।।८९–९२।।

हिन्दी – जिस काव्य में लोकातीत–लोकप्रसिद्धि से बाहर के अर्थ कविकल्पना द्वारा अध्यारोपित होकर प्रयुक्त हों, उससे विदग्ध–चतुर गौड़ लोग ही अतिशय सन्तोष का अनुभव करते हैं, वैदर्भ लोग नहीं। वार्ता–लोकोपचार–विषय में या प्रशंसा–विषय में जहां पर लोकप्रसिद्धि को छोड़कर कविगण अतिरंजन से काम लेते है, वैसे काव्य से अपने को अत्यधिक बुद्धिमान समझने वाले–विदग्ध–गौड़ लोग ही संतुष्ट होते हैं, विदर्भमार्ग के अनुयायी नहीं। गौड़ाभिमत कान्ति गुण के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, उनमें पहला उदाहरण लोकोपचार का तथा द्वितीय उदाहरण वर्णना का है।

हमारा गृह आज से देव स्थान के समान सर्वपूज्य हो गया, क्योंकि आपके पदरज के गिरने से इस घर का समस्त पाप धुल गया है। हे सर्वानवद्यगात्रे, आपके स्तन इतने बड़े होंगे इस बात को नहीं ध्यान में रखा, अत एव ब्रह्मा ने आकाश को इतना छोटा बनाया, यदि ब्रह्मा की बुद्धि में आपके स्तनों के भावी विस्तार की बात आती, तो वह अवश्य इसको छोटा न बनाकर थोड़ा बड़ा बनाते।

यह अत्युक्ति है, अतिशयोक्ति है, जो गौड लोगो को अधिक प्रिय है, इससे पूर्व में–'कान्तं सर्वजगत्कान्तम्' इत्यादि द्वारा जो सोदाहरण कान्तिगुण बताया है वह विदर्भ संप्रदाय का सार है।। ८९–६२।।

अन्यधर्मस्तलोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा।। ६३।।

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च। इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः।। ६४।।

समाधि नाम गुणं लक्षयति–अन्यधर्म इति। लोकसीमानुरोधिना लौकिकमर्यादापालनजाकरूकेण कविना अन्यधर्म अप्रस्तुतगतो गुणः ततोऽन्यगत्रार्थात् प्रस्तुते यत्र वाक्यार्थे सम्यग् आधीयते साध्यवसानलक्षणया प्रत्यारूयते सः समाधिर्नाम गुणः स्मृतः आचार्यैः कथितः। इत्थं च प्रस्तुतस्य धर्मं तिरोधाय तत्र सदृशतया अप्रस्तुतधर्मस्य तादात्म्याध्यवसानं समाधिरिति फलितोऽर्थः। अयं समाधिरर्थगुणः, अर्थ अर्थान्तरारोपात्। उदाहरणमाह–कुमुदानीति। कुमुदानि स्वनामख्यातानि पुष्पाणि निमीलन्ति सङ्कुचन्ति, कमलानि सरोजानि च उन्मिषन्ति विकसन्ति। इति अनयोःवाक्ययोर्नेत्रक्रिययोः निमीलनोन्मीलनयोः संकोचविकासरूपचोरर्थसात् आरोपात् तद्वाचिनि श्रुतिः तत्प्रतिपाद्यता तच्छब्दवाच्यता लब्धा, अयमाशयः–निमीलनोन्मीलने नयनधर्मौ, कुमुदसङ्कोचकमलविकासयोः रूपचर्येते, प्रतिपाद्ययोर्निमीलनोन्मीलनशब्दावुचार्यमाणौ सादृश्यातिशय महिम्नासङ्कोचकमलविकासयोः सादृश्यमूलकमेव च तयोरेकशब्दप्रतिपाद्यत्वम्, तद्वाचिनी श्रुतिः तच्छब्दवाच्यता।। ६३–६४।।

हिन्दी – लोकसीमा के पालन में तत्पर कवि द्वारा जब अप्रस्तुत वस्तु के धर्म प्रस्तुत वस्तु पर आरोपित किये जाते हैं तब उसको समाधि गुण कहते हैं। यह अर्थगुण है क्योंकि एक अर्थ पर दूसरा अर्थ आरोपित होता है। वामन आदि ने आरोहावरोहक्रमरूप समाधिको शब्दगुण स्वीकार किया है। अन्यान्य आचार्यों के लक्षण उदाहरण निम्नलिखित हैं–

भरत–

'अभियुक्तैर्विशेषवस्तु योऽर्थस्यैवोपलभ्यते। तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते।।'

भोजराज–'समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।।

उदाहरण–

प्रतीच्छत्याशोकी किसलयपरावृत्तिमधरः कपोलः पाण्डुत्वादवतरति तालीपरिणतिम्।

परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनीम्, इतीयं माधुर्यं स्पृशति न तनुत्वं च भजते।।

यहाँ पर प्रतीच्छति, अवतरति, अनुवदति, इत्यादि चेतनक्रियाओं का अचेतन अधरादि पर आरोप किया गया है, अतः समाधि गुण है।

वाग्भट––'अन्यस्य धर्मो यत्रान्यत्रारोप्यते स समाधिः।।

पण्डितराज जगन्नाथ ने समाधि को अर्थगुण नहीं मानकर एक विचित्र लक्षण बता दिया है जिससे यह कविता का नहीं कवि का गुण हो जाता है, उनका लक्षण है–'अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः' 'समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं, न तु गुणः, प्रतिभाया अपि काव्यगुणात्वापतेः;'।

आचार्य दण्डी ने जिसे अर्थगुण कहा है उस समाधि का उदाहरण दिया है–कुनुदिनीति। कुमुदिनी बन्द हो रही है (निमीलित संकुचित हो रही है) और कमल खुल रहे है। इसमें आँख की क्रियाओं का कुमुदिनी एवं कमल की क्रियाओं पर आरोप किया गया है, इसलिए इसी क्रिया को प्रकट करने वाले शब्द प्रयुक्त हुए हैं।। ६३–६४।।

निष्ठयूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।। ६५।।

पदमान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः। भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः।। ६६।।

इति हृद्यमहृद्यं त निष्ठ्यूति वधूरिति।

इतः पूर्वं समाधिगुणप्रस्तावे साध्यवसानलक्षणयाऽन्यदीयधर्मस्यान्यत्रारोपो भवतीत्युक्तम्, तत्रसङ्गेन कानिचित्पदानि गौणवृत्त्यैव शोभातिशयं वहन्ति, नतु मुख्यवृत्त्येत्यभिधातुमाह–निष्ठयूतेत्यादि। निष्ठयूतोद्गीर्णवान्तादि निष्ठयूतम् उद्गीर्णम् वान्तम् इत्यादि पदम् गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् लाक्षणिकम् लक्षणावृत्त्याश्रयम् एवं सत् अतिसुन्दरम् सहृदयमनोहरम् अन्यत्र मुख्यया वृत्त्या प्रयुक्तत्वे तु ग्राम्यकक्षां विगाहत ग्राम्यत्वदोषभूयं भवतीत्यर्थः। उदाहरणमाह–पदमनि कमलानि अर्काशनिष्ठयूता–सूर्यकरक्षिप्ताः पावकविप्रुषः बहिस्फुलिङ्गान् पीत्वा उद्गीर्णारुणरेणुभि बहिस्त्यक्तरक्तपरागैः भूयो वमन्तीव। सांध्यपवनकम्पितस्खलत्परागपद्मवर्णनमिदम्। सूर्यनिष्ठयूताग्निकणपायिना जलजसमूह स्खलत्परागतया उद्गीर्णारुणकेणुभिर्मुखैः पुनरपि पीतपूर्वान अग्निकणामन् वमन्तीवेति भावः। अत्र निष्ठयूत पदं बहिःक्षिप्ते। ग्रहणे वमतिक्रिया बहिःक्षेपे, उद्गीर्णपदं निर्गमे, एवमेतानि पदानि लाक्षणिकानि। इति हृद्यम् एतत् सहृदयमनोहरम्, ग्राम्यकक्षविगाहितयाऽहृद्य तु यथा निष्ठीवति वधूरिति। निष्ठयूतंपदं तथान्यदपि च तादृशं पदं लाक्षणिकत्वे सति चमत्कारातिशयं पुष्णाति। तथा प्रयुक्त महाकविसुबन्धुना–'अविदितगुणाऽपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्'। तथा चैतानि निष्ठ्यूतादिपदानि लक्षणायाकृतायस्यव शोभातिशयं पुष्यन्ति इति प्रतिज्ञातं समर्थितम्।। ६५–६६।।

हिन्दी – कमल सूर्य की किरणों से थूके हुए अग्निकणों का पान करके अपने मुखों से लाल परागरेणुओं को निकालते हुए ऐसे लग पड़ते हैं, मानो वमन कर रहे हों।

इस श्लोक में सान्ध्य पवन से कम्पित तथा परागपाती कमल का वर्णन किया गया है। यहाँ निष्ठयूत पद का मुख्यार्थ है थूकना, लक्ष्यार्थ निकलना, वमन्ति का मुख्यार्थ–वमन करना, लक्ष्यार्थ बाहर निकालना, उद्गीर्ण का मुख्यार्थ उगलना, लक्ष्यार्थ गिराना है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि थूकना, उगलना, वमन आदि शब्द यदि मुख्यार्थ छोड़कर गौण वृत्ति के द्वारा अन्यार्थ का बोध करावें तो सुन्दर होते हैं, लाक्षणिक प्रयोग हो जाने के कारण समाधि गुण के उद्भूत हो जाने से चमत्कारयुक्त हो जाते हैं, जैसे यहाँ पूर्वोक्त उदाहरण में, और यहाँ पर मुख्यार्थ में ही रहते हैं वहीं इन पदों के प्रयोग होने पर ग्राम्यत्व दोष होता है। ऐसा होने पर असुन्दर हो जाता है, जैसे वधूः निष्ठीवति।। ६५–६६।।

युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च स्मृतो यथा।। ६७।। गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपङ्क्तयः।

अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते।। ६८।। उत्सङ्गशयनं सख्याः स्तननं गौरवं क्लमः।

इतीमे गर्भिणीधर्मा बहवोऽप्यत्र दर्शिताः।। ६९।।

'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्रे' त्यादिकारिकया समाधिनार्म गुणो लक्षितः, तत्र किमेकधर्मारोप एव समाधिरुतानेकधर्मेऽपीति शङ्कायामाह–युगपदेति नैकधर्माणाम् अन्यदीयगुणक्रियारूपानेकधर्माणाम् युगपत् सहैव अध्यासः आरोपश्च समाधिः स्मृतः तथा चैकस्मिन्धर्मे आरोप्यमाण इवानेकस्मिन्नपि धर्म आरोप्यमाणे समाधिर्नाम गुणो भवतीति निष्कर्षः। तत्रैकधर्मारोपे समाधिरुदाहृतपूर्व सम्प्रति बहुधर्मारोपरूपसमाधिमुदाहरति–गुरुगर्भेति। गुर्व्यः एकत्र मेघमालायां जलेनापरत्र गर्भिण्यां गर्भभारेण च स्थूलाः, एवं गर्भभरेण अन्तर्गतजलन भ्रूणेन च क्लान्ताः मन्दीभूताः, स्यनन्त्यः शब्दायमानाः क्लान्तिसूचकशब्दं कुर्वत्यश्च, एतादृश्यो मेघपङ्क्तयः घनमाला इमा अचलाधि त्यकायाः पर्वतोर्ध्वदेशस्य (सख्याश्च) उत्सङ्गम क्रोडं समधिशेरते संश्रयन्ते, यथा गर्भिण्योऽङ्गना स्थूलोदराः क्लान्ता सशब्दाश्च सख्युत्सङ्गे शेरते, तथैव मेघमाला जलपूर्णा मन्दाः स्तनन्त्यश्च पर्वतोर्ध्वदेशमाश्रयन्तीति भावः। अत्र मेघपङ्क्तिषु तत्तद्धर्मनिगरणन बहूनां गौरवादीनां गर्भिणीधर्माणां युगपदध्यासात् समाधिनार्म गुणः। तदेवोपपादयति–उत्सङ्गेति। 'सख्या उत्सङ्गे शयन स्तनन गौरव क्लमः' इतीमे बहवो गर्भिणीधर्मा दर्शिताः आर्येण मेघमालायां कथिताः। स्तननादेर्गर्भिणीधर्मत्वमाह वाग्भटः–

क्षामता गरिमा कुक्षौ मूर्च्छा छर्दिररोचकम्।

जृम्भाप्रसेकः.....।। इत्यादि।। (शारीरस्थाने १.५०)

अब स्तनितशब्दः सामान्यध्वनिपरो न मेघशब्दपरः, तथा सति तस्य गर्भिणीधर्मत्वाप्रसक्तेः।। ६७–६९।।

हिन्दी – पूर्वोक्त समाधिलक्षण में 'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र' इस प्रकार सामान्यतः अन्य धर्म कहा गया है, उसमें एक धर्म का अध्यास या अनेक धर्म का अध्यास हो यह बात स्पष्ट नहीं कही गई है। उसी को स्पष्ट करते हैं–युगपदिति। अनेक धर्मों का एक साथ आरोप भी समाधि नामक गुण है। उसका उदाहरण–गुरुगर्भेति। यह मेघमाल भारी जल से मन्दीभूत होकर गरजती है। और अचलाधित्यकाओं

(सखी) की गोद में सोती है। इस श्लोक में सखी की गोद में सोना, शब्द करना, मन्दता, गौरव आदि अनेक गर्भिणीधर्मो का मेघमाला में आरोप किया गया है। यद्यपि–'स्तनितमणितादि सुरते' इत्यादि (गर्भभार) इस अमर के अनुसार स्तनित का अर्थ सुरत शब्द ही होता है तथापि यहां पर 'आर्तस्तनितसंनादे रुधिराम्बुह्रदाकुले इत्यादि हरिवंशस्थ प्रयोग के देखने से स्तनित शब्द सामान्य ध्वनि में प्रयुक्त हुआ है। ६७–६६।।

तदेतत्काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुणः। कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनममुगच्छति।। १००।।

समाधिं प्रशंसन् गुणनिरूपणमुपसंहरति–तत्तस्मात् प्रोक्तदिशा काव्यचमत्कृतिजननात् समाधिर्नाम यो गुणः पूर्वमुक्तः एतत् काव्यसर्वस्वम् काव्ये जीवस्वरूपतयाऽवश्यमपेक्षणीयम्। तमेनं समाधिं समग्रोऽखिलोऽपि गौडवैदर्भसम्प्रदायविभक्तः कविसार्थः कविगणः एनम् समाधिम् अनुगच्छति आद्रियते, साखिनिवेशं स्वकाव्येषु योजयितुं यतते।। १००।।

हिन्दी – इस प्रकार वर्णित यह समाधि गुण काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के कारण काव्य का जीवन है, अतः अवश्य उपादेय है, गौड़ एवं वैदर्भ दोनों सम्प्रदायों के अनुगामी कविगण इसे अपनाते हैं।

गुण के सम्बन्ध में प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों में काफी मतभेद है। प्राचीन वामनाद्याचार्यो ने–

'श्लेष प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः'। इन दश अर्थगुणों को तथा इसी नाम वाले दश शब्द गुणों को स्वीकार करते हैं। सबके अलग अलग लक्षण उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं।

मम्मट आदि नवीन आचार्यों ने इन बीस गुणों की जगह पर केवल तीन गुण माने हैं। उनका कहना है कि–

'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः। अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।–

इस प्रकार मम्मट ने शब्दगुणों को अस्वीकृत कर दिया है, उन्होंने–श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि नामक चार शब्दगुणों को ओजोव्यञ्जक घटना में अन्तर्भूत बताया है। माधुर्य को व्यंग्यमाधुर्य गुणव्यंजक रचनास्वरूप ही कहा है। समता को जो मार्गभेदस्वरूप है, उसे अनवीकृतत्व स्वरूप दोष बताया है। कान्ति और सुकुमारता को ग्राम्यत्व और कष्टत्वरूप दोषाभावस्वरूप कहा है, एवं अर्थव्यक्ति नामक गुण को प्रसाद में अन्तर्भूत बताया है। इस प्रकार प्राचीनोक्त दश गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद नामक स्वाभित, गुणत्रय में अन्तर्भाव बताया गया है, 'माधुर्योजः प्रसादाख्यात्रयस्ते न पुनर्दश'। यह हुआ शब्दगत दस गुणों का विवेचन।

अर्थगत दस गुणों का भी इस प्रकार अन्तर्भाव किया गया है –

श्लेष तथा ओजोगुण प्राचीनोक्त चार भेद वैचित्र्यमात्र हैं, अतः उन्हें गुण नहीं मानना चाहिये।

प्रसादगुण अधिकपदस्वरूप.दोषाभावस्वरूप है।

माधुर्य उक्तिवैचित्र्यमात्र है। इसे अनवीकृतत्वरूप दोषाभावस्वरूप कहा गया है।

सुकुमारता अमंगलरूपाश्लीलत्वदोषाभाव रूप है।

उदारता ग्राम्यत्वरूप दोषाभावस्वरूप है।

समता भग्नप्रक्रमत्वरूप दोषाभावस्वरूप है।

साभिप्रायविशेषणत्वरूप ओज का पञ्चम प्रकार अपुष्टार्थत्वरूप दोषाभाव स्वरूप है।

अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति नामक अलंकार में अन्तर्भाव होता है।

कान्ति को रसध्वनिरूप या रसवदलंकार रूप माना है।

समाधिको कवि का गुण माना गया है, काव्यगुण नहीं।

इस प्रकार दशविध अर्थगुणों की भी विवेचना की गई है। फलतः तीन–माधुर्योजःप्रसाद नामक गुण ही अर्थगत हैं। दण्डी ने अपना विचार भरत के अनुसार कायम रखा है।। १००।।

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्। तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।। १०१।।

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते।। १०२।।

इति प्रागुक्तप्रकारेण तयोः गौडवैदर्भमार्गयोः स्वरूपस्य असाधारणधर्मस्य निरूपणात्–'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।' इत्यादिना भिन्नतया प्रतिपादनात् मार्गद्वयं गौडवैदर्भप्रस्थानद्वयम, भिन्नम् अत्यन्तविसदृशम्।

प्रतिकविस्थिताः तद्भेदा तयोर्गौडवैदर्भ मार्गयोरवान्तरप्रकाराआवन्तिकीलाटीमागध्यादय वक्तु न शक्यन्त तयोर्मार्गयोरवान्तरमेवेऽशक्यनिरूपमस्तत्र कारणं दृष्टान्तेन विशदयति–इक्षुक्षीरेति। इक्षु, क्षीर पयःगुड, इक्षुविकार खादानीन इक्षुक्षीरगुडशर्कराखर्जूरप्रभृति मधुरपादार्थाना माधुर्यस्य मधुरताया अन्तरम् परस्परतारतम्यं महदस्ति, तथापि सत्यपि माधुर्यभद यथा तदीयोऽवान्तर भेदः सरस्वत्या वाचामधिष्ठात्र्याऽपि आख्यातुं वक्तुं न शक्यते तथैव गौडवैदर्भसम्प्रदाययोविद्यमानाना लाटीमागध्यादीन प्रभेदविशेषाणां विशिष्टं भेदतारतम्यं वक्तुमशक्यमिति भावः।। १०१–१०२।।

हिन्दी – इस प्रकार परस्पर भिन्न दो मार्ग–सम्प्रदाय चलते आ रहे हैं, इनके स्वरूप का निरूपण कर दिया गया. इनमें अवान्तर प्रभेद कविभेद से अनन्त है, उनका वर्णन असंभव है।

जिस प्रकार ईख, दूध एवं गुड़ में वर्त्तमान माधुर्य में अन्तर है, यह अन्तर महान है, परन्तु उसका वर्णन सरस्वती भी नही कर सकती उसी प्रकार गौडवैदर्भ–सम्प्रदायान्तर्गत उपभेदों के बीच वर्तमान महान् भेद का वर्णन अशक्य है।। १०१–१०२।।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। १०३।।

एतावता ग्रन्थेन काव्यस्वरूपमभिधाय सम्प्रति तत्कारणमाह–नैसर्गिकीति।। नैसर्गिकी स्वभावसिद्धा पूर्वजन्मसस्कारासादिता प्रतिभ प्रज्ञा तथा संशयादिमलसम्पर्करहितम् बहु नानाशास्त्रविषयं परिशीलनं श्रुतम् शास्त्राभ्यसनम्, तानि च शास्त्राणि पदवाक्यप्रमाणसाहित्यच्छन्दोऽलङ्कार– श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमनाट्याभिधानकोशकामार्थयोगशास्त्रादिरूपाणीति परिगणितमाचार्यै तथा अमन्दः महान् अभियोगः काव्यविच्छिक्षया पुनः पुनः काव्यकरणप्रवृत्तिरित्येतत्त्रयं काव्यसंपदः काव्यसम्पत्तेः साधुकाव्यनिर्मित कारणम् कारणमित्येकवचनेन कारणताव्यासक्ता न तु प्रत्येकपर्याप्तेति बोधितम्।। १०३।।

हिन्दी – यहां तक सोपोद्घात काव्यस्वरूपवर्णन किया गया, अब इस कारिका से काव्य का कारण बताते हैं। पूर्वजन्मसंस्कारसादित प्रतिभा, नानाशास्त्रपरिशीलन और काव्य करने का सतत अभ्यास ये ही तीन वस्तु मिश्रित रूप में काव्य के प्रति कारण हैं। कारणपद में एकवचन विभक्ति समिलित कारणता की अभिव्यक्ति करती है। यहां पर अन्यान्य आचार्यो के मत में काव्यकारणत्व का जो विचार किया गया है वह भी संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। अतिप्राचीन आलंकारिक भामह ने कहा है–

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियाऽऽदरः'।।

इन शब्दो में भामह ने प्रतिभा, काव्यशिक्षा और विविध शास्त्रज्ञान को कारण माना है।

यहां इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि भामह ने प्रतिभा को प्राधान्य दिया है और काव्यज्ञशिक्षा तथा अभ्यास का सहायक माना है परन्तु दण्डी ने तीनों को समान भाव से कारण पद पर आसीन किया है।

वामन ने कहा है–'लोको विद्या प्रकीर्णञ्जेति काव्याङ्गानि'। 'लोकवृत्तं लोकः, शब्दस्मृत्यभिधान– कोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र दण्डनीतिपूर्वा विद्याः, लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवायेविक्षणं प्रतिभानमवधाननञ्च प्रकीर्णम्, कवित्वबीजं प्रतिभानम्, जन्मान्तरगतसंस्कारविशेष कश्चिद्, यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्'।

इस प्रकार वामन ने भामह के पक्ष में ही अपना साक्ष्य दिया है ऐसा प्रतीत होता है, रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में इस प्रकार कहा है

'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः'।

रुद्रट के इस वचन से काव्यप्रकाशकार के मत की पुष्टि होती है, काव्यप्रकाशकार ने कहा है

'शक्तिर्निपुणताः लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवेः।।'

इससे काव्यकारणता व्यासज्यवृत्त्या त्रितयगत है यह दण्डी का मत प्रकाशित किया जाता है।

पीयूषवर्षी जयदेव ने कहा है–

'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति। हेतुर्मुदम्बुसम्बद्धबीजव्यक्तिर्लतामिव'।।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य है कि त्रितयतकारणतावादी लोगों में दो सम्प्रदाय हैं, एक समान भाव स कारणतावादी पुनः प्राधान्येन प्रतिभाकारणवादी होकर भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को मानने वाले। प्रथम पक्ष में स्पष्टतः काव्यप्रकाशकार दण्डी आदि आते हैं और द्वितीय पक्षमें वामन, रुद्रट, जयदेव आदि।

पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को कारण माना है, वह कहते हैं–

'तस्य च कारणं केवला कविगताप्रतिभा, नतु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः।।

पण्डितराज को अपने सिद्धान्त का बीज राजशेखर के ग्रन्थ काव्यमीमांसा में मिला था, वहाँ कहा है–

'सा शक्तिः केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः। विप्रसतिश्च सा व्युत्पत्त्यभ्यासायाम्। शक्ति कर्तके हि प्रतिभाभ्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति। शक्तश्च व्युत्पद्यते'।। १०३।।

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।। १०४।।

यद्यपि सहजा प्रतिभा पुरुषप्रयत्नसंपाद्या न भवति, तथाऽपि सहजप्रतिभाऽभावेऽपि कवित्वम् संभवति तदाह–न विद्यत इति। अद्भुतम् अलौकिककविताप्रकटीकारेणाश्चर्यावहम् पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्राक्तनसंस्कारसंबद्धम् प्रतिभानम् प्रतिभाशक्तिः यद्यपि न विद्यते, तथापि श्रुतेन तत्तच्छास्त्रपरिशीलनेन यत्नेन काव्यज्ञशिक्षया काव्यकरणाभ्यासेन च उपासिता सेविता वाक् कमपि अनुग्रहम् काव्यकरणसामर्थ्यरूपं प्रसादम् करोत्येव। ध्रुवमित्यनेन व्यभिचारशंका निरस्ता। प्रतिभाऽभावेऽपि शास्त्राभ्यासकवितानिर्माणप्रवृत्तिभ्यां जायते काव्यकरणसामर्थ्यमिति भावः। एतेन प्रतिभाऽभावेऽपि कालिदासादयः प्राक्तनप्रतिभाऽभावेऽपि देव्याराधनादिना प्रतिभां प्रादुर्भावयामासुरिति यत्नस्य सार्थक्यमुक्तम।। १०४।।

हिन्दी – यद्यपि वह अद्भुत प्रतिभा, जो पूर्व की वासना–प्राक्तन संस्कारो से उत्पन्न होती है, न भी हो, तथापि पठन तथा काव्याभ्यास के द्वारा सरस्वती की सेवा करने वालों के ऊपर सरस्वती अवश्य अनुग्रह करती है। प्राक्तनसंस्कारवशोन्मिषित प्रतिभा के न रहने पर भी यदि शास्त्रों का अध्ययन तथा काव्य करने का अभ्यास जारी रखा जायेगा, तो सरस्वती अवश्य कवितानिर्माण में साफल्यरूप अनुग्रह करेगी।। १०४।।

तदस्तन्द्रैरनिशं सरस्वति श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

कृशे कवित्वेऽपि जना कृतश्श्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।। १०५।।

इत्याचार्यदण्डिनः कृतो काव्यादर्शे मार्गविभागो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

तत् तस्मात् अस्ततन्द्रैः आलस्यरहितैः कीर्तिमीप्सुभिः कवत्विादिजनितयशोऽभिलाषशालिभिः अनिशं सततम् सरस्वती उपास्याखलु निश्यचेनाराध्या। कदाचित् कवित्वे काव्यनिर्माणे कृशे स्वल्पे अपि कृतश्रमाः कृतकाव्यनिर्माणाभ्यासा जनाः विदग्धगोष्ठीषु सहृदयसमाजेषु विहर्त्तुं सरसतया काव्यरहस्यंज्ञत्वेन यथायथं काव्यानि बोद्धुम् ईशते क्षमन्ते, प्रतिभाया अभावेऽपि यदि लोकोऽनलसः सन् काव्यकर्मणि व्याप्रियते, तदाऽसत्यपि काव्यनिर्माणप्रावीण्ये काव्यार्थज्ञत्वमासाद्य सरसजनसमाजे दक्षतामुपयाति, सरस्वत्युपासनं व्यर्थं नैव जायते, अतः सर्वथा सरस्वत्युपासनीयेति भाव। १०५।।

हिन्दी – इसलिये कीर्ति की कामना रखने वालों को चाहिये कि वे आलस्य का त्याग करके परिश्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना–शास्त्राध्ययन तथा काव्यरणभ्यास में तत्पर रहें। कवित्व का उद्भव अत्यल्पमात्रा में होगा, नहीं की मात्रा में होगा, तथापि सरस्वती की निरन्तर उपासना करने वालों को रसिक जनगोष्ठी में काव्यार्थज्ञानशक्ति से यथोचित व्याहार तथा व्यवहार की क्षमता प्राप्त हो जायेगी, सरस्वती की उपासना व्यर्थ नहीं हो सकती है, कवि न हो, काव्यज्ञ होकर रहेंगे।। १०५।।

काव्यादर्शे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।

इकाई-IV राजशेखरकृत काव्यमीमांसा :

प्रस्तावना

राजशेखर का समय और जीवनवृत्त

जिस प्रकार प्राचीन भामह आदि आचार्यों के जीवन के सम्बन्ध में हमें विदित नहीं है, उसी प्रकार राजशेखर के जीवन के विषय में भी हम कुछ न जानते हों, ऐसा नहीं है। राजशेखर की अपनी रचनाओं से तथा अन्य विवरणों से उनके जीवन–वृत्तान्त और समय का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है।

राजशेखर का समय ८८०–९२० ई० के मध्य का समझा जाता है। राजशेखर के ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वे कन्नौज के प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल और उसके पुत्र महीपाल के गुरु थे। इन राजाओं की राजसभाओं में उनका सम्मान प्राप्त था। 'कर्पूरमञ्जरी', 'बालरामायण' और 'बालभारत' के वाक्यों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि- स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।

वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।। –बालरामायण १।८

इन नाटकों का अभिनय राजा महेन्द्रपाल की राजसभा के समक्ष हुआ था। सियोदोनी शिलालेख से विदित होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०३ ई० तक तथा महीपाल का राज्यकाल ९१७ ई० तक रहा था। यही समय राजशेखर का मानना चाहिये। अन्य प्रमाणों से भी उनका यही समय प्रमाणित होता है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में वाक्पतिराज, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों का उल्लेख किया था। वाक्पतिराज और उद्भट काश्मीर के नरेश जयापीड के समकालीन थे। जयापीड का समय ७७९–८१३ ई० रहा था। आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। इस राजा का समय ८५७–८८४ रहा था। अतः आनन्दवर्धन इस समय में हुये तथा राजशेखर इनके पश्चात् हुये। इस आधार पर भी राजशेखर को ८८० के पश्चात् का होना चाहिये।

राजशेखर का सबसे पहले उल्लेख सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया था जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। तदनन्तर धनपाल (१००० ई०) ने 'तिलक मञ्जरी' में यायावर (राजशेखर) के पदों की प्रशंसा की। इस आधार पर राजशेखर का दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का माना जा सकता है।

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमा। यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः।। –तिलकमञ्जरी प्रस्तावना, श्लोक २३

पूर्व और पर का यह समय निर्धारित करने पर राजशेखर का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अर्थात् ८८०–९२० ई० का निर्धारित किया जा सकता है।

राजशेखर के जीवन का वृत्तान्त भी बहुत कुछ उपलब्ध है। राजशेखर मूल रूप से महाराष्ट्र के निवासी थ। ये विदभ के रहने वाले थे। परन्तु इन्होंने साहित्यिक प्रतिष्ठा कन्नौज मे पाई थी। राजशेखर के परिवार ने तो महाराष्ट्र को पहले ही छोड़ दिया था किन्तु वे स्वयं कान्यकुब्ज (कन्नौज) में आकर रहने लगे थे। यहाँ इनको राजा निर्भय (महेन्द्रपाल) का गुरु का पद प्राप्त हुआ।

राजशेखर ने अपनी कृतियों में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। इनमें अकाल–जलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजशेखर के पिता का नाम दुर्दुक (दर्दुश्क) तथा माता का नाम शीलवती था। अकालजलद इनके प्रपितामह थे। राजशेखर ने अपने को यायावरीय बताया है और कहा है कि उन्होंने मुनियों के मतों के विस्तार का संग्रह करके कवियों के हित के लिये 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ की रचना की है।'

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्। व्याकरोत् काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखरः।। –काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय।

राजशेखर ने चहुआन (चौहान) वंश की एक विदुषी कन्या से विवाह किया था, जिसका नाम अवन्तिसुन्दरी था। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषायें जानती थी और उसने काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी कुछ मत स्थिर किये थे। इनका उल्लेख राजशेखर ने स्थान–स्थान पर 'काव्यमीमांसा' में किया है। यह कवयित्री भी थी। यद्यपि अवन्तिसुन्दरी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके बनाये कुछ श्लोक मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपनी रचना 'देशीनाममाला' में अवन्तिसुन्दरी के तीन पद्यों को उद्धृत किया है।

'काव्यमीमांसा' में उसका एक संस्कृत पद्य उद्धृत है। अवन्तिसुन्दरी की ही प्रेरणा से राजशेखर ने प्राकृत भाषा में 'कर्पूरमञ्जरी' नाटक की रचना की थी और उसका अभिनय कराया था।

चाहुमानकुलमौलिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।

भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति।। –कर्पूरमञ्जरी १.११ (संस्कृत रूपान्तर)

राजशेखर स्वभाव से बहुत स्वाभिमानी थे और उन्होंने अपने आपको बाल्मीकि, मेण्ठ एवं भर्तृहरि का अवतार बताया था। 'बालरामायण' तथा 'बालभारत' नाटकों में एक ही जैसा एक पद्य है, जिससे उनके इस सम्बन्ध का बोध होता है।

बभूव बल्मीकभवः कवि पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेठताम्।

स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।

–बालरामायण १.१६ बालभारत १.१२।

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि राजशेखर किस वर्ण के थे। वे ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। इस प्रश्न के उठने का मुख्य कारण यह है कि राजशेखर की पत्नी क्षत्रिय परिवार की थी। परन्तु पत्नी का क्षत्रिय परिवार का होना ही यह सिद्ध नहीं कर देता कि राजशेखर भी क्षत्रिय थे। प्राचीन भारत की धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं के अनुसार इस देश में अनुलोम विवाह मान्य थे। मेधातिथि ने, जो कि राजशेखर का ही समकालीन था, ब्राह्मण को अनुलोम विवाह करने का अधिकार दिया था। उसने ब्राह्मण को यह भी अधिकार दिया था कि वह क्षत्रिय बालक को गोद ले सकता है। अतः राजशेखर ने ब्राह्मण होते हुए भी यदि क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था, तो यह आश्चर्य का विषय नही है। राजशेखर के ब्राह्मण होने के लिये निम्न और युक्तियां दी जा सकती हैं–

(१) राजशेखर राजा महेन्द्रपाल के गुरु थे। ९वीं–१० वीं शताब्दी के सामाजिक वातावरण में यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है कि एक क्षत्रिय राजा किसी क्षत्रिय विद्वान को अपना गुरु स्वीकार कर ले। इस युग में ब्राह्मण के कर्तव्य समझे जाते थे– यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह, अध्ययन और अध्यापन। अन्य वर्णों के तीन ही कर्त्तव्य थे–यजन, दान और अध्ययन। अतः राजशेखर ब्राह्मण ही रहे होंगे।

(२) राजशेखर ने अपने आपको यायावरीय कहा है। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण दो प्रकार के हैं–शालीन और यायावर। यायावर वे ब्राह्मण हैं, जो नियत रूप से एक स्थान पर नही रहते। वे साधारण जीवन व्यतीत करते हैं, किसी से उपहार नहीं लेते और धन का सञ्चय नहीं करते। (याज्ञवल्क्य स्मृति–मिताक्षरा टीका १.१२८)। राजशेखर के यायावरवंशी होने से उनको ब्राह्मण ही समझना चाहिये।

यायावर–कुल अपनी विद्वत्ता के लिये विश्रुत था। अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया। अकालजलद की प्रशस्ति सूक्तिमुक्तावली में दर्शनीय है। अकालजलद को राजशेखर ने महाराष्ट्र–चूडामणि कहा है। राजशेखर महाराष्ट्र तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों से पर्याप्त परिचित थे। उनके विषय में क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य–विचार–चर्चा' नामक ग्रंथ में एक मनोरंजक श्लोक उद्धृत किया है–

कार्णाटीदशनाङ्कितः शित-महाराष्ट्री कटाक्षक्षतः, प्रौढान्ध्री-स्तन-पीड़ितः प्रणयिनी भ्रू-भंगवित्रासितः।

लाटीबाहु-विधेष्टितश्च, मयल-स्त्री-तर्जनी-तर्जितः सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति।।

'कर्णाट–देश की महिलाओं के दाँतों से चिह्नित, महाराष्ट्रियों के तीव्र कटाक्षों से आहत, आन्ध्रदेश की प्रौढ रमणियों के स्तनों से पीड़ित, प्रणयिनियों के कटाक्ष से भयभीत, लाटदेशीय रमणियों के भुजापाशों से आलिंगित और मलयनिवासिनी नारियों की तर्जनियों से हटके गये राजशेखर कवि अब वृद्धावस्था में वाराणसी का सेवन करना चाहते हैं।'

इस पद्य से अन्य तथ्यों के अलावा राजशेखर के सार्वदेशिक ज्ञान का भी पता लगता है।

किन्तु महाराष्ट्र तथा उसके प्रदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी यह प्रतीत होता है कि राजशेखर या उनके परिवार ने कन्नोज में अपना निवास बनाया। उन्होंने कन्नोज के प्रतिहार–वंशी राजा महेन्द्रपाल तथा महीपाल को अपना शिष्य बताया है–

इस आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि राजशेखर कन्नौज में आकर बस गये थे। इस प्रकट निर्देश के अतिरिक्त, राजशेखर ने जिस पक्षपात के साथ कन्नौज और पाञ्चाल का वर्णन किया है उसके आधार पर यह सुतरां सत्य प्रतीत होता है कि राजशेखर ने अपना स्थायी निवास–स्थान कन्नौज में बनाया था। उदाहरणार्थ इस देश की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

इदं पुनस्ततोऽपि मन्दाकिनीपरिक्षिप्तं महोदयं नाम नगरं दृश्यते।

.....इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालङ्करणैकहेतुः।

पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला।।

अपि च–

यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरा या सूक्तिमुद्राक्रमे भङ्गी या कबरीचयेषु रचनं यद् भूषणालीषु च।

दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च य- च्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः।।

–बाल रामायण १०

पाञ्चालों को अन्तर्वेदी का भूषण बताते हुए कह रहे हैं–

इमे अन्तर्वेदीभूषणं पाञ्चालाः यत्रार्ये ! न तथानुरज्यति कविर्ग्रामीणगीगुम्फने

शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यया भव्यासु नव्योक्तिषु। पाञ्चालस्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः

त्यद्दृष्टेरतिथीमवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा।। –वहीं, १० ८५

इसी प्रकार पाञ्चालों के काव्य–पाठ की भी हमारे चरितनायक ने प्रशंसा की है–

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।

पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनः श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः।। –काव्यमीमासा अ० १,

इन वर्णनों के आधार पर राजशेखर का कन्नोज में रहना सिद्ध होता है।

राजशेखर और गुजरात – राजशेखर का गुजरात (लाटदेश) से विशेष प्रेम दिखाई पड़ता है। जहाँ कहीं भी अनुकूल अवसर मिलता है, महाकवि राजशेखर की उन्मुक्त लेखनी लाटदेश का गुण गाने लगती है। डा० भट्टाचार्य का अनुमान है कि लाटदेश से कवि की घनिष्ठता उसके संरक्षक राजाओं के माध्यम से बढ़ी। राजशेखर की कृति कर्पूरमञ्जरी लाटदेश की है। विद्धशालभंजिका तत्रत्य राजा से ही सम्बद्ध है। बालरामायण में कवि ने इसे पृथ्वी का ललाट माना है–

अयमसावितो विश्वम्भशिरःशेखर इव लाटदेशः।। अंक १०

काव्यमीमांसा में लाटवासियों के पाठ–प्रकार का निर्देश है–

पठन्ति लटनं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः। जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया।। –काव्यमीमासा

इसी प्रकार बालरामायण में भी वहां की स्त्रियों तथा भाषा की प्रशंसा है :–

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।

गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच- स्तात्लाटाल्ललिताङ्गि पश्य मुदती दृष्टेनिमेषव्रतम्"

और–

लक्षीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटीलडहवीक्षितैः। लक्षीभवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम्।। –बालरामायण, अक १०, ४१ - ४२

इन उदाहरणों से राजशेखर का लाट–प्रेम सुतरां स्पष्ट है।

राजशेखर द्वारा वर्णित अन्य देश – राजशेखर भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों से खूब परिचित प्रतीत होते हैं। उन्होंने बालरामायण में अयोध्या तथा लंका के बीच में अवस्थित देशों का वर्णन किया है। काव्यमीमांसा के अध्याय १७ में भी देश के विभिन्न भागों का वर्णन किया है। इन्हीं का अनुकरण हेमचन्द्र तथा वाग्भट ने किया है। राजशेखर ने आर्यावर्त को पांच भागों में बांटा है– १ पूर्वदेश २. दक्षिणापथ, ३. पश्चाद्देश, ४. उत्तरापथ और मध्यदेश (भौगोलिक वर्णनों के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, काव्यमीमांसा का उपोद्घात, पृ० ५०–५२, बड़ौदा संस्करण)।

राजशेखर का प्राकृत प्रेम – बालरामायण की प्रस्तावना में राजशेखर ने अपने को सर्व–भाषा–विचक्षण कहा है–'सर्वभाषाविचक्षणश्च स एवमाह'। किस देश के लोग किस भाषा में विचक्षण होते हैं इसका उन्होंने काव्यमीमांसा में निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने उच्चारण–सम्बन्धी विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस आधार पर हम निस्संकोच कह सकते हैं कि राजशेखर तत्काल में प्रचलित अधिकांश भाषाओं में विदग्ध थे। कविराज की परिभाषा में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उसका सभी भाषाओं पर समान अधिकार होना

चाहिये। (अ) स्वतन्त्रस्य पुनरेकवत् सर्वा अपि भांषाः स्युः। –काव्यमीमांसा, (ब) संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात्।। –वही) उन्होंने अपने लिये कविराज विशेषण का भी प्रयोग किया है ('बालकई कइराओ–कर्पूरमंजरी १.६)। अतः उनकी भाषा–बहुज्ञता में सन्देह नहीं हो सकता। यहाँ इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि महाकवि राजशेखर ने प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है उनका कर्पूरमंजरी नामक सट्टक, जिसे उन्होंने प्राकृतभाषा में निबद्ध किया है। बालरामायण में इन प्राकृतादि की प्रशंसा करते हुये कहते हैं–

गिरः श्रव्या द्विव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुरः सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।

विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे निबद्धा यस्त्वेषां स खलु लिखितेऽस्मिन्कविवृषा।। –बालरामायण १.१०

इसी भांति कर्पूरमंजरी (१.४) में भी उन्होंने प्राकृत की प्रशंसा की है :–

परुसा सक्कअबन्धा पाउअन्धो वि होइ सुउमारो। पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं।।

राजशेखर के समय का समाज – राजशेखर के समय में ब्राह्मण धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। देश की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति भी दृढ़ थी अतः चारों ओर सुख शान्ति का साम्राज्य था। राजशेखर के विवरणों से यह भी प्रतीत होता है कि वे स्त्री तथा पुरुष को सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से समान देखते थे। उनके विचार से संस्कार दोनों में समान है अतः उनको विकास का समान अवसर मिलना चाहिये। (संस्कारो ह्यात्मनि समैवेति–काव्य०)। उनके समय में स्त्रियाँ कविता भी करती थीं जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वतः उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी है। इस दृष्टि से वे पुरागामी विचार के हैं। (**पुरुषवत् स्त्रियोऽपि कवीभवेषुः। संस्कारो ह्यात्मनि समैवेति। न स्त्रैण पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्रदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।** –काव्य०)

राजशेखर के समय विदेश–गमनागमन के भी उदाहरण मिलते हैं। कवि लोग विदेश के विषयों को भी ग्रहण कर उनका वर्णन करते थे।

किञ्चन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यव हृतिं निबध्नन्ति स्म-काव्य०।

वैदिक शाखाओं का एक सहस्र में विकास हो चुका था और वह भी राजशेखर से बहुत पहले ही–

पूर्वे ही विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य शास्त्राणि चावबुद्धय देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य...।' काव्य०

(ब) राजशेखर की रचनाएं – यह प्रश्न भी विवादास्पद ही है कि राजशेखर ने कितने ग्रन्थों का निर्माण किया। स्वयं राजशेखर के अनुसार उन्होंने छह ग्रन्थों की निर्मिति की। विद्धि नः षट् प्रबन्धान्–(बालरामायण १।११)। पर दैवदुर्विपाक से आज पाँच ही उपलब्ध हैं :– १. बालरामायण; २. बालभारत; ३. विद्धशालभञ्जिका; ४. कर्पूरमञ्जरी और ५. काव्यमीमांसा। छठा ग्रन्थ 'हरविलास' था जिसका हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन–विवेक' में उद्धरण दिया है। अब इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. **बाल रामायण** – यह दस अंकों का विपुलकाय नाटक है। पूरा नाटक साहित्यिक श्लोकों से भरा है। कवि ने नाटकीयता के साथ ही साथ अपनी उदात्त काव्य–शक्ति का भी परिचय दिया है। इस नाटक की सबसे प्रशस्त विशेषता एक ही नाटक में सम्पूर्ण राम–चरित को ग्रथित करने की है। नाटक में कथांश में पर्याप्त नवीनता लाने का प्रयास किया गया है। इसमें दश लम्बे–लम्बे अंक हैं। कुलग्रन्थ में ७४१ पद्य हैं जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा वृत्त में तथा २०० शार्दूलविक्रीडित में निबद्ध हैं। राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित की प्रशंसा तो प्रसिद्ध ही है–

शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः। शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चखेशरः।। –सुवृत्ततिलक

बालरामायण में नाट्कीयता की अपेक्षा काव्यगुण का ही मनोरम परिपाक हुआ है।। स्वयं कवि ने अपने 'भणिति गुण' की प्रशंसा की है। इसकी नाटकीयता में सन्देह हो उसका समाधान स्वयं नाटककार ने पहले ही कर दिया है–

"ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्,

प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।

यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचि...।" –बाल रामायण १।१२

२. **बालभारत** – इसका दूसरा नाम प्रचण्डपाण्डव भी है। इसमें महाभारत की कथा का नाटकीयरूप प्रस्तुत किया गया है। पर दुर्भाग्यवश इसके आदिम दो अंक ही उपलब्ध हुये हैं। यह भी आशंका की जाती है कि कदाचित् इसके अगले अंकों का निर्माण राजशेखर न कर सके हो। पर इसकी संभावना बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि जिस प्रकार काव्यमीमांसा के १७ अधिकरण लुप्त हो गये उसी भांति बालभारत के भी अगले अंक काल–क्रोड में समा गये हों।

३. **विद्धशालभञ्जिका** – यह राजशेखररचित मनोरम नाटिका है और 'स्त्रीप्राया चतुरङ्किका' के सिद्धान्तानुसार चार अंकों में विभक्त है। इसमें विद्याधर मल्ल नामक राजकुमार और मृगाङ्गावली तथा कुवलयमाला नाम की दो राजकुमारियों की प्रणयकथा है।

४. **कर्पूरमंजरी** – यह चार जवनिकान्तरों में विभक्त सट्टक है। इस सट्टक में चण्डपाल राजा तथा कुन्तलदेश की राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की शादी को बड़ी ही युक्तिमत्ता से दिखाया गया है। यह सट्टक प्राकृतभाषा में निबद्ध है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है और इसी कारण वस्तुतः यह नाटिका होते हुए भी सट्टक कहा गया है क्योंकि सट्टक का लक्षण प्राकृतभाषा में निबद्ध होना तथा विष्कम्भ, प्रवेशक तथा अंक का अभाव होता है। सट्टकों के विकास में कर्पूरमञ्जरी ने बहुत ही योगदान किया है और परवर्ती सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णन–पद्धति पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है।

५. **हरविलास** – हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन–विवेक में राजशेखर के एक पद्य का उदाहरण दिया है जो राजशेखर के नाम से युक्त है–'स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे।' उन्हीं ने पुनः हरविलास से दो पद्यों को उद्धृत किया है

(१) **आशीर्यथा हरविलासे-**

औमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।
प्रसीदतु सता स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीनवम्।।

(२) **सुसजंन-दुर्जनस्वरूपं यथा हरविलासे-**

इतस्ततो भषन्भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः।
अवदाततया किञ्च न भेदो हंसतः सतः।।

इसके अतिरिक्त उणादिसूत्रों पर वृत्ति की रचना करने वाले उज्ज्वलदत्त ने भी हरविलास का उद्धरण दिया है –

दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद् गतार्थो हरिदीधितिर्यथा।' –इति हरविलासे, २.२८

भुवनकोश – हरविलास के अतिरिक्त एक 'भुवनकोश' नामक ग्रन्थ का कर्तृत्व भी राजशेखर के मत्थे पड़ता है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में स्वयं राजशेखर काव्यमीमांसा के १७ वे अध्याय में कहते हैं कि 'यहाँ मैंने देशविभाग संकेतमात्र से सूचित कर दिया है जिसको अधिक जानना हो वह मद्विरचित 'भुवनकोश' को देखें' –

इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम्। यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसो।।

काव्यमीमांसा

इसका पहला प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज से हुआ। (तृतीय संस्करण, १९३४)। इसकी विद्वतापूर्ण भूमिकाश्री सी० डी० दलाल, पं० आर०ए०शास्त्री और श्री के०, एस० रामास्वामी शास्त्री ने लिखी। इसका एक अन्य संस्करण–पं० केदारनाथ शर्मा द्वारा हिन्दी में अनुवादित बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से १९५४ में प्रकाशित हुआ। यह एक अपूर्व रचना है। इसमें रस, गुण अथवा अलंकार का विवेचन मुख्य रूप से नहीं है, वरन् कवियों के लिए व्यपहारोपयोगी तथा मार्गदर्शक सूचनाएं दी गई है। राजशेखर के ही अनुसार इसमें मूल रूप से १८ अधिकरण थे परन्तु वर्तमान समय में केवल एक अधिकरण प्राप्त होता है। इस अधिकरण को लेखक ने 'कविरहस्य' नाम दिया है। (**समाप्तमिमदं प्रथमाधिकरणं कविरहस्यं नाम काव्यमीमांसायाम्।** –ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख), इस अधिकरण का कविरहस्य नाम यथार्थ ही है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं। अध्याय–क्रम के अनुसार इसकी विषयवस्तु निम्न प्रकार से है :–

(१) **प्रथम अध्याय** – पहले अध्याय का नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसके अनुसार शिव ने ब्रह्मा को काव्य का उपदेश दिया था। ब्रह्मा ने यह उपदेश अपने शिष्यों को दिया। ब्रह्मा का एक शिष्य काव्यपुरुष था। उसने १८ शिष्यों को १८ विषय पढ़ाये। प्रत्येक ने अपने–अपने विषय का ग्रन्थ लिखा। उनका संग्रह संक्षेप से राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के १८ अधिकरणों में किया।

(२) **द्वितीय अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसके अनुसार वाङ्मय दो प्रकार का होता है–काव्य और शास्त्र। शास्त्र दो प्रकार के होते हैं–अपौरुषेय और पौरुषेय। चार वेद, चार उपवेद और छः वेदांग अपौरुषेय हैं। तदनन्तर इनमें शास्त्रों की संख्या, लक्षण तथा विद्याओं की संख्या दी गई है। विद्याओं की संख्या १४ या १८ है। साहित्य ५वीं विद्या और काव्य १५वीं विद्या है। इस अध्याय में सूत्र, भाष्य, पद्धति, टीका, समीक्षा, पञ्जिका, कारिका शब्दों के लक्षण दिये गये हैं।

(३) **तृतीय अध्याय** – इस अध्याय में सरस्वती से काव्यपुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। इसलिये इस अध्याय का नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। ब्रह्मा के वर से सरस्वती ने पुत्र को उत्पन्न किया। काव्य के अंग ही उसके अंग थे। (**शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिवणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलकुर्वन्ति।**) तदनन्तर विदर्भ देश के वत्सगुल्म नगर में उस पुरुष का साहित्यविद्यावधू से विवाह हुआ। इस अध्याय में काव्यपुरुष के विभिन्न देशों में भ्रमण करने और उससे विभिन्न प्रवृत्तियो, वृत्तियों तथा रीतियों की उत्पत्ति का वर्णन है। यथा दक्षिण में जाने पर दाक्षिणात्या वृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति उत्पन्न होती हैं।

(४) **चतुर्थ अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'शिष्यप्रतिभ' है। इसमें शिष्यों के भेद तथा गुण बताये गये हैं। काव्य की रचना शक्ति से होती है। इसी से प्रतिभा और व्युत्पत्ति का उद्भव होता है। सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक ये तीन प्रकार के कवि होते हैं। भावकत्व और कवित्व पृथक् होते हैं। तदनन्तर भावक के भेद और लक्षण कहे गये हैं।

(५) **पञ्चम अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'व्युत्पत्तिपरिपाक' है। इसमें सबसे पहले व्युत्पत्ति और प्रतिभा की व्याख्या है। कवि तीन प्रकार के होते हैं–शास्त्र कवि, काव्य कवि और उभय कवि। इन कवियों के भेद और लक्षण कहे गये हैं। कवि की १० अवस्थायें होती हैं। तदनन्तर पाक शब्द की व्याख्या करके नौ प्रकार के पाकों को बताया गया है।

(६) **षष्ठ अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें पद और उसकी पांच वृत्तियों–सुप्, समास, तद्धित, कृत् तथा तिङ् का निर्देश है। वाक्य लक्षण, वैभक्त, शक्त, विभक्तिमय – इन तीन वाक्यों की शक्ति त्रिविध अर्थ–प्रदर्शक शक्तियों की व्याख्या है। दस प्रकार के वाक्य बताये गये हैं। काव्य का लक्षण किया गया है–

"गुणवदलङ्कृतं च वाक्यमेव काव्यम्"

(७) **सप्तम अध्याय** – इस अध्याय का नाम "वाक्यविधेयः, काकुप्रकारा, पाद प्रतिष्ठा" है। इसमें ब्राह्म, शैव और वैष्णव ये तीन भेद वाक्य के कहे गये हैं तथा पाँच प्रकार के वचनों की व्याख्या है। विभिन्न योनियों की वाक्यसरणी बताई गई है। वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी रीतियों का वर्णन है। दो प्रकार के काकु तथा उनके उपभेदों की व्याख्या है। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कवियों की विविध उच्चारण विधियों और भाषा आदि की चर्चा है।

नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रक्षो नातिकोमलः। न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाडवः।।

रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः। सगर्व सर्वकर्णाटाष्टङ्कारोत्तरपाठिनः।।

गद्येपद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि। गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः।।

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः। जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया।।

सुराष्ट्रत्रणणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्। अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि।।

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः। कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः विभुः।।

ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे। ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः।। –काव्यमीमांसा अध्याय ७

(८) आठवें अध्याय का नाम "काव्यार्थयोनयः" है। इसमें बताया गया है कि काव्य के विषय कहाँ से लिये जावें। इनके १२ आधार पहले प्रसिद्ध थे–श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, लोक, विरचना और प्रकीर्णक। इन १२ आधारों के अतिरिक्त राजशेखर ने चार आधार और सम्मिलित किये थे–उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग और संयोगविकार। राजशेखर ने इनकी व्याख्या करके उदाहरण दिये हैं।

(९) **नवम अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'अर्थानुशासन' है। वर्ण्य विषय सात प्रकार के होते हैं–दिव्यमानुष, मानुष, पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय, दिव्यमर्त्यपातालीय। इनकी व्याख्या तथा उदाहरणया प्रस्तुत किये गये हैं। वर्ण्य विषय रस से युक्त होना चाहिये। यी दो विधाओं में होता है–प्रबन्ध और मुक्तक। इनमें प्रत्येक के पांच भेद होते हैं–शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानकभू और आख्यानवान्। काव्यों में संस्कृत के समान ही अन्य भाषाओं में भी अवधान की आवश्यकता है।

(१०) **दशम अध्याय** – दशम अध्याय का नाम 'कविचर्या राजचर्या च' है। इनमें कवि द्वारा काव्य की रचना का उपदेश है। नामधातुपरायण, अभिधानकोश, छन्दोविचिति और अलंकारतन्त्र विद्याये हैं तथा ६४ कलायें उपविद्यायें हैं। इस अध्याय में काव्य के निर्माण के कारणों का, शुद्धियों का, लेखनसामग्री आदि का वर्णन है। कवि की दिनचर्या दी गई है। स्त्रियाँ भी काव्य की रचना कर

सकती हैं। राजाओं द्वारा सभाग्रह का निर्माण करने तथा कवियों की परीक्षा करने का उदाहरण सहित वर्णन है।

(११) **एकादश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'शब्दहरणोपायाः' है। इसमें बताया गया है कि कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के शब्दों को किस सीमा तक ग्रहण कर सकता है। इसके अनुसार कवि चार प्रकार के होते हैं–उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक और संवर्गक। प्राचीन कवियों की शब्दार्थोक्तियों में जो कुछ अनिर्वचनीयता और नूतनता है, उसको देखने और उल्लेख करने वाला महाकवि होता है।

(१२) **द्वादश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'अर्थहरणोपायाः' है। इसमें बताया गया है कि कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के अर्थ और विचारों को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है। इसके तीन प्रकार हैं–अन्ययोनि, निहुतयोनि और अयोनि। इनके भेदों की सोदाहरण व्याख्या है।

(१३) **त्रयोदश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'अर्थग्रहणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः' है। इसमें शब्दार्थहरण के तीन उपायों आलेख्यप्रख्य तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेश सदृश का तथा इनके ८–८ उपभेदों का उदाहरण सहित वर्णन किया गया है।

(१४) **चतुर्दश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'कविसमय' है। इसमें वर्णनीय विषयों में कविप्रसिद्धियों के वर्णन के नियम बताये गये हैं। कविसमय तीन प्रकार के होते हैं। स्वर्ग्य भौम और पातालीय। इनमें भौम प्रधान हैं। ये चार प्रकार के हैं–जाति द्रव्य गुण और क्रिया। ये भी तीन प्रकार के हैं–असतोनिबन्धः, सतोऽप्यनिबन्धः और नियमतः। इनकी सोदाहरण व्याख्या की गई है।

(१५) **पञ्चदश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'गुणसमयस्थापना' है। गुण समय के भी तीन भेद हैं–असतो गुणस्य निबन्धनम् सतोऽप्यनिबन्धनम् और नियमितः।

(१६) **षोडश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'स्वर्ग्यपातालीय कविसमय स्थापना' है। इसमें बताया गया है कि भौम समय के समयों स्वर्ग्य और पातालीय समयों का पालन भी कवि को करना चाहिये।

(१७) **सप्तदश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'देशविभाग' है इसमें पहले जगत् के विभागों का वर्णन है। भूलोक के दो भाग हैं–समुद्र और द्वीप। द्वीपों में जम्बुद्वीप है। इसमें भारतवर्ष के नौ भेद हैं–इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभास्तमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारीद्वीप। दो समुद्रों तथा विन्ध्य और हिमालय पर्वतों के मध्य आर्यावर्त है। आर्यावर्त के पाँच विभाग है–पूर्वदेश, दाक्षिणा पश्चादेश, उत्तरापथ और मध्यदेश। इन विभागो के अनेक देशों, पर्वतों, नदियों आदि का निर्देश किया गया है। तदनन्तर दिशाओं पर विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न देशों के निवासियों के शरीर के वर्ण का उल्लेख है।

(१८) **अष्टादश अध्याय** – इस अध्याय का नाम 'कालविभाग' है। इस अध्याय में कला, मुहूर्त, रात्रि, दिन, मास, ऋतु पक्ष संवत्सर आदि समय के विभाजन को बताया है। छः ऋतुओं का और उनकी सन्धि, शैशव, प्रौढि, अनुवृत्ति आदि अवस्थाओं का उदाहरण सहित वर्णन है। विभिन्न ऋतुओं, पवनों, पुष्पों, फूलों, पक्षियों आदि के अनुसार काव्य व्यापार का निरूपण है।

'काव्यमीमांसा' के इन विषयों को देखने से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ बहुविध जानकारी देने वाला एक कोष है। राजशेखर के ही कथन से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ बहुत विशाल होगा। यह मूल रूप में १८ अधिकरणों में लिखा गया था। परन्तु सम्प्रति इसका एक ही अधिकरण प्राप्त हुआ है। केशवमिश्र (१६वीं शताब्दी) के 'अलङ्कारशेखर' ग्रन्थ की ११वीं मरीचि में राजशेखर के दो पद्य उद्धृत हैं। इनमें उपमा को अलंकारों का सर्वस्व माना गया है। **(अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम।।)** ये पद्य वर्तमानसमय में उपलब्ध 'काव्यमीमांसा' में नहीं है। इससे विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा के किसी अन्य अधिकरण से, जिसमें अर्थालंकारों का वर्णन होगा, ये श्लोक उद्धृत किये गये होंगे।

'काव्यमीमांसा' में यद्यपि काव्य के आवश्यक अंगों–अलंकार, गुण, दोष, रस आदि का विवेचन नहीं मिलता, तथापि कवि के लिये आवश्यक गुणों और सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया गया है।

'काव्यमीमांसा' का मुख्य सिद्धान्त–भाग गद्य में लिखा गया है। इनकी भाषा सशक्त है, यद्यपि कहीं–कहीं बोझिल अवश्य हो गई है। उदाहरणों को, संग्रहों को और अन्तिम परिणाम को श्लोकों में निबद्ध किया गया है।

'काव्यमीमांसा' हमको प्राचीन काल के अनेक कवियों तथा रचनाओं का परिचय देती है, जिनका कि संकेत अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें अवन्तिसुन्दरी, मानव, अपराजित, उक्तिगर्भ, उद्भट, कालिदास, द्रौहिणी, पाल्यकीर्ति, भरत, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज वामन, श्यामदेव और सुरानन्द नामक लेखकों के उल्लेख मिलते हैं तथा अनेक प्राचीन काव्यों को उद्धृत किया गया है। इनमें कालिदास अमरुशतक, किरातार्जुनीय, कादम्बरी, मालतीमाधव, वेणीसंहार, शिशुपालवध, सूर्यशतक, हयग्रीव वध आदि ग्रन्थ और ग्रन्थकार आये हैं। 'सिद्धान्त' की व्याख्या करते हुए राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के पक्षों को प्रस्तुत करके उन पर अपने मत को व्यक्त किया है। परन्तु उन्होंने आचार्यों के नाम नहीं दिये हैं।

राजशेखर को भूगोल का विस्तृत ज्ञान था। उन्होंने पृथिवी के विभाजन और भारतवर्ष के भूगोल का अच्छा परिचय दिया है। वे भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषा, उच्चारणशैली, वेषभूषा, वर्ण, सामाजिक परम्पराओं आदि से भी भली–भांति परिचित थे।

'काव्यमीमांसा' से अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का भी बोध होता है। मेधाविरुद्ध और कुमारदास जन्मान्ध कवि थे। मगध देश के शिशुनाग, कुविन्द देश के शूरसेन, कुन्तल देश के सातवाहन और उज्जयिनी के साहसाङ्क, सातवाहन और शूद्रक के संरक्षण में विद्या की उन्नति हुई थी। उज्जयिनी में कालिदास, मेण्ठ, अमर, रूपसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त कवियों की परीक्षा हुई थी। पाटलिपुत्र में उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि इन शास्त्रकारों की परीक्षा हुई थी।

श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा-

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।

हरिश्चन्द्रगुप्तौ परीक्षितावह विशालायाम्।।

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा-

अत्रोपवर्षवर्षावह पाणिनिपिङ्गलावह व्याडिः।

वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।। –काव्यमीमांसा अध्याय – १०।।

काव्यमीमांसा में उल्लिखित साहित्याचार्य – राजशेखर ने अपनी काव्य–मीमांसा में बहुत से आलंकारिकों के नामों का उल्लेख किया है– सुरानन्द, श्यामदेव, वामन,उद्भट, आपराजिति, द्रोहिणी, रुद्रट, वाक्पतिराज, अवन्तिसुन्दरी, आनन्द। इन उल्लेखों से इन आचार्यों के मतों के उस समय प्रचलित होने का पता लगता है। इनमें बहुतों के तो अब नाम–मात्र ही अवशिष्ट रहे हैं।

राजशेखर के ग्रन्थों का रचना-क्रम – ई० सन् १८५६ में आचार्य वी०एस० आप्टे ने राजशेखर के ग्रन्थों को निम्नलिखित क्रम में रचित माना था। १. कर्पूरमञ्जरी, २. विद्धशालभञ्जिका, ३. बालरामायण और ४. बालभारत या प्रचण्डपाण्डव। कीथ तथा स्टैनकोनो आप्टे की राय को सामान्यतया स्वीकार करते हैं तथापि वे बालरामायण को विद्धशालमञ्जिका से पहले की रचना मानते है, क्योंकि बालभारत अपूर्ण रचना है अतः इसके विषय में उनकी राय है कि इसे पूर्ण करने के पूर्व वे अस्त हो गये थे। काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्कारण की भूमिका में सी०डी० दलाल कहते हैं कि राजशेखर ने प्रारम्भ में बाल कवि के रूप में रचना प्रारम्भ की और ये दोनों नाटक तथा विद्धशालमञ्जिका राजशेखर की प्राथमिक रचनाये हैं तथा कर्पूरमञ्जरी और काव्यमीमांसा अन्तिम समय की रचनायें हैं। इस समय में वे कविराज के रूप में ख्यात हो चुके थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी रचनाओं के क्रम में मत–ऐक्य नहीं हैं।

महामहोपाध्याय डा० वी०वी० गिराशी के अनुसार इन रचनाओं का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है – १. बालरामायण, २. बालभारत, ३. कर्पूरमञ्जरी, ४. विद्धशालमञ्जिका और ५. काव्यमीमांसा।

बालरामायण – बालरामायण की मीमांसा में राजशेखर ने अपने छह ग्रन्थों का निर्देश किया है। प्रतीत यह होता है कि बाल्यकाल में राजशेखर ने छह प्रबन्धों की रचना की थी जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इसका यह अर्थ यदि किया जाये कि राजशेखर ने कुल छह ग्रंथों की ही रचना की और यह अंतिम ग्रन्थ है तो यह संगत नहीं बैठता, क्योंकि पहले तो इसमें बालकवि विशेषण है, दूसरे इस नाटक की लम्बी प्रस्तावना, व्यापक, सक्रम–विस्तार आदि इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक रचना होने को सिद्ध करते हैं। इस नाटक में राजशेखर ने सम्पूर्ण रामचरित को एकत्र उपनिबद्ध करने का प्रयास किया है।

बालभारत – बालभारत राजशेखर की द्वितीय रचना प्रतीत होती है। यह महीपाल की सभा में अभिनीत हुआ था। इस नाटक का दूसरा नाम प्रचण्डपाण्डव है जो संभवतः महीपाल का निर्देश करता है। प्रचण्ड–पाण्डव की सभी हस्तप्रतियों में केवल दो ही अंक उपलब्ध होते हैं, जिससे अनुमान लगाया गया है कि यह राजशेखर की अंतिम रचना थी जिसे वे पूरा न कर सके थे। पर एक हस्तप्रति में स्पष्टतः लिखा है कि समाप्तमिदं प्रचण्डपाण्डवाभिधं नाटकम्। अतः यह राजशेखर की अंतिम रचना नहीं मानी जा सकती। या तो वे इसे किसी कारणवश समाप्त नहीं कर पाये थे या यदि समाप्त किया था तो वह अंश किसी कारण से नष्ट हो गया। इस नाटक का मंगल श्लोक काव्य–मीमांसा में उद्धृत है।

कर्पूरमंजरी – स्टेनकोनो तथा कीथ इसे राजशेखर की आद्य कृति मानते हैं, क्योंकि यह किसी राजा के निर्देश से नहीं रची गई, अपितु अपनी स्त्री के आग्रह पर रचा गया। पर यह तर्क उचित नहीं। इस नाटक में राजशेखर अपने को निर्भयराज का अध्यापक बताते हैं। कर्पूर० १.१०)। अतः यह निश्चित है कि इसकी रचना के समय वे कन्नौज में थे अतः इसका कोई कारण नहीं था कि इसका अभिनय राजदरबार में न हुआ हो। कवि अपना तथा अपने संरक्षकों का विस्तृत विवरण अपने पूर्ववर्ती दो ग्रन्थों में दे चुका

है, अतः इसमे पुनः देने की अपेक्षा उसे प्रतीत न हुई। इस समय उन्होंने अपनी स्त्री का नाम संयुक्त करना चाहा जिसके वैदुष्य तथा काव्यशास्त्रीय पाण्डित्य का निर्देश काव्यमीमांसा में उन्होंनें स्थल–स्थल पर किया है। महामहोपाध्याय मिराशी चण्डपाल का संबंध महीपाल से लगाते है और कहते हैं कि यह बालभारत के बाद की निर्मिति है क्योंकि इसमें महीपाल का कुन्तलराज की कन्या के साथ ब्याह वर्णित है। (चण्डपालधरणीहरिपाड्के..... १.१२)। (मिराशी, स्टडीज इन इण्डोलाजी, भाग १ पृ० ५७–५८)।

विद्धशालमञ्जिका – इस पुस्तक की रचना ६३५ ई० के लगभग हुई होगी। इस समय राजशेखर अपने पैतृक स्थान त्रिपुरी में लौट आये थे। कलचुरि युवाराजदेव प्रथम की विजय के स्मारक के रूप में इन्होंने अपने इस रूपक की रचना की होगी। (मिराशी स्टडीज इन इण्डोलाजी, भाग १ पृ० ५६)।

राजशेखर और सम्प्रदाय

राजशेखर के समय तक काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति और ध्वनिसम्प्रदाय प्रचलित हो चुके थे। भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्यायें हो चुकी थीं और रस का क्षेत्र नाटक तक ही सीमित नही था, अपितु उसका विस्तार काव्य तक मान्य हो चुका था। अलंकारशास्त्र को भी उत्तरवर्ती आचार्यों ने पर्याप्त प्रश्रय दिया था, अलंकार की सीमा भी पर्याप्त बढ़ चुकी थी। भामह का अनुकरण कर उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों ने इसका श्रेष्ठ पोषण किया था। रीति भी वैज्ञानिक आधार पर काव्य में मान्यता हो नहीं प्राप्त कर सकी थी अपितु गुण के मूल आधार पर वामन ने उसे काव्यात्मा के उत्कृष्ट पद पर अभिषिक्त किया था। ध्वनि–सम्प्रदाय की अभी शैशवावस्था थी। आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा घोषित कर चुके थे लेकिन अभी उनका मत साहित्य आलोचनाक्षेत्र में विशेष समा दृत नहीं हो सका था। इस प्रकार राजशेखर के काल तक काव्य शास्त्र का विस्तार बहुत अधिक हो चुका था और आलोचना के विभिन्न सम्प्रदाय थे तथा विभिन्न आचार्यों ने उन्हें यथेष्ट प्रश्रय प्रदान किया था।

काव्यशास्त्र के विशाल आधार पर आचार्यों के सिद्धान्तों की संक्षिप्त, पर सुस्पष्ट विवेचना करते हुए कांव्य–व्युत्पत्ति के निमित्त कवियों के लिये राजशेखर ने काव्यमीमांसा की रचना की थी जिसमें विभिन्न आचार्यों का मत उद्धृत कर विवादात्मक गुत्थियों को सुलझाया है और यथास्थान अपने सिद्धान्त का निरूपण "यायावरीय" के नाम से किया है। मेधाविरुद्र, उद्भट और औद्भटा:, वामन और वामनीया:, रुद्रट, मंगल और आनन्द इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर ने "आचार्या'" नाम से कई स्थानों पर प्राचीन मतों का उल्लेख किया है।

आपराजिति, सुरानन्द, पाल्यकीर्ति, श्यामदेववाक्पतिराज और अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का उल्लेख उन्होंने अनेक बार किया है। हम देखते हैं कि काव्य–मीमांसा एक आकर ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न आचार्यों को उद्धृत किया गया है। विवादात्मक विषयों पर राजशेखर इनका उल्लेख कर एक सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। काव्यशास्त्र के इस व्यापक कोष का उपयोग कर राजशेखर ने अलंकारशास्त्र की एक निश्चित प्रणाली एवं मार्ग का निर्माण किया है। साहित्यिक आलोचना और काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता जो हमें काव्यमीमांसा में मिलती है, वह राजशेखर की एक बहुत बड़ी देन है।

विषय के निरूपण में उन्होंने एकमात्र कौटिल्य और वात्स्यायन के अर्थशास्त्र और कामशास्त्र की शैली का ही अनुसरण नहीं किया है, प्रत्युत धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा के लेखकों का भी अनुसरण किया है। विषय–विवेचन में उन्होंने रुद्रट का अनुसरण किया है। लेकिन रुद्रट की अपेक्षा इनका विभाजन अधिक व्यापक और पूर्ण है, क्योंकि रुद्रट को वैनोदिक, औपनिषदिक आदि का ज्ञान नहीं था। औपनिषदिक अध्याय में अर्थशास्त्र और कामशास्त्र से लेकर अलंकारशास्त्र को पूर्ण करने का श्रेय राजशेखर को है

सारस्वतेय काव्यपुरुष का कथानक वायुपुराण और बाण के हर्षचरित से, विषय–प्रतिपादन और अधिकरण–विवेचन रुद्रट के काव्यालङ्कार से, औपनिषदिक अधिकरण कामशास्त्र से, अध्यायों का विभाजन और शास्त्र–निर्देश अध्याय अर्थशास्त्र और कामशास्त्र से, विद्या–विवेचन अर्थशास्त्र, से, रस को काव्यात्म की स्वीकृति भरतनाट्यशास्त्र से, शिष्यों का वर्गीकरण वामन के काव्यालंकारसूत्र और अर्थशास्त्र से, शक्ति को काव्य–कारण की मान्यता और व्युत्पत्ति रुद्रट के काव्यालंकार से, वचन के भेद एवं वायुपुराण और विष्णुधर्मोत्तर से, तीन रीतियां तथा काव्यस्रोत वामन के काव्यालंकार से, अर्थ–विभाजन के दो प्रकार उद्भट और भामह से, कवि का कर्तव्य और कवि की नैष्ठिक वृत्ति कामशास्त्र से, पदार्थहरण के अनुसार कवि–विभाजन गौडवहो, ध्वन्यालोक और वामन के काव्यालंकार से, जम्बूद्वीप और भारतवर्ष का वर्णन पुराणों से लिया गया है।

राजशेखर ने इस प्रकार विस्तृत अध्ययन के द्वारा काव्यमीमांसा की रचना की। सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र का आलोडन कर कवियों की व्युत्पत्ति के निमित्त काव्यमीमांसा की रचना की गई जिसमें पूर्णता, वैज्ञानिकता और व्यापकता उल्लेखनीय है।

राजशेखर के विषय–ग्रहण का स्रोत व्यापक था और उन्होंने काव्य–मीमांसा में बहुत से आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है जिसमे

उस समय तक प्रचलित सभी सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है--रस, अलंकार, रीति और ध्वनि–सम्प्रदाय समानरूप से उनके उपजीव्य रहे हैं। यथास्थान इनका उपयोग और विपरीत पड़ने पर आवश्यकतानुसार परित्याग दोनों काव्यमीमांसा में पाया जाता है। इसलिये राजशेखर का सम्प्रदाय क्या था, यह निर्णय करना कठिन है। इतना निश्चित है कि ध्वनिसम्प्रदाय को मान्यता नहीं प्रदान की गई है, यद्यपि आनन्द के मत को उद्धृत किया गया है, शब्दार्थहरण के अनुसार कविविभाजन स्वीकार किया गया है। ध्वनि को काव्यात्मा स्वीकार करने के स्थान पर राजशेखर ने केवल रस को ही काव्यात्मा स्वीकार किया है।

राजशेखर और रीतिसम्प्रदाय

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेंव काव्यम्"

वामन के द्वारा उल्लिखित तीन रीति–प्रकार की स्वीकृति के आधार पर डा० एस०के० डे० ने राजशेखर के सम्प्रदाय के लिये रीति–सिद्धान्त की सम्भावना प्रकट की है। काव्ययोनि तथा शब्दार्थहरण, शिष्यों के दो भेद आदि स्थलों का उपजीव्य वामन का काव्यालंकारसूत्र ही रहा है। काव्यमीमांसा के विभिन्न स्थलों पर वामनीयः के द्वारा उनका ससम्मान उद्धरण भी दिया है लेकिन इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि राजशेखर सर्वत्र वामन से सहमत हैं। उन्होंने वामन की आलोचना कर उनसे असहमति भी प्रकट की है। काव्यपाक के प्रसंग में राशेखर ने वामन की मान्यता को अशक्ति कथन कर धज्जी उड़ा दी है तथा अवन्तिसुन्दरी के मत का समर्थन किया है जिसमें रसोचित शब्दार्थ सूक्तियों के निबन्धन को पाक स्वीकार किया है। रीति–निरूपण में भी राजशेखर ने वामन के मूलरूप गुण को ही एकमात्र आधार नहीं स्वीकार किया है प्रत्युत उन्होंने रुद्रट से समास को भी ग्रहण कर अनुप्रास को भी स्वीकार कर नवीनताका उन्मेष किया है। योगवृत्ति, उपचारगर्भ, योगवृत्ति परम्परा का उपन्यास भी रीति–निरुपण में राजशेखर की नवीन उद्भावना है। हाँ, उन्होंने वामन की वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियों को अवश्य स्वीकार किया है। रुद्रट की लाटीया रीति का परित्याग राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अवश्य किया है, परन्तु कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक में उन्होंने चार प्रकार की रीतियां स्वीकार की हैं। राजशेखर ने रीति–प्रकार तो अवश्य वामन से लिया है, लेकिन उनके मूलरूप गुण को ही एकमात्र आधार नहीं स्वीकार किया, अपितु रुद्रट के समास को भी ग्रहण किया है।

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्" में राजशेखर ने अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार की है, लेकिन वामन की परिभाषा में गुण नित्यधर्म है और अलंकार अनित्य--इस कथन के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि राजशेखर की परिभाषा का आधार वामन की परिभाषा ही है। राजशेखर के काव्य की परिभाषा तो अलंकारवादी उद्भट के अधिक सन्निकट प्रतीत होती है, क्योंकि उद्भट का स्पष्ट कथन है कि "गुणालंकारचारुत्वयुक्त-मप्यधिकोज्ज्वलम्"।

राजखेखर ने यथास्थान वामन से ग्रहण अवश्य किया है किन्तु वामन के रीति--सम्प्रदाय का अन्धानुकरण नहीं किया है, अपितु उनकी आवश्यकतानुसार आलोचना की है। रुद्रट आदि से भी ग्रहण किया है तथा नवीनता का भी समावेश किया है।

राजशेखर और अलंकार-संप्रदाय

काव्यमीमांसा की भूमिका में श्री सी०डी० दलाल ने यह सम्भावना प्रकट की है कि राजशेखर और रुद्रट का उपजीव्य एक ही रहा है जो इस समय अनुपलब्ध है।

यह ठीक है कि राजशेखर ने विषय--प्रतिपादन को रुद्रट से ग्रहण नहीं किया है परन्तु रस की काव्यात्मा की स्वीकृति, अलंकारों का वर्गीकरण तथा काव्य में शक्ति की मान्यता भी रुद्रट से ही ग्रहण की है। रुद्रट का प्रभाव उन पर विशेष लक्षित होता है। राजशेखर का अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्दश्लेष जो शब्दालंकार है तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय, अर्थश्लेष स्पष्टतः रुद्रट का अनुकरण है। यहां भी राजशेखर ने नवीनता प्रकट की है। रुद्रट के वक्रोक्तिरूप शब्दालंकार को पाठ धर्म का कथन कर खण्डन किया है। उभयालंकारिक रुद्रट में भी अर्थश्लेष के पश्चात् आया है और राजशेखर ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

उद्भट नामक दूसरे अलंकारशास्त्री को भी राजशेखर ने उद्धृत किया है और उनके विचारित सुस्थ और अविचारित रमणीय नामक अर्थ के दो प्रकार का कथन किया है। प्रतिहारेन्दुराज के आधार पर उद्भट का रस–प्रतिपादन उन्हें रस--सम्प्रदाय के सन्निकट कर देता है जिससे विद्वानों को भ्रम हो जाता है। प्रो० जैकोबी ने जैकब के अपभ्रंश पाठ के आधार पर उद्भट को ही रस को काव्यात्म मानने वाला आचार्य सिद्ध किया था जिसका नोबेल आदि अन्य विद्वानों ने भी उल्लेख किया था लेकिन यह धारणा निर्मूल थी। इस भ्रम का प्रधान कारण इन दोनों आचार्यों द्वारा रस का पर्याप्त विवेचन करना ही है। वास्तव में ये दोनों आचार्य अलंकारवादी हैं जिनका प्रभूत ऋण राजशेखर पर है। रीति–सम्प्रदाय की अपेक्षा रुद्रट का अनुसरण राजशेखर ने अधिक किया है, लेकिन रुद्रट की अपेक्षा पूर्णता और व्यापकता उनमें अधिक है। राजशेखर ने अलंकार को सातवां अंग कहा है। 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम्'।

राजशेखर और रस-सम्प्रदाय

राजशेखर ने काव्यात्मा रस को ही स्वीकार किया है। आपराजिति के मत को रसाधान के विषय में उद्धृत किया है **"किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इत्यापराजितिः।** लोल्लट के अनुसार सरस का भी वर्णन अत्यधिक नहीं होना चाहिये और प्रकृत रस के उपयुक्त होना चाहिये। राजशेखर नाट्यशास्त्र की इस मान्यता का आधान काव्य में भी करते हैं कि कवि–वचन के द्वारा नदी पर्वत आदि के वर्णन में भी रसनिवेश किया जा सकता है। कवि–प्रभेद में उन्होंने रसकवि का भी कथन किया है। राजशेखर के अनुसार रस काव्य की आत्मा है। उन्होंने रस पर यथेष्ट बल दिया है।

डा० एस०के० डे ने राजशेखर का कोई निश्चित सम्प्रदाय निर्धारित नहीं किया है। प्रत्युत रीति और रस–सम्प्रदाय के समीप ला कर रख दिया है। ऊपर हम देख चुके हैं कि राजशेखर ने रीति सम्प्रदायवादी वामन की तीव्र आलोचना की, वामन के रीति के एकमात्र आधार गुण को भी नहीं स्वीकार किया है अपितु रुद्रट के समास को भी ग्रहण किया है तथा अनुप्रास की नवीन उद्भावना की है अतएव राजशेखर का सम्भाव्य सम्प्रदाय रीति नहीं है।

विषय–प्रतिपादन, अलंकार–निरूपण तथा काव्य–हेतु में शक्ति की मान्यता स्पष्टतः उन्होंने रुद्रट से ग्रहण की है। अलंकार को सर्वतम अंग की मान्यता दी। उन्हें अलंकारवादी रुद्रट के मत के समीप रखती है। रुद्रट और उद्भव का रस–निरूपण इतना सापेक्षिक है कि यह धारणा हो चली थी कि उद्भट ही रस को काव्यात्मा का कथन करने वाले आदि आचार्य हैं। रुद्रट और उद्भट का राजशेखर ने प्रभूत अंश में अनुकरण किया है लेकिन रस को काव्यात्मा की स्वीकृति उन्हें रस–सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध करती है जिसका आधार भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले उत्तरवर्ती आचार्य भट्ट नायक, भट्ट लोल्लट, शंकुक का रस निरूपण है जो राजशेखर के समकालीन है।

ध्वनि और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

यद्यपि राजशेखर के काव्यमीमांसा में ध्वनि–सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी यत्र–तत्र उसके सिद्धान्तों का उद्धरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि ध्वनि–सम्प्रदाय की स्थापना राजशेखर के समय तक हो चुकी थी। किन्तु उसकी सैद्धान्तिक मान्यतायें आलोचकों को उस समय तक मान्य नहीं थी।

काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय शास्त्र–संग्रह में औक्तिक प्रकरण का उल्लेख किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजशेखर का मन्तव्य ध्वनि–सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना का था तथा जिसके आदि आचार्य उक्तिगर्भ थे। इस सन्दर्भ में राजशेखर ने ध्वनि–सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख काव्यमीमांसा में किया है। अर्थहरण–प्रकार के कवियों का विभाजन भी राजशेखर ने ध्वन्यालोक से ग्रहण किया है, यद्यपि उनमें व्यापकता अधिक है। कवि–प्रभेद में उन्होंने उक्ति–कवि का भी स्थान–निर्धारित किया है। काव्य में उक्ति का स्थान राजशेखर ने प्रमुख रूप से स्वीकार किया है।

राजशेखर की आलोचना-पद्धति

कविराज राजशेखर की कविप्रशस्ति जो उनके उपलब्ध ग्रन्थों बालरामायण, 'कर्पूरमञ्जरी तथा अन्यान्य सूक्ति–ग्रन्थों में प्रचुरमात्रा में पाई जाती है, उद्धृत कवि तथा उनके काव्य के निर्धारण में अत्यन्त उपयोगी एवं सहायक है। इन प्रशस्तियों में मुख्यतया दो प्रकार के दृष्टिकोण दिखलाई पड़ते हैं। प्रथमतः इन प्रशस्तियों में अप्रसिद्ध कवियों की साहित्यिक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। उनकी इस प्रशस्ति की एकमात्र उपयोगिता यही नहीं है कि कवियों के विषय में अनुपलब्ध ज्ञेय की जानकारी प्राप्त होती है, कवियों की साहित्यिक विशेषताओं से परिचय प्राप्त होता है, प्रत्युत इसका महत्त्व इस दृष्टिकोण से और भी अधिक हो जाता है कि स्वयं राजशेखर की आलोचनाशक्ति का द्योतन करता है, उनके आलोचक रूप का स्पष्टीकरण करता है तथा स्वयं उनकी शास्त्रीय अभिरुचि की अभिव्यक्ति करता है। इतना ही नहीं, अपितु प्रशंसित कवियों का काल निर्धारण शेखर के काल निर्धारण की भी एक बाह्य सीमा निबद्ध करता है। अभिप्राय यह है कि यह प्रशस्ति–उल्लेख कवियों के विषय में ही उपयोगी नहीं है, प्रत्युत राजशेखर के कालनिर्धारण, व्यापक दृष्टिकोण, शास्त्रीय सम्प्रदाय, आलोचना–शक्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन कर एक निश्चित मत स्थापित करने में सहायक है।

कविराज राजशेखर ने बालरामायण नामक अपने नाटक में बाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ, भवभूति, शंकरवर्मा, अकालजलद तरल सुरानन्द कविराज आदि कवियों का उल्लेख किया है। कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक में मृगांकलेखा कथाकार अपराजिति, हाल, हरिश्चन्द्र नन्दिचन्द्र आदि कवियों का उल्लेख किया है। इनमें शंकरवर्मा, आपराजिति तो राजशेखर के समकालीन कवि हैं। अकालजलद

तरल, सुरानन्द कविराज राजशेखर के पूर्वज हैं। बाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ, भवभूति, हरिश्चन्द्र तो प्रसिद्ध ही हैं, नन्दिचन्द्र आदि अप्रसिद्ध कवि हैं।

सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितहारावली, शाङ्र्गधरपद्धति आदि सूक्ति–ग्रन्थों में राजशेखर द्वारा विरचित प्राचीन कवियों के विषय में प्रशंसापरक श्लोक मिलते हैं जो उनके उपलब्ध ग्रन्थों में नही पाये जाते। इन कविप्रशस्तियों का महत्त्व प्रशंसित कवियों के विषय में जानकारी के लिये ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत राजशेखर की आलोचना–पद्धति का द्योतन भी इनके आधार पर होता है।

अकालजलद (सू० मु०, कवि का प्र० ४, श्लो० ८५), अवन्तिवर्मा (सू० मु०, ४, ६४), कादम्बरीराम (सू० मु०, ४, ८४), कुलशेखर वर्मा (सू० मु०, ४, ८६), गणपति (सू० मु०, ४, ७२), गुणाढ्य (सू० मु०, ४–५२), तरल (सू० मु०, ४–८६), दण्डी (सू० मु०, ३. ७४ शा० व० पृ० ७२–३), धनञ्जय (सू० मु०, ४–८७), पाणिनि (सू० मु०, ४–४५), भीमट (सू० मु०, ४–८१), मातंगदिवाकर (सू० मु०, ४–७०), मायुराज (सू० मु०, ४.८२), रत्नाकर (सू० मु०, ४.७७), रामिलसोमिल (सू० मु०, ४–४६), वररुचि (सू० मु०, ४–४६), शातवाहन नरेश (सू० मु०, ४–५३), सुरानन्द, स्कन्ध, सुबन्धु, श्रीसाहसांक (शा० प०, १७ पृ० २८)।

उपर्युक्त कवियों का उल्लेख जो राजशेखर ने किया है उनसे उनकी ऐतिहासिकता एवं उनके काव्य का ज्ञान होता है। अकालजलद कवि थे, जिनकी रचनाओं का कवियों में समादर होता था। कादम्बरीराम, जो नाटककार थे, अकालजलद के ग्रंथों से सामग्री लेकर ही रचना करते थे। कुलशेखर वर्मा द्वारा लिखित मुकुन्दमाला तो प्रसिद्ध ही है, आश्चर्चमञ्जरी भी कोई ग्रन्थ था जिसके उल्लेख की पुष्टि अन्य आधार से भी होती है। (**पाणिनिप्रत्याहारो वा महाप्राणसमाश्लिष्टो झषलिङ्गश्च समुद्रः, इत्याश्चर्यमञ्जरी अमरकोषटीकायां वारिवर्गे झषपदव्याख्याने मुकुटः।**) कुलशेखर ही राजशेखर थे जो केरल कि अधिपति थे, इस कथन का निराकरण भी राजशेखर की इस प्रशंसा से हो जाता है, क्योंकि राजशेखर ने ही कुलशेखर का वर्णन यहां किया है। गणपति कवि गान्धर्व विद्या में निपुण थे और उन्होंने महामोद नामक ग्रन्थ की रचना की। गुणाढ्य–रचित बृहत्कथा छह लाख श्लोकों में थी जो जलने के पश्चात् एक लाख मात्र अवशिष्ट है। (इसकीपुष्टि कथासरित्सागर के अष्टम् तरंग से होती है।) तरल, सुरानन्द, राजशेखर के पूर्व–पुरुष थे, इसका कथन बालरामायण में किया है। दण्डी द्वारा रचित तीन प्रबन्धो का ज्ञान होता है। (काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा इतर ग्रन्थभी दण्डी के थे)। धनञ्जय द्विसंधानकाव्य, (जिसका दूसरा नाम राघवपाण्डवीयम् है) के रचयिता जैन थे। (प्रसिद्ध कविराजकृत एवं मुद्रित राघवपाण्डवीय काव्य दूसरा है)।

वैयाकरण पाणिनि कवि भी थे जिन्होनें जाम्बवतीजय की रचना की थी जिसका दूसरा नाम पातालविजय भी था। इसकी पुष्टि अन्य आधारों पर भी होती है। भीमट कालिंजर नरेश ने पांच नाटकों की रचना की थी जिनमें 'स्वप्नदशानन" प्रबन्ध था। हर्ष की सभा में प्रसिद्ध कवि दिवाकर ही मातंग दिवाकर हैं। मायुराज कलचुरि देश के कवि हैं, जिन्होंने रामायण के अनुकूल किसी नाटक की रचना की थी। रामिलसोमिल शूद्रककथाकार हैं। वररुचि ही प्रसिद्ध कात्यायन है। राजशेखर के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये कवि भी थे। इनके नाम से बहुत से श्लोक सूक्ति–ग्रन्थों में मिलते हैं। सातवाहननरेश, स्कन्ध, श्रीसाहसांक और सुबन्धु का केवल नामोल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार राजशेखर के इस उद्धरण में एक ओर तो हमें उनके कौट्टाम्बिक अकालजलद आदि कवियों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर उन कवियों के तथा उनके काव्य के विषय में जानकारी होती है जो या तो अप्रसिद्ध है जैसे भीमट आदि या जिनके कवि होने का ज्ञान हमें नहीं था, उनका दूसरा रूप ही हमारे सामने था, यथा पाणिनि, वररुचि आदि। राजशेखर का यह वर्णन हमारे सामने विगत कवियों की ऐतिहासिकता और काव्य की एक सुस्पष्ट झांकी प्रस्तुत करता है और इस प्रकार कवि और काव्य का यथार्थ निर्देश राजशेखर के इस उद्धरण से हमें प्राप्त होता है।

राजशेखर की कवि–प्रशस्ति का दूसरा रूप हमें प्रसिद्ध कवियों के उद्धरण में प्राप्त होता है जो सूक्तिमुक्तावली में है। उन कवियों की साहित्यिक विशेषता और मान्य सिद्धान्तों का ही चयन राजशेखर ने किया।

आनन्दवर्धन (सू० मु०, ४–७८), कर्णाटी विजयांका (सू० मु०, ४–६३), कालिदास (सू० मु०, ४–६०), कुमारदास (सू० मु०, ४–७६), गोनन्दन (सू० मु०, ४–८५), त्रिलोचन (सू० मु०, ४–७१), लाटी कवि प्रभुदेवी (सू० मु०, ४–६४), प्रद्युम्न (सू० मु०, ४–७३), बाण (सू० मु०, ४–६५, ४–६७), भारवि (सू० मु०, ४–५८), माघ (सू० मु०, ४–५८, ५६) , मयूर (सू० मु०, ४–६८), विकटनितम्बा (सू० मु०, ४–६२), शाङ्करी (सू० मु०, ४–६०), शीला भट्टारिका (सू० मु०, ४–६१), सुभद्रा (सू० मु०, ४–६५)।

उपर्युक्त कवि प्रसिद्ध हैं। अतएव राजशेखर के वर्णन द्वारा उनकी साहित्यिक प्रतिभा का द्योतन होता है। आनन्दवर्धन प्रसिद्ध ध्वन्यालोक के रचयिता हैं, जिन्होंने ध्वनि से अत्यन्त गम्भीर काव्यतत्त्व का निवेश किया है। विजयांका कर्णाट देश की कवयित्री है, जिनका स्थान वैदर्भी रीति की रचना में कालिदास के पश्चात् अन्यतम है। कालिदास के शृंगार–रस और इनके ललित वाणी का

उल्लेख किया गया है। कुमारदास ने जानकीहरण नामक काव्य की रचना की थी। कालिदास के रघुवंश नामक महाकाव्य के रहते हुये भी कुमारदास के जानकीहरण की रचना उनकी अद्‌भुत प्रतिभा का द्योतक है। गोनन्दन अनुप्रास की रचना मे अपनी समता नहीं रखते थे। त्रिलोचन के अतिरिक्त पार्थविजय की क्षमता अन्य में नहीं हो सकती और अर्थ–सन्निवेश की प्रशंसा की गई है। प्रभुदेवी लाटदेश की कवियित्री है; जिन्होंने सूक्तियों, कामकेलि तथा कलाओं का काव्य में सन्निवेश कर अपने को अमर बना दिया है। शीला की स्वच्छन्द वाणी की कुलटा स्त्री से तुलना की गई है तथा उनकी पदरचना की प्रशंसा की गई है। भास के स्वप्नावासवदत्ता नामक नाटक की पवित्रता की प्रशंसा की गई है। भारवि से कविगण माघमास की भांति प्रकम्पित हो जाते हैं। माघ की रचना पढ़कर कवियों का उत्साह भंग हो जाता है। उनकी पदरचना शिथिल हो जाती है। उस समय कविगण बन्दरों की भांति माघ मास में इस सूर्य की भांति भारवि का स्मरण करते हैं। बाण के समान मयूर भी हर्ष की राजसभा के कवि थे, जिनकी रचना को पढ़कर कवियों का अभिमान समाप्त हो जाता था। विकटनितम्बा कवि के विषय में तो अधिक विवरण प्राप्त नहीं है किन्तु राजशेखर ने इनकी राजोचित वाणी की प्रशंसा की है। शंकर राजशेखर के समकालीन कवि शंकरवर्मा ही हैं, जिनकी स्वाभाविक मधुर वाणी की प्रशंसा की गई है। शीला भट्टारिका पांचाली रीति की रचना करने वाली कवियित्री हैं। सुभद्रा के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है, लेकिन इनकी रचना विवेकपूर्ण होती थी।

राजशेखर का आग्रह इस प्रशस्ति में किसी सम्प्रदाय विशेष से अनुगत नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत इन्होंने इस प्रशस्ति मे उन कवियों के मान्य सिद्धान्तों और साहित्यिक विशेषताओं को ही ग्रहण किया है। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य उल्लेख्य है कि उन्होंने भावकों की जो चार कोटियां अरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणः, मत्सरिणः, तत्त्वाभिनिवेशिनः निर्धारित की है उसके अनुसार राजशेखर की यह कवि–प्रशस्ति तत्त्वाभिनिवेशिनः कोटि के अन्तर्गत आती है, जिसमें उन्होंने बिना किसी द्वेष के उन कवियों की साहित्यिक विशेषताओं को उद्‌धृत किया है जिनमें कवियों के मान्य सिद्धान्तों एवं परम्पराओं का यथातथ्य उल्लेख किया गया है।

राजशेखर की इस प्रशस्ति में अपने पूर्वपुरुषों अकालजलद, तरल और सुरानन्द के उल्लेख के साथ–साथ उनके काव्य–वैशिष्ट्य का विवरण उपलब्ध होता है।

कादम्बरीरामनाटककार, कुलशेखरवर्मा के आश्चर्यमञ्जरी नामक ग्रंथ तथा कुलशेखर ही राजशेखर थे जो केरल के अधिपति थे इस कथन का निराकरण, गणपति के महामोह नामक ग्रंथ, वैयाकरण पाणिनि के कविरूप का परिचय और उनका "पातालविजय" का विवरण, नाटककार भीमट का प्रबन्ध, वररुचि का कविरूप, विजयांका का कवियित्री होने का प्रमाण, गोनन्दन का अनुप्रास–वैशिष्ट्य त्रिलोचन के पार्श्वविजय का ज्ञान, प्रभुदेवी का परिचय, विकटनितम्बा का कवियत्री–रूप, शीला भट्टारिका का कवियित्री रूप और पांचाली रीति से प्रेम, सुभद्रा का कवियित्री–रूप आदि राजशेखर के उपर्युक्त उद्धरण ऐसे है; जो संस्कृत वाङ्मय के इतिहास निर्धारण में अधिक सहायक हैं। कवि तथा उनके काव्य का ऐतिहासिक वर्णन हमें राजशेखर के इस उद्धरण में ही प्राप्त होता है इसलिये राजशेखर की इस प्रशस्ति का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है।

राजशेखर ने इस प्रशस्ति में जिन कवियों का उल्लेख किया है, उनमें बहुत से कवि ऐसे हैं जिनका अभी तक काल–निधारण नहीं हुआ है, लेकिन जिन कवियों का कालनिर्धारण हो चुका है, उनमें आनन्दवर्धन (८५४–८८३ ई०), अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के नाम भी हैं। अन्य कवि इन दोनों के पहले के ही हैं। अतएव राजशेखर के काल–निर्धारण की एक बाह्य सीमा भी इस प्रशस्ति से उपलब्ध होती है कि राजशेखर ८५४ ई० से पहले नहीं हो सकते।

समष्टिरूप से राजशेखर की इस प्रशस्ति का महत्त्व अप्रसिद्धकवियों के कवित्वरूप और उसके काव्य का परिज्ञान कर के ऐतिहासिक साधन प्रस्तुत कराने में है तथा राजशेखर के काल–निर्धारण की बाह्य सीमा प्रस्तुत करना है। प्रसिद्ध कवियों की साहित्यिक विशेषताओं और उनके मान्य सिद्धान्तों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करता है, जिनमें हमें राजशेखर के तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक रूप का दर्शन होता है, कवियों का उल्लेख करने में उन्होंने रसवादी, रीति–अलंकारवादी कवियों और ध्वनिवादी आनन्दवर्धन को समानरूप से यथार्थ तत्त्वों का वर्णन किया है जो उस समय तक प्रचलित सभी वादों की परम्परा के ज्ञान का तथा उनके उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का सूचक है।

राजशेखर का महत्त्व

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि राजशेखर का साहित्यमीमांसक के रूप में क्या स्थान है ? यह निर्विवाद है कि राजशेखर ने कवि तथा नाटककार के रूप में पर्याप्त सफलता तथा ख्याति अर्जित की है। पर यह भी सुतरां सत्य है कि साहित्यमीमांसक के रूप में भी राजशेखर का स्थान नितान्त उन्नत स्पृहणीय है। महामहोपाध्याय डा० काणे के अनुसार काव्यमीमांसा अनेकों विषयों का संकलन है। प्राचीन काल से चली आ रही अविच्छिन्न साहित्यधारा को राजशेखर ने एक बार पुनः गति प्रदान की।

जैसा कि काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय से स्पष्ट है कि उपलब्ध प्रथम अधिकरण अष्टादश अधिकरणात्मिका काव्यमीमांसा का एक अंश मात्र है। राजशेखर द्वारा बतायी सूची के अनुसार काव्यमीमांसा साहित्य के सम्पूर्ण अंगों को व्यापृत किये थी। इस व्यापकता की दृष्टि से राजशेखर सभी अलंकारिकों में मूर्धन्य है और यदि काव्य–मीमांसा अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध होती तो अलंकारशास्त्र का इतिहास और समृद्ध तथा व्यापक होता।

राजशेखर के महत्त्व का इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने उनको अनेकशः उद्धृत किया है। जिन आचार्यों ने काव्यमीमांसा का उपयोग किया है उनमें क्षेमेन्द्र, भोज, हेमचन्द्र तथा परवर्ती वाग्भट प्रमुख हैं। अलंकारशेखर, एकादश मरिचि के अन्त में राजशेखर का एक श्लोक उद्धृत करता है जो वर्तमान काव्यमीमांसा में अनुपलब्ध है। यह श्लोक इस प्रकार है :–

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।।

हेमचन्द्र ने ८, ६ एवं १३–१८ अध्यायों की नकल प्रस्तुत की है। इन उल्लेखों के आधार पर राजशेखर का व्यापक प्रचार तथा महत्त्व दर्शित होता है।

काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की कल्पना राजशेखर की एक अनोखी देन है। प्रतीत यह होता है कि राजशेखर ने यह भावना वेद–पुरुष के आधार पर ग्रहण की। इसके अनुसार "वाणी की असिहात्री सरस्वती देवी हिमवान् पर्वत पर पुत्र–प्राप्ति की इच्छा से तपस्या कर रही थी। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट प्रजापति ब्रह्मा ने उन्हें एक पुत्र–रत्न दिया जो बाद में काव्य–पुरुष के नाम से विख्यात हुये। उन्हीं से सर्वप्रथम छन्दोमयी वाणी आविर्भूत हुई। इस काव्य–पुरुष के शरीर की निर्मिति शब्दार्थ से हुई है। विभिन्न भाषायें उनके अंग हुई। एक समयं जब सरस्वती देवी ब्रह्मा द्वारा श्रुतिविषयक ऋषियों के विवाद में निर्णायिका बनायी गई तो उनके ब्रह्मलोक में जाते समय उन काव्यपुरुष ने भी उनका अनुधावन किया। सरस्वती ने उस काव्य–पुरुष को मना किया पर जब वे नहीं माने तो उन्हें रोकने के लिए साहित्यविद्यावधू का निर्माण किया। उस साहित्य विद्यावध् ने काव्यपुरुष को आकर्षित करने के लिये नाना वस्त्राभरणों को धारण किया। यात्रान्त होते होते काव्यपुरुष को मुग्ध कर लिया। फिर वत्सगुल्म में दोनों का गान्धर्वरीति से विवाह हो गया। जिन–जिन प्रदेशों में साहित्य–विद्यावधू ने जो आभरण तथा सज्जा सज्जित की वहां के लोग उसमें अभ्यस्त हुये।" इस आख्यान में राजशेखर ने एक नवीन घटना की सृष्टि की है। यद्यपि वस्तुतः यह देवशास्त्रात्मक ही है पर एक नवीन कल्पना की सृष्टि में यह एक अनोखी वस्तु है।

राजशेखर का महत्त्व अलंकार–शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास–निर्माण करने की दृष्टि से भी है। उन्होंने अनेकों पूर्व आचार्यों का नामतः उल्लेख किया है, जिससे उन आचार्यों की पूर्वभाविता तथा प्रचार का पता लगता है।

प्राचीन भारतीय भूगोल की जानकारी के लिये भी काव्यमीमांसा सुतरां उपादेय है। विभिन्न देशों की स्थिति का उन्होंने निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में किस देश के लोग किस भाषा में विदग्ध तथा किसमें असमर्थ होते थे इसका पता देना राजशेखर की अपने विशेषता है। किस प्रकार लोग भाषा का उच्चारण करते हैं, इसका भी हमें पता लगता है।

संक्षेप में राजशेखर का स्थान संस्कृत–साहित्यशास्त्र में ऊंचा है तथा एक सीमित क्षेत्र में उन्होंने परवर्ती साहित्यशास्त्र पर खास प्रभाव डाला है।

काव्यमीमांसा के प्रथम से पांच अध्यायों तक के कुछ सम्भावित प्रश्न

प्रथम अध्याय-

प्रश्न शास्त्र संगह का निर्देश करिये या काव्य मीमांसा के निर्माण का हेतु प्रतिपादित कीजिये ?

उत्तर राजशेखर ने काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में शास्त्रसंग्रह का निर्देश किया है और यह बताया है कि काव्यमीमांसा की रचना क्यों की गई। प्रथम पंक्ति में ही राजशेखर का कथन है कि अब काव्य की मीमांसा करेंगे जैसा कि श्रीकण्ठ (शिव) ने परमेष्ठि, वैकुण्ठ आदि ६४ शिष्यों को उपदेश दिया। भगवान् ब्रह्मा ने अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों को उपदेश दिया। उनमें एक सरस्वती का पुत्र काव्य पुरुष भी था। प्रजापति ब्रह्मा ने सब समयों के ज्ञाता और दिव्य दृष्टि से भविष्यत् अर्थ को देखने वाले उसको भूर्भूवः स्वः इन तीनों प्रकार की प्रजाओं के हित की इच्छा से, काव्य विद्या के प्रवर्तन के लिए नियुक्त किया। उसने १८ अधिकरण वाली काव्य विद्या अलौकिक काव्यविद्या के स्नातकों को बतलाई। उन स्नातकों में सहस्राक्ष ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक (उक्ति सम्बन्धी), सुवर्णनाभ ने रीति निर्णय, प्रचेता ने आनुप्रासिक (अनुप्रास सम्बन्धी), यम ने यमक, चित्रांगद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव, औपकायन ने औपम्य (उपमा सम्बन्धी), पराशर ने अतिशय, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने

उभयालंकारिक (उभय अलंकार सम्बन्धी), कामदेव ने वैनोदिक (विनोद सम्बन्धी), भरत ने रूपक निरूपणीय (रूपक नन्दिकेश्वर ने रसाधिकारिक (रस सम्बन्धी), धिषण (बृहस्पति) ने दोषाधिकरण, उपमन्यु ने गुणोपादानिक (गुण सम्बन्धी) और कुचमार ने औपनिषदिक (उपनिषद् सम्बन्धी) को अच्छी प्रकार से प्रकट किया। फिर उन्होंने अलग अलग अपने अपने शास्त्रों की रचना की। इस प्रकार बिखरने से वह कुछ नष्ट प्रायः हो गई। इसलिए सम्पूर्ण अर्थ को अल्पग्रन्थ में संक्षिप्त करके यह १८ प्रकरण वाली काव्य मीमांसा रची गई है। यह प्रकरण के अधिकरणों का कथन है। (१) शास्त्र संग्रह, (२) शास्त्रनिर्देश (३) काव्यपुरुषोत्पत्तिः, (४) शिष्य प्रतिभे (दो प्रकार की प्रतिभा), (५) व्युत्पत्ति–विपाकः (६) पदवाक्य विवेकः (७) वाक्यविधेय (वाक्य की योनियां), (८) काकु–प्रकाशः (काकु के प्रकार), (९) पाठ प्रतिष्ठा, (१०) काव्यार्थ योनयः (११) अर्थानुशासनम १२ (१३) राजचर्या, (१४) शब्दार्थहरणोपायाः (शब्द और अर्थ के ग्रहण करने के उपाय) , (१५) कविविशेष (१६) कविसमय (१७) देशकालविभागः, (१८) भुवनकोशः। इनमें कवि रहस्य प्रथम अधिकरण है। इन सूत्रों का आगे, व्याख्या भाष्य होगा। शिष्यों के हित के लिए समास और विस्तार किया गया है। विचित्र उदाहरणों से भारवती, किन्तु आकार से छोटी यह काव्यमीमांसा व्युत्पत्ति का (कवि कर्म में नैपुण्य) कारण होगी। यह काव्यमीमांसा है जिसमें वाग्लव–वाणी के अश अर्थात् शब्द और अर्थ के विवेचना है जो इसे नहीं जानता वह वाग्लव भी नहीं जानता। यायावरीय राजशेखर ने कवियों के लिए मुनियों के मत विस्तर को संक्षिप्त करके काव्य मीमांसा की रचना की। काव्य मीमांसा की रचना कवियों के लिए की गई है।

द्वितीय अध्याय-

प्रश्न शास्त्र कितने प्रकार के हैं ? या विद्या स्थान या विद्याएं कितनी हैं ?

उत्तर राजशेखर के अनुसार प्रथम वाङ्मय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – (१) शास्त्र, (२) काव्य। काव्य शास्त्रपूर्वक ही होता है। अतः पहले शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है। शास्त्र दो प्रकार का है–(१) अपौरुषेय, (१) पौरुषेय। श्रुति अपौरुषेय है। श्रुति में मन्त्र और ब्राह्मण आते हैं। मन्त्र क्रिया प्रयोग को बताने वाले हैं, मन्त्रों की स्तुति, निन्दा, व्याख्यान, विनियोग आदि बताने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद हैं। अर्थानुसार व्यवस्थित पाद (पद) वाली ऋचाएं हैं गीत से युक्त वे ही ऋचाएं साम हैं। छन्द रहित, गीत रहित, यजुष् हैं। इतिहास, धनुर्वेद, गान्धर्व और आयुर्वेद ये चार उपवेद हैं। द्रौहिणी (ब्रह्मा) के अनुसार 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो नाट्यवेदः', वेद और उपवेदों के स्वरूप वाला, सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिए, पांचवां नाट्यवेद है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति, ज्योतिष ये छ अंग वेदांग हैं। यायावरीय राजशेखर के मत में सबका उपकारक होने से अलंकार सातवां अंग है। इन छः वेदांगों में स्थान कारण, प्रयत्न आदि के द्वारा वर्णों की निष्पत्ति बताने वाली शिक्षा है जैसे आपिशलीयादि शिक्षा। नाना शाखाओं में अध्ययन किए गए मन्त्रों का विनियोजन बताने वाला सूत्रग्रन्थ कल्प है। शब्दों का अन्वाख्यान (प्रकृति, प्रत्यय आदि के माध्यम से सुप तिङ्गन्तादि की सिद्धि करने वाला) बताने वाला व्याकरण है। निर्वचन करने वाले निरुक्त है। छन्दों का प्रतिपादन करने वाला छन्दोविचिति है। ग्रहों की गणना करने वाला ज्योतिष है। अलंकार का व्याख्यान अग्रिम अध्यायों में होगा। पौरुषेय में पुराण आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृति–तन्त्र ये चार शास्त्र आते हैं। इनमें वेदों के आख्यान का निबन्धन करने वाला पुराण है पुराण १८ हैं। पुराण का लक्षण कहा गया है, 'सर्ग', प्रतिसर्गः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः। जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति।। कुछ के अनुसार पुराण का ही भेद इतिहास है। परक्रिया और पुराकल्प भेद से वह दो प्रकार का होता है–एक नायक से सम्बद्ध परक्रिया और बहुत नायकों से सम्बद्ध पुराकल्प होता है। रामायण परक्रिया का और महाभारत पुराकल्प का उदाहरण है। पूर्व और उत्तर पक्ष भेद से आन्वीक्षिकी (दर्शन) दो प्रकार की है। अर्हत (जैन), भदन्त (बौद्ध) और लोकयात या लोकायत (चार्वाक) ये तीन दर्शन पूर्वपक्ष है। सांख्य, न्याय और वैशेषिक – ये तीन दर्शन उत्तर पक्ष हैं। इनमें तीन प्रकार की कथाएं होती हैं - वाद, जल्प और वितण्डा। दो मध्यस्थों में तत्त्व के अवबोध के लिए वस्तु तत्त्व (यथार्थ) का कथन वाद है। जीतने के इच्छुक का अपने पक्ष की सिद्धि के लिए छल, जाति, निग्रहादि का ग्रहण जल्प है। अपने पक्ष का ग्रहण न करते हुए दूसरे पक्ष में दोष निकालने वाला वितण्डा है। वेदवाक्यों की अनेक प्रकार के न्यायों (तर्को में) से विवेचन करने वाली मीमांसा है। वह भी दो प्रकार की है–(१) विधि का विवेचन करने वाली (१) ब्रह्म का निदर्शन करने वाली ब्रह्मनिदर्शनी। श्रुति के अर्थ का स्मरण कराने में स्मृतियां भी १८ हैं। इस प्रकार ये १४ विद्यास्थान हैं – चार वेद, छः वेदांग और चार शास्त्र। यायावरीय के मत में समग्र विद्यास्थानों का एकत्र निवास स्थान काव्य पन्द्रहवां विद्यास्थान है, **'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्।"** क्योंकि यह गद्यपद्यमय, कवि धर्म और हितोपदेशक होता है। दूसरों के मत में वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति ये चारों पहले १४ के साथ मिलकर १८ विद्यास्थान हैं। विद्या कितनी हैं इस विषय में मतभेद हैं। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति विद्या हैं। उशनस के अनुयायियों के मत में केवल दण्डनीति ही विद्या है। बृहस्पति के अनुयायियों के मत में वार्ता

और दण्डनीति दो विद्याएं हैं। मनु के मतानुयायियों के अनुसार, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति–तीन विद्यायें हैं। कौटिल्य के मतानुसार आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार विधाएं हैं। यायावरीय के मत में पञ्चमी साहित्यविद्या' पांचवीं साहित्य विद्या है। वह चारों विद्याओं का सार है। इन विद्याओं से धर्म और अर्थ जाने जाते हैं। यह विद्याओं का विद्यात्व है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य ये वार्त्ता हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता के योग क्षेत्र का साधन दण्ड है, उसकी नीति दण्डनीति है। उसी से लोक व्यवहार चलता है। शब्द और अर्थ का उचित सहभाव साहित्य विद्या है। छः उपविद्याएं है।, ये ही कलाएं हैं। शास्त्रों का यह सामान्य लक्षण है, 'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः। ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।'

सरिता के प्रवाह के प्रवाह के समान शास्त्र प्रारम्भ में छोटे होते हैं और धीर–धीरे बढ़त जाते हैं। सूत्रादि के द्वारा इनका प्रणयन होता है।

प्रश्न शास्त्र के अंग (भेद) कितने हैं ? या शास्त्रों का प्रणयन किनसे होता है ? या सूत्र, वृत्ति, भाष्यादि की परिभाषा दीजिये।

उत्तर शास्त्रों का प्रणयन सूत्र, भाष्य, पद्धति, टीका, वृत्ति, कारिकादि के द्वारा होता है। ये ही शास्त्र के भेद या प्रकार हैं। इनकी परिभाषाएं निम्न हैं :–

सूत्र – **'सूत्रणात् सूत्रम'** अर्थात् विस्तृत अर्थ को छोटे में पिरोना सूत्र है, जैसा कि कहा है, **'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः।।'**

वृत्ति – सूत्रों के सम्पूर्ण सार का विवरण देने वाली वृत्ति है, **'सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः।'**

पद्धति – सूत्रों की वृत्ति का विवेचन पद्धति है, 'सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः'।

भाष्यम् – शंकाएं स्वयं उठाकर उनका खण्डन करते हुए विस्तृत व्याख्या भाष्य है। **'आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्।'**

समीक्षा – भाष्य के अन्दर निहित गम्भीर अर्थों की व्याख्या समीक्षा है। भाष्य के अन्दर विद्यमान अवान्तर अर्थों का अलग–अलग विभाग भी समीक्षा है। –अन्तर्भाष्यं समीक्षा' 'अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा।'

टीका – यथासंभव सरल अर्थों को घोषित करना टीका है,**'यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका।'**

पञ्जिका – विषम पदों को तोड़कर २ अलग करवे वाली पञ्जिका है, **'विषमपदभञ्जिका पञ्जिका'।**

कारिका – उक्त, अनुक्त, दुरुक्त शब्दों का विवेचन वार्त्तिक है। **'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकम्।**

प्रकरण – शास्त्र के एकदेश (भाग) की प्रक्रिया का नाम प्रकरण है।

अध्यायादि – अध्यायादि अवान्तर विभाग हैं।

इस प्रकार ये असंख्य तथा अवर्ण्य हैं।

तृतीय अध्याय

प्रश्न काव्य पुरुष की उत्पत्ति कैसे हुई ? या प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का उद्भव कैसे हुआ ?

उत्तर काव्यपुरुष की उत्पत्ति के विषय में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में एक पौराणिक कथा सी दी है। पहले पुत्र की इच्छा करती हुई सरस्वती ने हिमालय पर तपस्या की। प्रसन्न हुए ब्रह्मा ने उसे पुत्र उत्पन्न होने का वरदान दिया। इसके बाद उसने (सरस्वती) काव्य पुरुष को उत्पन्न किया। उसने उठकर चरणस्पर्श कर छन्द से युक्त वाणी का उच्चारण किया। वेद में ही उपलब्ध उस छन्दमयी रचना को भाषा (संस्कृत) के विषय में देखकर सरस्वती ने प्रसन्न होकर पुत्र की प्रशंसा करी कि उससे पूर्व विद्वानों ने गद्य के दर्शन किऐ थे पद्य के नहीं। अब उससे छन्दयुक्त वाणी प्रवृत्त होगी। एक रूपक के रूप में उसे प्रस्तुत किया–शब्द और अर्थ उसका शरीर है, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जघन प्रदेश है, पैशाची दोनों पैर हैं, मिश्र भाषा वक्षस्थल है। वह सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। उक्तिवचन उसकी वाणी, रस आत्मा, छन्द रोएं (रोम), प्रश्नोत्तर, प्रहेलिकादि वाग्विविनोद, अनुप्रास, उपमादि उसको अलंकृत करने वाले हैं। भविष्यदर्थ का कथन करने वाली श्रुति भी उसकी स्तुति करती है,

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो-रोरवीति महा देवो मर्त्यानाविवेश।।'

(इस मन्त्र की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। अग्नि और सूर्य के पक्ष में चार वेद सींग, तीन सवन, पाद, दिन और रात

सिर या ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य सात रश्मियां या छन्द या पांच ज्ञानेन्द्रियां अन्तःकरण और आत्मा सात हाथ, अन्तःकरण, कर्म उपासना और ज्ञान या मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प तीन प्रकार से बंधा के वर्षा, सुख की वर्षा करने वाला विशाल देव, प्रकाश स्वरूप मर्त्यों, मरणधर्मा में विद्यमान है। व्याकरण के अनुसार, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात पदसमूह – चार सींग, तीन काल, तीन पैर, नित्य और कार्य दो प्रकार के शब्द – दो सिर, सात विभक्तियां, सात हाथ, उर, कण्ठ और सिर – तीन स्थान से बंधा, शब्द करता है) तो भी सरस्वती ने उसे प्रगल्भ पुरुष के कर्म को समेटने और बालोचित चेष्टा करने के लिए कहा। सरस्वती उसे शिलातल पर रखकर नहाने चली गई। वहाँ समिधा लेने के लिए निकले मुनि उशना ने उसे गर्मी से व्याकुल देखा और अपने आश्रम में ले आये तब काव्यपुरुष ने उन्हें छन्दोमयी वाणी के लिए प्रेरित किया। तभी से उशना कवि कहे जाने लगे और गौण रूप से कविसंसार में अन्य भी कवि कहे जाने लगे। काव्य के साथ एकरूप होने से ही सारस्वत से लक्षणा से काव्यपुरुष कहा जाता है। तब लौटकर आयी हुई सरस्वती पुत्र को न देखकर विलाप करने लगी। प्रसंगवश आये हुए मुनि वाल्मीकि ने उसे सारा वृत्तान्त बताया और भृगुपुत्र (उशना) का आश्रम भी दिखाया। तब सरस्वती ने पुत्र को गोद में लेकर प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि को भी स्वच्छन्द छन्दोमयी वाणी प्रदान की जिससे उन्होंने 'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा' श्लोक कहा। सरस्वती ने उस श्लोक को भी वर दिया कि जो अन्य कुछ न पढ़कर प्रथम बार इसे पढ़ेगा वह सारस्वत कवि होगा। एक बार ब्रह्मर्षि और देवताओं में श्रुति सम्बन्धी विवाद होने पर ब्रह्मा ने सरस्वती को निर्णायिका बनाया। जाती हुई माता का उस काव्य पुरुष ने अनुसरण किया। सरस्वती ने यह कहते हुए कि बिना परमेष्ठि की अनुमति के ब्रह्मलोक जाना उचित नहीं है, उसे हठात् लौटा दिया। वह काव्यपुरुष क्रुद्ध होकर निकल गया। प्रिय मित्र को विलाप करते हुए देखकर कुमार कार्तिकेय के रोने पर गौरी ने उसे शांत होने के लिए कहा और काव्यपुरुष को वश में करने के लिए साहित्य विद्यावधू का उत्पादन किया और उसे अपने पति का अनुसरण करने के लए आदेश दिया तथा मुनियों, जो काव्यविद्या स्नातक थे, को भी उनका चरित गान करने के लिए आदेश दिया। वे सब जिस जिस देश में गये वहाँ साहित्य विद्यावधू ने और काव्यपुरुष ने जो वेश धारण किया वह वहाँ की प्रवृत्ति हुई, काव्य पुरुष को रिझाने के लिए जो गीत नृत्य विलासादि किए वह वृत्ति और जो वचन प्रयुक्त किए वह रीति हुई। पहिले वे सब पूर्व दिशा में गये, फिर पाञ्चाल में, तत्पश्चात् अवन्ती और फिर दाक्षिणात्य देश में विहरण कर वापिस आ गये। गौरी और सरस्वती ने काव्य पुरुष और साहित्य विद्यावधू को आशीर्वाद देकर कवि मानस का निवासी बना दिया और वह कवियों के लिए स्वर्गलोक हुआ। इस प्रकार काव्य पुरुष की उत्पत्ति वर्णित की गई है

प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का उद्भव और स्वरूप

काव्य पुरुष और साहित्य विद्यावधू के साथ काव्य विद्या के स्नातक मुनि भी चले। वे सब सर्वप्रथम पूर्व दिशा में गये जहां अंग वंग सुहम, ब्रह्म, पुण्ड्र आदि जनपद हैं। वहाँ काव्य पुरुष को अनुरक्त करने के लिए औमेयी (उमा के द्वारा निर्मित पुत्री) ने इच्छानुसार जो वेष धारण किया वह वहाँ की स्त्रियों के द्वारा अनुसरण किया गया। वह औड्रमागधी प्रवृत्ति हुई जिस वेश में गीले चन्दन से सिक्त कुचों पर सूत्रहार है, (बालों का मध्य भाग) का स्पर्श करता वस्त्र है, भुजा का मूल भाग स्पष्ट दिखाई दे रहा है और जो अगरु के उपयोग से सुन्दर दूर्वा के अंकुर के समान सुशोभित है। स्वेच्छा से सरस्वती पुत्र ने जो वेष धारण किया वही वहाँ के पुरुषों ने भी धारण किया, वह भी औड्रमागधी प्रवृत्ति हुई। जो नृत्त वाद्यादि औमेयी ने किया वह भारती वृत्ति हुई। उस प्रकार की वेषभूषा से वह वश में नहीं आया तो समास से युक्त, अनुप्रास युक्त, योगवृत्ति तथा परम्परा से युक्त जो वाक्य कहे, वह गौड़ी रीति हुई। इसके पश्चात् वह पञ्चाल की ओर चला जहाँ पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर वाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय आदि जनपद हैं। उसको आकर्षित करने के लिए औमेयी ने जो वेष धारण किया वह वहां की स्त्रियों के द्वारा अनुसरण किया गया। वह पांचालमध्यमा प्रवृत्ति हुई जिस वेश में ताटङ्क (कर्णभूषण) के हिलने से गण्डलेखा हिल रही है। नाभि तक लम्बा थोड़ा थोड़ा हिलता हुआ तारहार है और जिसमें अधोवस्त्र (उत्तरीय) श्रोणि (जघन प्रदेश) से लेकर गुल्फ (टखने) तक लटका हुआ है। कुछ स्नेहसिक्त होकर जो नेपथ्य सारस्वतेय ने धारण किया वही वहा के पुरुषों द्वारा धारण किया गया। वह भी पांचालमध्यमा प्रवृत्ति हुई। जो थोड़ा–थोड़ा नृत्त, गीत, वाद्य विलासादि उसने दिखाया वह सात्वती वृत्ति हुई और थोड़ा कुटिल गति होने से आरभटी वृत्ति हुई। उस प्रकार की वेशभूषा से जो वह थोड़ा सा वश में हुआ तो अल्प समास, अल्प अनुप्रास और उपचारयुक्त जो वाक्य कहा, वह पांचाली रीति हुई। तत्पश्चात् वह अवन्ती की ओर बढ़ा और चला जहाँ अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगु, कच्छ आदि जनपद हैं। वहाँ उसको आकृष्ट करने के लिए औमेयी ने जो वेश धारण किया वही वहां की स्त्रियों के द्वारा अनुकरण किया गया। वह आवन्ती प्रवृत्ति हुई। यह पांचालमध्यमा और दाक्षिणात्या के बीच की है। सात्वती, कैशिकी वहां वृत्ति हुई। पुरुषों का पांचाल नेपथ्य, स्त्रियों का दाक्षिणात्य प्रशंसनीय है, जो पात्र चरितादि हैं, अवन्ति देश में वह परस्पर मिश्रित है। तब वह दक्षिण दिशा की ओर गया जहाँ मलय, मेकल, पाल मलय आदि

पर्वत हैं और कुन्तल, केरल, महाराष्ट्र, गांग, कलिंग आदि जनपद हैं। उसको अनुरक्त करने के लिए औमेयी ने जो वेश धारण किया वह वहां की स्त्रियों के द्वारा अनुसरण किया गया। वह दाक्षिणात्या प्रवृत्ति हुई, जिस वेश में मूलभाग से घुंघराले बालों के कारण चूड (जूड़ा) सुन्दर है। सुगन्धित केशराशि से भालप्रदेश सुन्दर है और कक्षा के निवेश स्थान में नीवी छिपा ली गई है, वह केरलनारियों का रूप है। उसमें अनुरक्त होकर सारस्वतेय ने जो नेपथ्य धारण किया वह पुरुषों के द्वारा अनुकरण किया गया। वह भी दाक्षिणात्या प्रवृत्ति हुई। जो विचित्र नृत्त, गीत, वाद्य, विलासादि औमेयी ने किया वह कैशिकी वृत्ति हुई। और क्योंकि वह अत्यधिक वश में हो गया तो उचित अनुप्रास युक्त, असमास, योगवृत्ति युक्त जो वचन कहा वह वैदर्भी रीति हुई। इस प्रकार जिस प्रदेश में स्त्रियों और पुरुषों द्वारा साहित्यविद्यावधू और काव्यपुरुष के जिस वेश का अनुकरण किया गया वह प्रवृत्ति, जो नृत्त, गीत, वाद्य, विलासादि का प्रयोग किया गया, वह वृत्ति और जिस प्रकार के समासयुक्त, अल्प समास युक्त और असमास वचनों का प्रयोग किया गया वह रीति हुई। इस प्रकार पूर्वी दिशा के प्रदेशों में औड्रमागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौडी रीति, पांचाल प्रदेशों में पांचालमध्यमा प्रवृत्ति, सात्त्वती और आरभटी वृत्ति तथा पांचाली रीति हुई। अवन्ति प्रदेशों में पांचालमध्यमा और दाक्षिणात्या के बीच की आवन्ती प्रवृत्ति, सात्त्वती कैशिकी वृत्ति हुई। दक्षिण दिशा के प्रदेशों में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वेशविन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, वेश विन्यास का क्रम प्रवृत्ति', 'विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः' विलास विन्यास क्रम वृत्ति और 'वचन विन्यासक्रमो रीतिः' शब्दों के रखने का प्रकार रीति है। वृत्ति, प्रवृत्ति चार प्रकार की हैं, देश अनन्त हैं फिर चार से सबका ग्रहण कैसे होगा ? अनन्त देशों को भी चार भागों में कल्पित कर लिया जाता है। दक्षिण समुद्र से लेकर उत्तर दिशा तक प्रति हजार योजन तक चक्रवर्ति क्षेत्र है वहाँ यही नेपथ्य विधि है। उससे आगे भी जिस देश में जो रहता है, तद्देशीय उसके वेश को निबन्धन होना चाहियै। अपनी भूमि में तो इच्छानुसार करें। दूसरे द्वीपों की वहाँ के अनुसार वृत्ति, प्रवृत्ति होती हैं पर रीतियां तीन ही हैं।

चतुर्थ अध्याय-

प्रश्न राजशेखर के अनुसार प्रतिभा का वर्णन कीजिये या प्रतिभा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर प्रतिभा की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी गई है। भट्टतौत के अनुसार **'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता'** नूतन नूतन विषयों को प्रकट करने वाली बुद्धि प्रतिभा है तो अभिनवगुप्त के अनुसार 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा', अपूर्व वस्तु का निर्माण करने की सामर्थ्य से युक्त प्रज्ञा प्रतिभा है, वहीं पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में **'काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः'** अर्थात् काव्य की रचना के अनुरूप शब्दों और अर्थों का एकदनभ बुद्धि में उपस्थित हो जाना। राजशेखर के मत में शक्ति कर्त्ता है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म हैं। राजशेखर के शब्दों में 'या शब्दग्राम्मर्थसार्थमलङ्कार– तन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा'। अर्थात् जो शब्द समूह, अर्थसमूह, अलंकारशास्त्र उक्तिमार्ग तथा उसी प्रकार के अन्य भी काव्य पदार्थ हृदय में प्रतिभासित करे, वह प्रतिभा है। प्रतिभा के बिना पदार्थ–संमूह अप्रत्यक्ष (अप्रकट) सा रहता है किन्त प्रतिभा से युक्त व्यक्ति के लिए आँखों से न देखते हुए भी प्रत्यक्ष के समान प्रकट रहता है। प्रतिभा के कारण ही महाकवि दूसरे देशों, द्वीपों की कथा और पुरुषादि का वर्णन करते हैं। राजशेखर अन्यों से भिन्न प्रतिभा के दो भेद करते हैं –(१) कारयित्री और (२) भावयित्री। कवि का उपकार करने वाली कारयित्री प्रतिभा है। कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है। – (१) सहजा, (२) आहार्या और (३) औपदेशिकी।

१. जो जन्मान्तर के संस्कार की अपेक्षा करती है अर्थात् पूर्वजन्य संस्कार से उत्पन्न होती है सह सहजा है।

२. जो इस जन्म के संस्कार से उत्पन्न होती है वह आहार्या है।

३. जो मन्त्र, तन्त्र आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है वह औपदेशिकी है।

जो इस जन्म के किञ्चित् संस्कार से ही प्रस्फुटित हो जायें उसे सहजा कहते हैं। किन्तु आहार्या महान् प्रयत्नों से प्रस्फुटित होती है। औपदेशिकी के लिए तो यही जन्म उपदेश काल है और यही संस्कार काल। इन तीन प्रकार की प्रतिभाओं पर आधृत तीन प्रकार के कवि होते हैं – (१) बुद्धिमान् सारस्वत (२) आहार्य बुद्धि वाला आभ्यासिक और (३) दुर्बुद्धिवाला औपदेशिक। इनमें जन्मान्तर के संस्कार से काव्य कर्म में प्रवृत्त होने वाला बुद्धिमान् सारस्वत, इस जन्म में अभ्यास से काव्य कर्म करने वाला द्वितीय, और उपदेश के द्वारा वाणी–विलास को प्रकट करने वाला दुर्बुद्धि औपदेशिक होता है। आचार्यों के अनुसार प्रथम दो को तन्त्रादि के सेवन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यायावरीय राजशेखर का मत है कि एक विषय में प्रयुक्त दो क्रियाओं से अर्थ दुगुना हो जाता है। श्यामदेव के मत में इनमें से पूर्व पूर्व अच्छा है अर्थात् दुर्बुद्धि औपदेशिक से आहार्य बुद्धि आभ्यासिक और आभ्यासिक से बुद्धिमान् सारस्वत। किन्तु राजशेखर के मत में 'उत्कर्ष', श्रेयान्, उत्कर्ष श्रेष्ठ हैं और वह अनेक गुणों के समूह होने पर होता है।

भावक (भावक–काव्य का अनुभव करने वाला, आलोचक) का उपकार करने वाली भावयित्री प्रतिभा होती है। इसको भावयित्री कहते हैं क्योंकि यह कवि के श्रम और अभिप्राय को भावित करती है, उसका मूल्यांकन करती है, उसी से ही कवि का काव्य व्यापार रूपी वृक्ष फलता है, अर्थात् कवि का काव्य सफल होता है। आचार्यों की शंका है कि यदि कवि भावक होता है और भावक कवि होता है तो इनमें क्या अन्तर है ? कालिदास का मत है कि कवित्व से भावकत्व और भावकत्व से कवि भिन्न-भिन्न हैं। स्वरूप भेद और विषय भेद होने के कारण। कवि काव्य रचना में समर्थ होता है और भावक सुनने में हो, एक पत्थर (पारस) सोने को उत्पन्न करता है, दूसरा (निकष) उसकी परीक्षा करने में समर्थ होता है।

प्रश्न भावक कितने प्रकार के होते हैं और भावक के क्या गुण होते हैं ?

उत्तर मङ्गल आचार्य के अनुसार भावक दो प्रकार के होते हैं–(१) अरोचकी और (२) सतृणाभ्यहारी। वामन के मतानुयायियों के अनुसार कवि भी इन दो प्रकार के होते हैं। यायावरीय के अनुसार भावक चार प्रकार के होते हैं –(१) अरोचकी (२) सतृणाभ्यवहारी (३) मत्सरी (४) तत्त्वाभिनिवेशी। इनमें प्रथम अरोचकी विवेकी होते हैं उनकी अरोचकिता दो प्रकार की होती है–नैसर्गिकी (स्वाभाविक) (२) या ज्ञान से उत्पन्न। नैसर्गिकी अरोचकिता सैंकड़ों संस्कारों से भी नहीं जाती। ज्ञान जन्य अरोचकिता विशेष ज्ञान से युक्त वचन (काव्य) में रोचकितायुक्त होती है। सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है, क्योंकि व्युत्पत्ति की इच्छावाले सभी कौतुकी लोगों की वह सर्वत्र होती है। प्रतिभा तथा विवेक का दाहित्य गुण और अवगुण में विभाग नहीं करता, इसलिए बहुत सा ग्रहण करने योग्य छूट जाता है और बहुत से अनावश्यक का ग्रहण हो जाता है। विवेकपूर्ण हो बुद्धि मधु की वृष्टि करती है। भावक को परिणाम में यथार्थ दृष्टा होना चाहिये। मत्सरी दृष्ट को भी नहीं देखते क्योंकि दूसरे के गुणों का वर्णन करने में वाणी का नियमन करते हैं। मत्सररहित ज्ञाता (भावक) विरल (अत्यल्प है)। तत्त्वाभिनिवेशी तो लाखों के मध्य में कोई कोई होता है। विवेचक के अभाव में अन्दर ही अन्दर व्याकुल होते कुछ बुद्धिमानों के पुण्य से ही काव्य के श्रम को पहचानने वाला ऐसा भावक मिलता है जो शब्दों (पदों) की गुम्फन (रचना) विधि की विवेचना करता है, काव्य में निहित सूक्तियों से प्रसन्न होता है, सघन रसास्वाद को आस्वादित करता है और तात्पर्य मुद्रा अर्थात गूढ़ तात्पर्य का चिन्तन करता है। अच्छा भावक कवि का स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य और आचार्य सभी कुछ होता है। कवि के मन में ही रहने वाले उस काव्य से कोई लाभ नहीं जो भावकों द्वारा सर्वत्र दिशाओं में नहीं ले जाया जाता। पुस्तक रूप में निबद्ध काव्य तो घर घर है, किन्तु भावक के मनःरूपी शिला पर खुदे तो दो तीन ही अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं। भावकों में कोई वाग्भावक होता है, अर्थात शब्दों की आलोचना करने वाला, कोई हृदयभावक होता है, कोई सात्त्विक, आंगिक और अनुभावों आदि की आलोचना करता है। कोई गुणों को ग्रहण करने में तत्पर होता है, कोई दोषों का ग्रहण करने में और कोई गुणों के ग्रहण करने और दोषों का त्याग करने में तत्पर होता है। जो निसर्ग कवि नहीं है और शास्त्र में भी व्युत्पन्न नहीं है और कविता करता है वह हठी है और कवि न अपनी विडम्बना करता है। जब विद्वान् अपने वाक्य (काव्य) और दूसरे के में अन्तर जान लेता है तो कुकवि हो या कवि उसे सिद्ध समझना चाहिये। इस प्रकार प्रतिभा–कारयित्री और भावयित्री भेद से दो प्रकार की होती है।

पञ्चम अध्याय

प्रश्न व्युत्पत्ति क्या है ? व्युत्पत्ति पर आधृत कवि कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रारम्भ से ही अन्तर किया जाता रहा है। काव्य के निर्माण के लिए दोनों को ही आवश्यक माना गया है यद्यपि कुछ ने केवल प्रतिभा या शक्ति पर ही अधिक बल दिया है और उसे काव्य का एकमात्र कारण माना है। यद्यपि अधिकांश आचार्यों ने शक्ति और प्रतिभा को एक ही माना है किन्तु राजशेखर ने शक्ति को कर्ता और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को उसका कर्म माना है। प्रतिभा कवित्व का संस्कार विशेष है जिसके कारण अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होते हैं, प्रतिभा के कारण ही शब्दसमूह, अर्थसमूह, उक्ति, अलंकार आदि सब कवि के हृदय में प्रतिभासित होते हैं। व्युत्पत्ति को निपुणता माना गया है, निपुणता जो लोक, शास्त्र, काव्यादि के निरीक्षण और अनुशीलन से आती है, मम्मट के शब्दों में 'निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्'। यही दण्डी के शब्दों में 'श्रुतं च बहु निर्मलम्' है। काव्यमीमांसा में उद्धृत आचार्यों के मत में 'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः', बहुत का ज्ञान होना व्युत्पत्ति है क्योंकि कवि की वाणी सभी दिशाओं में (अभ्यस्त विषय हो या अनभ्यस्त) प्रसृत होती है। यायावरीय राजशेखर के स्वयं के मत में, 'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः'। उचित और अनुचित में भेद करना व्युत्पत्ति है। आचार्यों में मतभेद रहा है कि प्रतिभा श्रेष्ठ है या व्युत्पत्ति। आनन्दवर्धन के मत में प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि वह कवि के अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न सम्पूर्ण दोष को ढक लेती है। अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति से ढँक जाने पर अशक्तिजन्य दोष शीघ्र दिखाई देता है।' इसमें शक्ति शब्द लक्षणा से (उपचार) प्रतिभा अर्थ में है। मंगल के मत में व्युत्पत्ति

अधिक अच्छी है वह कवि के अशक्ति से उत्पन्न सम्पूर्ण दोष को ढक लेती है। काव्य मार्ग में कवि की अशक्ति–व्युत्पत्ति से ढक जाती है, विदग्धता से युक्त चित्तो के लिए शब्द–गुम्फन का महत्त्व नहीं रह जाता। यायावरीय राजशेखर के मत में प्रतिभा व्युत्पत्ति परस्पर मिलकर श्रेष्ठ हैं क्योंकि लावण्य के बिना रूप सम्पत्ति नही होती और रूप सम्पत्ति के बिना लावण्यप्राप्ति नहीं होती। कवि कितने प्रकार के होते हैं ? प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि कहा जाता है और इसके तीन प्रकार होते हैं – (१) शास्त्र कवि, (२) काव्य कवि, और (३) उभय कवि। श्यामदेव के अनुसार इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है, अर्थात् शास्त्र कवि की अपेक्षा काव्य कवि और काव्यकवि की अपेक्षा उभयकवि। यायावरीय राजशेखर के मत में ऐसा नहीं है, अपने अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि न तो राजहंस चन्द्रिका पीने में समर्थ होता है और न चकोर जल से दूध को अलग करने में। शास्त्रकवि काव्य में रस–सम्पदा को विच्छिन्न कर देता है। काव्यकवि शास्त्र में तर्ककठोरता को भी उक्ति चैचित्र्य से शिथिल कर देता है। उभयकवि दोनों – (शास्त्रकवि और काव्यकवि) से श्रेष्ठ है यदि दोनों (शास्त्र और काव्य) में परम प्रवीण हो। शास्त्र कवि और काव्यकवि समान प्रभाव वाले हैं, दोनों का परस्पर उपकार्य उपकारक भाव होना चाहिये। शास्त्र का संस्कार काव्य का उपकार करता है किन्तु शास्त्र में एकमात्र प्रवीणता काव्य को नियंत्रित कर देती है, हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार काव्य संस्कार शास्त्र वाक्य के परिपाक में सहायक होता है, किन्तु काव्य में एकमात्र प्रवीणता शास्त्र वाक्य का अहित करती है।

शास्त्र कवि तीन प्रकार के होते हैं – (१) जो शास्त्र का निर्माण करता है, (२) जो शास्त्र में काव्य का विधान या संनिवेश करता है और (३) जो काव्य में शास्त्रार्थ का निवेश करता है।

काव्यकवि भी आठ प्रकार के होते हैं – (१) रचना कवि, (२) शब्द कवि, (३) अर्थ कवि, (४) अलंकार कवि, (५) उक्ति कवि, (६) रस कवि, (७) मार्ग कवि, (८) शास्त्रार्थ कवि।

रचनाकवि – जैसा उदाहरण से स्पष्ट है रचनाकवि वे कहे जा सकते हैं जो केवल शब्दों के चमत्कार पर अधिक ध्यान देते हैं। अर्थगाम्भीर्य पर नहीं, उदाहरण के लिये **'लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितवकुलानोकहस्कन्धगोलै....'** यहाँ वर्णों का (अनुप्रास) चमत्कार ही द्रष्टव्य है।

शब्दकवि – नाम, आख्यात और उभयभेद से तीन प्रकार का होता है–नाम कवि नाम पदो (संज्ञा पदों) का अधिक प्रयोग करता है, यथा, 'विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो विभूषणं तस्य नृपस्य सैव।।

आख्यातकवि – जो आख्यात पदों (अर्थात् क्रिया पदों) का अधिक प्रयोग करताहै यथा–

'उच्चैस्तरां जहसुराजहृषुर्जगर्जुराज-
ध्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः।
सन्तुष्टुबुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च।
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम्।।

नामाख्यातोभय कवि – जो नाम और आख्यात दोनों का प्रयोग करता है यथा,

'हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव।
न चुक्रुशुर्नो रुरुदुर्न सस्वनुर्नचेलुरासुलिखिता इव क्षणम्।।'

इसमें पूर्वार्द्ध में नाम पदों का और उत्तरार्द्ध में आख्यात पदों का प्रयोग है।

अर्थकवि – जहाँ अर्थ–रचना दर्शनीय हो वह अर्थकवि है जैसे,

'देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्यद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डाऽऽलिङ्गते।
पायाद् वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो
रन्योन्याङ्क निपातजर्जरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः।।

इस श्लोक में अर्थ रचना दर्शनीय है।

अलङ्कार कवि – जिनमें अलंकार का सौन्दर्य दर्शनीय हो वे अलंकार कवि। शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेद से अलंकार कवि भी दो प्रकार के होते हैं।

शब्दालंकार कवि – जो शब्दालंकार के प्रयोग पर ध्यान देते हैं यथा,

'न प्राप्तं विषमरणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विषमरणं च। न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम्।।

यहाँ यमक (जो कि शब्दालंकार है) का प्रयोग द्रष्टव्य है।

अर्थालंकार कवि – जो अर्थालंकारों पर ध्यान देता है यथा,

'भ्रान्तजिह्वार्पताकस्य फणच्छत्रस्य वासुकेः। दंष्ट्राशलाकादारिद्यं कर्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः।।

यहाँ रूपक अलंकार (अर्थालंकार) का प्रयोग द्रष्टव्य है।

उक्ति कवि – जिनमें उक्ति की सुन्दरता हो। उक्ति का आशय है किसी विचार को सुन्दर रीति से प्रस्तुत करना यथा

'उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।

स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेयस्त दिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य।।

यहाँ युवती के सौन्दर्य का वर्णन सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

रसकवि – जो रस में सिद्ध हो वह रसकवि यथा,

'एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि।

यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु।।

इसमें शृंगाररस में कवि सफल हुआ है अतः यह रसकवि का उदाहरण है।

मार्गकवि – जिसमें मार्ग (रीति) का सौन्दर्य हो जैसे–

'मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्याद्राण्यशोकस्य च।

शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्भोचं च सोऽयं गणो ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे।

शास्त्रार्थ कवि – जो शास्त्रीय शब्दों का निवेश करता है जैसे

'अन्तरात्मा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।

इसमें आत्माराम, निर्विकल्पसमाधि इत्यादि योगदर्शन के शब्द हैं अतः शास्त्रकवि का उदाहरण है। राजशेखर ने उपर्युक्त प्रकार के कवियों के लक्षण नहीं दिये हैं केवल उदाहरण दिये हैं। इनमें दो तीन गुणों से युक्त निम्नकोटि का है, पाँच से युक्त मध्यम कोटि का और सर्वगुण से युक्त महाकवि होता है।

नोट :– कवि कितने प्रकारके होते हैं ? प्रश्न के उत्तर में पहले प्रतिभा पर आधृत कवियों के तीन भेदों सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक का वर्णन कर फिर ये प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवियों के तीन भेद–शास्त्र कवि, काव्य कवि और उभय कवि, फिर शास्त्र कवि के तीन भेद, काव्य कवि के आठ भेद आदि आयेंगे। आग वर्णित कवियों की दस अवस्थायें भी कवियों के भेदों में आयेंगी।

प्रश्न कवि की कितनी अवस्ताएं होती हैं ? उत्तर – बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि की सात और तीन औपदेशिक की। यथा– (१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदय कवि (३) अन्यापदेशी (४) सेविता (५) घटमान (६) महाकवि (७) कविराज (८) आवशिक (९) अविच्छेदी (१०) संक्रामयिता। इनका वर्णन क्रमशः इस प्रकार है–

१. काव्यविद्या स्नातक – कविता करने का इच्छुक जो काव्य विद्या और उपविद्याओं को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल का सेवन करे वह काव्यविद्या स्नातक होता है।

२. हृदयकवि – जो अपने हृदय में ही कविता करता है और दूसरों से छिपाता है, प्रकट नहीं करता, वह हृदयकवि कहलाता है क्योंकि उसकी कविता हृदय में ही रहती है, बाहर नहीं आती।

३. अन्यापदेशी – जो अपने काव्य को दोष के भय से (कि लोग दोष निकालेंगे इस भय से) दूसरों की है, (दूसरा के द्वारा रचित है) यह बताकर पढ़ता है, वह अन्यापदेशी कहा जाता है क्योंकि वह दूसरों के नाम से पढ़ता है।

४. सेविता – जो कवि पौरस्त्यों में किसी श्रेष्ठ कवि की छाया (भाव या शैली) को ग्रहण कर कविता करता है वह सेविता कहलाता है, क्योंकि वह दूसरों की रचना का आधार लेता है, अतः सेविता।

५. घटमान – जो निर्दोष, अनवद्य कविता करता है परन्तु प्रबन्ध रूप में नहीं निबद्ध करता वह घटमान कहलाता है।

६. महाकवि – जो किसी भी प्रकार की प्रबन्धरचना में प्रवीण होता है, वह महाकवि होता है।

७. कविराज – जो जहाँ जहाँ की जो भाषाएं हैं, उनमें जो जो प्रबन्ध हैं और जो जो रस विशेष हैं उनमें स्वतन्त्र होता है वह कविराज होता है। कहने का अभिप्राय है कि विविध भाषाओं में प्रचलित विविध प्रकार के प्रबन्ध काव्यों में विविध प्रकार के रसों में काव्य करने में समर्थ हो वह कविराज होता है। ऐसे संसार में बहुत कम होते हैं।

८. आवेशिक – जो मन्त्रादि के उपदेश के कारण सिद्धि प्राप्त करता है और केवल आवेश के समय में ही कविता करता है वह आवेशिक होता है।

९. अविच्छेदी – जो जब चाहता है तभी अविच्छिन्न (बिना रुके) कविता करता है वह अविच्छेदी होता है।

१०. संक्रामयिता – जो मन्त्रों को सिद्ध करके कन्या, कुमार आदि में सरस्वती का संचार कर देता है वह संक्रामयिता कहलाता है।

इस प्रकार ये कवियों के प्रकार या अवस्थाएं होती हैं।

प्रश्न पाक क्या है और कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर निरन्तर अभ्यास से सत्कवि का काव्य पाक को प्राप्त होताहै। यह पाक क्या है ? इस विषय में मतभेद है। मंगल के अनुसार 'परिणामः' परिणाम ही पाक है। प्रश्न उठता है यह परिणाम क्या है ? मंगल के मत में सुबन्त और तिङन्त शब्दों की श्रोत्र मधुरा व्युत्पत्ति परिणाम है और यही सौशब्द्य है। आचार्यों के अनुसार 'पदनिवेशनिष्कम्पता' पदों के रखने की स्थिरता पाक है। जब तक मन दोलायमान रहता है, पदों का ग्रहण करना, हटाना होता रहता है, पदों की स्थिरता स्थापित होने पर (अर्थात् जब पद अपने स्थान से हटाये न जा सकें) सरस्वती सिद्ध हो जाती है। वामन के अनुयायियों के मत में आग्रह क कारण भी पदों की स्थिरता सिद्ध हो जाती है। अतः 'पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं' पदों के परिवर्तन की विमुखता पाक है जैसा कि कहा गया है कि 'पद जब परिवर्तन की सहिष्णुता को छोड़ देते हैं, शब्दों के न्यास में निष्णात उसे शब्द–पाक कहते हैं। किन्तु अवन्तिसुन्दरी के मत में 'इयमशक्तिर्नपुनः पाकः' यह अशक्ति है, पाक नहीं, क्योंकि एक ही विषय में महाकवियों का अनेक प्रकार का पाठ परिपाकयुक्त होता है। इसलिए 'रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः' रस के अनुरूप शब्द, अर्थ और सूक्तियों की रचना पाक है। जैसा कि कहा गया है, 'गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः। स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति।। जिसके द्वारा गुण, अलंकार, रीति, उक्ति एवं शब्दार्थ का गुम्फन रसज्ञों के द्वारा आस्वादित होता है वह वाक्यपाक है। वक्ता, अर्थ, शब्द, रस होने पर भी जिसके बिना वाङ् मधु प्रवाहित नहीं होता, अर्थात् सब कुछ होने पर भी जिसके अभाव में वाणी मधुरता नहीं प्रकट करती, वही पाक है। राजशेखर के स्वयं के मत में 'कार्यानुमेयतया यत्तत्शब्दनिवेधः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ।' जो कार्य से (काव्य) अनुरिमात किया जा सकता है, जैसी रचना वैसे शब्द से कहा जाने वाला है, अभिधा का विषय है, सहृदयों से प्रमाणित होता है, व्यवहार का अंग (साधन) यह परम पाक है। अर्थात पाक का निर्णय केवल सहृदय आलोचक ही कर सकते हैं और उनका यह निर्णय काव्य को देखकर उसके शब्दार्थ के अनुसार होता है।

काव्य का अभ्यास करने वाले सम्पूर्ण कवियों का यह काव्यपाक ६ प्रकार का होता है–

(१) पिचुमन्द पाक – जो आदि और अन्त दोनों में अस्वादु (स्वाद रहित) हो।

(२) बदरपाक – आदि में अस्वादु और अन्त में मध्यम प्रकार का हो।

(३) मृद्वीकापाक – आदि में अस्वादु, अन्त में स्वादु।

(४) वार्त्ताकपाक – आदि में मध्यम और अन्त में अस्वादु।

(५) तिन्तिडीकपाक – आदि और अन्त में मध्यम।

(६) सहकारपाक – आदि में मध्यम, अन्त में स्वादु।

(७) क्रमुकपाक – आदि में उत्तम, अन्त में अस्वादु (क्रमुक सुपारी को कहते हैं)

(८) त्रपुसपाक – आदि में उत्तम, अन्त में मध्यम (त्रपुस ककड़ी को कहते हैं)

(९) नालिकेरपाक – आदि और अन्त में स्वादु।

इन तीन तीन के तीन समूहों में प्रथम त्याज्य हैं अर्थात् पिचुमन्द, वार्त्ताक और क्रमुक त्याज्य हैं। या प्रथम तीन त्याज्य हैं, दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं। अकवि होना अच्छा है, कुकवि नहीं, मध्यम का संस्कार किया जा सकता है, संस्कार सबके गुण को बढ़ा देता है। शेष ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) हैं। स्वभाव से शुद्ध को संस्कार की अपेक्षा नहीं होती। अनवस्थित पाक को कपित्थापाक कहते हैं, उसमें भूसे के ढेर में अन्न के दाने के समान सुभाषित की प्राप्ति होती है। कहा भी गया है कि सम्यक् अभ्यास करते हुए कवि का काव्य नौ प्रकार से परिपक्व होता है। बुद्धिमान् उसे त्याज्य और ग्राह्य रूप में विभाजित कर ले।

काव्यमीमांसा

अथ कविरहस्यम्

प्रथमोऽध्यायः

१. शास्त्रसंग्रहः

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिदव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच। तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीद्, औक्तिक मुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यमः, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः, इति।

अब हम काव्य–विवेचन करेंगे जैसा कि श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को उपदेश किया था। उन भगवान स्वयम्भू–ब्रह्मा (परमेष्ठी) ने भी इच्छा से उत्पन्न (मानस–पुत्र=अयोनिज) शिष्यों को इसका उपदेश किया। इन सबों में सरस्वती–पुत्र (सारस्वतेय) काव्य–पुरुष भी एक था जो पूज्यतरों (अथवा देवताओं) में भी वन्द्य था। प्रजापति ब्रह्मा ने सभी समयों के ज्ञाता तथा दिव्य–दृष्टि से भविष्य की बातों को जानने वाले उस काव्य–पुरुष को भूः, भुवः, तथा स्वः तीनों लोकों में रहने वाली प्रजा का उनकी भलाई के लिये इस काव्य–विद्या का उपदेश करने को कहा। उन काव्य–पुरुष ने अठारह अधिकरणों वाली इस (काव्य–विद्या) का उपदेश विस्तार के साथ दिव्य स्नातकों को किया। (काव्य–पुरुष से १८ अधिकारणात्मिका काव्यमीमांसा का अध्ययन करने वाले उन दैवी शिष्यों में) सहस्राक्ष ने कविरहस्य की रचना की, उक्तिगर्भ ने उक्तिविषयक (औक्तिक) की रचना की; सुवर्णनाभ ने रीति का निर्णय करने वाले ग्रन्थ की रचना की; प्रचेता (अथवा प्रचेतायन) ने अनुप्रास के विवेचक अंश की रचना की; यम ने यमक पर ग्रंथ रचा; चित्राङ्गद नामक आचार्य ने चित्रकाव्यों का विवेचन किया; आचार्य शेष ने शब्द–श्लेष से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना की; औपकायन नामक आचार्य ने उपमालंकार का विवेचन किया; अतिशयोक्ति अलंकार पर पराशर ने ग्रंथ–निर्मिति की; उतथ्य ने अर्थ–श्लेष पर ग्रथ लिखा; कुबेर ने उभयालंकारों (अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों) पर ग्रंथ लिखा; कामदेव ने विनोद (हास्य) पर ग्रंथ लिखा, रूपक (नाटक) – निरूपणात्मक ग्रंथ भरत ने लिखा; रस–विषयक ग्रंथ की रचना नन्दिकेश्वर ने की; धिषण (बृहस्पति) ने दोषविषयक ग्रंथ रचा, उपमन्यु ने गुणों पर ग्रंथ लिखा एवं कुचमार ने औपनिषदिक ग्रंथ लिखा। **टिप्पणी** - समाम्नासीद = प्रकट किया।

ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः। इत्थङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशप्रकरणी प्रणीता। तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः।

(इस प्रकार) उन्होंने अलग–अलग अपने–अपने शास्त्रों की रचना की। इस प्रकार बिखरी होने से काव्य–विद्या कुछ उच्छिन्नसी हो गई। इसी उद्देश्य से सभी विषयों का छोटे ग्रंथ में समावेश कर अठारह अधिकरणों वाली इस काव्य–मीमांसा की रचना की गयी। उस काव्य–मीमांसा के (प्रथम) अधिकरण के प्रकरणो (विषयों) का वर्णन किया जाता है। (वे इस प्रकार हैं–)

१. शास्त्रसंग्रहः, २. शास्त्रनिर्देशः, ३. काव्यपुरुषोत्पत्तिः, ४. शिष्यप्रतिभे, ५. व्युत्पत्ति-विपाकाः, ६. पदवाक्यविवेकः, ७. वाक्यविधयः, ८. काकुप्रकाराः, ९. पाठप्रतिष्ठा, १०. काव्यार्थयोनयः, ११. अर्थानुशासनं, १२ कविचर्या, १३. राजचर्या, १४. शब्दार्थहरणोपायाः, १५. कविविशेषः, १६. कविसमयः, १७. देशकालविभागः, १८. भुवनकोशः, इति कविरहस्यं प्रथममधिकरणमित्यादि।

१. शास्त्रसंग्रह, २. शास्त्र–निर्देश; ३. काव्य–पुरुष–उत्पत्ति; ४, शिष्य–प्रतिभा; ५. व्युत्पत्ति–विपाक, ६. पद–वाक्य–विवेक, ७. वाक्य–विधि, ८. काकु–प्रकार, ९. पाठ–प्रतिष्ठा; १०. काव्यार्थ–योनियां, ११. अर्थानुशासन; १२. कवि चर्या; १३. राज–चर्या, १४. शब्दार्थ–हरणोपाय; १५. कविविशेष; १६. कविसमय, १७. देश–काल–विभाग और १८. भुवनकोश। इन प्रकरणों से कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण की रचना हुई है।

इति सूत्राण्यथैतेषां व्याख्याभाष्यं भविष्यति। समासव्यासविन्यासः सैष शिष्यहिताय नः।।

चित्रोदाहरणैर्गुर्वी ग्रन्थेन तु लघीयसी। इयं नः काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्।।

इयं सा काव्यमीमांसा मीमांसा यत्र वाग्लवः। वाग्लवं न स जानाति न विजानाति यस्त्विमाम्।।

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्। व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः।।

।।'इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसाया कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः।।

ऊपर सूत्र (संक्षिप्त) रूप से इनका निर्देश किया गया है। अब (आगे के अध्यायों में) इनकी व्याख्या तथा भाष्य होगा। हमने शिष्यों के लाभ की दृष्टि से इसका समास (संक्षिप्त) तथा व्यास (विस्तृत) रूप से विवेचन किया है।

यह मेरी–काव्यमीमांसा ग्रंथरूप में अर्थात् आकार में छोटी होने पर भी विचित्र उदाहरणों से युक्त होने से भारी है। यह काव्यमीमांसा काव्यविद्या में प्रौढ़ता का कारण है।

यह काव्य–मीमांसा है यहाँ वाग्लव–वाणी के अंश अर्थात् शब्दार्थ की विवेचना की जाती है। जो इसे नहीं जानता वह वाग्लव (शब्दार्थ की विवेचना) को नहीं जानता।

यायावर–कुलोत्पन्न राजशेखर ने मुनियों के विस्तृत मतों को संक्षिप्त कर कवियों के लिये काव्य–मीमांसा की रचना की।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण शास्त्रसङ्ग्रह नामक प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

२. शास्त्रनिर्देशः

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्तमसि तत्त्वार्थमध्यक्षयन्ति। तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगादिग्रन्थो ब्राह्मणम्। ऋग्यजुःसामवेदास्त्रयी । अथर्व तुरीयम्। तत्रार्थ-व्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि। ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदाः। इतिहासवेदधनुर्वेदौगान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो नाट्यवेदः' इति द्रौहिणिः। शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं च षडङ्गानि' इत्याचार्याः। उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

वाङ्मय दो प्रकार का है–शास्त्र एवं काव्य। काव्य के लिये शास्त्र आवश्यक है अतः काव्य–रचना से पूर्व शास्त्रों में प्रवेश करना चाहिये। बिना प्रदीप के आश्रय के अन्धकार में पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। (उसी भाँति शास्त्र–ज्ञान के बिना काव्य–ज्ञान असंभव है।) शास्त्र दो प्रकार का है–अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय श्रुति (वेद) है। श्रुति मंत्र तथा ब्राह्मणों से बनी है। मंत्रों में क्रिया–प्रयोग निर्दिष्ट हैं। ब्राह्मण–ग्रंथों में मंत्रों की स्तुति, निन्दा, व्याख्यान तथा विनियोग का वर्णन है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद–वेदों की यह त्रयी है। अथर्ववेद चौथा है। जहाँ अर्थानुसार पदों की व्यवस्था हो, वे ऋचायें हैं। वे ही गीतियुक्त होने पर साम हैं। छन्द–हीन तथा गति–हीन मंत्र यजुष् हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ये चारों वेद हैं। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा आयुर्वेद – ये चार उपवेद हैं। आचार्य द्रौहिणि का कथन है कि 'पाँचवा नाट्यवेद (अथवा गेयवेद) है जो समस्त वेदों एवं उपवेदों की आत्मा वाला तथा सार्ववर्णिक अर्थात सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिये है। आचार्यों का कथन है कि (वेद के) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो–विरचना, और ज्यौतिष ये छः अंग हैं। यायावर कुल में उत्पन्न आचार्य राजशेखर का कथन है कि उपकारक (उपयोगी) होने से अलंकार सातवाँ अंग है। उसके स्वरूप के ज्ञान बिना वेदार्थ की अवगति (ज्ञान) नहीं होता। जैसे–

सुन्दर पांखोंवाले, एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्रभाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक स्वाद वाले फल को खाता है तथा दूसरा न खाते हुए केवल देखता है।

टिप्पणी – यह मंत्र श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि उपनिषदों में मिलता है। इसका शांकरभाष्य इस प्रकार है–

द्वा द्वौ विज्ञानपरमात्मानौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सर्वदा संयुक्तौ। सखाया सखायौ समानाख्यानौ सामानाभिव्यक्तिकारिणौ एवं भूतौ सन्तौ समानं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद्वृक्षं शरीरं परिषस्वजाते परिष्यक्तवन्तौ।

तयोरन्य अविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिः। विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं स्वादु अनेकाचित्रवेदनास्वरूपम्। अत्युपभुङ्क्तऽविवेक अनश्नन्न–योऽभिचाकशीति। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वर सर्वमपि पश्यन्नास्ते इति। (श्वेता०)

इस मंत्र में रूपक अलंकार के आश्रय से एक ही शरीर में अवस्थित आत्मा (जीव) तथा परमात्मा का वर्णन किया गया है। इस अवस्थिति को वृक्ष तथा पक्षी आदि वस्तुओं के द्वारा समझाया गया है। यहाँ राजशेखर का आशय है कि अन्य वेदांगों की भांति अलंकार भी वेदार्थावगम के साधक हैं अतः वह सातवां अंग है। पूर्वार्ध में रूपक तथा उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक अलंकार है।

सेयं शास्त्रोक्तिः। प्रत्यधिकरणं च ऋचं यजु सामाथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः। तत्र वर्णानां स्थानकारणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षा आपिशलीयादिका। नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः। सा च यजुर्विद्या। शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्। निर्वचनं निरुक्तम्। छन्दसां प्रतिपादयित्री छन्दोविचितिः। ग्रहगणितं ज्यौतिषम्। अलङ्कारव्याख्यानं तु पुरस्तात्। पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि। तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा यदाहुः-

यह शास्त्रोक्ति है। आगे प्रत्येक अधिकरण में ऋक्, यजुः, साम, आथर्वण तथा ब्राह्मणों से उदाहरण देकर भाषा (संस्कृत) का वर्णन करेंगे। स्थान, करण तथा प्रयत्न आदि के द्वारा वर्णों की निष्पत्ति बताने वाला शास्त्र शिक्षा है।

सायणाचार्य ने शिक्षा की व्याख्या निम्न प्रकार से की है–

'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।' – सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका

जैसे, आपिशलीय शिक्षा आदि। विभिन्न शाखाओं में पठित मंत्र के विनियोग बतानेवाले ग्रंथों को कल्प कहते हैं।

कल्प का अर्थ है वेद–विहित कर्मों का क्रम–पूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र–

'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना–शास्त्रम्' –ऋक्प्रातिशाख्यः विष्णुमित्रकृत 'वर्गद्वयवृत्ति'

और यह मुख्यतः यजुर्वेद की विद्या है। शब्दों का अन्वाख्यान अर्थात् प्रकृति–प्रत्ययादि के माध्यम से सुबन्त, तिङन्तादि पदों की सिद्धि को व्याकरण कहते हैं।

व्याकरण का अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र

'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति–व्याकरणम्।'

तुलना कीजिये–

प्रकृतिप्रत्ययोपाधिनिपातादिविभागशः। पदान्वाख्यानकरण शास्त्रं व्याकरणं विदुः।। –अभिधानचिन्तामणि टीका

वैदिक शब्दों का निर्वचन करने वाला शास्त्र निरुक्त है। छन्दों का प्रतिपादन करने वाली छन्दोविचिति है अर्थात् छन्दोविचिति में छन्दों का विवेचन है। ग्रहों की गति–विधि तथा गणना से सम्बद्ध शास्त्र ज्योतिष है। अलंकार का व्याख्यान आगे होगा। (ऊपर वेद तथा उसके छः अंगों का वर्णन हुआ। अब आगे लौकिक साहित्य के विषय में चर्चा करते हुए कहते हैं–) चार शास्त्र पौरुषेय हैं–१ पुराण २. आन्वीक्षिकी, ३. मीमांसा और ४. स्मृतियाँ। इनमें, पुराणों में प्रायेण वैदिक आख्यानों का वर्णन है। ये पुराण अठारह हैं जैसा कि कहा गया है–

'सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः। जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति।।

"जिसमें जगत् की सृष्टि, संहार, कल्प, मन्वन्तर तथा वंश–विधि वर्णित हो उसे पुराण जानना चाहिये।"

'पुराणप्रविभेद एवेतिहासः इत्येके। स च द्विधा परक्रियापुराकल्पाभ्याम्। यदाहुः-

'परक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा। स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।'

कुछ लोगों का कथन है कि पुराण का ही भेद इतिहास है। इतिहास दो प्रकार का है–१. परक्रिया तथा २. पुराकल्प। इस विषय में कहा है–

इतिहास की गति (भेद) दो प्रकार की है।–परक्रिया और पुराकल्प। इनमें पहली अर्थात् परक्रिया एक नायकवाली होती है और दूसरी अर्थात् पुराकल्प में अनेकों नायकों का वर्णन होता है–

तत्र रामायणं भारतं चोदाहरणे। आन्वीक्षिकीं तु विद्यावसरे वक्ष्यामः। निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेक्त्री मीमांसा। सा च द्विविधा विधिविवेचनी ब्रह्मनिदर्शनी च। अष्टाशैव श्रुत्यर्थस्मरणात् स्मृतयः। 'तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि, यदुत वेदाश्चत्वारः

षडंङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' इत्याचार्याः। तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवःस्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्त्तन्ते। तदाहुः-

विद्यास्थानानां, गन्तुमन्तं न शक्तो, जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम्।

तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोह उक्तो व्यासः संत्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम्।।'

इस विषय में परक्रिया का उदाहरण रामायण है तथा पुराकल्प का उदाहरण महाभारत है। आन्वीक्षिकी का वर्णन विद्याओं के सन्दर्भ में करेंगे। वेद–वाक्यों का सहस्रों (अनेकों) तर्कों से विवेचन करने वाली मीमांसा है। वह मीमांसा दो प्रकार की है–१. विधि अर्थात् कर्म की विवेचिका और २. ब्रह्मनिदर्शनी। अर्थात् वेदान्त। स्मृतियां वेदार्थों का स्मरण कराती हैं। वे भी अठारह हैं। इस प्रकार आचार्यों के मत में ये चौदह विद्यास्थान हैं–चार वेद, षड अंग और चार शास्त्र

याज्ञवल्क्य–स्मृति (१.३) के अनुसार ये चौदह विद्यायें इस प्रकार हैं :–

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः।।

ये चतुर्दश विद्यायें भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों (में प्राप्य सम्पूर्ण वस्तुओं) को व्याप्त कर स्थित हैं। इस विषय में कहा है–

जो सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवे वह भी इन विद्यास्थानों का अन्त नहीं पा सकता अर्थात् सहस्र वर्षों में भी इनका पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं। अतः संक्षेप में ही इसका सार कह दिया गया है। इसका विस्तार ग्रंथ–विस्तार से डरने वाले लोगों की प्रसन्नता के लिये ही नहीं किया गया है।'

'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च। तद्धि शास्त्राण्यनुधावति। 'वार्त्ता कामसूत्रं शिल्पशास्त्रं दण्डनीतिरिति पूर्वैः सहाष्टादश विद्यास्थानानि' इत्यपरे। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। 'दण्डनीतिरेवैका विद्या' इत्यौशनशाः। दण्डभयाद्धि कृत्स्नो लोकः स्वेषु स्वेषु कर्मस्ववतिष्ठते। 'वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये' इति बार्हस्पत्याः। वृत्तिर्विनयग्रहणं च स्थितिहेतुर्लोकयात्रायाः। 'त्रयीवार्त्तादण्डनीतयस्तिस्रो विद्याः' इति मानवाः। त्रयी हि वार्त्तादण्डनीत्योरुपदेष्ट्री। 'आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः' इति कौटल्यः। आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्तादण्डनीत्योः प्रभवति। 'पञ्चमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामति विद्यानां निस्यन्दः। आभिर्द्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्। तत्र त्रयी व्याख्याता। द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्। अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः। साङ्ख्यं न्यायवैशेषिकौ चोत्तरः। त इमे षट् तर्काः। तत्र च तिस्रः कथा भवन्ति वादो, जल्पो, वितण्डा च। मध्यस्थयोस्तत्त्वावबोधाय वस्तुतत्त्वपरामर्शो वादः। विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्रहादिपरिग्रहो जल्पः। स्वपक्षस्यापरिग्रहोत्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा। कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्त्ता। आन्वीक्षिकी-त्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि सामान्यलक्षणं चैषाम्-

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि काव्य पन्द्रहवां विद्यास्थान है और यह सम्पूर्ण विद्यास्थानों की एकत्र निवासभूमि है। क्योंकि यह गद्य–पद्य–मय होता है, कवि–कर्म होता है तथा हितोपदेशक होता है। यह शास्त्रों का अनुगमन करता है। दूसरे आचार्यों का कथन है कि 'पूर्वोक्त चतुर्दश विद्यास्थानों में वार्त्ता, दण्डनीति, कामसूत्र तथा शिल्पशास्त्र इनको जोड़कर अठारह विद्यास्थान हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति ये विद्यायें हैं। उशना (आचार्य शुक्र) के अनुयायियों का विचार है कि केवल दण्डनीति ही विद्या है। दण्ड–भय से ही सम्पूर्ण लोक अपने–अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। बृहस्पति के अनुसरणकर्त्ताओं की राय है कि वार्त्ता तथा दण्डनीति ये दो विद्यायें हैं। क्योंकि वृत्ति (जीविका, जो वार्त्ता का विषय है) और विनयग्रहण (अनुशासन=दण्डनीति) ये ही दो लोक–यात्रा की स्थिति के कारण हैं। मनु के मतानुयायियों की सम्मति में त्रयी, वार्त्ता तथा दण्डनीति ये तीन विद्यायें हैं। क्योंकि त्रयी (अर्थात धर्मशास्त्र) ही वार्ता तथा दण्ड नीति की उपदेशिका है। कौटिल्य की राय में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता तथा दण्डनीति ये चार विद्यायें हैं।

तुलना कीजिये–

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्याश्चैताश्चतस्रः स्युर्लोकसंस्थितिहेतवः।।

और, आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ।। –कामन्दकनीतिशास्त्र

क्योंकि आन्वीक्षिकी (विज्ञान) से विवेचित ही त्रयी वार्ता एवं दण्डनीति का नियंत्रण करती है। यायावरीय राजशेखर के अनुसार इन चार विद्याओं के अतिरिक्त पाँचवी साहित्य विद्या है। वह उपर्युक्त चारों विद्यायों का सार–तत्त्व है। विद्याओं की सार्थकता (विद्यात्व) इसी में है कि ये धर्म और अर्थ की साधिका हों अर्थात् इनसे धर्म और अर्थ जाने यही विद्याओं का विद्यात्व है। अतः इनसे धर्म और

अर्थ का ज्ञान होता है। इन विद्याओं में त्रयी का व्याख्यान पहले हो चुका है। आन्वीक्षिकी दो प्रकार की है--एक, पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष। पूर्वपक्ष में तीन दर्शन हैं--१. अर्हत् (जैन), २. भदन्त (बौद्ध) और ३. लोकायत (चार्वाक)। उत्तरपक्ष में भी तीन दर्शन हैं--१. सांख्य, २. न्याय और ३. वैशेषिक। इस प्रकार ये षड्दर्शन हुये। इन तर्कों में तीन प्रकार की कथायें होती हैं।--१. वाद, २. जल्प और ३. वितण्डा। इनमें वाद तो वह है जो दोनों पक्षों के मध्यस्थों का तत्त्व--ज्ञान कराने के लिये वस्तु तत्त्व (याथार्थ्य) का कथन है प्रतिपक्षी पर विजय की इच्छा वाले के द्वारा अपने मत की सिद्धि में छल, जाति एवं निग्रह आदि का आश्रयण जल्प कहा जाता है अपने पक्ष का ग्रहण (प्रदर्शन) न करते हुए परपक्ष--दूषण को वितण्डा कहते हैं। कृषि पशु--पालन एवं व्यवसाय का नाम वार्त्ता है आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्त्ता का योग--क्षेम (प्राप्ति एवं संरक्षण) का साधन दण्ड से होता है और उसकी नीति का नाम दण्डनीति है। उसी दण्डनीति के आश्रयण से लोक--व्यवहार प्रचलित होता है। ये ही शास्त्र हैं। अब इन शास्त्रों का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया जाता है--

'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः। ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।

"जैसे नदियों का प्रवाह आरम्भ में छोटा होता है तथा बाद में विस्तृत होता है उसी भांति शास्त्रों का आरम्भ लघु होता है पर बाद में वे विस्तृत हो जाते हैं। ऐसे शास्त्र लोक--वन्द्य होते हैं।"

टिप्पणी – यहाँ राजशेखर शास्त्रों के विस्तार--क्रम को निदर्शित करते हैं। शास्त्रों का प्रारम्भ तो सूत्र--शैली मे होता है पर बाद मे वे व्याख्याओं, भाष्यों और निबन्धादि के द्वारा विपुल विस्तार को प्राप्त करते हैं।

सूत्रादिभिश्चेषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्। यदाहुः-

इन शास्त्रों का निर्माण सूत्र आदि के द्वारा होती है। (अब उनके लक्षण कहे जाते हैं--) विस्तृत अर्थ छोटे वाक्य में पिरोना सूत्र है। इस विषय में कहा गया है--

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विचतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः।।

'सूत्रकार लोग सूत्र उसे मानते हैं जो अल्प--अक्षर--युक्त, असन्दिग्ध, चारों ओर से सारवान्, व्यर्थ शब्द--हीन तथा अनिन्द्य हो

तुलना कीजिये--

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः।। --वायुपुराण, पूर्व ५८-

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः। सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः। आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्। अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका। विषमपदभञ्जिका पञ्जिका। अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। उक्तायुक्तदुरुक्त चिन्ता वार्त्तिकमिति शास्त्रभेदाः।

सूत्रों के समस्त रूप में सार विवरण देनेवाली व्याख्या वृत्ति है। सूत्र पर की गई वृत्ति पर किये गये विवेचन को पद्धति कहते हैं। स्वयं शंकाओं की उद्भावना कर उनका खण्डन करते हुये विस्तृत व्याख्या करना भाष्य कहा जाता है। भाष्य में निहित गम्भीर अर्थ की व्याख्या समीक्षा है। भाष्य के अन्तर्गत वर्तमान अवान्तर अर्थों का अलग--अलग विभाग भी समीक्षा है। यथासम्भव सरल अर्थों को घोषित करना टीका है। पञ्जिका वह है जो विषम पदों को तोड़कर अलग--अलग कर दें। सूत्रार्थ का (सरल) अर्थों में प्रदर्शन कारिका है। उक्त, अयुक्त अथच दुरुक्त शब्दों का विवेचन वार्त्तिक कहा जाता है। ये शास्त्र के भेद हैं।

'भवति प्रथयञ्ल्यर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन्। अल्पमनल्पं रचयन्नल्पमल्पं च शास्त्रकविः।।'

"शास्त्रकवि गूढ अर्थ को प्रकट करता है तथा संदिग्ध अर्थ को स्पष्ट करता है। वह अल्प अर्थ को विस्तृत करता है तथा विस्तृत अर्थ को छोटा करता है।"

शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्। अध्यायादयस्त्ववान्तर-विच्छेदाः। कृतिभिः स्वतन्त्रतया प्रणीता इत्यपरिसङ्ख्येया अनाख्येयाश्च। शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

शास्त्र के एकदेश (भाग) की प्रक्रिया का नाम प्रकरण है। अध्याय आदि अवान्तर विभाग हैं। इनकी रचना कृतिकारों (विद्वानों) ने स्वतन्त्ररूपेण की है अतः ये असंख्य तथा अवर्ण्य हैं। वह विद्या जिसमें शब्द तथा अर्थ का उचित सहभाव हो साहित्य कही जाती है। उपविद्यायें संख्या में चौसठ हैं। विदग्धजन उन्हें कला कहते हैं। वे काव्य का जीवन है। इनका विवरण हम औपनिषदिक प्रकरण में देंगे।

इत्यनन्तोऽभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः। त्यक्तो निपुणधगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात्।

।। इति राजशेखरकृतो काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः।।

विद्वानों की कृतियों का विस्तार अनन्त है और वह चतुर बुद्धिवालों के लिए गम्य है। ग्रंथ–विस्तार के कारण मैंने उन्हें छोड़ दिया है।

।। इति राजशेखरकृतो काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः।।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण में शास्त्रनिर्देश नामक द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

३. काव्यपुरुषोत्पत्तिः

एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमः स्म, यत्किल धिषणं शिष्याः कथाप्रसङ्गे पप्रच्छुः, कीदृशः पुनरसौ सारस्वतेयः काव्यपुरुषो वो गुरुः ? इति। स तान् बृहताम्पतिरूचे।

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच-'पुत्रं ते सृजामि।' अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्-

'यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते।

सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादकौवन्देय तावको।।'

हम गुरुओं से ऐसी पवित्र एवं प्राचीन वाणी सुनते हैं। कि एक बार शिष्यों ने बृहस्पति से कथा–प्रसंग में पूछा कि आपके गुरु सरस्वती–पुत्र काव्य–पुरुष कैसे हैं ? (इस अध्याय में राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति बतायी है और इसे भारत के विभिन्न भागों में प्रसिद्ध स्थानों के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयत्न में वे शुद्ध इतिहास के क्षेत्र से देवशास्त्र के क्षेत्र में चले जाते हैं और काव्य की उत्पत्ति काल्पनिक काव्यपुरुष से बताते हैं। राजशेखर का यह वर्णन पुराणों की शैली पर है राजशेखर द्वारा वर्णित कथा वायुपुराण, महाभारत तथा हर्षचरित से कुछ भिन्न है। हर्षचरित में बाण ने सविस्तार बताया है कि क्यों सरस्वती पृथ्वी पर आयी, च्यवन–पुत्र दधीच से विवाह किया तथा सारस्वतेय पुत्र को उत्पन्न किया। वायु पुराण अध्याय ६५ में भी यह कथा दी हुई है। प्रतीत यह होता है कि बाण ने वायु पुराण से ही यह विषय ग्रहण किया। शान्ति पर्व अध्याय ३५६ तथा शल्यपर्व अध्याय ५२ में भी यह आख्यान पर्याप्त भिन्नता लिये है। अश्वघोष ने बुद्धचरित (१.४७) में इसी से मिलती जुलती कहानी दी है।) बृहतांपति ने उनसे कहा–प्राचीनकाल में सरस्वती ने पुत्र की इच्छा से हिमालय पर तपस्या की।प्रसन्नमना ब्रह्मा ने उनसे कहा–'तेरे लिये मैं पुत्र की रचना करता हूं' तदनन्तर देवी सरस्वती ने काव्य–पुरुष को उत्पन्न किया। उन्होंने उत्पन्न होते ही सरस्वती की चरण–वन्दना कर छन्दोमयी भाषा में कहा–"हे मातः ! यह सम्पूर्ण वाङ्मय–जगत् जिसके अर्थरूप में परिणत हो जाता है वही मैं काव्य–पुरुष हूँ।"

(तुलना कीजिये–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

यो वाऽर्थो बुद्धिविषयोऽब्राह्यवस्तुनिबन्धनः। स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः सम्यगिष्यते।।

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्। प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते।।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि। –वाक्यपदीय।)

टिप्पणी – सुषुवे – उत्पन्न किया।

(राजशेखर का यह कथन संस्कृत की उस विश्रुत परम्परा के विरुद्ध है जिसके अनुसार लौकिक भाषा में आद्य–पद्य–रचना करने वाले वाल्मीकि माने जाते हैं। परम्परानुसार निम्नलिखित पद्य संस्कृत का आद्य श्लोक है–

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससम्भदमङ्कपर्यङ्केनादाय तमुदलापयत्-'वत्स ! सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतः ! वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे। प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति। त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्। त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति। अहो श्लाघनीयोऽसि। शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं,

प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं तेजे वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवहिलकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति-

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश।।'

केवल वेद में ही दृष्ट इस प्रकार की छन्दोमयी वाणी को भाषा में देखकर सरस्वती अत्यन्त प्रसन्न हुई और उस काव्य–पुरुष बालक को गोद में उठाकर प्रेम से कहा–'वत्स ! छन्दमयी वाणी के प्रणेता। सम्पूर्ण वाङ्मय की माता मुझे तूने छन्दोमयी वाणी की चर्चा कर परास्त कर दिया। यह अत्यन्त प्रशंसनीय बात मानी जाती है कि 'पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र–जन्म के समान होता है तुमसे पूर्व के विद्वानों ने गद्यमयी वाणी को रचा था, पद्यमयी वाणी को नहीं। इसके अनन्तर तुमसे प्रयुक्त अब से छन्दोबद्ध रचना चलेगी। तुम सचमुच प्रशंसनीय हो। शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं, संस्कृत तेरा मुख है, प्राकृत भुजा है, अपभ्रंश भाषा जघन प्रदेश और पैशाची भाषा दोनों पैर हैं और मिश्र भाषायें उरःस्थल (वक्ष) है। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार एवं ओजस्वी है। तेरी वाणी शक्तिवती है, रस तेरी आत्मा है, छन्द तेरे रोम हैं, प्रश्न–उत्तर एवं प्रहेलिकादि तेरे वाग्विनोद हैं अथ च अनुप्रास, उपमादि अलंकार तुझ सुशोभित करते हैं। (संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में रसवादियों का अपना विशिष्ट स्थान है । सर्वप्रथम रस को काव्यात्मा स्वीकार किया भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में। पर नाट्येतर साहित्य में इसके इस महत्त्व को भामह, दण्डी तथा वामन ने नहीं माना। परवर्ती आचार्यों ने काव्य में अलंकार, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अनुमिति तथा औचित्य को आवश्यक ठहराया। इस बीच रस–सम्बन्धी विचार में काफी परिष्कार–परिवर्तन होता रहा। ९वीं सदी में आनन्दवर्धन ने फिर रस–सम्प्रदाय का कायाकल्प किया और बताया कि रस–ध्वनि काव्य के सभी अंगों की उन्नायक है। राजशेखर ने भी इसी मत का अनुमोदन किया और रस को काव्य की आत्मा ठहराया। बाद में रस–ध्वनि की सम्यक् प्रतिष्ठा आचार्य अभिनव गुप्त ने की।) भावी अर्थ का अभिधान करने वाली श्रुति भी आपकी स्तुति करती है–

'इसके चार सींगे हैं, तीन पैर हैं, दो शिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बंधा है इस प्रकार का वर्षणकारी यह महादेव मर्त्यलोक में प्रविष्ट हुआ।" (यह मंत्र ऋग्वेद ४.५८.३ का है। इसकी विभिन्न व्याख्याओं के लिए द्रष्टव्य उपर्युक्त मंत्र पर साण–भाष्य और पतञ्जलि का महाभाष्य। भरत–नाट्यशास्त्र का निम्नलिखित वचन भी तुलनीय है–

सप्त स्वराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलङ्काराः, षडङ्गानि इति। –नाट्यशास्त्र, अध्याय १७।

इस मन्त्र की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है।

यद्यपि सूक्त के अग्निसूर्यादि पञ्च देवता परक होने से यह मंत्र पाँच प्रकार से व्याख्येय है किन्तु निरुक्तादि के प्रकार से यज्ञात्मक अग्नि और सूर्य के प्रकाशक रूप होने से तत्परक व्याख्या की जा रही है। इस यज्ञात्मक अग्नि के चार वेद शृंग स्थानीय हैं तीन सवन (प्रातः, मध्यान्ह और सायं) इसके तीन पाद हैं। ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य दो सिर हैं। सात छन्द सात हाथ हैं। मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प तीन प्रकार से बंधा है। वृषभ फलों की वर्षा करने वाला। रोरवीति–बहुत अधिक शब्द करता है। ऋक्, यजुः और साम के उक्थ द्वारा, शस्त्र, याग, स्तुति रूप, होता आदि के द्वारा उत्पादित ध्वनियों से यह शब्द करता है। महान् देव मर्त्यों मरणधर्म प्राणियों में प्रविष्ट हुआ। सूर्य पक्ष में – चार शृङ्ग–चार दिशाएं। तीन वेद पाद स्थानीय, गमन का साधन होने से, दो सिर–दिन और रात सात हाथ–सात रश्मियां या छः विलक्षण ऋतुएं और एक साधारण, त्रिधा बद्धः – तीन स्थानों क्षिति आदि पर बँधा हुआ या ग्रीष्म वर्षा हेमन्त इन तीन से बँधा। वृषभो, वर्षा करने वाला, रोरविति, वृष्टि आदि के द्वारा शब्द करता है। वह महान् देवता मर्त्यों में (उनके नियन्ता होने से) प्रविष्ट हुआ। इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या है–हे मनुष्यो ! जो–(महः) बड़ा सेवा और आदर करने योग्य (देवः) स्वप्रकाश स्वरूप, सबको सुख देने वाला (वृषभः) (मर्त्यान्) मरण धर्म वाले मनुष्य आदि को (आ) सब प्रकार से (विवेश) व्याप्त होता है। अन्य प्रकार से व्याख्या–(वृषभः) और जो सुखों को बरसाने वाला (त्रिधा) तीन–श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से (बद्धः) बंधा हुआ (रोरवीति) निरन्तर उपदेश देता है। (अस्य) इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के दो उन्नति और मोक्ष रूप (शीर्षे) शिरस्थानापन्न (त्रयः) तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञानरूप (पादाः) चलने योग्य पैर (चत्वारि) और चार वेद (शृङ्गा) शृंग के सदृश आप लोगों के जानने योग्य हैं और (अस्य) इस धर्म व्यवहार के (सप्त) पांच ज्ञानेन्द्रियां या कर्मेन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा ये सात (हस्तासः) हाथों के सदृश वर्तमान हैं और उक्त तीन प्रकार से बंधा हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है। महाभाष्य के अनुसार–चत्वारि शृङ्गाणि–चत्वारि पदजातानि, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, तीन पाद–तीन काल–भूत, भविष्यद् और वर्तमान द्वे शीर्षे, दो प्रकार के शब्द स्वरूप–नित्य और कार्य, सप्त हस्तास, सात विभक्तियां, त्रिधाबद्धः – तीन स्थानों, वक्ष, कण्ठ और सिर पर बंधा हुआ, वृषभो–वर्षणात् (वर्षा करने से) रोरवीति – शब्द करता है, रौति शब्दकर्मा। महान् देवः शब्दः, मर्त्या मरण धर्मा मनुष्यतानाविवेश। महान् देव के साथ जिससे हमारा साम्य हो इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

'तथापि संवृणु प्रगल्भस्य पुंसः कर्म, बालोचितं चेष्टस्व' इति निगद्य निवेश्य चैनमनोकहाश्रयिणि गण्डशैलतलतल्पेस्नातुमभ्रगङ्गां जगाम। तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्त्तुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिवृत्ते पूषण्यूष्मोप्लुतं तमद्राक्षीत्। कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन् स्वमाश्रमपदमनैषीत्। क्षणादाश्वस्तश्च स सारस्वतेयस्तस्मै छन्दस्वतीं वाचं समचारयत्। अकस्माद्विस्मापयन्स चाभ्युवाच-

'या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्। हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती।।' इति

'तथापि प्रौढ पुरुष के तुल्य अपने इस कर्म को समेटो। बालक की भाँति चेष्टा करो।' इस प्रकार कहकर बालक को सघन वृक्ष के नीचे अवस्थित शिला–तल पर लिटाकर आकाश–गंगा में स्नान करने चली गयी। इसी बीच कुश तथा यज्ञीय लकड़ियों (समिधा) को लेने महामुनि उशना निकले और सूर्य के ऊपर आने से समीप के पत्थर पर गर्मी से व्याकुल उस बालक को देखा। यह अनाथ बालक किसका है, ऐसा सोचते हुए उस बालक को अपने आश्रम–स्थान पर लाये। लाये जाने पर वह सरस्वती का बालक एक क्षण में ही स्वस्थ हो गया। उसने उस उशना मुनि के लिये छन्दोमयी वाणी को प्रेरित किया। अकस्मात् दूसरों को विस्मित करते हुए उशना मुनि बोल उठे–

"सूक्तियों की कामधेनु सरस्वती देवी मेरे हृदय में निवास करे जो कविरूपी दूध दुहनेवालों के द्वारा नित्य दुही जाने पर भी न दुही गयी के समान हैं अर्थात् जो कभी परिक्षीण नहीं होती।"

तत्पूर्वकमध्येतृणां च सुमेधस्त्वमादिदेश। ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा। कविशब्दश्च 'कवृवर्णने' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम। काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते। ततश्च विनिवृत्ता वाग्देवी तत्र पुत्रमपश्यन्ती मध्येहृदयं चक्रन्द। प्रसङ्गागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृषा सप्रश्रयं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यै भृगुसूतेराश्रमपदमदर्शयत्। सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रायाङ्कपालीं ददाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायापि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत्। अनुप्रेषितश्च स तया निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानं करुणक्रेङ्कारया गिरा क्रन्दन्तमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद-

'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।'

तभी से अध्येताओं का नाम सुमेधस् पड़ा। तभी से उन उशना को सज्जन लोग कवि कहने लगे। इसी से अन्य कविता करने वाले भी संसार में कवि कहे जाने लगे। कवि शब्द 'कवृ वर्णने' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है काव्य–कर्म अर्थात् काव्य–रचना। काव्य के साथ एक रूप होने से ही सरस्वतीपुत्र–सारस्वतेय भी लक्षणा से काव्य–पुरुष कहे जाते हैं। स्नान करने के बाद लौटी सरस्वती देवी पुत्र को वहाँ न देखकर हृदय में क्रन्दन करने लगी। मुनि–श्रेष्ठ बाल्मीकि प्रसंगवश वहाँ आये और उन्होंने विनम्रता के साथ सारा वृत्तान्त भगवती सरस्वती को बताया तथा उन्हें भृगु–पुत्र शुक्र का आश्रम दिखा दिया। स्तनों से दूध चुवाती हुई पुत्र को गोदी में लेकर उसका शिर–चुम्बन करती हुई प्रसन्नमना होकर भगवती सरस्वती ने प्रचेता–पुत्र महर्षि वाल्मीकि को भी स्वच्छन्द छन्दोमयी पर्याप्त वाणी प्रदान की। सरस्वती द्वारा विदा किये जाने पर उन महर्षि वाल्मीकि ने, क्रौञ्च युवा जिसकी सहचरी को निषाद ने मार डाला था और जो करुणा–पूर्ण वाणी से क्रन्दन कर रहा था, को देखकर शोकयुक्त हो यह श्लोक कहा–

'तू शाश्वत प्रतिष्ठा को न प्राप्त कर क्योंकि काममोहित क्रौंच जोड़े में से एक को मार डाला।

राजशेखर का उपर्युक्त वर्णन वाल्मीकि के वर्णन के विपरीत है। तुलना कीजिये–

तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम्। ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिस्स्वनम्।।

तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः। जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः।।

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले। भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम्।। (रामायण, १.२.३१)

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः संपत्स्यत इति। स तु महामुनिः प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहासं समदृभत्; द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेण शतसाहस्रीं संहितां भारतम्।

तदनन्तर दिव्यदृष्टि वाली देवी सरस्वती ने उस श्लोक को भी वरदान दिया कि 'जो व्यक्ति अन्य वस्तु न पढ़कर भी इस श्लोक को पहले पढ़ेगा वह सारस्वत कवि अर्थात् सिद्ध वाणी वाला कवि होगा।' उन महामुनि वाल्मीकि ने भी इस प्रकार वर पाकर पद्य–निर्माण में संलग्न होकर रामायण–नामक इतिहास–ग्रन्थ की रचना की। कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास ने भी इस श्लोक का प्रथम अध्ययन करने के प्रभाव से एक लाख श्लोकों वाली महाभारत–संहिता की रचना की।

एकदा तु ब्रह्मर्षिवृन्दारकयोः श्रुतिविवादे दाक्षिण्यवान् देवः स्वयंभूस्तानिमां निर्णेत्रीमुदिदेश। उपश्रुतवृत्तान्तश्च मातर व्रजन्तीं सोऽनुवव्राज। 'वत्स ! परमेष्ठिनाऽननुमतस्य ते न ब्रह्मलोकयात्रा निःश्रेयसाये'त्यभिदधाना हठान्न्यवर्तयदेनमात्मना तु प्रववृते। ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम। प्रियं मित्रमस्य च कुमारः साक्रन्दं रुदन्नभ्यधीयत गौर्या 'तात ! तूष्णीमास्स्व साऽहमेषा निषेधामीति' निगदन्ती समचिन्तयत्। प्रायः प्राणभृतां प्रेमाणमन्तरेण नान्यद्बबन्धनमस्ति, तदेतस्य वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशच्चैनामेष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्त्तय च। भवन्तोऽपि हन्त ! मुनयः ! काव्यविद्यास्नातकाश्चरितमेतयोः स्तुध्वयमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यतीत्यभिधाय भगवती भवानी जोषमासिष्ट। तेऽपि तथा कर्त्तुमवतस्थिरे।

एक बार ब्रह्मर्षियों तथा देवताओं में वेद–विषयक विवाद होने पर विदग्ध भगवान् ब्रह्मा ने देवी सरस्वती को इस विवाद की निर्णायिका बनाया। इस आज्ञा से देवी सररस्वतीदेवी ब्रह्मलोक को चली। यह वृत्तान्त सुनकर सारस्वतेय काव्यपुरुष जाती हुई मां सरस्वती के पीछे–पीछे चल दिये, काव्यपुरुष को पीछे आता देख सरस्वती ने कहा–'पुत्र ! ब्रह्मा जी ने तुझे ब्रह्मलोक जाने की आज्ञा नहीं दी है अतः वहां जाने में तेरी भलाई नहीं।' इस प्रकार कहकर जबरदस्ती उन्होंने लौटा दिया और स्वयं ब्रह्मलोक चली गयीं। वे काव्यपुरुष तब रुष्ट होकर चिल्ला उठे। काव्यपुरुष के इस प्रकार रोने पर उनका प्रिय मित्र कुमार कार्तिकेय भी जोर–जोर से रोने लगा। तब कुमार की माता गौरी ने कहा–'पुत्र ! तू चुप हो जा। उसे मैं रोकती हूँ।' ऐसा कह कर वे सोचने लगीं–'प्रायेण प्राणियों का प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई बन्धन नहीं।

(तुलना कीजिये–

दृष्ट्वाऽन्येभं छेदमुत्पाद्य रज्ज्वा यन्तुर्वाचं मन्यमानस्तृणाय।

गच्छन्दध्रे नागराजः करिण्या प्रेम्या तुल्यं बन्धनं नास्ति जन्तोः।। –इसी ग्रन्थ के अध्याय १२ में उद्धृत तथा–

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।

दारुभेदनिपुणोऽपि क्षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे।।)

अतः इसको भी वश में करने के लिये किसी स्त्री की रचना करती हूँ, ऐसा सोचकर साहित्य–विद्यावधू को उत्पन्न किया और उसे आज्ञा दी कि 'तेरा यह धर्मपति क्रुद्ध होकर आगे जा रहा है, अतः इसका अनुगमन करो और इसे लौटाओ'। फिर मुनियों से कहा–हे मुनिगणो ! तुम भी काव्य विद्या के स्नातक हो, अतः तुम लोग भी इन दोनों के चरित्र की स्तुति करो। यही तुम लोगों का काव्य- सर्वस्व होगा।' ऐसा कह कर भगवती पार्वती चुप हो गयीं। उन लोगों ने भी उनके आदेशानुसार किया।

अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुर्यत्राङ्वङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्या जनपदाः, तत्राभियुञ्जाना तमौमेयी यं वेषं यथेष्टमसेविष्ट, स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत। सा प्रवृत्तिरौड्रमागधी। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः -

'आद्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसुत्रहारः सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।

दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद् गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः।।'

तदनन्तर वे सभी पहले पूर्वी दिशा में गये जहाँ अंग, बंग, सुह्म, ब्रह्म तथा पुण्ड्र आदि जनपद हैं। (रौद्रमागधी इति पाठान्तरम्)। उस काव्यपुरुष को अनुरक्त करने के लिये उमापुत्री ने जिस वेष का इच्छानुसार धारण किया उस–उस देश की स्त्रियों ने भी उस वेष का अनुकरण किया। वह औड्रमागधी प्रवृत्ति है। उसकी मुनियों ने प्रशंसा की–

'गौडीय (वंग) ललनाओं के ये वेश जो अगर के उपयोग से दूबके अंकुर के समान हो गये हैं, जिनमें गीले चन्दन से सिक्त स्तनों पर सूत्र–हार सुशोभित हैं, जिनमें वस्त्र सीमन्त का स्पर्श कर रहा है, और बाहु–मूल (कांख) स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं चिरकाल तक सुशोभित हो।'

(कुछ लोगों की राय में ये अंश भरत नाट्यशास्त्र के १३ वें अध्याय के अनुकरण पर लिखे गये हैं–

'चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी।। इत्यादि।

अन्यत्र भी–

अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्चः वत्साश्चैवौड्रमागधाः। अन्येऽपि देशाः प्राच्यां ये पुराणे संप्रकीर्तिताः।

तेषु प्रयुज्यते त्वेषा प्रवृत्तिश्चौड्रमागधी।।)

यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्चपुरुषा बभूवुः। साऽपि सैव प्रवृत्तिः। यदपरं नृत्तवाद्यादिकमेषा चक्रे सा भारती वृत्तिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तथाविधाकल्पयापि तया यदवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगबृत्तिपरम्परागर्भं (वाक्यं) जगाद सा गौडीया रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। वृत्तिरीतिस्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः।

जिस वेश का धारण सारस्वतेय काव्य पुरुष ने यदृच्छा किया उस वेश का धारण वहाँ के पुरुषों ने भी कर लिया। इस प्रवृत्ति का नाम भी वही औण्ड्र या रौद्र मागधी पड़ा। तदनन्तर उमा–पुत्री औमेयी ने जिस नृत्त, वाद्य आदि को किया वही भारती वृत्ति हुई।

(भरत–निर्दिष्ट भारती वृत्ति का लक्षण निम्नलिखित है :

या वाक्यप्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।

स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।।

उस वृत्ति की भी मुनियों ने स्तुति की। इसप्रकार की वेषभूषादि की रचना करने पर भी वह काव्यपुरुष औमेयी के वश में नहीं हुआ। वहाँ औमेयी ने समासबहुल, सानुप्रासिक, योगवृत्ति तथा परम्परागर्भ वाक्य कहे। वही गौड़ी रीति है। इसकी भी मुनियों ने स्तुति की। वृत्ति तथा रीति के स्वरूप का वर्णन हम यथा अवसर करेंगे।

ततश्च स पञ्चालान्प्रत्युच्चाल। यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकवाह्लीकबाह्लवेयादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेणा। सा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः-

ताटङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेखमानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।

आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्।।'

तदनन्तर वह काव्यपुरुष पाञ्चाल देश के प्रति चला। जहां पञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बह्लीक, बाह्लवेय आदि देश हैं।

(भरत के एतद्विषयक निम्नलिखित कथन से तुलना–

पाञ्चालाः शौरसेनाश्च काश्मीरा हास्तिनापुराः।

हिमवत्संश्रिता ये तु गंङ्गायाश्चोत्तरां दिशम्।।

वे श्रिता वै जनपदास्तेषु पाञ्चालमध्यमाः।।)

वहाँ भी काव्यपुरुष का अनुगमन करती हुई औमेयी ने जिस–जिस रूप का वरण किया वहाँ की स्त्रियों ने उस रूप का अनुगमन किया। यह प्रवृत्ति पाञ्चालमध्यमा के नाम से ख्यात हुई। इस रूप की मुनियों ने प्रशंसा की–

'कर्णभूषण के हिलने से जिसमें गण्डलेखा हिल उठी है, जिसमें चञ्चल श्वेत हार नाभि तक लटका हुआ है और जिसमें अधोवस्त्र जघन से लेकर घुटने तक लटक रहा है ऐसा महोदय–सुन्दरियों का वेश नमस्करणीय है।'

किञ्चिदार्द्रमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण। यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषा दर्शयांबभूव सा सात्वती वृत्तिः आविद्धगतिमत्त्वात्सा चारभटी। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तथाविधाकल्पयापि तया यदीषद्वशंवदीकृत ईषदसमासमीषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च (वाक्यं) जगाद सा पाञ्चाली रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

कुछ स्नेहयुक्त होकर सारस्वतेय ने जिस रूप का वरण किया वहाँ के पुरुषों ने भी उसे स्वीकार किया। इस प्रवृत्ति का नाम भी पञ्चालमध्यमा पड़ा। औमेयी ने जो थोड़ा बहुत नृत्त, गीतादि का प्रदर्शन किया उसका नाम सात्वती वृत्ति पड़ा।

(या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्वितं च।

हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः।। –भरत नाट्यशास्त्र)

कुछ इसी में कुटिलगति का संयोग होने पर इसे आरभटी वृत्ति कहते हैं।

(प्रभावयातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।

चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति। –तत्रैव

इनकी मुनियो ने स्तुति की। इस प्रकार के प्रवेशादि से उसने काव्यपुरुष को जो कुछ–कुछ वश में किया उसमें उसने किञ्चित् समासरहित, किञ्चित् आनुप्रासिक तथा उपचारपूर्ण बातें कहीं। वही पाञ्चाली रीति है। इसकी मुनियों ने स्तुति की।

ततः सोऽवन्तीन्प्रत्युच्चचाल। यत्रावन्तीवैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुदभृगुकच्छादयो जनपदाः। तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति समान पूर्वेण। सा प्रवृत्तिरावन्ती। पाञ्चालमध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा। अत एव सात्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः-

'पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः।

यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तदन्योन्यसंयभिपन्नमवन्तिदेशे।।'

इसके बाद सारस्वतेय अवन्ति देश की ओर चले। जहाँ अवन्ती देश में अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपद हैं। उनका अनुगमन करती हुई औमेयी ने जिस वेश को धारण किया वहाँ की नारियों ने भी उसका अनुसरण किया। यह आवान्ती प्रवृत्ति है। यह पाञ्चालमध्यमा तथा दक्षिणात्या के बीच की है। इसीलिये सात्वती तथा कौशिकी वृत्तियाँ वहां पायी जाती है। मुनियों ने इसकी स्तुति की।

'पाञ्चाल देश के पुरुषों तथा दक्षिण देश की स्त्रियों की वेश–भूषा एवं व्यवहार प्रशंसनीय हैं। इन दोनों के भाषणया और व्यवहार का सम्मिश्रण अवन्ति देश में है।'

ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद। यत्र मलयमेकलपालमंजराः पर्वताः। कुन्तलकेरलमहाराष्ट्रगाङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः। तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति, समानं पूर्वेण। सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः।

'आमूलतोवलितकुन्तलचारुचूडश्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।

कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्।।'

फिर वे दक्षिण दिशा में गये जहां मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मञ्जर आदि पर्वत हैं तथा महाराष्ट्र गाङ्ग, कलिङ्ग आदि जनपद हैं। वहाँ काव्यपुरुष का अनुगमन करती हुई औमेयी के वेश का स्त्रियों ने अनुसरण किया। यह दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है। इसकी मुनियों ने स्तुति की।

'मूलभाग से ही केशों के वक्र हो जाने से जिनका चूड़ सुन्दर है, सुगन्धित केशराशि से जिसका भाल प्रवेश सुन्दर है तथा जिसमें कक्षा के निवेश स्थान में नीवी छिपा ली गई है केरल नारियों के पास ऐसे रूप की जय हो।'

तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण। यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषाविर्भावयामास सा कैशिकी वृत्तिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासयदसमासं योगवृत्तिगर्भं च (वाक्यं) जगाद सा वैदर्भी रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

उस पर अनुरक्त होकर सारस्वतेय ने जिस वेश को धारण किया वहां के पुरुषों ने भी उसका अनुगमन किया। औमेयी ने जिस विचित्र नृत्य, गीत, वाद्य, हाव–भावादि का उत्पादन किया उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं।

(या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता। कामोपभोगप्रभवोपचारतां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।)

इसकी मुनियों ने स्तुति की। क्योंकि वह अत्यन्त वश में हो गया तो उसने युक्तानुप्रासिक, समासरहित और योगवृत्तियुक्त व्यञ्जक वाक्यों का प्रयोग किया इसी को वैदर्भी रीति कहते हैं। उसकी मुनियों ने स्तुति की।

तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः। 'चतुष्टयी गतिर्वृतीनां प्रवृत्तीनां च देशानां पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कात्स्न्येन परिग्रहः, इत्याचार्याः। अनन्तानपि हि देशांश्चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति 'चक्रवर्तिक्षेत्रं सामान्यन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव' इति यायावरीयः। दक्षिणात्समुद्रादुदीचीं दिशं प्रति योजनसहस्रं चक्रवर्तिक्षेत्रं, तत्रैष नेपथ्यविधिः। ततः परं दिव्याद्या अपि यं देशमधिवसेयुस्तद्देश्यं वेषमाश्रयन्तो निबन्धनीयाः। स्वभूमौ तु कामचारः। द्वीपान्तरभवानां तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती। रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।

इनमें वेश–विन्यास–क्रम प्रवृत्ति है।

(तुलना कीजिये–

वेशभाषानुकरणात्तथाचारप्रवर्तनात्। 'संक्षेपेणैव व्याख्याता वृत्तिरीतिप्रवृत्तयः।।)

विलास––हाव–भाव के विन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं। वचन–विन्यास की पद्धति की रीति सज्ञा है। यहाँ आचार्यों की शका है के आप के मतानुसार यदि "वृत्तियाँ तथा प्रवृतियाँ चार ही हैं तो फिर अनन्त देशों का उनमें पूर्णतः समाहार कैसे होगा ? यहां यायावरीय राजशेखर का उत्तर है कि अनन्त देशों को भी कविगण चार भागों में विभक्त कर अपना कार्य–सम्पादन करते हैं। उदाहरणार्थ यह

समग्र देश चक्रवर्तिक्षेत्र है किन्तु उसके अवान्तर विभाग अनन्त हैं। दक्षिण समुद्र से आरम्भ कर उत्तर की ओर एक सहस्र योजन (चार हजार कोश) तक चक्रवर्ति फैला है। वहाँ पर वेशधारण की यही पद्धति है। इससे भी आगे दिव्य आदि जिस देश में बसे हैं उनके वर्णन में उस देश के वेशादि का वर्णन करना चाहिये। अपनी भूमि का यथेच्छ वर्णन करें। यदि दूसरे द्वीपों का वर्णन करना है तो उनके अनुसार वहाँ की वृत्ति तथा प्रवृत्ति का वर्णन करें। रीतियां तीन हैं। उनका वर्णन आगे यथावसर होगा।

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत्परिणिनाय। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्त्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम, यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्थतुः। तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्त्वाशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः। तयोश्च तं सर्गं कविभ्यः स्वर्गलोकमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते।

विदर्भ देश में मनोजन्मा भगवान् कामदेव का क्रीड़ा–स्थल वत्सगुल्म नामक नगर है। वहां पर सारस्वतेय काव्यपुरुष ने उस औमेयी साहित्यवधू के साथ गान्धर्व पद्धति से विवाह किया। तदनन्तर वे वधू–वर उन प्रदेशों में विहार करते हुये तुषारगिरि पर ही आये। वहाँ गौरी तथा सरस्वती साथ–साथ रहती थीं। प्रणाम किये उस दम्पत्ति को उमा और सरस्वती ने आशीर्वाद दिया तथा उन्हें प्रभाव–मय शरीर से कवि–मानस का निवासी बना दिया। इस प्रकार उन दोनों के लिये कविलोकरूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि हुई। इस स्वर्ग लोक में कविजन, मर्त्य लोक में काव्य–शरीर और मरकर दिव्य शरीर से निवास करते हैं।

इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा। एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति।।

।। इति राजशेखरकृतो काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः।।

इस काव्य पुरुष को स्वयम्भू ब्रह्माजी ने प्राचीन काल में उत्पन्न किया था। जिसको इसका (साहित्य शास्त्र वा काव्यपुरुष का) विभागपूर्वक ज्ञान है वह लोक तथा परलोक में आनन्द प्राप्त करता है।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के कवि रहस्य नामक प्रथम अधिकरण में काव्यपुरुषोत्पत्ति नामक तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

४. शिष्यप्रतिभे

द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च। यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्। यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः। त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्यं स्मर्त्री स्मृतिः। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री। तयोर्बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणाः किन्तु प्रशास्तारमपेक्षन्ते। अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः। सा हि बुद्धिविकासकामधेनुः। तदाहु :-

शिष्य दो प्रकार के होते हैं : १. बुद्धिमान् और २. अहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का अनुगमन करती है वह बुद्धिमान् शिष्य कहा जाता है, और शास्त्रों के अभ्यास जिसकी बुद्धि को संस्कृत अर्थात् परिष्कृत करता है वह आहार्यबुद्धि होता है। बुद्धि तीन प्रकार की होती है– १. स्मृति, २. मति और ३ प्रज्ञा। विगत अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति कही जाती है। वर्तमान का मनन कराने वाली बुद्धि मति है एवं भविष्यदर्थ का प्रज्ञान कराने वाली बुद्धि प्रज्ञा नाम से अभिहित होती है। वह तीनों प्रकार की बुद्धि कवियों की उपकारिणी है। उन दोनों में बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि में से बुद्धिमान् तो सेवा करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, धारण करता है, जानता है, तर्क करता है, समाधान करता है तथा वस्तुस्थिति का ज्ञान करता है। आहार्यबुद्धि के भी ये ही गुण हैं। परन्तु उन्हें उपदेष्टाओं की जरूरत होती है। इन दोनों अर्थात् बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि के लिये सद्गुरु की प्रतिदिन सेवा प्रकृष्ट गुण है क्योंकि गुरु–उपासना बुद्धि–विकास के लिये कामधेनु है। इस विषय में कहा है–

'प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते।।'

"विद्या–वृद्धों का साहचर्य क्रमशः अमृत का कार्य करता है क्योंकि वह पहले तो यथार्थ वस्तु के ग्रहण के लिये प्रज्ञा–ज्योति को विस्तृत करता है। तदनन्तर मन को ऊहापोह की क्रिया के लिये समर्थ बनाता है और इसीलिये मन अन्ततोगत्वा एक निश्चित तत्त्व को प्रदान करता है।

ताभ्यामन्यथाबुद्धिर्दुर्बुद्धिः। तत्र बुद्धिमतः प्रतिपत्तिः। स खलु सकृदभिधानप्रतिपन्नार्थः कविमार्गं बुभुत्सेत गुरुकुलमुपासीत। आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्तिः सन्देहश्च। स खल्वप्रतिपन्नमर्थं प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्तुमाचार्यानुपतिष्ठेत। दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽनाधेयगुणान्तरत्वात् तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति तमौपनिषदिके वक्ष्यामः। 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति, उक्तश्च-

इन दोनों से विपरीत बुद्धिवाला शिष्य दुर्बुद्धि होता है। इनमें बुद्धिमान् सहज ज्ञानवान् होता है। वह एक बार कहने से ही अर्थ जान करता हुआ कवि–मार्ग को जानने के लिये गुरुकुल में जाये। आहार्यबुद्धि वाले शिष्य को (एकबार अभिधान करने पर एक तो अर्थावबोध नहीं होता दूसरे (यदि अर्थावगम हो भी जाये तो) सन्देह बना रहता है। उसे न जाने हुए अर्थ को जानने तथा सन्देह का निराकरण करने के लिये गुरुओं के पास जाना चाहिये। दुर्बुद्धि को सर्वत्र मति–विपर्यास ही रहता है। वह नीले रंग से रंगे वस्त्र के समान होता है और उसमें दूसरे गुण का आधान नहीं हो सकता। यदि उसमें काव्य–गुण आ सकता है तो सरस्वती की कृपा से इस औपनिषदिक अधिकरण में वर्णन करेंगे। श्यामदेव नामके आचार्य का कथन है कि 'काव्य–कर्म' में कवि की समाधि की परम आवश्यकता है।' समाधि का अर्थ है मन की एकाग्रता। समाहित (एकाग्र) मन (विविध) अर्थों को देखता है। कहा भी है

'सारस्वतं किमपि तत्त्वमहारास्यं यद्गोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयंपरमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः।।'

"सरस्वती का तत्त्व महान् रहस्य है, केवल विद्वानों का ही गोचर है और वह केवल कुशल व्यक्तियों द्वारा ही सेव्य है। उस सारस्वत तत्त्व की सिद्धि के लिये एकमात्र यही परम उपाय है कि ज्ञेय की विधि को जानने वाले चित्त की परम समाधि हो।

'अभ्यासः' इति मङ्गलः। 'अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः'। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयन्तः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते। किञ्चन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबन्धन्तिस्म। तत्र देशान्तरव्यवहारः-

मंगल नाम के आचार्य का मत है कि 'काव्य–तत्व की सिद्धि का चरम उपाय अभ्यास है'। निरन्तर अनुशीलन का ही नाम अभ्यास है। वह अभ्यास सर्वगामी है तथा सर्वत्र निरतिशय कौशल का आधान करता है। समाधि आभ्यन्तर प्रयत्न है तथा बाह्य प्रयत्न का नाम अभ्यास है। ये दोनों शक्ति की उद्भावना करते हैं। किन्तु यायावरीय राजशेखर का मत है कि वह ही केवल काव्य का हेतु है

(काव्य के हेतुविषयक विचारणा में भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। शक्ति, अभ्यास और व्युत्पत्ति- सामान्यतया ये तीन काव्य–हेतु स्वीकार किये गये हैं। इस विषय में मम्मट की राय है कि ये तीनों सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। –काव्यप्रकाश १

किन्तु ऐसे भी आचार्य हो गये हैं जो इन तीनों में से एकाध के द्वारा ही काव्य–निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। यद्यपि भामह ने अन्य हेतुओं का भी निर्देश किया है पर उनका विशेष जोर प्रतिभा पर है–काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः (काव्यालंकार)। दण्डी ने तीन को काव्यहेतु स्वीकार किया है–

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। –काव्यादर्श १ १

आचार्य आनन्दवर्धन का भी मत शक्ति को काव्य का हेतु स्वीकार करता है–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यत्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।

आचार्य अभिनवगुप्त जी भी इसी मत के पोषक हैं। शक्ति की व्याख्या रुद्रट के निम्नलिखित वचन से भली भाँति हो जाती है

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।। –काव्यालंकार १ ५

वह शक्ति, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से भिन्न है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। शक्ति कर्ता है और प्रतिभाव्युत्पत्ति कर्म हैं। शक्ति वाले को ही प्रतिभा आती है तथा शक्ति–सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। हो शब्द–समूह अर्थ–समूह अलंकार–शास्त्र, उक्ति–मार्ग तथा अन्य भी एतादृश काव्य–पदार्थों को हृदय में प्रतिभासित करे वह प्रतिभा है। प्रतिभा–हीन व्यक्ति

को पदार्थ–समूह अप्रकट रहते हैं किन्तु प्रतिभा वाले को न देखने पर भी प्रत्यक्ष जैसे रहते हैं क्योंकि मेधाविरुद्ध (ये अलंकार शास्त्र के आचार्य हैं इन पर इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनका उल्लेख नेमिसाधु ने अपनवी रुद्रटालं० की टीका में किया है।) कुमारदास (कुमारदास की जन्मान्धता दन्तकथा पर आश्रित है–द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास ले० पं० बलदेव उपा० पृ० २२४ (स० पृष्ठ) कुमारदास के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है–

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।

कविः कुमारदासश्च, रावणश्च यदि क्षमौ।। –सूक्तिमुक्तावली)

आदि कवि जन्मान्ध सुने जाते हैं। अथ च महाकवि दूसरे देशों तथा द्वीपों की कथा तथा पुरुषों के दर्शन से वहां के व्यवहार का वर्णन करते हैं। इनमें देशान्तर–व्यवहार के वर्णन का यह उदाहरण है :

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने। तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।

ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।।'

सत्कल्पवृक्ष वाले वन में वायु के सहारे प्राणों की उचित वृत्ति (अर्थात् जिस स्थान पर इच्छापूरक कल्पवृक्ष है वहाँ वायु पीकर रहना) स्वर्ण–कमलों की धूलि से पीतिमा–प्राप्त जल में पुण्य स्नान–कर्म; रत्नों की शिलाओं से निर्मित घर में ध्यान, देवांगनाओं के पास रहकर संयम अन्य मुनिजन तप के द्वारा जिस की आकांक्षा करते हैं ये इन्हीं के पास रहकर तप करते हैं। (अभिज्ञानशाकुन्तल ७.१२ में मारीचाश्रम का वर्णन है। इसमें कवि न देखे हुए स्वर्गीय पदार्थों का वर्णन कर रहा है)।

द्वीपान्तरव्यवहारः-

'अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु ताडीवनमर्मरेषु। द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः।।'

द्वीपान्तर–व्यवहार के वर्णन का निम्नलिखित उदाहरण है :–

इन्दुमती को दक्षिण देश के राजा का परिचय कराती हुई सुनन्दा कह रही है–"हे इन्दुमती ! ताल–वन के मर्मरव से गुञ्जित समुद्र के किनारे इस राजा के साथ विहार कर। वहाँ द्वीपान्तरों से लवङ्ग पुष्पों को लाने वाले पवनों से स्वेदकण जाता रहेगा।" (रघुवंश ६.५७)।

(इस उदाहरण में कवि द्वीपान्तर में आने वाले लवंग–पुष्पों का वर्णन कर रहा है। पर उस द्वीप का कवि ने वस्तुतः दर्शन नहीं किया है)।

कथापुरुषव्यवहारः-

'हरोऽपि तावत्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।'

कथा–पुरुष–व्यवहार का उदाहरण निम्नलिखित है :–

जिस प्रकार चन्द्रोदय होने पर अम्बुराशि (समुद्र) धैर्य को छोड़ देता है उसी भांति भगवान् शंकर ने भी धैर्य छोड़कर बिम्बफल के समान अरुण ओष्ठ वाले पार्वती के मुख पर नेत्रों को फेरा। (कुमारसंभव ३.६७)

(यहाँ कवि ने भगवान् की चेष्टाओं का यद्यपि दर्शन नहीं किया है तथापि कथाओं के आश्रय पर ऐसा वर्णन किया है)।

आदिग्रहणात्-

'तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे। बाले व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श।।'

(कथापुरुष के अनन्तर जो "आदि" पद है उसका उदाहरण यह है :–

(यह इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन है।) इन्दुमती के उस प्रकार होने पर (अर्थात् राजा के प्रति आकृष्ट होकर खड़ी होने पर) सखी सुनन्दा ने कहा– हे बाले ! चलो यहाँ से दूसरी ओर चलें' इस प्रकार कहने पर वधू इन्दुमती ने ईर्ष्या से उसकी ओर देखा। (–रघुवंश ६.८२)

(किसी नारी का अपने प्रेमी के प्रति उत्पन्न हुए भाव को पुरुष कवि के लिये जानना सम्भव नहीं। पर प्रतिभा के बल से कवि ने उसे यहाँ निबन्धित किया है।

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा। सहजाऽऽहार्योपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। इह जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। 'मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः। त इमे त्रयोऽपि कवयः

सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च। जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशितदर्शितवाग्विभवा दुर्बुद्धिरौपदेशिकः। तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्। 'नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते' इत्याचार्याः।- 'न' इति यायावरीयः। एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते। 'तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्' इति श्यामदेवः।

और वह प्रतिभा दो प्रकार की है। एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है : १. सहजा, २. आहार्या और औपदेशिकी। सहजा प्रतिभा जन्मान्तर–संस्कार से उत्पन्न होती है। आहार्या प्रतिभा इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है। औपदेशिकी प्रतिभा मंत्र, तन्त्र आदि के उपदेश से प्रोद्भूत होती है। कहते हैं, इस लोक के किञ्चित् संस्कार से ही सहजा प्रस्फुटित होती है। किन्तु, आहार्या महान् प्रयत्न से उत्पन्न होती है। औपदेशिकी के लिये यही जन्म उपदेश–काल तथा यही संस्कार–काल है। इस प्रकार से तीन प्रकार के कवि सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक हैं। जिसकी सरस्वती जन्मान्तर–संस्कार से काव्य–कर्म में प्रवृत्त होती है वह बुद्धिमान् सारस्वत है। जिसकी भारती इस जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती है वह आहार्या बुद्धि वाला आभ्यासिक है। जिसका वाणी–विलास उपदेश से होता है वह दुर्बुद्धि औपदेशिक है। अतः सारस्वत तथा आहार्य बुद्धि वाले को तन्त्रादि–सेवन की आवश्यकता नहीं। आचार्यों का कथन है कि स्वभाव से मीठे अंगूर को इक्षु–रस की चासनी में संस्कृत करने की आवश्यकता नहीं होती।' किन्तु यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'ऐसी बात नहीं'। यदि एक विषय में दुहरी क्रिया प्रयुक्त की जाये तो उससे (अर्थ) दुगुना हो जाता है। श्यामदेव नामक आचार्य का कथन है कि इन तीन प्रकार के कवियों में क्रमशः पहला पहला श्रेष्ठ है। क्योंकि–

'सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मितः। औपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति।।'

"सारस्वत कवि स्वतंत्र होता है, आभ्यासिक सीमित होता है किन्तु औपदेशिक सुन्दर तथा सारहीन कहता है।"

'उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। किञ्च-

'बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च। कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्।।

काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः। मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता।।'

यायावरीय राजशेखर का मत है कि उत्कर्ष अच्छा है। उत्कर्ष अनेक गुणों के समूह से होता है। कहा भी है–

'बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसके अंगभूत विद्याओं का अभ्यास तथा कवियों का उपनिषत् (रहस्य अर्थात् शक्ति) – ये तीनों एक स्थान पर अत्यन्त दुर्लभ है।'

काव्य तथा काव्यांगभूत विद्याओं का जिस विद्वान् ने अभ्यास किया है तथा जो मन्त्रों के अनुष्ठान में संलग्न है, उस बुद्धिमान के लिये कविराजत्व (कविराज पद) अत्यन्त समीप है। अर्थात् वह सद्यः कविराजत्व को प्राप्त हो जाता है।

कवीनां तारतम्यतश्चैष प्रायोवादः। यथा-

'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य- मन्यस्य गच्छति सुहृद भ वनानि यावत्।

न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत् कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव।।'

कवियों की तारतम्यता (श्रेणी–विभाग) के बारे में यह प्रसिद्ध भी है–

एक कवि का तो काव्य घर में ही रह जाता है तथा दूसरे का काव्य मित्रों के घर तक पहुँचता है। किन्तु एक दूसरे प्रकार के कवियों का काव्य विदग्धों के मुख तक पैर रखकर मानो संसार को देखने के कुतूहल से चलता है अर्थात् सर्वत्र फैल जाता है।

सेयं कारयित्री। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः। अन्यथा सोऽवकेशी स्यात् 'कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः' इत्याचार्याः। तदाहुः-

'प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा। भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्।।'

यह तो कवि से सम्बद्ध कारयित्री प्रतिभा है। अब भावक की उपकारिका भावयित्री प्रतिभा का वर्णन किया जाता है। वह अर्थात् भावयित्री प्रतिभा कवि के परिश्रम तथा अभिप्राय को भावित करती है। अनुभव करती है अर्थात् मूल्यांकन करती है। उसी के आश्रय से कवि का काव्य–व्यापार–रूपी वृक्ष फलता है। इसके बिना काव्य–वृक्ष वन्ध्य हो जाता है। इस विषय में आचार्यों का कथन है कि 'यदि कवि भावक होता है तथा भावक कवि होता है तो फिर इन दोनों में क्या भेद ? अर्थात् कुछ भी नहीं। कहा भी है-

पृथ्वी पर प्रतिभा के आधार पर विभिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि प्रायः अधम दशा को प्राप्त नहीं होते।'

'न' इति कालिदासः। पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम्। स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च। यदाहुः-

'कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।

नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना- मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।।'

कालिदास नामक आचार्य की राय है कि ऐसी बात नहीं। 'कवित्व से भावकत्व पृथक् होता है तथा कवित्व पृथक् हैं। यह पार्थक्य स्वरूपभेद तथा विषयभेद दोनों से है।' कहा भी है–

"कोई तो वाणी की रचना करने (काव्यकर्म) में समर्थ और कोई उसे सुनने में। पर तेरी कल्याणी बुद्धि दोनों में हैं यह हमें आश्चर्य में डालता है। एक वस्तु में अतिशय से युक्त गुणों का सन्निपात नहीं होता। एक पत्थर (पारस) तो स्वर्ण को उत्पन्न करता है और दूसरा (निकष) उसकी परीक्षा में समर्थ होता है।"

'ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च' इति मङ्गलः। 'कवयोपि भवन्ति' इति वामनीयाः। 'चतुर्धा' इति यायावरीयः 'मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च'। 'तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः' इति वामनीयाः। 'अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी, ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकी हि संस्कारशतेनाऽपि वङ्गमिव कालिकां ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव' इति यायावरीयः। किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि-व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते। मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्।

मंगल नामक आचार्य का कथन है कि वे आलोचक दो प्रकार के होते हैं (१) अरोचकी तथा (२) सतृणाभ्यवहारी। वामन के अनुयायियों का कथन है कि कवि भी अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के होते हैं। यायावरीय राजशेखर का कथन है कि पूर्वोक्त दो में मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेशी ये दो मिलकर आलोचकों की कोटि चार प्रकार की है। वामन के अनुयायियों की राय है कि इन दो (अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी) में पहले अर्थात् अरोचकी तो विवेकी हैं और बाद वाले अर्थात् सतृणाभ्यवहारी अविवेकी हैं।

अरोचकी आलोचकों की अरोचकिता दो प्रकार की होती है–१. नैसर्गिक वा स्वाभाविक तथा २. ज्ञानयोनि। इनमें जो नैसर्गिकी अरोचकिता है वह सैंकड़ों संस्कारों से भी परिवर्तित नहीं होती जैसे कि वङ्ग (धातुविशेष) सैंकड़ों परिशोधनादि संस्कारों के करने पर भी अपनी सहज कालिमा को नहीं छोड़ता। ज्ञान–जन्य अरोचकिता विशिष्ट अर्थवान् वचन (काव्य) पर रीझती है।' ऐसा यायावरीय राजशेखर का मत है। सतृणाभ्यवहारी नाम की जो आलोचक–बुद्धि है वह सर्वसाधारण है (अर्थात् सामान्य वस्तु है) क्योंकि व्युत्पत्ति की इच्छा वाले सभी कौतुकी लोगों की सर्वत्र ही पहले वह होती है; क्योंकि प्रतिभा तथा विवेक की शून्यता गुण तथा अवगुण में विवेक नहीं करती। इसके कारण आलोचक बहुत सी बातों को छोड़ देते हैं तथा बहुत सी बातों को ग्रहण कर लेते हैं। विवेक के अनुसार चलने पर ही बुद्धि मधु की वृष्टि करती है। आलोचक को परिणाम में यथार्थ द्रष्टा होना चाहिये। भ्रम का विनाश निःश्रेयस् को सम्पन्न करता है। मत्सरी आलोचक दृष्ट पदार्थ को भी नहीं देखते, क्योंकि पर–गुणों के वर्णन में वे वाणी का नियमन करते हैं।

स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः। तदुक्तम्

'कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं, स्वयं सत्कविः सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद् दैवान्न निर्मत्सरः।।'

मत्सर (ईर्ष्या) हीन तथा गुणग्राही आलोचक विरले ही होते हैं। कहा भी है :

'तुम कौन हो ?' 'मैं कवि हूं।' 'तो मित्र कोई नई सूक्ति पढ़ो।' 'मैंने तो कविता की बात ही इस समय छोड़ दी है।' 'क्यों ?' 'सुनो', जो, सम्यक् दोष–गुण का विवेचन करे तथा स्वयं सत्कवि भी हो, ऐसा भावक (आलोचक) नहीं है और यदि दैव–योग से कोई भी हो तो वह निर्मत्सर (द्वेषरहित) नहीं है।'

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्-

'शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।।
स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च। कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः।।
काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना। नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश।।
सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे। द्वित्रास्तु भावकमनःशिलापट्टनिकुट्टिताः।।
सत्काव्ये विक्रियाः कश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः। सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न, याः।।
वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः। सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः।।
गुणादानपरः कश्चिद्दोषदानपरोऽपरः। गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः।।
अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः। तेन विद्मः, प्रसादेऽत्र नृणां हेतुरमानुषः।
न निसर्गकविः शास्त्रे न क्षुण्णः कवते च यः। विडम्बयति सात्मानमाग्रहग्रहिलः किल।।
कवित्वं न स्थितं यस्य काव्ये च कृतकौतुकः। तस्य सिद्धिः सरस्वत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रयोगतः।।
यदान्तरं वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरवाक्ययोः। तदा स सिद्धो मन्तव्यः, कुकविः कविरेव वा।।
कारयित्रीभावयित्र्यावितीमे प्रतिभाभिदे।
अथातः कथयिष्यामो व्युत्पत्तिं काव्यमातरम्।।

।। इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शिष्यप्रतिभाव्याख्यानः चतुर्थोऽध्यायः ।।

तत्त्वाभिनिवेशी भावक तो सहस्रों में एक होता है। जैसा कि कहा है :

"विवेचक के अभाव में अन्दर ही दुःखी होने वाले किन्हीं बुद्धिमान् व्यक्तियों के ही पुण्यों के संघटित होने पर उसक काव्य–श्रम का जानने वाला (आलोचक) व्यक्ति मिलता है जो शब्दों की गुंफनविधि का विवेक रखता है, उसकी सूक्तियों से आह्लादित होता है सघन रसामृत का पान करता है तथा उसके गूढ़ तात्पर्य का चिन्तन करता है।"

भावक (आलोचक) कवि का स्वामी, मित्र, मंत्री, शिष्य तथा आचार्य होता है। आश्चर्य है वह क्या नहीं होता अर्थात् सब कुछ होता है कवि का उस काव्य से क्या लाभ जो उसके मन में ही रह जाता है। (अर्थात् व्यर्थ है) जिसकी रचनायें दशों दिशाओं में भावकों के द्वारा नहीं पहुंचा दी जाती हैं (अर्थात् जिस कवि के पढ़ने वाले सर्वत्र नहीं है उसके काव्य से कोई लाभ नहीं।)

'पुस्तकरूप में बंधे काव्य–ग्रंथ तो घर–घर में हैं। किन्तु भावकों के मनरूपी शिला–पट्ट पर खुदे तो दो–तीन ही होते हैं।

(द्रष्टव्य–

सत्यं सन्ति गृहे–गृहे सुकवयो (शृंगारतिलक १.१७)

तथा

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे–गृहे। उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।। –हर्षचरित १.६)

सत्काव्य के मन्थन से भावक के मन में जो विकार उठते हैं उन्हें नाट्य–निर्माता ब्रह्मा अथवा नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि सभी अभिनयों के निर्णय में भी नहीं देखा।

कोई आलोचक तो कवि की वाणी (शब्दों) का आलोचक होता है और कोई हृदय का। और कोई भावक सात्त्विक भावों– अनुभावों की आलोचना करता है।

(अथवा कोई तो आलोचना शब्दों से प्रकट करता है और कोई हृदय से तथा कोई–कोई आलोचक सात्त्विक तथा अनुभावों से उसको प्रकट करता है।)

कोई आलोचक निर्मितियों के केवल गुणों का ग्रहण करते हैं तो कोई केवल दोषों का कुछ आलोचक त्याग करते हैं।

एक प्रकार के ही काव्य में यह जो आलोचना की भिन्नता दिखाई पड़ती है इससे प्रतीत यही होता है कि व्यक्तियों की प्रसन्नता का हेतु अलौकिक है।

जो न तो प्राकृतिक कवि है और न शास्त्र में ही व्युत्पन्न है पर कविता करता है वह अपनी विडम्बना–मात्र प्रस्तुत करता है और हठी है। जिसमें कवित्व नहीं है पर कविता करने का कुतूहल है उसकी सिद्धि सरस्वती के मन्त्र–तन्त्र के प्रयोग से ही हो सकती है। जब बुद्धिमान् अपने तथा पराये वाक्य के भेद को जानने लगे तो चाहे वह कवि हो या कुकवि उसे सिद्ध समझना चाहिये। इस प्रकार कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभाओं का भेद बतलाया गया है। अब (अगले अध्याय में) काव्य–जननी व्युत्पत्ति का वर्णन करेंगे।

राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा के कविरहस्य नामक व्याख्यान प्रथम अधिकरण में
शिष्यप्रतिभा नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

५. व्युत्पत्तिकविपाकाः

'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः' इत्याचार्याः। सर्वतोदिक्का हि कविवाचः। तदुक्तम्-

'प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य। इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्का।।'

आचार्यों का कथन है कि 'बहुज्ञता व्युत्पत्ति है। क्योंकि कवियों की वाणी सभी दिशाओं में प्रसृत होती है।

(आचार्य अभिनवगुप्त ने व्युत्पत्ति की परिभाषा देते हुए कहा–'समस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलं व्युत्पत्तिः। आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है। रुद्रट की व्युत्पत्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :–

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्। युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।। –रुद्रट १.१८

कहा भी है–)

'अभ्यस्त विषय (गोचर) में किसकी वाणी कुछ बोलने को नहीं उद्यत हो जाती है अर्थात् सभी की हो जाती है। कवित्व तो यही है कि कवि की वाणी सभी दिशाओं (विषयों–चाहे वे अभ्यस्त हों वा अभ्यस्त) में जावें।'

'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः। 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः।। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह-

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते।।'

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा श्रेष्ठ है।' वह कवि के अव्युत्पत्तिजन्य समस्त दोष को आवृत कर लेती है। जैसा कि कहा है–

अव्युत्पत्तिजन्य दोष कवि की शक्ति (प्रतिभा) से ढंक जाता है पर जो अशक्ति (अप्रतिभा)–जन्य दोष है वह सद्यः दिखाई पड़ जाता है।'

शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्त्तते। प्रतिभा यथा-

'एतत्किं शिरसि स्थितं मम पितुः, खण्डं सुधाजन्मनो लालाटं किमिदं विलोचनमिदं, हस्तेऽस्य किं पन्नगाः।

इत्थं क्रौञ्चरिपोः क्रमादुपगते दिग्वाससः शूलिनः। प्रश्ने वामकरोपरोधसुभगं देव्याः स्मितं पातु वः।।'

यह शक्ति शब्दलक्षणा से प्रतिभा के अर्थ में है। प्रतिभा का उदाहरण निम्नलिखित है–

(यह पार्वती–कार्तिकेय का संवाद है। दिगम्बर रूप में खड़े शिव जी को देखकर कार्तिकेय जिज्ञासावश पार्वती से प्रश्न कर रहे हैं और पार्वती उनका उत्तर दे रही हैं–)

'मेरे पिता के शिर पर यह क्या ?' 'चन्द्रमा का खण्ड।' यह ललाट पर क्या है ?' 'नेत्र।' 'इनके हाथ में क्या है ? 'सर्प।' इस प्रकार कार्तिकेय के क्रमशः दिगम्बर शंकर के बारे में प्रश्न करते जाने पर पार्वती ने बायें हाथ से उनका मुख बन्द कर दिया और मुस्कराने लगी। देवी पार्वती का ऐसा स्मित आप लोगों की रक्षा करे।'

(यहाँ कवि की व्युत्पत्ति दर्शनीय है कि उसने पाठको का ध्यान अनुचित प्रश्न से हटा दिया है।)

'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः। सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तथा हि-

'कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि। वैदग्धीचितचित्तानां हेया शब्दस्य गुम्फना।।'

मंगल नामक आचार्य का कथन है कि (प्रतिभा और व्युत्पत्ति में) व्युत्पत्ति अधिक अच्छी है। वह कवि के अशक्ति अर्थात् प्रतिभाहीनताजन्य दोष को पूर्णत ढँक लेती है। क्योंकि

'काव्य मार्ग में कवि की अशक्ति व्युत्पत्ति द्वारा छिपा दी जाती है। विदग्धता से आकृष्ट चित्त वालों के लिए शब्द गुम्फन हेय हो जाता है। अर्थात् विदग्धता से आकृष्ट चित्त हो श्रोता शब्द गुम्फन पर ध्यान नहीं देते। अथवा विदग्धतापूर्ण वचन वाले कविया की शब्द रचना पर ध्यान देना व्यर्थ है।

व्युत्पत्तिर्यथा-

'कृतः कण्ठे निष्को नहि किमुत तन्वी मणिलता कृशं लीलापत्रं श्रवसि निहितं कुण्डलमुचि।

न कौशेयं चित्रं वसनमवदातं तु वसितं समासन्नीभूते निधुबनविलासे वनितया।।

'सुरत के लिये उद्यत रमणी ने कण्ठ में निष्क नहीं पहना फिर पतली मणिलता की क्या बात ? कुण्डल को हटा कर पतले लीलापत्र को कान में पहन लिया। विचित्र रेशमी साड़ी को नहीं पहना अपितु सफेद धोती पहन ली।

(यहाँ यद्यपि कवि को शृङ्गारोपभोग योग्य कोमल वर्णों का विन्यास करना चाहिये पर इस अशक्ति को उसने अपनी व्युत्पत्ति के इस ज्ञान से कि स्वतः रमणोद्यता भारी गहनों को हटाकर हल्के वस्त्र को धारण करती है, के द्वारा हटा दिया है।)

कवि की यह कामशास्त्र की व्युत्पत्ति को द्योतित कर रहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र (४.१) में निम्नलिखित वचन मिलता है

बहुभूषणं विविधकुसुमानुलेपनं विविधाङ्गरागसमुज्ज्वलं वास इत्याभिगामिको वेषः।। २४

प्रतनुश्लक्ष्णाल्पदुकूलता परिमितमाभरणं सुगंधिता नात्युल्वणमनुलेपन तथा शुक्ला न्यन्यानि पुष्पाणीति वैहारिका वेष ।।२५।।

'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महत सौन्दर्याय। उभययोगो यथा-

'जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।

भर्त्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी- सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः।।'

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों मिल कर श्रेयस्कर होते हैं। जैसे लावण्य के बिना रूप–सम्पत्ति तथा रूप सम्पत्ति के बिना लावण्य शोभाकारी नहीं होते। दोनों के योग का उदाहरण यह है–

(यह पद्य काव्यप्रकाश (सप्तम उल्लास)में अवाचकरुत्व' के दोष के प्रसंग में उद्धृत है। इस पद्य में संभृताब्जशोभां विदधत् में जो 'विदधात' पद है वह 'दधत्' के अर्थ में अवाचक है क्योंकि 'वि' उपसर्ग पूर्वक' 'धा' धातु का प्रयोग विधान (सम्पादन) अर्थ का ही वाचक है 'धारण' का नही।)

"स्वामी महादेव के ताण्डव–नृत्य के अनुकरण पर ताण्डव–नृत्य करती हुई भवानी पार्वती के शरीर रूपी स्वच्छ लावण्यवापी से उत्पन्न हुए रक्तकमल की शोभा प्राप्त करने वाला पार्वती का नूतन दण्डपाद (रक्त चरण) अत्यन्त शोभित हो रहा है। उनका जंघाकाण्ड ही बड़े–बड़े नाल हैं, नखों की स्वच्छ किरणें सुन्दर कमलकेसर हैं, पैरों में नूतन लगी हुई महावर मानों कमल का किसलय है और गुंजायमान मञ्जीर ही भ्रमर है।

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते। स च त्रिधा।

शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च। 'तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्' इति श्यामदेवः। 'न' इति यायावरीयः। यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्। नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय। यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी। उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे। यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि।

प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि कहा जाता है। वह अर्थात् कवि तीन प्रकार के होते हैं : १. शास्त्रकवि, २. काव्यकवि और ३. उभयकवि। इनके सापेक्ष महत्त्व के विषय में श्यामदेव नाम के आचार्य का कथन है कि इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। पर यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'नहीं'। अपने–अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। न तो राजहंस चन्द्रिका का पान कर सकता है और न चकोर पानी से दूध को अलग कर सकता है। (अर्थात् दोनों के कार्य अलग–अलग हैं और वे एक–दूसरे का काम नहीं कर सकते)। जो शास्त्रकवि होता है वह काव्य के रस–सम्पत्ति का विच्छेद कर देता है। जो काव्यकवि होता है वह शास्त्रीय तर्क–कर्कशता को भी उक्ति–वैचित्र्य से शिथिल कर देता है। उभयकवि दोनों में श्रेष्ठ है, यदि वह दोनों विषयों में प्रवीण हो इसलिये शास्त्रकवि और काव्यकवि दोनों समान प्रभाव वाले हैं। हम शास्त्रकवि तथा काव्यकवि में परस्पर उपकार्य–उपकारक भाव मानते हैं क्योंकि शास्त्र–संस्कार काव्य का अनुग्राहक होता है। (अर्थात् शास्त्र से परिष्कृत कवि अधिक महत्त्वशाली होता है) पर केवल शास्त्र में ही संलग्नता काव्य के लिये हानिकारक होती है। इसी प्रकार काव्य–प्रवणता भी शास्त्रीय वाक्य के परिपाक में सहायक होती है और केवल काव्य–प्रवणता अर्थात् काव्यप्रवणता का प्राधान्य शास्त्रवाक्यपाक में अहितकर होता है।

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः। यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते। काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा-रचनाकविः, शब्द-कविः, अर्थ-कविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति।

उनमें शास्त्र–कवि तीन प्रकार के होते हैं: १. जो शास्त्र का निर्माण करता है।, २. जो शास्त्र में काव्य को निविष्ट करता है और ३. जो काव्य में शास्त्र का सन्निवेश करता है। पुनः काव्य–कवि भी आठ प्रकार के हैं–१. रचनाकवि, २. शब्दकवि, ३. अर्थकवि, ४. अलंकारकवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि।

तत्र रचनाकविः-

'लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धगोलै- र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु।

षण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः प्रापिरे येन वेला- मालङ्घ्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः।।'

रचनाकवि का उदाहरण–उस राजा ने समुद्र की वेला को पार कर कमलसमूहों में जलाशय में प्रस्फुटित कमलिनियों की सुगन्ध से सुगन्धित वायु का सेवन किया जो ऊँचे–ऊँचे खजूर के पेड़ों को कँपा रहा है और जिस तट पर कन्दरारूपी मन्दिरों को, बकुलवृक्षों के शाखामण्डल को अपनी चंचल लांगूलरूपी लताओं से वेष्टित कर कृष्णवानर (लंगूर) अपनी प्रतिध्वनि से मुखरित कर रहे हैं।" (भोजदेव में अपने सरस्वती–कण्ठाभरण में इसे पद–रचना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। भोजदेव कहते हैं कि जानबूझकर यहां 'रचना' शैली का अनुवर्तन किया गया है–'अधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दःपूरणाय वार्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना।' (२.६६)।

(इसमें शब्दों की छटा तो दर्शनीय है पर अर्थों में वह गाम्भीर्य नहीं। अतः यह रचनाकवि के उदाहरण के रूप में उदाहृत किया गया है।)

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातोभयभेदेन। तत्र नामकविः-

'विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः। लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो विभूषणं तस्य नृपस्य सैव।।'

शब्दकवि तीन प्रकार के हैं; जो नाम (अर्थात् १. जो सुबन्त संज्ञावाचक पदों का अधिक) का प्रयोग करते हैं, २. जो आख्यात (क्रियापदों) का प्रयोग करते हैं और ३. जो दोनों का प्रयोग करते हैं। नाम कवि का उदाहरण निम्नलिखित है–

जिस प्रकार पुरुष का भूषण विद्या, राजा का भूषण महिमा, वैद्य का भूषण प्रज्ञा, साधु का भूषण दया, वीर का भूषण लज्जा, युवक का भूषण शुद्धि है उसी प्रकार राजा का भूषण वह (नायिका) है।

(इस उदाहरण में केवल नामपदों का प्रयोग है क्रिया पद एक भी नहीं है।)

आख्यातकविर्यथा-

उच्चैस्तरां जहसुराजह्रषुर्जगर्जुराज घ्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः।

सन्तुष्टुवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम्।।'

आख्यात कवि का उदाहरण–

(समुद्रमन्थ के समय) गुरु बृहस्पति की यह बात सुनकर कि तुम लोगों को अमृत प्राप्त होगा देवतागण जोर–जोर से हंसने लगे, प्रसन्न हो गये, गरजने लगे, फड़कती हुई भुजाओं से आघात करने लगे, स्तुति करने लगे, प्रमुदित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हुये।

(इस उदाहरण में संज्ञा पद कम ही हैं और अधिकतर क्रियापद हैं)

नामाख्यातकविः-

'हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव।

न चुक्रुशुनो रुरुदुर्न सस्वनु र्नचेलुरासुर्लिखिता इव क्षणम्।।'

नामाख्यात (अर्थात् नाम और आख्यात दोनों का प्रयोग करने वाले) का उदाहरण–

स्त्रियाँ (पतियों के मरने पर) निष्प्रभ, अन्धी, शिथिल कन्धे तथा बाहुओं वाली तथा विषाद के कारण अचेतन सी हो गयीं। न तो क्रन्दन कर पाईं, न रोयीं, न शब्द कर सकीं, न चलीं और क्षण भर तक चित्रलिखित सी (स्तब्ध) रही।

(इस पद्य के पूर्वार्ध में नाम पदों का ही अस्तित्व है और उत्तर पद में बहुत आख्यात ही हैं अतः यह दोनों का उदाहरण है)

अर्थकविः-

'देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते।

पायाद् वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो- रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः।।'

अर्थकवि का उदाहरण निम्नलिखित है :

'देवी ने पुत्र को उत्पन्न किया है, अतः हे गणो ! नाचो, खड़े क्यों हो ?' इस प्रकार भुजाओं को ऊपर किये भृङ्गिरिटि के जोर-जोर से कहने पर चामुण्डा ने उसका आलिंगन कर लिया। उनके अंगों की रगड़ से (पहनी हुई) जीर्ण हो रही पुरानी बड़ी-बड़ी हड्डियों से ऐसा शब्द निकलने लगा कि वह देवताओं के गम्भीर दुन्दुभि–रव से भी बढ़ गया। ऐसा शब्द आप लोगों की रक्षा करे।

(यहां कवि की अर्थरचना दर्शनीय है। अतः यह अर्थकवि का उदाहरण है। सदुक्तिकर्णामृत में इसे योगेश्वर कृत कहा गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में भी यह श्लोक त्रिविक्रमभट्ट के नाम से उद्धृत है।

द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन। तयोः शब्दालङ्कारः-

'न प्राप्तं विषमरणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विषमरणं च। न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम्।।'

शब्द तथा अर्थ के भेद से अलंकार कवि दो प्रकार के होते हैं। इसमें शब्दालंकार का उदाहरण निम्नलिखित है

हाय ! बड़ा दुःख है कि मुझे विषम रण नहीं मिला पर पापकर्म से विष द्वारा मरण मिला। मैं भागीरथी गंगा के तट पर न मरा। अपितु मन्दभागी मैं गली में जाकर मरा।

इस उदाहरण में विषम–रण तथा विष–मरण एवं भागीरथ्यां तथा मन्दभागी–रथ्याम् में मध्यपद यमक–(शब्दालंकार) है अतः यह शब्दालंकार का उदाहरण है।)

अर्थाऽलङ्कारः-

'भ्रान्तजिह्वापताकस्य फणच्छत्रस्य वासुकेः। दंष्ट्राशलाकादारिद्यं कर्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः।।'

अर्थालंकार का उदाहरण–

'जिसकी चंचल जिह्वा ही पताका है तथा फणाटोप ही छत्र है ऐसे वासुकि की दांत रूपी शलाकाओं को भंग करने में मेरी यह भुजा समर्थ है।'

(यहां 'भ्रान्तजिह्वापताका' 'फणछत्र' तथा 'दंष्ट्राशलाका' में रूपक अलंकार है। अतः यह अर्थालंकार का उदाहरण है।)

उक्तिकविः-

'उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।

स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेयस्त- दिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य।।'

उक्तिकवि का उदाहरण–

(उक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

'उक्तिनाम यदि स्वार्थो भंग्या भव्योऽभिधीयते।' यहाँ उक्ति का आशय किसी विचार को सुन्दर रीति से प्रस्तुत करना है सुन्दर।

उपन्यास के लिये कवि को समाधि नामक गुण का उपयोग करना चाहिये। समाधिगुण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताते हुये दण्डी कहते हैं कि–

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः। कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमुपजीवति।। –काव्यादर्श १.१००

यहां उद्धृत दोनों पथ समाधि के निदर्शक हैं। समाधि का लक्षण दण्डी, भोज आदि ने 'अन्यधर्मस्यान्त्रारोपणं' दिया है। इन पद्यों में 'लाव्य', 'लेह्य', 'निपेय' तथा 'प्रतीच्छति' 'अनुवदति' 'अवतरति' शब्द समाधि को दर्शाते हैं।)

'इस सुनयना रमणी में यौवन की रमणीय (मादक) केलियाँ दिखाई पड़ रही हैं। इसका सुन्दर उदर (कटि–प्रदेश) मानिनी के श्वासाघात से त्रुटित होने योग्य है, स्तनतटों की वृद्धि बाहुलताओं को स्पर्श कर रही है, आंखों से पीने योग्य इसका मुखचन्द्र शोभित हो रहा है।'

(इस पद्य में सुन्दरी का वर्णन करते हुये कवि उसकी कटि की सूक्ष्मता, स्तनों की वृद्धि तथा मुखचन्द्र का सौन्दर्य उक्तियों से ग्रथित करता है। अतः यह उक्तिकवि का उदाहरण है। इसमें कोई नायक अपने मित्र से किसी चली जाती हुई सुन्दरी को देखकर यह उक्ति कहता है।)

यथा वा-

'प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिम्।

परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः, कमलिनी- मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते।।'

अथवा–(किसी आरम्भयौवना नायिका का वर्णन करते हुए कहते हैं–) इसका अधर अशोक–पल्लवों की लालिमा का परिवर्तन चाहता है, कपोल पाण्डुता के कारण ताड़ वृक्ष के पके हुए फल के समान हो रहा है। इसकी दृष्टि बन्द होती कमलिनी का अनुकरण कर रही है। इस प्रकार यह माधुर्य का स्पर्श कर रही है तथा कृश भी हो रही है।

(इस पद्य में यौवनारम्भा नायिका के सौन्दर्य का कथन विचित्र उक्तियों के आश्रय से हुआ है जो इसकी रमणीयता को बढ़ा देता है।)

रसकविः-

'एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी- मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि।

यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु।।'

रसकवि का उदाहरण :

'हे सुन्दरि ! इस ताम्रपर्णी नंदी को देखो–,जो समुद्र में मिल रही है। इसके जल खुली हुई सीपियों से निकल कर वक्र भृकुटियों वाली नायिकाओं के विस्तृत स्तन–तटों पर हार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।'

(इस पद्य में शृंगार रस का वर्णन करने में कालिदास सफल हुये हैं अतः यह रसकाव्य का उदाहरण है।)

मार्गकविः

'मूलं बालकविरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च।

शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोडयं गणो ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे।।'

मार्ग (रीति) – कवि का उदाहरण :–

(पूर्वकाल में शिव की तृतीय नेत्राग्नि से–) 'पहले कामदेव के दग्ध हो जाने पर ग्रीष्म ऋतु ने उसकी तापशान्ति के लिये बहुत सी वस्तुयें दीं जिनमें कोमल लताओं की जड़ें, मालती पुष्प का सुगन्धित वल्कल,चन्दन वृक्षों के सार, अशोक के नवीन--नवीन पल्लव, शिरीष कुसुम और परिपक्व केले हैं।

शास्त्रार्थकविः-

'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।

यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्।।'

शास्त्रार्थ कवि का उदाहरण यह है :

(वेणीसंहार नाटक १.२३ में सन्धि–प्रस्तावकर्ता श्री कृष्ण का दुर्योधन के द्वारा अपमान होने पर क्रुद्ध भीमसेन सहदेव से कह रहे हैं–)

जिस सनातन देव (भगवान् श्रीकृष्ण) को आत्मा में रमण करने वाले अर्थात् आत्मज्ञानी, निर्विकल्पक समाधि में संलग्न, ज्ञान के उद्रेक से जिनकी मोहग्रंथि टूट गयी है ऐसे लोग तथा सत्वगुण प्रधान लोग तमस् तथा ज्योति से परभूत उनको किसी प्रकार देखते हैं। पुराण–देव को भला यह मोह से अन्धा दुर्योधन कैसे देख सकता है ?

(इस उदाहरण में 'आत्माराम' 'निर्विकल्प समाधि' इत्यादि शब्द योगदर्शन के शब्द हैं अतः यह शास्त्र–कवि का उदाहरण है।)

एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः। दश च कवेरवस्था भवन्ति। तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्धयोः सप्त तिस्रश्च औपदेशिकस्य। तद्यथा-काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानः, महाकविः, कविराजः, आवेशिकः अविच्छेदी, सङ्क्रामयिता च। यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः। यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः। यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी। यः प्रवृत्तवचन पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता।

इन कवियों में उपर्युक्त गुणों में से जो दो या तीन गुण वाला है वह अवर (निम्न) कोटि का कवि है, जिसमें पाँच गुण हों वह मध्यम कोटि का तथा जिसमें समस्त गुण विद्यमान हों वह महाकवि होता है। कवियों की अवस्थायें दश प्रकार की होती हैं जिनमें बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि कवि की सात दशायें होती हैं तथा औपदेशिक की तीन। ये दश अवस्थायें हैं–१. काव्यविद्यास्नातक, २ हृदयकवि ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी तथा १०. संक्रामयिता। जो कवित्व का इच्छुक काव्य की विद्याओं तथा उपविद्याओं को प्राप्त करने के लिये गुरुकुलों का सेवन करता है वह विद्यास्नातक है। जो कवि हृदय में ही कविता करता है तथा छिपाता है वह हृदयकवि है। जो कवि स्वयं अपने काव्य को दोष–भय से दूसरे का कहकर पढ़ता है उसकी अन्यापदेशी संज्ञा है। जो कवि पौरस्त्य कवियों में से किसी सर्वश्रेष्ठ कवि की छाया को ग्रहण कर काव्य–रचना करता है उसे सेविता कहते हैं। (काव्यमीमांसा के बड़ौदा संस्करण के सम्पादक की सम्मति के अनुसार गौड़ों को पौरस्त्य कहा जाता है। उनकी छाया का आशय है गौड़ीया रीति। दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१.५०) में गौड़ों को पौरस्त्य कहा है तथा उनकी रीति को गौड़ीया रीति कहा है–द्र० काव्यमीमांसा बड़ौदा संस्करण पृ० १६०।)

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः। योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये। यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः। यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी। यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं संक्रामयति स सङ्क्रामयिता।

जो कवि ऊँची निर्दोष कविता तो करता है पर प्रबन्धरूप से उसे निबद्ध नहीं करता उसको घटमान कहते हैं। जो श्रेष्ठ प्रबन्ध के निर्माण में प्रवीण हो वह महाकवि है। जो कवि विभिन्न भाषाओं, विभिन्न प्रबन्धों और विभिन्न रसों में काव्य–निर्माण करने में समर्थ हो उसे कविराज कहा जाता है। ऐसे कवि यदि संसार में हैं तो थोड़े से ही। जो कवि मंत्रादि के उपदेश से सिद्धि प्राप्त कर आवेश के समय ही कविता करता है वह आवेशिक है। जो कवि जभी इच्छा हो तभी निरवच्छिन्न कविता करे उसे अविच्छेदी कहते हैं। मंत्र–सिद्ध जो कवि कन्याओं तथा कुमारों में सरस्वती का संचार कर देता है उसे संक्रामयिता कहते हैं।

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। 'कः पुनरयं पाकः ?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गल। 'कः पुनरय परिणामः ?' इत्याचार्याः। 'सुपां तिङां च श्रवः सैषा व्युत्पत्तिः' इति मङ्गलः। सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः' इत्याचार्याः। तदाहुः-

'आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः। पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।'

निरन्तर अभ्यास से सुकवियों के वाक्यों में पाक (परिपक्वता) आती है। 'यह पाक है क्या वस्तु ?' –ऐसा आचार्यों का प्रश्न है। मंगल का उत्तर यह है कि परिणाम ही पाक है। फिर आचार्यों का प्रश्न है कि यह परिणाम क्या है ? मंगल उत्तर देते हैं कि सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की श्रोत्र–मधुरा व्युत्पत्ति ही परिणाम है। यही सौशब्द्य है।

(तुलना कीजिये–

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्। तदेतदाहुः सौशब्दयं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।। –भामह १.१७

तथा–

व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता। –सरस्वतीकण्ठाभरण)

आचार्यों का मत है कि पद–गुम्फन में निष्कम्पता ही पाक है। जैसा कि कहा है–

पदों को रखने तथा हटाने में प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक मन दोलायमान रहता है। जब पदों के स्थापन में स्थिरता आ जाये तो समझना चाहिये कि कवि की सरस्वती सिद्ध हो गयी।

'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः। तदाहुः-

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।'

'आग्रहवशात् भी पदों में स्थिरता आती है, अतः पदों की परिवृत्ति से विमुखता ही पाक है' ऐसा वामन अनुयायियों की धारणा है जैसा कि कहा है–जो पद परिवृत्ति–सहिष्णुता को छोड़ देते हैं अर्थात् उन पदों की जगह दूसरे पद नहीं रखे जा सकते ऐसे पाक को शब्दन्यास में निपुण लोग शब्दपाक कहते हैं।'

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थ सूक्तिनिबन्धनः पाकः। यदाह-

'गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः। स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति।।'

अवन्तिसुन्दरी कहती है कि यह तो अशक्ति है पाक नहीं; क्योंकि एक ही विषय में महाकवियों के अनेकों भी पाठ परिपक्व होते हैं। अतः रसोचित शब्दार्थ तथा सूक्तियों की रचना को पाक कहते हैं। इस विषय में कहा भी गया है–

'जिस पाक के द्वारा गुण, अलंकार, रीति, युक्ति एवं शब्दार्थ का गुम्फन रसज्ञों को आनन्द दे वह मेरी समझ से वाक्य–पाक है।'

तदुक्तम्-

'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति। अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।।'

इस विषय में कहा भी है–'वक्ता, अर्थ, शब्द और रस इन सबके होने पर भी जिसके बिना वाणी मधुरता को नहीं स्रवित करती वही पाक है।'

'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीयः।

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'केवल कार्य से अनुमित होने वाला, जैसी रचना (शब्द) वैसा पाक कहा जाने वाला तथा अभिधा का विषय यह पाक केवल सहृदय आलोचकों के द्वारा ही निर्णीत होता है। वस्तुतः यह व्यवहार का अंग है। अर्थात् जिसका कार्य से (काव्य से) केवल अनुमान हो सकता है जिसे यत्तत् शब्द से कहा जाता है, अभिधा का विषय है और सहृदयों की प्रसिद्धि (ख्यापना) से ही सिद्ध (प्रमाणित) है वह पाक व्यवहार का अंग है। (भाव यह है कि पाक का निर्णय तो रसिक आलोचक ही कर सकते हैं और उनका यह निर्णय काव्य को देखने से उसके शब्दार्थ के अनुसार होता है।)

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति। तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्, आदावस्वादु परिणामें मध्यमं बदरपाकम्, आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्, आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्, आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्, आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति। तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः। वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्। कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्। मध्यमाः संस्कार्याः।

काव्याभ्यास करने वाले समस्त कवियों का काव्यपाक यह नव प्रकार का होता है। जो काव्य आदि तथा अन्त दोनों समय अस्वादु हो उसे पिचुमन्दपाक की संज्ञा दी जाती है। (पिचुमन्द नीम को कहते हैं अतः पिचुमन्दपाक नीम की तरह कटु होता है।) जो आदि में तो अस्वादु हो तथा अन्त में मध्यम कोटि का हो उसे बदरपाक कहते हैं। जो आदि में अस्वादु तथा अन्त में स्वादु हो उसे मृदीकापाक कते हैं। (मृदीका का अर्थ द्राक्षा है)। जो पहले तो मध्यम तथा अन्त में अस्वादु हो उसे वार्त्ताकपाक कहते हैं जो आदि–अन्त में मध्यम हो उसे तिन्तिडीकपाक कहते हैं। जो आदि में मध्यम तथा अन्त में स्वादु हो उसे सहकार (आम्र) पाक कहते हैं। (सहकारपाक तथा वृन्ताकपाक के लिये वामन का निम्नलिखित लक्षण देखिये–

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते। चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते।।

सुप्तिङ्संस्कारं यत् क्लिष्टवस्तु गुणं भवेत्। काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः।।)

जो आदि में उत्तम तथा अन्त में अस्वादु हो उसे क्रमुक (सुपारी) पाक कहते हैं। जो आदि में उत्तम तथा अन्त में मध्यम हो उसे त्रपुस (ककड़ी) पाक कहते हैं। जो आदि से अन्त तक स्वादु हो वह नारिकेर (नारियल) पाक है। इस तरह तीन–तीन के ये तीन वर्ग हुए।

इनमें पहले त्याज्य हैं। अकवि होना अच्छा है पर कुकवि होना ठीक नहीं। कुकविता तो सांस लेते हुए मृत्यु है।

(तुलना कीजिये–

नाकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय च कुकवित्वं पुनःसाक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। –भामह १.५

इन पूर्वोक्त तीनों वर्गों में मध्यम वर्ग संस्कार्य है।

संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षयति। द्वादशवर्णमपि सुवर्ण पावकपाकेन हेमीभवति। शेषा ग्राह्याः। वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते। न मुक्तमणेः शाणस्तारतायै प्रभवति। अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति। तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः।

संस्कार सभी चीजों के गुणों में उत्कर्ष करता है। द्वादश वर्णों (अनेक धातुओं) से युक्त सुवर्ण भी अग्निसंस्कार से शुद्ध सुवर्ण बन जाता है। शेष पाक (अर्थात् त्याज्यों को छोड़कर) ग्राह्य है। जो वस्तु स्वभावतः शुद्ध है उसमें संस्कार की अपेक्षा नहीं होती। शाण के द्वारा मुक्तामणि को अधिक स्वच्छ नहीं किया जा सकता। जिस रचना में पाक अवस्थित न हो उसे कपित्थपाक मानते हैं। (कपित्थपाक की परिभाषा भामह ने निम्नलिखित प्रकार से की है–

अह्रद्यमसुनिर्भेदं रसवत्वेऽप्यपेशलम्।

काव्यं कपित्थपाकं तत् केषांचित्सदृशं यथा।। –५.६६२)

जिस तरह भूसा (पलाल = पुआल) को साफ करने से कदाचित् एकाध अन्नकण मिल जाये वैसे ही कपित्थपाक वाले काव्य के अध्ययन से कदाचित् कोई सूक्ति मिल जाये।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते। हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान्।।

अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितास्त्रिविधो विधिः। किन्तु वैविध्यमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्त्तते।।

।। इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शिष्यविशेषेषु काव्यपाककल्पः पञ्चमोऽध्यायः ।।

सम्यक् आभ्यास करने वाले का काव्य नव प्रकार से परिपक्व होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति उसे त्याज्य तथा ग्राह्य रूप में बांट लेता है। यहाँ शिष्यों का तीन प्रकार का विधान बताया गया है पर इन तीन प्रकार के जगत् में इसके बहुत से प्रकार होते हैं।

राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के प्रथम अधिकरण में शिष्यविशेष वर्णन में काव्यपाककल्प नामक पंचम अध्याय समाप्त।

—— o ——

ईकाई-V काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रारम्भ भरतमुनि से होता है। भरत से लेकर पश्चात्वर्ती सभी आचार्यो ने विश्लेषण कर यह जानने का प्रयास किया कि काव्य का मूल तत्त्व क्या है जो सहृदयों को आकर्षित करता है और प्रभावित करता है। सभी आचार्यो ने अपने अपने विचार के अनुसार उस तत्व को प्रमुखता दी।

इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का विचार हुआ कि काव्य में सबसे प्रमुख तत्त्व रस है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस का संचार करना है, जिसका आस्वादन करके सहृदयजन आह्लाद का अनुभव करते हैं। अन्य आचार्यो के अनुसार काव्य का प्रमुखतम, आकर्षक एवं सहृदयाह्लादक तत्त्व अलङ्कार हैं। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। उनको अलङ्कृत करने वाले अलङ्कार ही काव्य की आत्मा हैं। कुछ आचार्यो ने प्रतिपादित किया कि काव्य का सौन्दर्य पदों की संघटना के कारण होता है। पदों की संघटना को रीति कहते हैं। यह रीति ही काव्य की आत्मा है। दूसरे आचार्यो का मन्तव्य था कि काव्य में आकर्षण तथा आह्लादकत्व वैचित्र्य के कारण उत्पन्न होता है। इस वैचित्र्य की उत्पत्ति उक्ति की विशेषता से होती है। वैचित्र्य से युक्त उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में **"वैदग्ध्यभङ्गीभणिति"** को वक्रोक्ति कहा जाता है। यह वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। अन्य आचार्यो ने औचित्य को काव्य की आत्मा कहा, क्योंकि काव्य में औचित्य ही परम रहस्य, आकर्षक, सहृदयाह्लादक तत्त्व है। अन्य आचार्यो ने यह सिद्ध किया कि काव्य में सौन्दर्य व्यंग्य अर्थ के कारण होता है। काव्य में व्यंग्य अर्थ के प्रधान होने पर वह ध्वनि काव्य कहलता है। यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। जबकि कुछ ने गुण को प्रधानता दी और कुछ ने अनुमिति को।

इसी आधार पर काव्यशास्त्र में काव्य तत्त्व की प्रमुखता को लेकर मत वैभिन्न्य के कारण विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हुए। किन्तु इनमें गुणों का अन्तर्भाव रीति में होने के कारण तथा महिमभट्ट के मत का कोई अनुयायी न होने के कारण उनका अनुमितिवाद एक स्वतन्त्र समुदाय के रुप में प्रचलित न हो सका। काव्य शास्त्र में प्रमुख रुप से ये सम्प्रदाय प्रचलित हैं।

(1) **रस सम्प्रदाय** (2) **अलंकार सम्प्रदाय** (3) **रीति सम्प्रदाय**

(4) **ध्वनि सम्प्रदाय** (5) **वक्रोक्ति सम्प्रदाय** (6) **औचित्य सम्प्रदाय**

भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ और विश्वेश्वर पाण्डेय तक जितने भी आचार्य हुये, उन्होंने इन छः सम्प्रदायों में से किसी एक पक्ष का पोषण करके उसका समर्थन किया। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य को किसी सम्प्रदाय विशेष का समर्थन करने के कारण उसके अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य के विभिन्न तत्त्वों को आत्मा प्रतिपादन करने के सम्बन्ध में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग अधिक समुचित नहीं कहा जा सकता और कतिपय आचार्यो ने इस शब्द के प्रयोग पर आपत्ति प्रकट की है। जैसा कि **'अलङ्कारसर्वस्व'** के टीकाकार समुद्रबन्ध ने किया है, तथापि प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया जाने के कारण और आधुनिक समालोचकों द्वारा इसको स्वीकार कर लेने के कारण सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग कर रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि के लिये तत्तत् सम्प्रदाय कह दिया गया है।

काव्य के आत्म तत्त्व के अन्वेषण के लिये की गई विभिन्न समीक्षाओं के कारण विभिन्न समयों में नये नये सम्प्रदायों का आविर्भाव किस आधार पर हुआ इसका विश्लेषण अलङारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने वैज्ञानिक रुप से किया है। वह लिखता है –

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्" तयोश्च वैशिष्टयधर्ममुखेन, व्यापार मुखेन , व्यंग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः । आद्येप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम । इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरंगी कृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन ।

इसका अभिप्राय है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ ही काव्य कहलाते है। शब्द और अर्थ की यह विशेषता तीन प्रकार की हो सकती है – (1) धर्म के द्वारा, (2) व्यापार के द्वारा और (3) व्यंग्य के द्वारा। इस प्रकार ये तीन पक्ष है। धर्म की विशिष्टता भी दो प्रकार की हो सकती है । –(1) अलंकार के द्वारा और (2) गुण के द्वारा । व्यापार की विशिष्टटता भी दो प्रकार की हो सकती है – (1) वकोक्ति के द्वारा और (2) भोजकत्व के द्वारा । इस प्रकार पाँच पक्ष हो जाते है – (1) अलंकार (2) गुण (3) वकोक्ति, (4) भोजकत्व और (5) व्यंग्य। इनमें पहले पक्ष को उद्भट आदि आचार्यो ने, दूसरे पक्ष को वामन ने तीसरे पक्ष को कुन्तक ने, चौथे पक्ष को भट्टनायक ने तथा पाँचवे पक्ष को आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया था।

समुन्दबन्ध ने आत्मतत्त्व के विश्लेषण में ऊपर कहे पक्षों में अलंकार से अलंकार सम्प्रदाय का, गुण द्वारा वामन के रीति सम्प्रदाय का, वक्रोक्ति द्वारा कुन्तक के वक्रोक्ति सम्प्रदाय का, भोजकत्व द्वारा रस सम्प्रदाय तथा व्यङ्ग्य द्वारा ध्वनि सम्प्रदाय का संकेत किया है। इनमें औचित्य सम्प्रदाय का संकेत नहीं आया। अब प्रत्येक सम्प्रदाय या पक्ष को पृथक – 2 रुप से लिया जा रहा है।

रस सम्प्रदाय

रस सिद्धान्त का प्रवर्तन

काव्यशास्त्र के इतिहास में रस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्तन भरतमुनि ने किया। यद्यपि काव्यमीमांसा के अनुसार भरत से पूर्व का निरुपण किया था और रसों का प्रथम निरूपण नन्दिकेश्वर ने किया था। रूपक निरूपणीय नन्दिकेश्वर का रसविषयक कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वर्तमान समय में नाटयशास्त्र में रूपक तथा रस दोनों का विवेचन किया गया है। अतः रस सिद्धान्त का आदि प्रवर्त्तक भरत को ही माना जा सकता है।

भरत ने रस के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया था, उन्हीं का पल्लवन उत्तरवर्ती आचार्यो ने विस्तार के साथ किया। भरत के अनुसार रस के बिना किसी अर्थ का प्रवर्त्तन काव्य में नहीं होता। भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः तथापि **'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'** अभिनवगुप्त ने इस पर टीका करते हुये लिखा था कि सम्पूर्ण रूपक में रस ही एकमात्र सूत्र की तरह प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य ही रस है तथा रस का समुदाय ही नाट्य हैं। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में रस का निरूपण रूपक के ही हेतु से किया गया है और भरत ने **'अष्टौ नाट्यरसा'** कहा है तथापि भरत के समय तक नाट्य तथा काव्य का इस प्रकार विभाजन नहीं हुआ था और इन दोनों पदों को समानार्थक समझा जाता था। इस कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त को उत्तरवर्ती आचार्यो ने विकसित तथा पल्लवित किया और रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना। परन्तु प्राचीन भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आदि आचार्यो ने काव्य एवं नाटक में भेद किया। इसी कारण रस सिद्धान्त से परिचित होते हुये भी उसे प्रमुखता नहीं दी। काव्य में रस का समावेश उन्होंनें अलंकारों के अन्तर्गत कर दिया।

रस शब्द के विभिन्न अर्थ तथा प्रयोग

संस्कृत साहित्य में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में अति प्राचीन काल से किया जाता रहा है। ग्रन्थों के अनुसार रस शब्द के अनेक अर्थ हैं। स्वाद, जल, वीर्य, श्रृङ्गार आदि काव्यरस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, तिक्त आदि 6 भोजन के रस परमात्मा आदि। आयुर्वेद में इससे लवण, कषाय, कटु, अम्ल, तिक्त और मधुर 6 भोजन रसों का, विष का, रस नामक धातु का और द्रव का बोध होता है। सार रूप पदार्थ को भी रस कहा जाता है। वैदिक साहित्य में, विशेष रूप से उपनिषदों में परमात्मा, आत्मा के लिए भी रस पद का व्यवहार हुआ है।

'तैत्तिरीय उपनिषद्' में परम ब्रह्म को, आत्मा को रस कहा गया हैं, क्योंकि उसको प्राप्त करके जीव आनन्द का अनुभव करता है। **'रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'** इसकी व्याख्या में शंकराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार मधु आदि लौकिक रसों से मनुष्य आनन्द को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमात्म रूप को पाकर योगी जन परम आनन्द को प्राप्त करते हैं

वैदिक साहित्य में श्रृंगार आदि साहित्यिक रसों के लिये भी रस पद के प्रयोग हुये हैं। श्रृंगार, हास्य आदि पदों का वैदिक साहित्य में प्रयोग हुआ है और उनसे साहित्यिक मनोभावों का निर्देश मिलता है। भरत ने रूपकों की रचना में रस को वेदों से, विशेष रूप से अथर्ववेद से ग्रहण किया था, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया हैं।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि।।

काव्य में रस का प्रयोग श्रृंगार आदि के लिए किया जाता है।

भरत ने कहा है रस की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जा सकती है – **रसः कस्मात् आस्वाद्यत्वात्**

(1) **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन पदार्थो का आस्वादन किया जाता है वे रस है। इस प्रकार परमात्मरुप रस, मधुर पदार्थ, सोम, गन्ध, मधु आदि पदार्थो को रस कहा जा सकता है।

(2) **रस्यते अनेन इति रसः।** जिन पदार्थो के द्वारा आस्वादन किया जाता है, उनको भी रस कहते हैं इस आधार पर शब्द तथा वीर्य, शरीर आदि को रस कह सकते है।

(3) **रसति रसयति वा रसः,** जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है, उसको रस कहते है। इस प्रकार पारद, जल, शरीर की रस धातु या अन्य द्रव पदार्थ को रस कहते हैं।

(4) **रसनं रसः आस्वादः।** जो आस्वाद है, उसको रस कहते है। इस आधार पर श्रृंगार आदि को रस कहते हैं, क्योंकि वे आस्वादरुप है

इन व्युत्पत्तियों में से प्रथम तथा अन्तिम व्युत्पत्ति साहित्यिक रसों के लिये प्रयुक्त हो सकती है, क्योंकि साहित्यिक रसों का आस्वादन किया जाता है तथा वे आस्वादरूप होते हैं।

रस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये तथा काव्यों को रसात्मक प्रतिपादित करने के लिये वाल्मीकि रामायण का श्लोक दिया जाता है। **'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'।।** स्वय महर्षि वाल्मीकि ने यह प्रतिपादित किया कि वह श्लोक उनके शोकविह्वल होने के कारण प्रस्फुटित हुआ तथा यह अन्यथा नहीं हो सकता। रामायण के करुण रस प्रधान काव्य होने पर भी इसमें शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, भयानक और शान्त सभी रसों का सन्निवेश हुआ है। काव्य के इन रसों के स्वरुप को आचार्यो ने अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर, और लोकोत्तर चमत्कार प्राणरूप कहा।

रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन तथा भरत का रससूत्र

रस के स्वरूप तथा अनुभूति का सबसे प्रथम विवेचन भरत ने किया। भरत का प्रसिद्ध रस सूत्र है – विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। उत्तरवर्ती आचार्यो ने रस का विवेचन भरत के इसी रससूत्र को आधार बनाकर किया। यह रससूत्र यद्यपि बहुत सरल प्रतीत होता है, तथापि व्याख्याकारों की विभिन्न व्याख्याओं के कारण यह बहुत जटिल हो गया है इस रससूत्र के **संयोगात्** और **निष्पत्ति** पदों की व्याख्या विभिन्न आचार्यो ने विभिन्न प्रकार से की है।

अभिनव गुप्त और मम्मटादि ने भट्टलोल्लट, श्री शंकुक और भट्टनायक की व्याख्याओं को प्रस्तुत किया है यद्यपि उनके मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(1) **भट्ट लोल्लट** – भट्ट लोल्लट का मत **उत्पत्तिवाद** कहलाता है। उन्होंने **'संयोगात्'** पद का अर्थ **'उत्पाद्य- उत्पादक सम्बन्धात्'** तथा **'निष्पत्ति** का अर्थ **'उत्पत्तिः** किया है। इनकी व्याख्या का सारांश इस प्रकार है–

ललना आदि आलम्बन विभाव हैं और उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं। इनसे राम आदि पात्रों में रति आदि भावों की उत्पत्ति अर्थात् उद्बोधन होता है। तदनन्तर कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यरूप अनुभावों से रामगत रति आदि स्थायिभाव प्रतीति के योग्य हो जाते है और उनकी लज्जा, चिन्ता, हर्ष आदि सञ्चारी भावों से पुष्टि होती है। इस प्रकार रति आदि भाव नाटक या काव्य के पात्रों में ही रहते हैं। जब कोई अभिनेता राम आदि पात्रों का रूप रखकर उनका अभिनय कर रहा होता है। तो सामाजिक उसमें रामत्व का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् उसी को राम समझ लेते हैं। भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में रस अनुकार्य में स्थित होने से सामाजिक को इसका आस्वादन नहीं हो सकेगा क्योंकि उनका उस रति आदि से सम्बन्ध नही होगा। भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में उक्त दोष का अनभव करके आचार्यो ने रस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की।

(2) **श्रीशङ्कुक** – शङ्कुक ने रस की अनुभूति को अनुमान का विषय प्रतिपादित किया। शंकुक ने **संयोगात्** पद का अर्थ **"अनुमाप्य-अनुमापकसम्बन्धात्"** और **"निष्पत्तिः"** का अर्थ **"अनुमिति"** कि, या इसी कारण उनके अभिमत को **"अनुमितिवाद"** कहा गया। इस मत की व्याख्या निम्न प्रकार से है–

सामाजिक जब रङ्गमञ्च पर किसी कुशल अभिनेता को अभिनय करते देखता है तो उसको वह राम ही समझ लेता है। इस अवस्था में नट में राम की जो प्रतीति है, वह एक विलक्षण ज्ञान है। ज्ञान चार प्रकार का होता है–सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य। नट में राम की प्रतीति होना इन चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है, क्योंकि सामाजिक का यह ज्ञान न तो सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति है, न संशय प्रतीति है और न ही सादृश्य प्रतीति है। यह प्रतीति वस्तुतः चित्रतुरगन्याय से होती है। जिस प्रकार चित्र में घोड़े को देखकर उस चित्र के वस्तुतः घोड़ा न होने पर भी, वह घोड़ा है, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय में राम के उपस्थित न होने पर भी राम का अभिनय करने वाले अभिनेता में सामाजिक को राम की प्रतीति होती हैं।

इस प्रकार सामाजिक जब उस अभिनेता को ही राम समझ लेता है तो शिक्षा तथा अभ्यास की कुशलता के कारण उसके कृत्रिम विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को वह कृत्रिम नहीं समझता और उनके द्वारा वह अभिनेता में रति आदि स्थायी भावों का अनुमान कर लेता है। रति आदि भावों की यह अनुमिति अन्य शास्त्रोक्त अनुमितियों से विलक्षण होती है। कारण यह है कि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आश्रित है, जबकि यह अनुमिति परोक्षात्मक हैं। इस प्रकार रति आदि स्थायी भावों के उन अभिनेताओं में न होने पर भी सामाजिक अपने हृदय में निहित वासना के द्वारा उन भावों का अभिनेताओं में अनुमान करते हुये रस का आस्वादन करता है।

भाव यह है कि किसी स्थान पर धूम के न होने पर भी धुंध आदि को धूम समझकर उसके द्वारा वहिन का अनुमान कर लिया जाता है, वैसे ही नट आदि में वास्तविक रति आदि के न होने पर भी उनके अभिनय के कौशल से कृत्रिम विभावों द्वारा रति आदि स्थायी

भावों का अनुमान सामाजिक कर लेता है। यह अनुमिति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों द्वारा आस्वाद्यमान होकर चमत्कार को उत्पन्न करती हुई रसदशा को प्राप्त होती है।

शङ्कुक की इस व्याख्या में भी उत्तरवर्ती आचार्यों को कुछ दोषों का अनुभव हुआ जो इस प्रकार हो सकते हैं

(क) शङ्कुक ने जिन विभाव आदि को अनुमिति का हेतु बताया है, वे कल्पित तथा कृत्रिम हैं। इस कारण यदि अभिनेताओं में रस का अनुमान कर भी लिया जावे, तो वह चमत्कारजनक नहीं होगा।

(ख) सहृदय जनों में रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कारजनक होता है, अनुमिति नहीं।

(ग) यदि सामाजिक को यह निश्चय हो जावे कि ये सीता आदि विभाव कृत्रिम हैं, तो उसको रति आदि भावों की अनुमिति नहीं हो सकने से रसानुभूति नहीं हो सकेगी।

(3) **भट्टनायक** → रस सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्ट नायक हैं। रस की निष्पत्ति की व्याख्या करते हुये भट्टनायक ने पहले तो अन्य आचार्यों के मतों का खण्डन किया, तदनन्तर अपने पक्ष की स्थापना की। रस की निष्पति के सम्बन्ध में **उत्पति, अनुमिति** तथा **अभिव्यक्ति** के सिद्धान्त का खण्डन करके इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ **भुक्ति** किया जैसा कि उनके मत को उपस्थित करते हुए मम्मट ने कहा है –

"न तादस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते।"

वे रस का भोग मानते है उनके अनुसार काव्य में तीन व्यापार होते हैं अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व

अभिधा द्वारा काव्य के वाच्य अर्थ को जानने के अनन्तर उससे विलक्षण भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि राम, सीता आदि पात्र अपने विशिष्ट अंश रामत्व आदि का परित्याग करके साधारण नायक, नायिका आदि के रूप में रह जाते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण द्वारा रस आदि के भावित हो जाने पर तीसरा व्यापार भोजकत्व कार्य करता है। इस व्यापार से स्थायी भाव का भोग निष्पन्न होता है। अर्थात रजस् तमस् को अभिभूत करके सत्त्व का उद्रेक होता है जिससे विश्रान्ति स्वरूप चिदानन्द स्वरूप रत्यादिसाधारणीकृत स्थायी भाव भोगा जाता है जो कि परब्रह्मास्वाद के सदृश है।

(4) **अभिनवगुप्त**

भट्ट नायक का भुक्तिवाद भी सभी आचार्यों को स्वीकार नहीं हुआ। अभिनवगुप्त ने उसका खण्डन किया। भरत के रस सूत्र में **संयोगात्** पद का अर्थ अभिनवगुप्त ने **'अभिव्यङ्ग्य अभिव्यञ्जक सम्बन्धात्'** तथा **निष्पत्ति** का अर्थ **अभिव्यक्ति** किया। अभिनवगुप्त के प्रतिपादन को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है –

(क) सामाजिक के हृदय में स्थायीभाव वासना रूप से (सूक्ष्म रूप से) विद्यमान रहते हैं। लौकिक जीवन में ललना उद्यान कटाक्ष आदि द्वारा जिन्होंने रति आदि स्थायी भावों का अनुमान करने में जितनी अधिक कुशलता प्राप्त कर ली है, उनमें यह वासना उतनी ही अधिक विकसित रूप में रहती है।

(ख) लोक में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य ओर सहकारी हैं, वे ही काव्य के अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

(ग) काव्य की अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। उनमें स्वकीयत्व परकीयत्व और उपेक्षणीयत्व का भाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राम और सीता में रामत्व और सीतात्व का विशिष्ट अंश तिरोहित होकर केवल युवकत्व और युवतीत्व का भाव अवशिष्ट रह जाता है।

(घ) साधारणीकरण के हो जाने पर प्रमाता (सामाजिक) के चित्त का विस्तार होने से उसकी चित्तवृत्ति अपरिमित हो जाती है, इससे रति आदि भावों का भी साधारणीकरण होता है तथा इस साधारणीकरण को सभी सहृदय अनुभव करते हैं।

(ङ) सामाजिक को यह रसानुभूति अपने से अभिन्न अनुभव होती है। वह अपने अन्दर रस की चर्वणा करता हुआ हृदय में प्रविष्ट होता सा अनुभव करता है। इस प्रकार अभिव्यक्त, यह स्थायी भाव ही रस है।

(च) जब तक विभाव आदि विद्यमान रहते हैं, तभी तक इसकी अनुभूति होती है। विभाव आदि की यह प्रतीति अलग-अलग रूप से नहीं होती, अपितु पानक रस न्याय से अखण्डात्मक रूप से होती है।

(छ) · रस सदा ध्वन्यात्मक (व्यङ्ग्य) होता है, रस भावादि शब्दों के होने पर भी विभावादि के न होने पर रस की प्रतीति नहीं होती। इसके विपरीत, रस, भाव आदि शब्दों के न होने पर भी विभाव आदि के होने पर रस की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह विभावादि के द्वारा ही प्रतीत होता है।

(ज) रस अलौकिक होता है यह कार्य भी नहीं है और ज्ञाप्य भी नहीं है। यदि रस को कार्य मान ले, तो इसके कारण के न रहने पर भी इसकी अवस्थिति माननी पड़ेगी, जैसे कुम्हार आदि कारणों के न रहने पर भी उनका कार्य घट विद्यमान रहता है। रस को ज्ञाप्य इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर इसको पूर्वसिद्ध मानना पड़ेगा, जो कि है नहीं। रस कार्य भी है और ज्ञाप्य भी है। चर्वणा की निष्पत्ति से रस की निष्पत्ति होती है, अतः यह कार्य है। क्योंकि यह लोकोत्तर स्वसंवेदन का विषय है, अतः ज्ञाप्य भी है।

(झ) रस न सविकल्पक ज्ञान का विषय है न निर्विकल्पक ज्ञान का। विभाव आदि की उपस्थिति के कारण यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। रस के अलौकिक आनन्दमय होने से यह सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता है परन्तु यह दोनों ज्ञानों का विषय भी है। विभावादि के उपस्थित होने से सविकल्पक ज्ञान का विषय है तथा अलौकिक आनन्दमय होने से निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है।

रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की व्याख्या को अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यो मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, आदि ने स्वीकार करके रस की निष्पत्ति को अभिव्यक्ति ही स्वीकार किया। परन्तु कुछ आचार्यो ने इसका खण्डन भी किया। इनमें दशरुपककार धनञ्जय तथा उनके टीकाकार धनिक प्रमुख हैं।

इनके अनुसार जैसे वाक्य में अभिहित या प्रकरण आदि द्वारा बुद्धि में स्थित क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ होता है, उसी प्रकार विभाव आदि के द्वारा अभिहित होकर प्रकरण आदि से बुद्धि में स्थित स्थायी भाव तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) ही होता है। इसके साथ ही उन्होंने रस की स्थिति को सामाजिक में ही स्वीकार किया था।

भरत के रससूत्र में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। **इस** सम्बन्ध में विभावादि का जानना आवश्यक है।

विभाव - विभाव, निमित्त कारण का पर्याय हैं। जो भाव को उद्बुद्ध करने के कारण हैं वे विभाव कहलाते हैं।

भरत के मत में जिनके द्वारा कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक अभिनयों का विभावन होता है, अर्थात ज्ञान होता है, उनको विभाव कहते हैं। विश्वनाथ के अनुसार लोक में रति आदि को उद्बोधित करने वाले काव्य या नाटक में विभाव कहे जाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं -- आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन विभाव - जिसके कारण भाव उदित होता है जैसे एक दूसरे के लिए नायक नायिका आदि हैं। आलम्बन मूल कारण हैं क्योंकि उनके आलम्बन से ही रस का उद्गम होता है।

उद्दीपन विभाव - स्थायी भाव के उद्दीपक विभावों को उद्दीपन विभाव कहा जाता है। प्रथम नायक, नायिका आदि पात्रों की चेष्टाएं, रूप, बोली, पहनावा आदि तथा देश, काल, उद्यान, चन्द्रोदय नदी, पर्वत, वसन्त ऋतु आदि उद्दीपन विभाव है। आलम्बन विभावों से स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है तथा उसके पश्चात् उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता है।

अनुभाव - 'अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः" कारण रूप विभावों से उद्बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाले जो कार्य हैं, उनको काव्य और नाटक में अनुभाव कहा जाता है। अनुभूयमान होने के कारण भी इनको अनुभाव कहते हैं। भाव को सूचित करने वाले विकास अनुभाव हैं। सात्त्विक भाव भी अनुभाव कहलाते हैं। इनकी संख्या आठ है – स्तंभ, स्वेद, रोमाञ्च, कम्पन, विवर्णता, अश्रु और मूर्च्छा। सत्त्व से मन में विकारों के उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्त्विक कहा जाता है।

व्यभिचारी - ये विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसों में अनुकूल होकर विचरण करते हैं, इसलिये इन्हें सञ्चारी भाव भी कहते हें। एक रस में अनेक व्यभिचारी भावों की तथा एक व्यभिचारी भाव की अनेक रसों में स्थिति हो सकती है। रसों के प्रति विविध प्रकार से सञ्चरित होने वाले इन विकारों को व्यभिचारी भाव कहा जाता है। ये रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरण करते है और स्थायी भाव में समुद्र में तरङ्गों के समान डूबते उतराते हैं।

'विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। (द० रू० 4.8)

व्याभिचारी भावों की संख्या 33 कही गई है – निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चञ्चलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, जागरण, अमर्ष, मनोभावों को चतुराई से छिपाना (अवहित्थ), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। किन्तु इनसे अतिरिक्त भी व्यभिचारी हो सकते हैं।

भोजराज ने स्थायी भावों, सात्त्विक भावों और व्यभिचारी भावों की संख्या को नियत करने पर तीव्र आपत्ति की थी। उनका कथन था कि कोई भी भाव कभी स्थायी, कभी सात्त्विक और कभी व्यभिचारी हो सकता है। विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी आदि के विषय में मम्मट का कथन उल्लेखनीय है। **कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च। रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।।**

लोक में रत्यादि स्थायिभाव के जो कारण है वे काव्य नाट्य में विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्याभिचारी कहलातें हैं।

काव्यशास्त्र में स्थायी भावों का निरूपण वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। वे स्थायी भाव आधुनिक मनोविज्ञान में वर्णित मूल प्रवृत्तियों के समान हैं। सभी प्राणियों में प्रेम आदि की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। किसी में किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की उत्कटता होती है तो किसी में किसी अन्य प्रवृत्ति की। प्राचीन आचार्यो ने इन प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का प्रयास किया था और इनकी संख्या निर्धारित की थी। सर्वप्रथम भरत ने आठ प्रवृत्तियों के अनुसार स्थायी भावों की संख्या आठ सुनिश्चित की थी। इन आठ प्रकार के स्थायी भावों के अनुसार रसों की संख्या भी आठ है तथा एक विशेष स्थायी भाव एक विशेष रस के रूप में परिणत होता है। परवर्ती काल में कुछ और स्थायी भाव भी निश्चित किये गये तथा उनके अनुसार रसों की संख्या में भी उतनी ही वृद्धि हो गई

आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सहज प्रवृत्तियों और मनः संवेगों का भारतीय साहित्यशास्त्र के स्थायीभावों तथा रसों से अन्योन्य जनक सम्बन्ध है –

	सहज प्रवृत्ति	मनः संवेग	स्थायीभाव	रस
1.	भय से पलायन	भय	भय	भयानक
2.	युद्ध करने की इच्छा	क्रोध	क्रोध	रौद्र
3.	निवृत्ति या वैराग्य	घृणा	जुगुप्सा	बीभत्स
4.	मातृभावना	वात्सल्य	वत्सलता	वत्सल
5.	आत्ममहानता	गर्व	उत्साह	वीर
6.	आत्महीनता	दैन्य	निर्वेद	शान्त
7.	काम की प्रवृत्ति	रति	रति	शृंगार
8.	आमोद प्रमोद	हास्य	हास	हास्य
9.	कुतूहल या जिज्ञासा	औत्सुक्य	विस्मय	अद्भुत
10.	शरणागति	दुःख	शोक	करुण

स्थायीभाव मनोवृत्तियां या चित्तवृत्तियां हैं। प्रबन्ध की समाप्ति तक स्थिर रहने से ये स्थायिभाव कहलाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार **'आप्रबन्धं स्थिरत्वाद्मीषां भावानां स्थायित्वम्** जो भाव अन्य विरोधी या प्रतिकूल तथा अविरोधी भावों से तिरोहित या विच्छिन्न नहीं होता वह स्थायिभाव कहलाता है। यह आस्वाद के अंकुरकन्द के समान है। दशरुपक के अनुसार **'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न। आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः।।'**

स्थायिभाव ही रस संज्ञा को प्राप्त करता है, रस रूप में परिणत होता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव व्यभिचारी से घिरा हुआ स्थायीभाव ही रस नाम प्राप्त करता है। मम्मट में भी कहा है, **'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः, स्थायीभावो रसः स्मृतः।** आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है,

विभावानुभावेन व्यक्तः संञ्चारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।।

रसों की संख्या

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है। अतः स्थायी भावों की जो संख्या होगी, वही रसों की संख्या होगी। रसों की संख्या के विषय में आचार्यो में मतभेद रहा है। मुनि ने रसों की संख्या 8 गिनाई है – शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत – **अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः** किन्तु शान्त रस को जोड़कर नवम रस वाला पाठ भी मिलता है।

भरत ने रसों की संख्या का निर्धारण नाट्य की दृष्टि से ही किया था। नाट्य के अतिरिक्त अन्य काव्यों में अन्य रस भी हो सकते हैं। आचार्य मम्मट ने निर्वेद को स्थायी भाव मान कर शान्त रस को नवम् रस कहा था। धनञ्जय और धनिक ने शम को शान्त रस का स्थायीभाव प्रतिपादित किया। विश्वनाथ ने वत्सल की गणना भी रसों में की। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति रस का प्रतिपादन किया।

अतः इस प्रकार रसों की संख्या 11 हो जाती है। कुछ के अनुसार कोई भी भाव रस हो सकता है अतः अश्रु, लौल्य, स्नेहादि अन्य रस भी हो सकते हैं। यद्यपि अभिनवगुप्त और धनिक ने अपनी वृत्ति में इसका खण्डन किया है। परन्तु अधिकांश आचार्य रसों की संख्या 9 ही मानते हैं। अतः वत्सल तथा भक्ति को रस न मानकर भाव ही कहा गया है। मम्मट ने देवता आदि विषयक रति को भाव संज्ञा दी थी। **'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्चितः भावः प्रोक्त'।**

रसों की संख्या के विषय में भोज ने अपना अलग पक्ष रखा है। उन्होंने **सरस्वतीकण्ठाभरण'** में पहले शृंगार आदि आठ रसों को तथा उनके आठ स्थायी भावों को बताया। परन्तु आगे चल कर उन्होंने चार रसों का और प्रतिपादन किया तथा रसों की संख्या 12 निर्धारित की–शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्‌भुत, भयानक, वीभत्स, हास्य, प्रेयान्, शान्त, उदात्त और उद्धत।

शान्त को रस मानने के विषय में आचार्यो में मतभेद रहा है। धनञ्जय इसको नाट्य में स्वीकार नहीं करते।

उनकी युक्ति थी कि –

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।

निर्वेदादिरताद्‌रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्

वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।। (4.35.36)

(1) भरतमुनि ने शान्त रस के विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया।

(2) राग द्वेष का सर्वथा नाश हो जाने पर ही शम स्थायी भाव के रूप में स्थिति होती है। अनादि काल से चले आ रहे राग और द्वेष का सर्वथा विनाश सम्भव न हो सकने के कारण शम स्थायी भाव नहीं हो सकता और इस प्रकार शान्त रस की स्थिति नहीं हो सकती।

(3) अभिनयात्मक नाटकों में शम का सर्वथा निषेध हैं, क्योंकि समस्त व्यापार का विलय करने वाले शम का अभिनय किया जाना सम्भव नहीं है।

(4) स्थायीभाव को विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने वाला कहा गया है। निर्वेद आदि में यह स्थिति नहीं हैं। अतः वे स्थायी भाव न होकर व्यभिचारी भाव ही हैं।

(5) नाटकों में शम का परिपोष विरसता को उत्पन्न करने वाला है। कम से कम नाटकों में शान्त रस की स्थिति नहीं होनी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शान्त रस का विस्तार से प्रतिपादन किया है और उसे ही एकमात्र सूत्र स्थानीय रस कहा है। पण्डित राज जगन्नाथ ने भी युक्तियों सहित शान्त रस को स्वीकार किया है तथा शान्त विरोधियों की युक्तियों का खण्डन किया है। नट में स्वयं में रस नही होता। जैसा अन्य रसों का अभिनय किया जा सकता है वैसे ही शान्त रस का भी। सामाजिकों में इसकी स्थिति हो सकती है। अतः अधिकांश आचार्य शान्त रस को स्वीकार करते है और काव्य में इसकों मानने में तो कोई विपत्तिपत्ति नहीं हैं।

रसों में प्रधानता

इनमें भी आचार्यो ने कुछ रसों को प्रधान तथा कुछ को गौण माना है। उन्होंने कुछ रसों को मूल मान कर उनकी अलग–अलग दृष्टि से कल्पना की है।

रसों की प्रधानता एवं अप्रधानता का प्रतिपादन सबसे पहले भरत ने किया था। उनके अनुसार शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर

से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होते हैं। इसका अभिप्राय है कि शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स रस प्रधान या मूल तथा हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस अप्रधान हैं।

रस के आस्वाद के समय चित्तवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर रसों की प्रधानता या अप्रधानता निश्चित की जा सकती है। दशरूपककार के अनुसार ये चित्तवृत्तियाँ चार प्रकार की हो सकती है– विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृंगार के अनुभव के समय विकास, वीर रस के अनुभव के समय विस्तार, बीभत्स की अनुभूति के समय क्षोभ और रौद्र रस की अनुभूति के समय विक्षेप की अवस्था होती हैं। अतः इन चार रसों को प्रधान समझना चाहिये। अन्य चार रस इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। शृंगार से हास्य वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती हैं।

कुछ आचार्यों ने अपनी–अपनी दृष्टि से किसी एक ही रस को प्रधान मान कर अन्य रसों का उद्भव उसी से प्रतिपादित किया है

(1) भवभूति के अनुसार एकमात्र करुण रस ही होता हैं। उसी के आश्रय से विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति होती है

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्

भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्। आवर्तबुद्बुद् तरंगमयान् विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।

(2) अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही मूल रस माना –

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावैः प्रवर्तते।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

अभिनवगुप्त का अभिमत है कि शान्त रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष से है। क्योंकि सभी प्रकार के रसों का आस्वादन अलौकिक है और ब्रह्मास्वाद के सदृश है, अतः शान्त रस को ही सबसे प्रमुख रस मानना चाहिये।

(3) भोजराज का मत है कि शृंगार ही सब रसों में प्रधान रस है। वही सबका एकमात्र मूल है। कविता रस के कारण सरस बनती है और इस एक रस को शृंगार कहा जाता है। इसका रूप अभिमान और अहंकार जैसा होता है। शृंगार प्रकाश में भोज ने शृंगार को एकमात्र रस मानने का हेतु यह दिया हैं, क्योंकि रसत्व या आस्वाद शृंगार का ही होता है।

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते। योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।।

(4) विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अपने प्रपितामह नारायण के मत को प्रदर्शित किया है कि चित्त में चमत्कार का उत्पन्न होना विस्मय का ही पर्याय है। अतः अद्भुत रस ही सबसे प्रधान चमत्कारी है। रूपगोस्वामी और कर्णपूर भक्ति को ही प्रधान रस मानते हैं।

रसों का स्वरूप

मम्मट आदि आचार्यों ने शृंगार आदि रसों के स्वरूप का विवेचन न करके उनके केवल उदाहरण दिये हैं। परन्तु नाट्यशास्त्र 'साहित्यदर्पण' रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में उनके स्वरूप की भी व्याख्या की गई है।

(1) **शृंगार रस** – शृंगार रस की उत्पत्ति काम के उद्भेद से होती है। इससे नायक नायिका आदि आलम्बन विभाव, चन्द्रमा, उपवन माला, वसन्त ऋतु आदि उद्दीपन विभाव, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभाव एवं उग्रता, जुगुप्सा तथा मरण को छोड़कर शेष लज्जा, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। इनसे अभिव्यक्त रति रूप स्थायी भाव ही शृंगार रस है।

शृंगार रस के दो मुख्य भेद है – संयोग और विप्रलम्भ। किन्तु धनञ्जय एक तीसरा भेद अयोग भी मानते हैं। संयोग शृंगार के दर्शन, स्पर्श, चुम्बन, परिरम्भण आदि के भेद से अनेक विभेद हो सकते हैं। इसलिये इसको एक ही प्रकार का माना जाता है विप्रलम्भ शृंगार के 5 भेद होते हैं। अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और मान। विप्रलम्भ शृंगार की दस काम अवस्था होती है अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता और मरण। पण्डितराज जगन्नाथ संयोग और वियोग एक साथ रहना या न रहना नहीं अपितु यह चित्तवृति विशेष है जिसमे संयोग में **'अहं संयुक्तोऽस्मि'**। इस प्रकार की बुद्धि होती है और वियोग में **'अहं वियुक्तोऽस्मि'** इस प्रकार की बुद्धि होती है। एक स्थान पर रहते हुए भी मान या ईर्ष्या के कारण वियोग की स्थिति हो सकती है।

(2) **हास्य रस** – हास्य रस की उत्पत्ति के लिये विकृत आकार, वाणी, वेष आदि आलम्बन विभाव हैं, तथा निद्रा आलस्य, अवहित्थ आदि व्यभिचारी भाव हैं।

. इनसे अभिव्यक्त हास रूप स्थायीभाव ही हास्यरूप रस दशा को प्राप्त होता है। आत्मस्थ, परस्थ होने से यह दो प्रकार का होता है। पुनः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति भेदों को मिला कर यह छः प्रकार का होता है। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित। स्मित में खाली नेत्र विकसित होते है, हसित में कुछ–2 दाँत दिखते है, मधुर स्वर में हंसना विहसित, आँखों में हंसते हंसते आँसू आना अपहसित और जोर से अंगो को फेंककर हंसना अतिहसित है।

(3) **करुण रस** – इष्ट का विनाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति करुण रस के आलम्बन विभाव हैं। प्रिय के गुणों का कथन निश्चेष्ट दर्शनादि उद्दीपन विभाव हैं। निःश्वास उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप, विवर्णता आदि अनुभाव हैं। स्वप्न, अपस्मार, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न शोक रुप स्थायी भाव करुण रूप रस दशा को प्राप्त करता है। धर्मोपघातनु, अर्थापचयोद्भव और शोककृत यह भी तीन प्रकार का होता है।

(4) **रौद्र रस** – शत्रु आदि रौद्र रस के आलम्बन विभाव हैं। शत्रुओं द्वारा किया गया अपकार, परुषवचन, चेष्टादि उद्दीपन विभाव हैं। होंठ काटना, कम्प, भृकुटि चढ़ाना, दाँत पीसना, मुख का लाल होना, शस्त्र चमकाना, डींग मारना, भूमि पर प्रहार करना आदि अनुभाव है। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इससे निष्पन्न क्रोध रूप स्थायी भाव रौद्र रस दशा को प्राप्त होता है।।

(5) **वीर रस** – वीर रस के आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि है उनकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। रोमाञ्च, युद्ध सामग्री, सहायक आदि की खोज करना, भुजा फड़कना आदि अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न उत्साह रुप स्थायी भाव वीर रूप रस दशा को प्राप्त होता है। यह चार प्रकार का होता है – दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। कुछ दया, रण और दानभेद से तीन ही प्रकार का मनते हैं। जबकि पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार पाण्डित्य, क्षमावीर आदि अन्य भी भेद हो सकते हैं।

(6) **भयानक रस** – जिससे भय उत्पन्न हो, वह भयानक रस का आलम्बन विभाव होता है। उसके विकृत स्वर, चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। अंगो का कांपना, स्वेद, रोमाञ्च, मुख का सूखना, दिशाओं में देखना आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, दैन्य, सम्भ्रम सम्मोह, त्रास आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न भय नामक स्थायी भाव भयानक रूप रस दशा को प्राप्त होता है। स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और यह भी तीन प्रकार कृत्रिम हो सकता है

(7) **बीभत्स रस** – सड़ा मांस, वमन आदि पदार्थ इस रस के आलम्बन विभाव हैं। इनमें कीड़े पड़ना, दुर्गन्ध आना आदि उद्दीपन विभाव हैं। वैराग्य के कारण जघन, स्तन आदि के प्रति घृणा करना, नाक सिकोड़ना, मुख सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं। आवेग, आर्ति, शङ्का आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनमें निष्पन्न जुगुप्सा रूप स्थायी भाव बीभत्स रूप रस दशा को प्राप्त होता है। उद्वेगी, क्षोमण और शुद्ध यह भी तीन प्रकार का हो सकता है।

(8) **अद्भुत रस** – अलौकिक पदार्थ, देवता आदि अद्भुत रस के आलम्बन विभाव हैं। उनका दर्शन गुणकीर्तन आदि उद्दीपन विभाव हैं। साधुवाद कहना, अश्रु, वेपथु, स्वेद, नेत्रविकास, वाणी का गद्गद होना आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनमें निष्पन्न विस्मय नामक स्थायी भाव अद्भुत रूप रस दशा को प्राप्त होता है। दिव्यज और आनन्दज दो प्रकार का हो सकता है।

(9) **शान्त रस** - मम्मट ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद बताया था। परन्तु अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि अधिकांश आचार्य शम को इसका स्थायी भाव मानते हैं। संसार की अनित्यता तथा निस्सारता का बोध होना अथवा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान शान्त रस का आलम्बन विभाव हैं। पुण्य आश्रम, भगवान् के लीला क्षेत्र, तीर्थ, रमणीय वन आदि उद्दीपन विभाव हैं। रोमाञ्च, मैत्री, करुणा, समभाव आदि अनुभाव है। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव है। इनसे निष्पन्न शम रूप स्थायी भाव शान्त रस दशा को प्राप्त होता है। शान्त रस का स्वरूप इस प्रकार दिया है –

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः। समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रार्थतो रसः।।

(10) **वत्सल रस** – विश्वनाथ ने वत्सल रस का भी प्रतिपादन किया था और उन के अनुसार पुत्र आदि वत्सल रस के आलम्बन विभाव हैं। उनकी चेष्टायें, गुण आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, चुम्बन, दर्शन, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। अनिष्ट की शंका, हर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न वात्सल्य रूप स्थायीभाव वत्सल रूप रसदशा को प्राप्त होता है।

(11) भक्ति रस – भक्तिवादी आचार्यो ने भक्ति को भी रस की कोटि में परिगणित किया है। रूपगोस्वामी ने भक्ति रस का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है–

भक्ति रस के आलम्बन विभाव भगवान् हैं। तुलसी चन्दन आदि उद्दीपन विभाव हैं। नेत्रविकार, नृत्य, गीत, अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न भगवद्विषयक रति रुप स्थायी भाव भक्ति रूप रसदशा को प्राप्त होता है यह परमानन्द साक्षात्कार रूप होता है। रसों के वर्ण तथा देवता संक्षेप में इस प्रकार है

संख्या	रस	वर्ण	देवता
1	शृंगार	श्याम	विष्णु
2	हास्य	श्वेत	प्रमथ
3	करुण	कपोत	यम
4	रौद्र	रक्त	रुद्र
5	वीर	गौर	इन्द्र
6	भयानक	कृष्ण	काल
7	बीभत्स	नील	महाकाल
8	अद्भुत	पीत	ब्रह्म
9	शान्त	कुन्देन्दुशुभ्र	श्रीनारायण
10	वत्सल	पद्मगर्भसदृश	लोकमातायें

रसों का परस्पर विरोध उसका परिहार

यद्यपि अपने मूल रूप में रस विरोध रहित और सघन आनन्द रूप आस्वाद है किन्तु तत्तत् स्थायि भाव के आधार पर कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं। कुछ नहीं होते जैसे शृंगार और हास, वीर और अद्भुत, रौद्र और बीभत्स का अविरोध है किन्तु शृंगार का करुण और बीभत्स के साथ, वीर का भयानक के साथ विरोध समझा जाता है।

रसों की विरोधिता तीन प्रकार से हो सकती है– (1) **आलम्बन की एकता से** (2) **आश्रय की एकता से** अथवा (3) **निरन्तरता के कारण** वीर और शृंगार रस में आलम्बन की एकता से विरोध हैं। आलम्बन की एकता के द्वारा सम्भोग शृंगार का विरोध हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ होता है। आश्रय की एकता के कारण वीर और भयानक रसों में परस्पर विरोध होता है। शान्त और शृंगार रसों में निरन्तरता के कारण विरोध होता है।

यह विरोध कई प्रकार से दूर किया जा सकता है।

(1) काव्य में एक रस को अंगी (प्रधान) रूप से निबद्ध तथा अन्य रस उसके अंग रुप में नियोजित किये जाये

(2) आश्रय की एकता से रसों का परस्पर विरोध उन रसों का भिन्न–भिन्न आश्रय में निबन्धन कर दूर किया जा सकता है

(3) निरन्तरता के कारण रसों का परस्पर विरोध होने पर दोनों रसों के मध्य में किसी अविरोधी तटस्थ रस का नियोजन कर दिया जाय

(4) (क) दो विरुद्ध रसों का स्मरणात्मक वर्णन होने से भी विरोध नहीं रहता।

(ख) दो विरोधी रस किसी अन्य रस का अंग बन गये हों।

(1) **भाव,** (2) **रसाभास,** (3) **भावाभास,** (4) **भावशान्ति,** (5) **भावोदय,** (6) **भावसन्धि** तथा (7) **भावशबलता** भी आस्वाद्य होने से भावादि रस कहे गए है। **रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।**

सन्धि शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।।

(1) **भाव** – देवता आदि विषयक रति, प्रधान रुप से अभिव्यञ्जित सञ्चारी भाव और उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव, जो कि विभाव आदि से पूर्ण रुप से परिपुष्ट ना हो, भाव कहलाते हैं।

सञ्चारिणः प्रधानानानि देवादिविषया रतिः।

उदबुद्धमात्रस्थायी च भाव इत्यभिधीयते।।

(2,3) **रसभास और भावाभास** – अनुचित रूप से प्रवृत्त रस और भाव को क्रमशः रसाभास और भावाभास कहा गया है। पशु-पक्षी विषयक शृंगार रस भी रसाभास माना गया है।

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। उपनायकसंस्थाया मुनिगुरुपत्नीगतायां च।

बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।। प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।

श्रृंगारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे।। शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।

ब्रह्मवधाऽद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे। उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।। (साहित्यदर्पण 3.263–266)

(4) **भावशान्ति** – भाव की शान्ति होने पर भावशान्ति की अवस्था होती है। पहले से उदित भाव चमत्कारपूर्ण ढंग से सहसा शान्त हो जाना ही भाव शान्ति है।

(5) **भावोदय** – जब एक भाव का शमन होकर दूसरे भाव का चमत्कारपर्ण ढंग से उदय हो जाता है, तो वह भावोदय की अवस्था है।

(6) **भावसन्धि** – जब एक भाव के उदय होने पर दूसरा भाव भी उदित हो जाये तथा किसी की भी शान्ति न हो और दोनों भाव तुल्यबल हो तो यह भावसन्धि की अवस्था है।

(7) **भावशबलता** – जब एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा, इस प्रकार क्रमशः भाव उदित होते जायें तो वह अवस्था भावशबलता कहलाती है।

रसों की सुखदुःखरुपता

रसों की अनुभूति या आस्वाद किस प्रकार का है, लौकिक रसों की तुलना में काव्य रसों की अनुभूति में कोई भिन्नता है, या एकरूपता है, यह विचार का विषय रहा है अधिकांश आचार्य रसों की अनुभूति को सुखात्मक मानते है, जबकि कुछ आचार्य कुछ रसों को सुखरूप तथा अन्य को दुःखरूप मानते रहे हैं।

अभिनवगुप्त, मम्मट, धनञ्जय, धनिक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य रस की अनुभूति को सुखात्मक मानते हैं। इनका मानना है कि सभी रसों में केवल सुख का ही अनुभव होता है। इनके मत में करुण आदि भी काव्य में सुखात्मक ही होते हैं। इसके लिये इन्होंने सहृदयों के हृदयों को प्रमाण माना। विश्वनाथ आदि आचार्यो का कथन है कि यदि करुण आदि रसों की अनुभूति दुःखमय होती तो कोई भी व्यक्ति करुणरसप्रधान काव्यों के प्रति उन्मुख नहीं होता तथा रामायण आदि काव्य दुःख के हेतु होते। करुण आदि रसों में भी आनन्दमय अनुभूति का हेतु यह दिया गया है कि जो लौकिक हेतु कारण तथा सहकारी हैं, वे दुःखात्मक होने से दुःख के हेतु हो सकते है, परन्तु काव्यों में प्रस्तुत होकर ये लौकिक हेतु अलौकिक हो जाते हैं। ये अलौकिक हेतु जब करुण, भयानक आदि रसों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तो उनमें दुःखात्मकता नहीं रहती। इन सबसे होने वाली अनुभूति सुखमय ही होती है। वनवास, सीताहरण आदि कारण राम के लिये दुःख का कारण हो सकते हैं, किन्तु काव्य में ये कारण अलौकिक रूप को प्राप्त होकर, विभाव बनकर सहृदयों के चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक करते हैं। इस प्रकार लौकिक हर्ष, शोक आदि कारणों से लौकिक हर्ष, शोक आदि उत्पन्न होते है, यह लौकिक नियम है, परन्तु काव्यों में इन विभाव आदियों से सुख ही उत्पन्न होता है।

हेतुत्वं शोकहर्षोदेर्गतेम्यो लोकसंश्रयात्। शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।।

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः। (सा० द० 6-8)

प्रश्न उठाया गया कि सुखात्मक श्रृंगार, वीर, हास्य आदि रसों में तो आनन्द की अनुभूति हो सकती है।, परन्तु दुःखात्मक करुण आदि रसों में यह कैसे होगी ? करुण रस से युक्त काव्य से देखने सुनने से दुःख का आविर्भाव होता है और अश्रुपात आदि होते हैं।

यह ठीक है कि करुण रस के काव्य के श्रवण से रसिकों को दुःख होता है, तथा वे रोते है, परन्तु लौकिक करुण आदि से काव्यगत करुण आदि रस भिन्न होते हैं। काव्यगत करुण आदि रस दुःखपरक होते हुये भी आनन्दात्मक होते हैं। उनसे सुखःदुख मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। यह इसी प्रकार का है, जैसे सुरत के समय स्त्रियों को दन्तक्षत, नखक्षत, प्रहार आदि से भी आनन्द की अनुभूति होती है। काव्यगत करुण रस के लौकिक करुण से भिन्न होने से उसके प्रति रसिकों की प्रवृत्ति होती है। यदि काव्यगत करुण रस लौकिक करुण के समान ही दुःखात्मक होता, तो उसके प्रति कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। इस अवस्था में करुण रस प्रधान रामायण आदि महाकाव्यों का उच्छेद ही हो जाता। ऐसे वर्णनों को पढ़कर सामाजिकों का अश्रुपात करना आनन्द की अनुभूति का विरोध नहीं है। करुणादि रसों की अनुभूति जो अश्रुपातादि होते हैं वे दुःख के कारण नहीं है अपितु आनन्दानुभव के कारण होते हैं। चित्त के द्रुत होने के कारण से अश्रु आदि गिरते हैं। यह इसी प्रकार है, जैसे कि भगवान् के भक्त भगवान् के वर्णन को सुनकर अश्रुपात करते हैं, उनमें दुःख का अनुभव किसी अवस्था में नहीं है। यह लोकोत्तर काव्य व्यापार की ही महिमा है कि उसमें प्रयोग किये जाते हुये अरमणीय भी शोक आदि पदार्थ अलौकिक रमणीयता को उत्पन्न करते हैं। काव्य व्यापारों द्वारा उत्पन्न होने वाली यह रमणीयता या आह्लाद विलक्षण रुप से कमनीय होता है।

काव्यगत करुण आदि रसों से आनन्द की ही अनुभूति क्यों होती है, इसका मुख्य हेतु साधारणीकरण व्यापार है। साधारणीकरण द्वारा विभाव आदि के विशेष अंश का परित्याग होने से उसका लौकिक व्यक्तिगत सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। व्यक्ति से आबद्ध भाव में अल्पता होने से दुःख की अनुभूति हो सकती है। परन्तु व्यक्तिगत सम्बन्ध से मुक्त होने पर उदात्तता के समावेश से आनन्दमात्र ही अवशिष्ट रहता है। इसके लिये मधुसूदनदत ने यह युक्ति दी है कि रत्यादि भाव जब बोध्यनिष्ठ, अर्थात् दुष्यन्त आदि पात्रगत होते हैं तो सुख--दुःख के कारण बनते हैं। परन्तु जब वे बोद्धृनिष्ठ, अर्थात सहृदयगत होते हैं, तो केवल सुख के ही हेतु होते हैं। अतः करुण रसों के आनन्दरूपत्व का व्याघात नहीं होता।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के रचयिता भी रसों को आनन्दरूप प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू का विरचन सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अरस्तू का कथन है कि त्रासदी में अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन हो जाता है, अर्थात विरेचन हो जाता है। इस विरेचन से करुण और त्रास, के भावों का कटुत्व, दूर होकर विशद होता है और उसको शान्ति प्राप्त होती है। इससे सहृदय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

बुचर का कथन है कि शोक आदि भावों की कटुता उसी समय तक प्रतीत होती है, जब तक कि वे वैयक्तिक भौतिक सीमा में बद्ध रहते हैं, स्व की सीमा नष्ट हो जाने पर उनकी कटुता भी नष्ट हो जाती है और वे सुखद हो जाते हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिक काट, कलावादी समीक्षक रोजर फाइड और क्लाइववेल ने कलागत अनुभूति को सर्वथा अलौकिक माना है। लौकिक भावों तथा काव्यगत भावों में सर्वथा अन्तर है। लौकिक भाव काव्यगत होकर विभावादि रूप हो जाते है। काव्यगत अनुभूति का लौकिक अनुभूति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता वे आनन्दरूप ही होते है।

(1) **कुछ रसों का सुखरूप तथा अन्य का दुःखरूप होना** – यद्यपि अधिकांश आचार्यो ने रसों को केवल सुखरूप माना था परन्तु कुछ आचार्य ऐसे भी हुये, जिन्होंने सभी रसों की अनुभूति को केवल आनन्दमय नहीं माना। इनमें नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र प्रधान है। उन्होंने रसों को सुखदुःखात्मक बताया। उनका मन्तव्य है कि कुछ रस सुखात्मक और कुछ रस दुःखात्मक हैं। इनमें शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस दुःखात्मक हैं।

सब रसों की सुखात्मकता का खण्डन करते हुये नाट्यदर्पणकार का कथन हैं कि सभी रसों को सुखात्मक मानना प्रतीति के विरुद्ध है। मुख्य अर्थात् वास्तविक लौकिक जगत् के सिंह, व्याघ्र आदि विभावों की दुःखात्मकता को रहने ही दें, काव्य में अभिनय से प्राप्त कृत्रिम विभावों से उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस भी रसों का आस्वादन करने वाले सहृदयों में कुछ अवर्णनीय क्लेश दशा को उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिये सामाजिक भयानक आदि दृश्यों से उद्विग्न होते हैं। परन्तु सुख के आस्वादन से उद्विग्नता उत्पन्न नहीं होती। अतः रसों को एकमात्र सुखरूप न मानकर सुखदुःखात्मक मानना चाहिये।

रसों के सुखदुःखात्मक रूप होने का संकेत नाट्यदर्पण से भी पहले काव्यशास्त्र में किया गया था। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में किन्हीं प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख किया था, जिनका मन्तव्य था कि रसों की सामग्री के सुखदुःखात्मक होने से वे भी सुखदुःखात्मक ही हैं। उन्होंने स्वयं भी रसों को सामान्य रूप से सुखात्मक मानते हुए उभयात्मक रूपता का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनमें सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है किसी की अनुभूति में सुख एवं किसी की अनुभूति में दुःख की प्रधानता रहती है। शृंगार, हास्य, वीर तथा अद्भुत रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुबंध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स, रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुबोध रहता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी करुण प्रधान काव्यों से भी आनन्दानुभूति मानते हुए भी एक स्थान पर कहा है **'अथ यद्याह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति।** उनका कथन है कि यदि शृंगार प्रधान काव्यों के समान करुण प्रधान काव्यों से भी केवल आह्लाद ही सहृदय के हृदय से प्रमाणित है तो कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना की जा सकती है या दुःख के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यदि आह्लाद के समान दुःख भी प्रमाण सिद्ध है तो प्रतिबन्धकत्व की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। अपने 2 कारणों से दोनों होगें।

रस काव्य की आत्मा को भी अधिकांश आचार्य काव्यगत सभी रसों को सुखात्मक ही मानते हैं। भारतीय आस्तिक दर्शनों की पृष्ठभूमि में पञ्चभूतों से निर्मित शरीर में आत्मा को प्रधान माना गया है। यह आत्मा विशुद्ध, अजर, अमर, नित्य, आनन्दमय, चिन्मय, विज्ञानमय और ब्रहारूप है। इस आत्मा को उपनिषदों में रसरुप भी कहा गया हैं, जिसको प्राप्त करके प्राणी आनन्दमय हो जाता है **'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'।।** (तैत्ति 3.6) काव्य में रस का भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। शब्दार्थ शरीर रूप काव्य में रस ही एकमात्र प्रधान है, अन्य गुण, अलंकार आदि इसी को अलंकृत करते हैं। भरत मुनि ने रस का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा, **'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'** काव्य में रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं होता।

भरत के पश्चात् भी आचार्यों ने रस को ही काव्य का प्रधान तत्त्व प्रतिपादित किया। अग्नि पुराण का कथन है –

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।

भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।। (अग्निपुराण, 319,12)

न तो भाव से हीन रस होता हैं और न की रस से रहित भाव होते हैं। भाव ही रसों को भावित करते हैं अर्थात् अनुभव का विषय बनाते हैं।.अग्निपुराण का सिद्धान्त है कि **'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'**। (वही0 319, 13) वचन चातुर्य का चमत्कार होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'** कह कर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था, तथापि वे रसध्वनि को ही सबसे प्रधान मानते है रस–ध्वनि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता) को उन्होंने ध्वनि की भी आत्मा प्रतिपादित किया था।

अन्य ध्वनिवादी आचार्यो ने भी ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर रस को सबसे प्रधान ध्वनि कहा। अभिनवगुप्त के गुरु **भट्टतौत** ने **'काव्यकौतुक'** में रस का विवेचन किया था। भट्टतौत ने प्रतिपादित किया कि रस के आनन्द रूप होने से वह आत्मरूप हैं और रस का समुदाय ही नाट्य है। काव्य में भी जब रस का नाट्यमान प्रयोग होता है, तभी वह आस्वादित होता है अर्थात् श्रव्य काव्य में भी वर्णित विषय के प्रत्यक्षवत् अवभासित होने पर ही सहृदय पाठक रस का आस्वादन करते हैं।

प्रतिहारेन्दुराज ने अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी उद्भट के **"काव्यालंकारसारसग्रहः"** पर **लघुवृत्ति** नाम की टीका में काव्य में रस को आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। उनका मत था कि रस से युक्त काव्य ही जीवित रह सकता है, अतः रस ही काव्य की आत्मा है।

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं - जीवद्रूपतया यतः।

कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।।

(काव्यालंकारसारसंग्रह लघुवृत्ति, पृ0 83)

अभिनवगुप्त ने नाटयशास्त्र की अभिनवभारती टीका में और ध्वन्यालोक की लोचन टीका में रस का विशद विवेचन किया। उनके अनुसार भी यह रस ध्वनि ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।

2. **स च काव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति।**

स च रसध्वनेरेवेति सं एव मुख्यतया आत्मा।। (ध्वन्यालोक–लोचनटीका, पृ0 18)

3. **तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।** (ध्वन्यालोक लोचन टीका, पृ0 31)

अभिनवगुप्त के पश्चात् भी आचार्यो ने काव्य में रस की प्रधानता प्रतिपादित की। भोजराज ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** तथा **शृंगारप्रकाश** में रस का विवेचन किया। उन्होंने शृंगार रस को ही एकमात्र अभिमान रूप मान कर उसके द्वारा काव्य की कमनीयता प्रतिपादित की है। यदि कवि शृंगार है तो काव्य में जगत् रसमय होता है, यदि वह शृंगारी नहीं है तो काव्य नीरस हो जाता है।

मम्मट ने व्यंग्य अर्थ को वस्तु, अलंकार तथा रस, इस प्रकार तीन प्रकार का मानते हुये भी रस के प्रधानत्व को स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है। यह रस–रूप अर्थ ही काव्य में अंगी होता है, जिसके गुण नियत धर्म हैं। रुय्यक के अनुसार रस आदि ही काव्य के प्राण हैं। वे अलंकाररूप नहीं हो सकते। अलंकार तो उपकारक होते हैं, परन्तु रस आदि प्रधान होने से उपकार्य हैं। अतः रस आदि प्रतीयमान होते हुये वाक्यार्थ होते हैं और वे ही काव्य का जीवन हैं। वाक्यार्थवेत्ता सहृदय रस के इसी रूप को स्वीकार करते हैं।

व्यक्तिविवेक के रचयिता महिमभट्ट भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते है। **काव्यस्यात्मन्यङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः**, उनका ध्वनिवादियों से मतभेद केवल इसी बात में है कि वे रस को व्यञ्जना का नहीं, अपितु अनुमिति का विषय मानते है। राजशेखर ने विवेचन न करते हुए भी काव्यपुरुष की उत्पत्ति बताते हुए रस को काव्य की आत्मा माना।

विश्वनाथ ने रस का विस्तृत विवेचन करके उसको काव्य में सबसे प्रधान प्रतिपादित किया है। विश्वनाथ ने ता काव्य का लक्षण ही **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** दिया इससे रस का काव्य की आत्मा होना स्वयं सिद्ध होता है। **अलंकारकौस्तुभ** में कवि कर्णपूर ने शब्दार्थ शरीर काव्य में ध्वनि को प्राण तथा रस को आत्मा माना। भूदेव ने वस्तु, अलंकार और रस इस प्रकार के त्रिविध अर्थ को काव्य की

आत्मा मान कर भी इनमें रस को ही काव्य की वास्तविक आत्मा प्रतिपादित किया। इसका हेतु यह है कि काव्य की प्रवृत्ति रस के लिये ही होती है। रसध्वनि के परम रमणीय होने के कारण रस ही काव्य की आत्मा है।

केशवमिश्र ने काव्य में रस को ही आत्मस्थानीय माना है। उनका कथन है कि नीरस काव्य में रसिक जन आनन्द को उसी प्रकार प्राप्त नहीं करते, जिस प्रकार उत्तम पका होने पर भी भोजन नमक के बिना स्वादिष्ट नहीं होता। पण्डित जगन्नाथ ने रस ध्वनि को ही प्रधानता तो दी और इसका विशद विवेचन किया।

रस की आनन्दात्मकता तथा प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र की रचना के प्रारम्भ से आधुनिक समय तक प्रायः सभी आचार्यों ने रसको काव्य में प्रधानता को स्वीकार किया है। न केवल काव्यशास्त्र के आचार्य रस के प्रधानत्व को सिद्ध कर रहे हैं, अपितु कालिदास भवभूति आदि महान् कवियों ने भी रस में ही सहृदय की तन्मयता को स्वीकार किया है। रस काव्य का सर्वोपरि तत्त्व है अतः काव्य की रचना करते हुए कवि को रस परतन्त्र होना चाहिए।

अलङ्कार सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा स्थान अलंकार सम्प्रदाय का है। अलंकार शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है।

अलंकारों का विकास

"अलम्" पूर्वक **'कृ'** धातु के प्रयोग से **"अलंक्रियने अनेन"** अथवा **'अलङ्करोति'** व्युत्पत्ति करने पर करण या भाव अर्थ में **घञ्** प्रत्यय करने पर **अलंकार** पद निष्पन्न होता है।। इस पद का अर्थ है–जिस पदार्थ या तत्त्व के द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जाय उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो, वह पदार्थ या तत्त्व अलंकार कहलाता है। ये अलंकार जिस वस्तु को पहनाये जाते हैं, उसका अलंकृत करते है। जिस प्रकार भौतिक शरीर को कुण्डल आदि अलंकार अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार शब्द अर्थ रूप शरीर वाले काव्य को उपमा आदि अलंकृत करते हैं।

काव्य में अलंकारों का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। ऋग्वेद में **अलम्** पद के लिये **अरम्** रूप मिलता है। **अरम्** पद की निष्पत्ति **ऋ** धातु से होती है, जिसका अर्थ है गति। गति पद से शब्दबोध, मुक्ति, गमन, व्यापार आदि अर्थ बोधित होते हैं। ऋग्वेद में अरकृत तथा अरंकृति पदों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर वसिष्ठ ऋषि इन्द्र से पूछते हैं। **"का ते अस्त्यरकृंतिः सूक्तैः"** (7.25 3) ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग हुये है

'ऋग्वेद के' अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में अंलकार पद का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्पष्ट शब्दों में किया गया परन्तु इस समय भी इस पद का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के साथ स्थापित नहीं हो सका था।

अलङ्कार पद का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सबसे पहले यास्क के निरुक्त में किया गया है। यास्क ने अलंकृत पदों का पर्यायवाची माना और उपमा पद की निरुक्ति की है। यास्क ने उपमा पद की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार की है–

"तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयासं वा प्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।"

यास्क ने उपमा ने अनेक भेदों – कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा और अर्थोपमा के स्थलों को प्रस्तुत किया है।

पाणिनि के समय में अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन हो चुका होगा। उन्होंने उपमा, सादृश्य, उपमान, सामान्य, सदृश, प्रतिरूप उपमित आदि शब्दों के प्रयोग अपने सूत्रों में किये हैं। उन्होंने उपमा आदि के सम्बन्ध में प्रत्ययों का विधान भी किया है। पाणिनि के सूत्रों में उपमा के, श्रौती तथा आर्थी भेदों के तथा रूपक आदि अलंकारों के संकेत विद्यमान हैं।

'उपमानानि सामान्यवचनैः, उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे, तेन तुल्यक्रिया चेद् वति'

कात्यायन ने उपमावाचक 'इव' शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया था। **इवेन नित्य समासो विभक्त्यलोपश्च।** पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के उपमा, उपमान, उपमित, सामान्य वचन आदि पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया था।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों में अलंकारों के निर्वचन का संकेत होने पर भी उस युग के किसी एस अलंकार ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती, जिसमें अलंकारों की शास्त्रीय विवेचना की गयी हो। सबसे प्रथम अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन सूक्ष्म रूप में भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का विवेचन किया, और नाट्य लक्षणों के रुप में 36 गुणों का भी निरुपण किया, जिनमें हेतु, संशय, दृष्टान्त निदर्शना, गुणातिशय, अर्थापत्ति, लेश आदि गुण उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा अलंकार के रूप में परिगृहीत हुये। भरत के पश्चात् अलंकारों का उत्तरोतर विकास हुआ तथा भरत के ये चार अलंकार अप्पयदीक्षित के समय तक 125 हो गये।

अलंकार और काव्य में उनका महत्व यद्यपि सर्वप्रथम भरतमुनि ने अपने नाटयशास्त्र में अलंकारशास्त्र तत्त्व की समीक्षा की थी और काव्य में चार अलंकारों का प्रतिपादन किया, तथापि भामह प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अलंकार के स्वरुप का विवेचन किया और उसको काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भरत के रस आदि तत्त्वों को भी अलंकारों में परिगणित करके उनको रसवद् आदि अलंकार नाम दिया।

भामह का कथन है कि अलंकार काव्य का सबसे प्रमुख सौन्दर्य आधायक तत्त्व है। जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता। उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्म्।** भामह ने शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति को अलंकार में बताया था तथा वक्रोक्ति के अभाव में अलङ्कार का अभाव प्रतिपादित किया। उनका मत में वक्रोक्ति बिना अलंकार नहीं होता तथा यह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अभिन्न हैं यह अतिशयोक्ति लोकोत्तर होने से अति रमणीय होती है तथा इससे अलंकार निष्पन्न होता है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।।

दण्डी ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया। उन्होंने काव्य के सभी शोभाकारक धर्मो को अलंकार प्रतिपादित किया। ये धर्म अनेक प्रकार के हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति।। (काव्यादर्श 2.1)

काव्य में शोभा के सम्पादक होने से उन्होंने रस आदि का ग्रहण भी रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत किया जो कि तीन प्रकार के हैं। काव्य के शोभाकारक होने के कारण उन्होंनें काव्यगत सन्धि सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यंग आदि को भी अलंकार माना।

अग्निपुराण में भी अंलकार के लक्षण के सम्बन्ध में दण्डी का अनुसरण किया गया है। उसमें अर्थालंकार से रहित कविता को विधवा के समान बताया गया है–

अर्थालङ्कारहिता विधवेव सरस्वती

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अलंकार को काव्य के सौन्दर्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और काव्य की उपादेयता सौन्दर्य रूप अलंकार से ही स्वीकार की। **काव्यं ग्राह्यमलंकरात्। सौन्दर्यमलंकारः।** यहाँ अलंकार शब्द को दो अर्थो में प्रयुक्त किया गया है। अलंकार का अर्थ सुन्दर वस्तु और उपमादि अलंकारो से भी अलंकार शब्द का सम्बन्ध दिखाया क्योंकि इनसे काव्य सुन्दर बनता है यद्यपि काव्य की शोभा गुणों के द्वारा होती है। तथापि उस शोभा का अतिशय अलंकार ही करते है। **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।**

उद्भट ने भी काव्य मे अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया। रस आदि को उन्होंने रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों मे समाविष्ट कर दिया। तदनन्तर उन्होंने आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्य अर्थ को वाच्यार्थ का उपकारक प्रतिपादित किया। इस प्रकार उत्तरवर्ती ध्वनिवादियों के रस, वस्तु एवं अलंकार, इन त्रिविध व्यंग्य अर्थो को उद्भट ने अलंकार का अंग सिद्ध किया था।

रुद्रट ने भी काव्य में अलंकारों का प्राधान्य स्वीकार किया। इसी को प्रतिपादित करने के लिये उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम **काव्यालंकार** रखा। उन्होंने रस आदि को अलंकार ही माना।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने भी अलंकार को प्रधानता दी थी। काव्य की परिभाषा करते हुये उन्होंने अलंकार सहित उक्ति को ही काव्य माना। उनका मन्तव्य था कि जो कथन अलंकृत होता हैं, उनमें ही काव्यत्व होता हैं, न कि काव्य का अलंकार से योग होता है।

भोजराज ने काव्य शोभाकरत्व को अलंकार का सामान्य लक्षण मानकर शोभा के अभाव में अलंकार के अस्तित्व को स्वीकार नही किया। सभी प्रकार के अलंकारों को वक्रोक्ति के नाम से इसी कारण जाना जाता है, क्योंकि इनमें काव्य शोभाकरत्व होता है। रसों के शोभाकर होने के कारण भोज ने इनको भी अलंकार ही बताया। इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि भामह और उद्भट हैं, दण्डी, रुद्रट और प्रतिहार को भी इसी सम्प्रदाय में रखा जा सकता हैं।

काव्य में अलंकारत्व के प्राधान्य पर प्रथम और प्रबल प्रहार आनन्दवर्धन ने किया। उनके कथानुसार काव्य में अलंकारों का नियोजन रस आदि के अंग रूप में होना चाहिये, अंगी रुप में नहीं।

आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी मम्मट आदि ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर गुण, रीति और अलंकार का विचार उसके अनुरूप करते है। अलंकारों को काव्य की शोभा का आधायक मानकर भी इन्होंने इनको काव्य के बहिरंग के रुप में सिद्ध किया। काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले इन अलंकारों का प्रयोग रसों के उपकारकों के रुप में ही किया जाना चाहिए। आनन्दवर्धन का कथन है कि जिस प्रकार कामिनी के शरीर को कुण्डल आदि अलंकार शोभित करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं। इन अलंकारों का विनिवेश रस की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये, न कि उनके लिये पृथक् यत्न किया जावे। मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने अलंकार के जो लक्षण किये हैं, वे इसी दृष्टिकोण को लिये हुये हैं।

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽंगिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अंगाश्रितास्त्वलकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।। —ध्वन्यालोक
2. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।।
3. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽगद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। —काव्यप्रकाश
4. अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। —काव्यमीमांसा
5. अंगाश्रिता अलंकाराः।। —काव्यानुशासन
6. शब्दार्थयोरस्थिरा धर्माः शोभातिशयशालिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गादिवत्।। —साहित्यदर्पण
7. काव्यात्मानो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः।।
   —रसगंगाधर
8. रसादिभिन्नत्वे शब्दविशेषश्रवणोत्तरम्।
   चमत्कारकत्वं यदलङ्कारत्वमत्र तत्।।
9. तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।।
   —अलंकारसर्वस्व
10. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
    उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। —काव्यप्रकाश।।

अलंकार काव्य में हो भी सकते हैं तथा नहीं भी हो सकते। वे रस का उपकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते। इस प्रकार अलंकार अस्थिर हैं तथा काव्य में उनकी स्थिति अनिवार्य नहीं है। अलंकार की स्थिति की इस विवेचना से चिढ़ कर जगन्नाथ ने यहाँ तक कह दिया कि जो काव्य की अनलंकृती कह सकता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नहीं मान लेता।

अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भरत के पश्चात् तथा आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों को काव्य में अंगी के रूप में प्रतिष्ठित किया। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने उनको काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व मानकर भी गौण स्थान दिया। उनका अभिमत रहा कि अलंकारों की रचना रस की अपेक्षा से होनी चाहिये।

अलंकारो की संख्या और वर्गविभाजन

अलंकारो का सर्वप्रथम विवेचन यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में है और उसमें चार अलंकार बताये गये है उपमा, रुपक, दीपक और यमक, तथापि अलंकारों का विस्तृत और वैज्ञानिक विश्लेषण भरत के भी कई शताब्दियों बाद हुआ। यह कार्य भामह ने अपने काव्यालंकार ग्रन्थ मे किया। इन्होंने 35 अलंकारों की विवेचना की। भामह के बाद दण्डी ने 37 अलंकारों के स्वरुप का वर्णन किया। दण्डी का कथन था कि अलंकारों की सम्पूर्ण रुप से गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अनेक प्रकार के होते हैं। काव्य के सभी शोभाकारक धर्म अलंकार होते हैं।

दण्डी के बाद अलंकारों की संख्या में और भी वृद्धि होती गई। इनमें उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ मुख्य हैं, जिन्होंने अलंकारों की मौलिक रुप से उद्भावना तथा विवेचना की। इस समय तक अलंकारों की संख्या 123 तक हो गई तथा कुछ अलंकारों के अनेक प्रभेद भी कल्पित किये गये।। अलंकारों की सबसे अधिक संख्या अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में है। इसमें इन्होंने 123 अर्थालकारों का विवेचन किया है।

प्रस्तुत अलंकारो की संख्या प्रमुख आचार्यो द्वारा इस प्रकार है।

(1) **भामह** – भामह ने 38 अलंकारों का विवेचन किया था। इनमें दो शब्दालंकार तथा छत्तीस अर्थालंकार हैं–

(क) शब्दालंकार–अनुप्रास और यमक।

(ख) अर्थालंकार–उपमा, उपमेयोपमा, रूपक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षावयव, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, स्वभावोक्ति, अपह्नुति, श्लेष, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात, तुल्ययोगिता, विरोध, सन्देह, अनन्वय, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि, भाविक, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि।

(2) **दण्डी**–दण्डी ने 37 अलंकारों के स्वरुप का वर्णन किया था। इनमें दो शब्दालंकार और 35 अर्थालंकार है–

(क) शब्दालंकार–यमक, अनुप्रास।

(ख) अर्थालंकार–स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, क्रम, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि और भाविक।

दण्डी ने भामह के 32 अलंकारों को स्वीकार करके 6 अलंकारों को स्वीकार नही किया। उन्होंने 5 नवीन अलंकारों आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश और क्रम की कल्पना की।

(3) **उद्भट** – उद्भट ने अलंकारों की संख्या को कुछ और बढ़ाया। उन्होंने 41 अलंकार स्वीकार किये। इसमें 4 शब्दालंकार और 37 अर्थालंकार है–

(क) शब्दालंकार – पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, छेकानुप्रास और लाटानुप्रास।

(ख) अर्थालंकार – उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तिरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, पर्यायोक्त, उदात्त, शिलष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, सन्देह, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त, सहोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, संृष्टि, संकर।

उद्भट ने प्राचीन आचार्यो के 34 अलंकारों को स्वीकार किया था। उन्होंने सात अलंकारों की स्वयं कल्पना की थी–पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त और संकर–श्लेष को अर्थालंकार माना इसका शब्दश्लेष अर्थश्लेष में विभाजन किया।

(4) **वामन** – वामन ने 31 अलंकारों को स्वीकार किया। इनमें दो शब्दालंकार और 29 अर्थालंकार हैं।

(क) शब्दालंकार–अनुप्रास और यमक

(ख) अर्थालंकार–उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित और संसृष्टि।

इन 31 अलङ्कारों में से 28 अलङ्कारों को वामन ने प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किया तथा 3 अलङ्कारों की स्वय उद्भावना की।

(5) **रुद्रट** – रुद्रट ने अलंकारों का विवेचन कुछ अधिक वैज्ञानिक तथा विशद रूप से किया। उन्होंने अलङ्कारों के दो भेद किये – शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार। पुनः अर्थालङ्कारों को उन्होंने चार वर्गों में विभक्त किया – वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रट ने 62 अलङ्कारों का निम्न प्रकार से विवेचन किया।

(क) **शब्दालङ्कार** – वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र = 5

(ख) **अर्थालङ्कार** –

(1) वास्तव वर्ग – सहोक्ति, समुच्चय, जाति (स्वभावोक्ति), यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली -23

(2) औपम्य वर्ग – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नु, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण –21

(3) अतिशय वर्ग – पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु – 10

(4) श्लेष वर्ग – श्लेष –1

इन अलङ्कारों में कुछ की गणना एक से अधिक वर्ग में आ गई है। रुद्रट में 31 अलङ्कारों की स्वय कल्पना की थी और शेष को प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किया। रुद्रट के स्वकल्पित अलङ्कार निम्न है –

समुच्चय (दो प्रकार का), भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या हेतु, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर (दो प्रकार का), सार, मीलित, एकावली, मत प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, पूर्व, (दो प्रकार का), साम्य, स्मरण, विशेष, तद्गुण, पिहित असंगति, व्याघात, अहेतु, अधिक, वक्रोक्ति, सहोक्ति और श्लेष। रुद्रट में वक्रोक्ति का प्रथम बार शब्दालंकारों में वर्णन किया गया है।

(6) **भोज** – भोज ने अलङ्कारों का विभाजन तीन वर्गों में किया – शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। इन्होंने प्रत्येक वर्ग में 24 अलङ्कारों की गणना की और इस प्रकार 72 अलङ्कार बताये –

(क) **शब्दालङ्कार** – जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रक्ष्य और अभिनीति – 24

(ख) **अर्थालङ्कार** – जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, विरोध, उत्तर, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापति और अभाव–24

(ग) **उभयालङ्कार** – उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समासोक्ति, समाधि, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि–24

भोज ने अलङ्कारों की कुल संख्या 72 स्वीकार की। इनमें 28 अलङ्कार भोज के स्वकल्पित हैं और 44 अलङ्कार प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किये गये हैं। भोज के स्वकल्पित अलङ्कार निम्न हैं – जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति, सम्भव, वितर्क, प्रत्यक्ष, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव और समाधि।

भोज की सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने उपमा, रूपक, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों को उभयवर्ग में रखा है। भोज ने अलंकार वाङ्मय को तीन भागों में विभाजित किया, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति। उपमा आदि अलंकारों की प्रधानता होने पर **वक्रोक्ति** होती है। गुणों की प्रधानता होने पर **स्वभावोक्ति** तथा रस की प्रधानता होने पर **रसोक्ति** होती है।

(7) **मम्मट** – मम्मट ने 68 अलङ्कारों की विवेचना की। इनमें 6 शब्दालंकार और 62 अर्थालंकार हैं –

(क) **शब्दालङ्कार**–वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास –6

(ख) **अर्थालङ्कार** – उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, निदर्शना, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित

एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि और संकर – 62

मम्मट ने अलङ्.कारों के विवेचन में प्रायः प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्.कारों को ही स्वीकार किया। उन्होंने केवल तीन नये अलङ्.कारों की उद्भावना की – विनोक्ति, सम और अतद्गुण। मम्मट के अलङ्.कारों के विवेचन पर दण्डी तथा रुद्रट का अधिक प्रभाव है तथा उनके ही अलङ्.कारों को 'काव्यप्रकाश' में अपनाया गया है। उद्भट के मत की आलोचना की है।

(8) **रुय्यक** – रुय्यक ने प्राचीन आलंकारिकों के अलङ्.कार–विवेचन में अनेक कमियाँ पाई, जिनको दूर करने के लिये उन्होंने 'अलङ्.कारसूत्र' लिख कर स्वयं उस पर 'अलङ्.कारसर्वस्व' नामक वृत्ति लिखी। उन्होंने 'अलङ्.कारों का विशेष वर्गीकरण किया था और 80 अलङ्.कारों की गणना की। रुय्यक ने अलंकारों के सात उपयुक्त वर्ग बनाये (1) सादृश्य (2) विरोध (3) शृंखलाबन्ध (4) तर्कन्याय (5) काव्यन्याय (6) लोकन्याय (7) गूढार्थप्रतीति। उनके वर्गीकरण के अनुसार उनके अलंकारों के नाम इस प्रकार है –

(अ) शुद्ध अलंङ्.कार

(क) अर्थपुनरुक्ति–पुनरुक्तवदाभास

(ख) व्यञ्जनापुनरुक्ति – छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास

(ग) स्वरव्यञ्जनपुनरुक्ति – यमक

(घ) शब्दार्थोभयपुनरुक्ति – लाटानुप्रास

(ङ.) स्थानविशेषणश्लिष्टवर्णनपुनरुक्ति – चित्र

2. अर्थाल्.कार

(क) सादृश्यविच्छित्ति – उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति।

(ख) विशेषणविच्छित्ति – समासोक्ति, परिकर और श्लेष।

(ग) गम्यतार्थविच्छित्ति – पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(घ) विरोधविच्छित्ति – विरोध, विभावना, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, विचित्र, व्याघात, अधिक, विशेष अन्योन्य।

(ङ.) न्यायविच्छित्ति – काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर।

(छ) गूढार्थपरताविच्छित्ति – सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता।

(ब) मिश्र खण्ड

(क) संसृष्टि – शब्दालंकारसंसृष्टि, अर्थालङ्.कार संसृष्टि, उभयालङ्.कारसंसृष्टि।

(ख) सङ्.कर –

इन 80 अलङ्.कारों में से 71 अलंङ्.कारों का ग्रहण रुय्यक ने प्राचीन आचार्यों से किया था तथा निम्न 7 अलङ्.कारों की उद्भावना स्वयं की थी –

परिणाम, उल्लेख, विचित्र, विकल्प, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।

(9) **विश्वनाथ** – विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' के दशम परिच्छेद में 82 अलंङ्.कारों का विवेचन किया है रुद्रट या रुय्यक के समान इन्होंने अलंङ्.कारों के विशेष वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया और अलङ्.कारों के दो वर्ग ही प्रतिपादित किये – शब्दालंकार तथा अर्थालङ्.कार। विश्वनाथ ने 7 शब्दालङ्.कारों और 75 अर्थालङ्.कारों का विवेचन किया है–

(क) **शब्दालङ्.कार** – पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष और चित्र।

(ख) **अर्थालङ्.कार** – उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, निश्चय, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, अनुमान, हेतु, अनुकूल, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध, असंङ्.गति, विषम, सम,

विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, माला दीपक, एकावली, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या उन्मी अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता।

इन 75 अलङ्कारों के अतिरिक्त विश्वनाथ ने संकर और संसृष्टि का भी विवेचन किया है।

मम्मट ने रसवद् आदि की गणना अलङ्कारों में नहीं की। उन्होंने इनको गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना। परन्तु विश्वनाथ का कथन है कि जब रस, भाव आदि गुणीभूत हो जाते हैं, तो वे अलङ्कार कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने आनन्दवर्धन की यह युक्ति दी है कि जब वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्गभूत हों तो उस काव्य में वे रसादि अलङ्कार होते हैं।

(10) **अप्पय दीक्षित** – अलङ्कारों की विवेचना करने वाले उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित का प्रमुख स्थान है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की – 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द'। 'चित्रमीमांसा' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथा इसमें निम्न 12 अलङ्कारों का विवेचन हुआ है –

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

'कुवलयानन्द' की रचना का उपजीव्य ग्रन्थ जयदेव का **'चन्द्रालोक'** है। इसमें 123 अलङ्कारों का विवेचन है। इन अलङ्कारों में 100 अलङ्कार विशुद्ध अलङ्कार हैं, 7 रसवदादि अलङ्कार है, 10 प्रमाणालङ्कार है और 6 मिश्र अलङ्कार हैं।

अप्पय दीक्षित ने शब्दालङ्कारों की विवेचना नहीं की। उनके अनुसार शब्दचित्र काव्य (शब्दालङ्कार प्रधान काव्य) नीरस होता है इसलिये कविगण उसको विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखते। इनमें विशेष विचारणीय विषय भी नहीं है। अतः वे शब्दालङ्कारों को छोड़कर केवल अर्थालङ्कारों की ही विवेचना करते हैं।

अप्पय दीक्षित ने निम्न अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है –

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तुताङ्कुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असङ्गति, विषम सम विचित्र अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या विकल्प समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना मिथ्याध्यवसिति ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अनुज्ञा, अवज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित सामान्य उन्मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक उदात्त अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधिहेतु, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, संसृष्टि, अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, समप्रधान्यसङ्कर, सन्देहसङ्कर एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर, सङ्करसङ्कर।

अर्थालङ्कारों की विवेचना में अप्पय दीक्षित ने सामान्यतः 'चन्द्रालोक' के अलङ्कारो को ग्रहण करके उनकी विवेचना की थी परन्तु उन्होंने 17 नये अलङ्कारों की उद्भावना भी की यथा–

प्रस्तुताङ्कुर, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेष, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध और विधि।

जयदेव ने रसवद् आदि अलङ्कारों का संकेत मात्र किया था तथा प्रमाण अलङ्कारों की गणना नहीं की थी।

(11) **पण्डितराज जगन्नाथ** – पण्डितराज जगन्नाथ के अभिमत में अलङ्कारों की संख्या कितनी थी, इसका स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। **'रसगङ्गाधर'** में उन्होंनें उपमा से उत्तर अलङ्कार तक निरूपण किया है तथा इसके अनन्तर ग्रन्थ अकस्मात खण्डित हो गया है। प्रतीत होता है कि पण्डित कुछ और अलङ्कारों का निरूपण करना चाहते थे, परन्तु या तो किसी कारण वे ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सके, अथवा उत्तर अलङ्कार के पश्चात् का ग्रन्थ भाग नष्ट हो गया। पण्डितराज ने अलङ्कारों की विवेचना में चन्द्रालोक की अर्थालङ्कार की अनुक्रमणिका को आधार बनाया है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने भी 100 अलङ्कार माने होंगे। पण्डितराज ने उपमा अलंङ्कार से उत्तर अलङ्कार तक निम्न 70 अलङ्कारों की विवेचना की है –

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख अपह्नुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा

पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, सामान्य और उत्तर।

पण्डितराज ने प्राचीन अलङ्कारों का ही निरूपण किया, किसी नये अलङ्कार की उद्भावना नही की।

अलङ्कारों का मूल

अलंकारों के विषय में एक बात और ध्यातव्य है कि एक ही अलंकार के विभिन्न नाम हो सकते हैं जैसे स्वभावोक्ति और जाति, यथासंख्य; क्रम अथवा संख्यान। कई बार विभिन्न अलंकारों के लिए एक ही नाम प्रयुक्त होता है जैसा कि आक्षेप अलंकार के विषय में स्पष्ट है। **"वैचियमलंकारः"** – उक्ति की विचित्रता ही अलंकार है। अलंकारों का मूल, अलंकार क्या है? इस विषय में आचार्यो का मतभेद हैं।

भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना। यह वक्रोक्ति सब अलङ्कारों में रहती है। इसके बिना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता। अतः कवि को इसके लिए प्रयत्न करना चाहिये।

भामह ने एक अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल कहा है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।

अतिशयोक्ति से युक्त वचनों के लोकोत्तर होने के कारण अति रमणीय होते हैं तथा इनसे अलङ्कार निष्पन्न होता है। यहाँ भामह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में अभेद मानते प्रतीत होते हैं।

आचार्य दण्डी भी अतिशयोक्ति तथा स्वभावोक्ति को अलङ्कार का मूल मानते हैं। उनके अनुसार अलङ्कारों की निष्पन्नता अतिशयोक्ति के आधार पर होती है। अलङ्कारों में अलङ्कारत्व का आधार अतिशयोक्ति ही है।

ध्वनिवादी आचार्यो ने भी अलङ्कारों की निष्पन्नता में वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को मूल माना है। **आनन्दवर्धन** का कथन है कि जिस अलङ्कार में कवि की प्रतिभा के द्वारा अतिशयोक्ति रहती है, वहीं चारुत्व होता है। वह अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों के शरीर में रहती है। वह सर्वालङ् कार रूप है।

अभिनवगुप्त ने **'ध्वन्यालोक'** की **'लोचन टीका'** में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों में सामान्य माना है। उनका कथन है कि इस अतिशयोक्ति के द्वारा पुराना और सकलजनोपभुक्त अर्थ भी विचित्र रूप में प्रतीत होता है।

मम्मट ने सभी अलङ्कारों में अतिशयोक्ति को प्राणरूप माना था, क्योंकि उसके बिना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्राचीन आचार्य काव्य में शोभाकर धर्म को वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति के रूप में मान कर उसी को अलङ्कार का मूल प्रतिपादित करते हैं।

अप्पय दीक्षित ने उपमा को सब अलङ्कारों का एकमात्र मूल कारण माना। उनके अनुसार अकेली उपमारूपिणी नर्तकी ही विभिन्न अलङ्कारों की भूमिका को प्राप्त करके काव्यरूपी रङ्गमञ्च पर नृत्य करती हुई सहृदयों के मनों को आनन्दित करती है। **राजशेखर** ने उपमा को अलङ्कारों में शिरोमणि, काव्य सम्पत्ति का सर्वस्व तथा कविवंश की माता कहा। **रूद्रट** के मत में कुछ अलङ्कारों का मूल आधार वास्तविकता है, कुछ का सादृश्य है, कुछ का अतिशय है तथा कुछ का श्लेष है।

अलङ्कार-काव्य की आत्मा

भरत के पश्चात् भामह, दण्डी आदि आचार्यो ने काव्य में रस आदि के प्राधान्य की उपेक्षा करके अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व प्रतिपादित किया।

अलङ्कार सिद्धान्त के अनुसार काव्य के संघटक पदार्थ दो हैं – शब्द और अर्थ। इन दोनों पदार्थो का अग्राम्यतापूर्ण, वक्रोक्तिपूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण, निर्दोष और औचित्यपूर्ण साहित्य ही काव्य है। अलङ्कारों का प्रधान कार्य इस प्रकार है –

अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं और चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य या चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्व होता है। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है, तो वह काव्य नहीं है। भामह का मत है अलङ्कारों के

द्वारा सौन्दर्य का आधान होने पर ही शब्द तथा अर्थ के साहित्य को काव्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार वनिता का मुख सुन्दर होते हुये भी बिना भूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार सरस होते हुये भी अलङ्कार से विहीन काव्य रमणीय नहीं होता उदाहरण के रूप में कपित्थ का फल है, जो सरस होते हुये भी रमणीय नहीं हैं।

अलङ्कारवादियों पर ध्वनिवादियों ने अनेक आक्षेप किये हैं और उनको शब्द क्रीडा में भ्रमण करने वाला कहा। उनके विषय में कहा गया कि अलङ्कारवादी काव्य में भावात्मकता या सरसता का कोई मूल्य नहीं समझते। उनके लिए अलंकारों का चमत्कार होना ही पर्याप्त है और आवश्यक है।

ध्वनिवादियों का अलङ्कारावदियों पर इस प्रकार आक्षेप करना उचित नहीं है। भामह ने अलङ्कार के लिए वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अनिवार्य बताया। इसके द्वारा वे यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि काव्यत्व न केवल शब्द में रहता है और न केवल अर्थ में अपितु शब्द तथा अर्थ के औचित्यपूर्ण एवं दोषरहित साहित्य में ही काव्यत्व निहित रहता है। दण्डी ने सभी शोभाकर धर्मों को अलङ्कार ही संज्ञा दी। इससे उनका यह अभिप्राय नहीं था कि शब्द और अर्थ के अलङ्कर्त्ता अनुप्रास आदि और उपमा आदि ही अलङ्कार है, अपितु इन शोभाकर धर्मो के अन्तर्गत उन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों रस आदि का समावेश कर लिया। दण्डी ने भरत के द्वारा कहे गये सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्यङ्ग, लक्षण आदि को भी काव्य के शोभाकर धर्म होने से अलङ्कार मान लिया था।

दण्डी ने काव्य में सरसता को अनिवार्य तत्त्व बताया था। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया था कि अलङ्कार निश्चयपूर्वक रस के लिये होते हैं किन्तु उनमें अग्राम्यता विशेष रूप से रस के भार को वहन करती है। इसका अभिप्राय निश्चय से यही है कि सरस काव्य में भी रमणीयता उसी अवस्था में होती है जबकि उसमें अग्राम्यता, वक्रोक्ति; अतिशयोक्ति या औचित्य हो। भामह का "**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्म्**" कहने का भी यही अभिप्रायः था कि काव्य में रस का निवेश औचित्य से पूर्ण होना चाहिये। भामह ने दोषों के प्रकरण में जो विवेचन किया। उसका स्पष्ट अर्थ है कि काव्य में रस सामग्री होने पर भी सदोषता काव्य को अरमणीय बना देती है।

अलङ्कारवादी आचार्यो द्वारा ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ का उतना वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सका था, तथापि अलङ्कारवादी आचार्य ध्वनिवादियों के तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ–वस्तु, अलङ्कार और रस से परिचित थे। उन्होंने इन तीनों का ही समावेश अलङ्कारों के अन्तर्गत कर लिया था। उनके अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि ही अलङ्कार नहीं थे, अपितु ध्वनि गुण, रस, रीति, नाटय–वृत्ति आदि सभी धर्म काव्य के शोभाकर होने से अलङ्कार थे।

अलङ्कारवादियों ने अङ्गीभूत रस को रसवद् अलङ्कार, अङ्गीभूत भाव को प्रेय अलङ्कार, अङ्गीभूत रसाभास और भावाभास को ऊर्जस्वि अलङ्कार तथा अङ्गीभूत भावशान्ति को समाहित अलङ्कार माना। अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को उन्होंने अलङ्कार मानकर यही नाम दे दिया। अलङ्कारवादियों ने अङ्गभूत रस आदि का समावेश उदात्त अलङ्कार के अन्तर्गत कर लिया। अलङ्कारवादी आचार्य स्पष्ट रूप से काव्य में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हैं। भामह रसवद्दर्शित स्पष्ट शृंगारदिरसं यथा–दण्डी 'इह तवष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्' और 'मधुरं रसवद वाचिवस्तुन्यपि रसस्थिति उद्भट, 'रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसादयम् तथा रूद्रट 'तस्मात तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्' के द्वारा रस की महत्ता से तो परिचित है परन्तु उसको अलङ्कार का ही एक रूप मानते हैं।

अलङ्कारवादी आचार्यो ने ध्वनिवादियों की अलङ्कार ध्वनि को स्पष्ट रूप से अलङ्कार ही माना और वस्तु ध्वनि को भी अलङ्कारों में समावेश कर लिया। वे प्रतीयमान वस्तु रूप अर्थ से तो निश्चित रूप से परिचित थे, परन्तु इस अर्थ को न तो उन्होंने ध्वनि कहा और न इसको 'काव्य की आत्मा माना। इस अर्थ का समावेश उन्होंने अप्रस्तुतप्रंशसा, समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों के अन्दर कर लिया। समासोक्ति अलङ्कार के लक्षण में भामह ने स्पष्ट लिखा है कि यह अलङ्कार उस अवस्था में होता है, जब किसी वस्तु का वर्णन होने पर उसके समान विशेषण वाली अन्य वस्तु की प्रतीति होती है। 'इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार वहाँ है जहाँ वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न अन्य प्रकार से अर्थो को अभिहित किया जाता है। इस प्रकार अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अलङ्कारवादी आचार्यो द्वारा मान्य है।

काव्य में प्रतीयमान अर्थ को रुद्रट ने अनिवार्य रूप से स्वीकार किया। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये उन्होंने भाव नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना की। उन्होंने भाव अलङ्कार को दो प्रकार का कहा। प्रथम प्रकार के भाव अलङ्कार के उदाहरण को मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया तथा दूसरे प्रकार के भाव अलङ्कार के उदाहरण को अभिनवगुप्त ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य बताया।

अलङ्कारवादी प्राचीन आचार्यो द्वारा ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी वे प्रतीयमान अर्थ से भली--भाँति परिचित थे, इस तथ्य का प्रतिपादन पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रबल शब्दों में किया है। आचार्यो ने अलङ्कार को काव्य का बाह्य उत्कर्षक मानते हुये कनक--कुण्डल के समान प्रतिपादित किया। जिस प्रकार कनक--कुण्डल आदि बाह्य वस्तु हैं और शरीर को सुशोभित करते है उसी प्रकार की स्थिति अलङ्कारों की काव्य में है।

ध्वनिवादी आचार्यो की धारणा सम्भवतः यह थी कि काव्य में अलङ्कारों की योजना सायास होती है और उनकी रमणीयता शब्द और अर्थ पर निर्भर है। परन्तु रसपूर्ण काव्य की रचना में सायास शब्दों की योजना अनिवार्य नहीं है। रस का आस्वादन भी शब्द एवं अभिधेय अर्थ पर निर्भर नहीं होता। उनके अनुसार अलङ्कार अङ्गीभूत रस आदि के उत्कर्षक हो सकते हैं, परन्तु साक्षात् रूप से नहीं। इनके अनुसार काव्य में अलङ्कारों की स्थिति कनककुण्डल के सामान है।

भट्टलोल्लट का मत था कि काव्य में यमक आदि अलङ्कार रस के विरोधी होते हैं। इनका प्रयोग या तो कवि के अभिमान का सूचक है, या भेड़चाल के समान है।

इतना होने पर भी ध्वनिवादी आचार्य अलंकारों के प्रति उदासीन नहीं रह सके। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अलंकारों की विस्तृत विवेचना की। मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और पण्डित राज जगन्नाथ का 'रसगङ्गाधर' इसके साक्षी हैं।

"क्वापीत्यनेनतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।"

ध्वनिवादी आचार्य भी अलंकारों को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में निश्चित रूप से स्वीकार करते थे, यद्यपि उन्होंने अलंकार को काव्य की आत्मा नही माना। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि अलङ्कार काव्य की आत्मा नहीं है किन्तु महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व अवश्य हैं।

रीति सम्प्रदाय

सर्वप्रथम वामन का ध्यान काव्य की आत्मा की ओर गया और उन्होंने **रीतिरात्मा काव्यस्य** कहकर रीति को काव्य की आत्मा कहा, अतः रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय वामन को ही जाता है।

रीति का उद्भव और विकास

साहित्य में रीति पद का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आया है। रीति पद की रचना **"रीङ्. गतौ"** धातु से होती है, जिसका अर्थ है – **गमन या मार्ग**। इस प्रकार रीति शब्द साहित्य के विभिन्न मार्गो का संकेत करता है।

'ऋग्वेद' में रीति पद का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। यहाँ इसका अर्थ गमन या मार्ग है। यथा – **"महावरीतिः शवसा सरत् पृथक्"**, **"वातेवाजुर्या नद्येव रीतिः"**, **"तामस्यरीतिपरशोरिव"** स्थलों में रीति पद का प्रयोग गति, धारा और मार्ग के अर्थ में हुआ है। वैदिक साहित्य में अन्य स्थानों पर भी रीति पद का प्रयोग इन अर्थो में दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान समय में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित जो ग्रन्थ उपलब्ध होते है, उनमें वामन का **'काव्यालङ्कारसूत्र'** ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गई है। वामन से पहले भामह और दण्डी ने भी इस ओर संकेत किया परन्तु इन्होंने रीति का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया। उनसे पूर्व भरत ने इसके लिये प्रवृत्ति का प्रयोग किया था। राजशेखर ने सुवर्णनाभ को रीति का आचार्य माना है किन्तु उनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

काव्य में रीति या मार्ग के प्रयोग का आरम्भ पहले युग में भौगोलिक विशेषताओं के कारण प्रवर्तित हुआ था। प्राचीन आचार्यो का कथन है विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आचार्य अपने प्रदेश की शैली में काव्य की रचना करते थे। यथा गौड प्रदेश में रहने वाले लेखक समासबहुल गौडी शैली में और विदर्भ प्रदेश में रहने वाले लेखक समासरहित वैदर्भी शैली में काव्य की रचना किया करते थे। इस कारण ये शैलियां या मार्ग इन प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हो गये कुन्तक ने रीतियों के देशविशेष पर आधारित होने को नहीं माना है परन्तु उत्तरवर्ती युग में ये शैलियाँ किसी विशेष देश से सम्बन्धित न रह कर कवि की निजी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हो गई।

भामह ने मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। भामह के समय में दो मार्ग प्रतिष्ठित थे – वैदर्भ और गौडीय। इनमें गुण सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। **रूद्रदामन के एक शिलालेख में (150 ई0 सन्) माधुर्य, कान्ति, उदारता आदि कतिपय गुणों का उल्लेख आया है।** कौटिल्य ने भी कतिपय गुणों का उल्लेख किया है। उसने राजकीय आदेश में – अर्थक्रम, संबन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टता ये छः गुण आवश्यक माने हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार इन गुणों की संख्या दस है और माधुर्य, उदार अथवा उदात्त गुण भी इन्हीं में आते हैं। भरत के इन काव्यगत दस गुणों पर ही उत्तरवर्ती आचार्यो ने रीति के विशाल प्रासाद की रचना की। भरत ने प्रवृत्ति शब्द का

प्रयोग किया है जो विभिन्न प्रदेशों या भूभागों से सम्बन्धित थी। बाण के अनुसार विभिन्न प्रदेशों के कवियों में विभिन्न काव्यगुण होते हैं, **'श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येस्वर्थमात्रकम्। उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षराडम्बर।।'** बाण ने दाक्षिणात्य और गौड इन दो महत्त्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है। वैदर्भ मार्ग अधिक प्रशंसित था, तो भी गौडीय मार्ग की अपनी विशेषतायें थीं। भामह के समय में ही इन मार्गों का देशविशेष से सम्बन्ध नहीं रहा था और वामन ने इस बात का समर्थन किया।

दण्डी ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है। दण्डी के अनुसार सूक्ष्म भेद के कारण काव्यरचना के मार्ग अनन्त है **'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्'** परन्तु मुख्य मार्ग दो हैं जिनमें परस्पर स्पष्ट अंतर है। दण्डी ने गौडीय मार्ग या पद्धति का उल्लेख पारस्य रूप में किया और दाक्षिणात्य शब्द का प्रयोग वैदर्भ मार्ग के लिए किया।

दण्डी ने काव्य की रचना के इन मार्गों का सम्बन्ध गुणों के साथ स्थापित किया। भरत निरूपित 10 काव्य गुणों का दण्डी ने इन मार्गों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। दण्डी के अनुसार ये 10 गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में इनका विपर्यय देखा जाता है।

रीति तत्त्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन वामन ने किया और **विशिष्टापदरचना रीतिः**, विशिष्ट पद रचना को रीति कहा और **'विशेषो गुणात्मा** कहकर रीति और गुणों का नित्य सम्बन्ध स्थापित करके रस आदि का भी इनमें समावेश कर लिया। वामन ने 10 शब्दगुण और 10 अर्थगुण (भावगुण) कह कर संख्या 20 कर दी।

वामन से पूर्व काव्य की रचना के दो मार्ग कहे गये थे – वैदर्भ और गौडीय। परन्तु वामन ने एक तीसरे मार्ग पाञ्चाल का भी प्रतिपादन किया। इस प्रकार रीतियों की संख्या तीन हो गई – वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। इन रीतियों में भिन्नता गुणों के भेद तथा उनकी संख्या के अल्प या अधिक होने से होती है।

रीति के इतिहास में रुद्रट का प्रमुख स्थान है। उन्होंने रीति को भौगालिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया। इन्होंने वामन की तीन रीतियों में एक अन्य रीति लाटी को भी जोड़ा। रुद्रट ने एक कार्य और भी किया कि रसों का भी रीतियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और रसौचित्य के अनुसार रीतियों के संयोजन की व्यवस्था दी।

रुद्रट ने रीतियों का विभाजन समास के आधार पर किया। उनके अनुसार समास से रहित रचना वैदर्भी रीति, तीन पदों के समास वाली रचना पाञ्चाली रीति, पाँच या सात पदों के समास वाली रचना लाटी रीति और समासबहुल रचना गौडी रीति है।

रुद्रट ने यह भी प्रतिपादित किया था कि मधुर और सुकुमार रसों – शृङ्गार, प्रेय, करुण, भयानक और अद्भुतरसों का विनिवेशन वैदर्भी और पाञ्चाली रीति में किया जाता है। कठोर और ओजप्रधान रसों – रौद्र आदि का विनिवेशन लाटी एवं गौडी रीति में किया जाना चाहिये।

रीतियों का भौगोलिक विवेचन राजशेखर ने अलङ्कारिक रूप से किया तथा उनके साथ प्रवृत्तियों और वृत्तियों का सम्बन्ध भी स्थापित किया। राजशेखर का कथन है कि भारत की चारों दिशाओं में काव्यपुरुष ने भ्रमण किया। जिस दिशा में उसने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया, उसका अनुकरण करने पर वहाँ उस प्रकार की रीति प्रचलित हुई। इस प्रकार पूर्व में गौडी, पाञ्चाल में पाञ्चाली, अवन्ती में भी पाञ्चाली और दक्षिण में वैदर्भी रीति प्रचलित हुई। साहित्यवधू के अनुकरण में पूर्व देशों मे भारती वृत्ति एवं औड्रमागधी प्रवृत्ति प्रचलित हुई। पाञ्चाल देश में सात्त्वती और आरभटी वृत्ति तथा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्ति ने जन्म लिया अवन्ती में सात्त्वती, कैशिकी वृत्ति तथा आवन्ती प्रवृत्ति का प्रचलन हुआ। विदर्भ देश में कैशिकी वृत्ति तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति प्रचलित हुई। इन रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया है –

देश	रीति	वृत्ति	प्रवृत्ति
गौड	गौडी	भारती	औड्रमागधी
पाञ्चाल	पाञ्चाली	सात्त्वती, आरभटी	पाञ्चालमध्यमा
अवन्ती	पाञ्चाली	सात्त्वती, कैशिकी	आवन्ती
विदर्भ	वैदर्भी	कैशिकी	दाक्षिणात्या

राजशेखर ने रीतियों का आधार वचनविन्यासक्रम को बताया। साहित्यविद्यावधू द्वारा समासयुक्त, अनुप्रासयुक्त तथा यागवृत्तिपरमारब्ध वचन का उच्चारण करने पर गौडी रीति, अल्पसमासयुक्त, अल्प अनुप्रासयुक्त तथा उपचारगर्भवचन का उच्चारण होने पर पाञ्चाली रीति, एवं समासरहित, स्थानानुप्रास युक्त तथा योगवृत्तिगर्भ वचन का उच्चारण करने पर वैदर्भी रीति बनी। इससे सिद्ध है कि

राजशेखर गौडी रीति में दीर्घ समास, पाञ्चाली में अल्पसमास और वैदर्भी रीति में समासरहित पदविन्यास मानते थे। **'काव्यमीमांसा'** में राजशेखर ने यद्यपि तीन ही रीतियों की चर्चा की है, तथापि **'कर्पूरमञ्जरी'** में उन्होंने मागधी रीति का भी प्रतिपादन किया है। इन सभी रीतियों में उन्होंने वैदर्भी रीति के प्रति अधिक आदर प्रकट किया है। राजशेखर काव्य में रीतियों को रस का परिस्रावक अनिवार्य तत्त्व मानते थे।

रीतियों के विवेचन में भोज का भी अपना विशिष्ट स्थान है। भोज ने **शृङ्गारप्रकाश** में पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी एवं लाटी इन चार रीतियों की विवचेना की थी। परन्तु **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** में इन्होंने दो अन्य रीतियों – आवन्तिका और मागधी की भी कल्पना की। इस प्रकार उन्होंने 6 रीतियों को प्रतिपादित किया। **'अग्निपुराण'** में चार रीतियों का वर्णन है। भोज ने गुण और समास दोनों की रीतियों को आधार माना था।

रीति के इतिहास में कुन्तक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया। उन्होंने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया। कुन्तक के अनुसार इन मार्गो का भौगोलिक महत्त्व नहीं है, अपितु ये कवि के आन्तरिक गुणों एवं स्वभाव की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। कवि के स्वभाव अनन्त होने से मार्ग भी अनन्त हो सकते है परन्तु इनको तीन मार्गो में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुन्तक ने कालिदास आदि को सुकुमार मार्ग का, मातृगुप्त आदि को मध्यम मार्ग का और बाणभट्ट, भवभूति आदि को विचित्र मार्ग का साधक बताया है।

कुन्तक ने इन मार्गो के विशिष्ट तथा साधारण धर्मो का प्रतिपादन भी किया है। सुकुमार मार्ग के चार विशिष्ट गुण हैं – माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य, विचित्र मार्ग के भी ये ही चारों विशिष्ट गुण हैं, परन्तु इस मार्ग में ये गुण पहले की अपेक्षा अतिशययुक्त हो जाते हैं और प्रयत्नसाध्य बाह्य शोभा के उत्पादक होते है। मध्यम मार्ग में भी ये चारों गुण होते है, जिनमें अन्य मार्गो की विशिष्टता होती है। औचित्य और सौभाग्य सामान्य गुण होते हैं।

शारदातनय ने वचनविन्यासक्रम को रीति का आधार माना। उन्होंने प्राचीन चार रीतियों – वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी का वर्णन करके दो अन्य रीतियों सौराष्ट्री और द्राविडी का प्रतिपादन किया। वे देश–विदेश के साथ रीतियों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

'अलङ्कारसंग्रह' में अमृतानन्द योगी ने चार प्रकार की रीतियों का प्रतिपादन कर उनको स्पष्ट रूप में काव्य की आत्मा माना। रीतियों के स्वरूप का निर्धारण करने में उन्होंने गुण, समास एवं वर्ण इन सबका उपयोग किया है।

रीतियों पर ध्वनिवादी आचार्यो ने भी विचार किया। उन्होंने पदसंघटना की विशेषता को रीति तो कहा, परन्तु इसको काव्य का बाह्य तत्त्व ही माना। आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार पदों की संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है।

मम्मट ने रीति का पृथक् विवचेन नहीं किया है। वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत ही उपनागरिका, परुषा और कोमला को लिया है जिन्हें कुछ वैदर्भी आदि रीति कहते हैं।

पण्डित राज जगन्नाथ ने मम्मट के ही समान उपनागरिका आदि वृत्तियों एवं वैदर्भी आदि रीतियों में अभेद माना था। परन्तु उन्होंने अन्य रीतियों की विवेचना न करके केवल वैदर्भी का ही वर्णन किया है और उसकी रचना में कवि की सावधान रहने के लिये कहा है।

विश्वनाथ ने रीतियों का विशेष वर्णन किया है। विश्वनाथ के मत में अङ्गों की रचना के समान पदों की संघटना रीति है तथा वह रीति रस की उपकर्त्री है। वे चार रीतियां मानते हैं – वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। विश्वनाथ ने रीतियों के प्रतिपादन में वर्णो के विन्यास और समास को मुख्य हेतु के रूप में प्रतिपादित किया था।

इस प्रकार रीति और मार्ग अभिन्न रहें है। वामन के पश्चात् रीति तत्त्व पर विचार तो बहुत हुआ, परन्तु उसको काव्य की आत्मा कहने का साहस अमृतानन्द योगी के अतिरिक्त और किसी को नहीं हुआ। वामन ने रीति का आधार गुणों को बताया परन्तु उत्तरवर्त्ती आचार्यो ने वर्णो के विन्यास और समास को भी उसका आधार प्रतिपादित किया। रीतियों को पहले भौगोलिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया परन्तु उत्तरवर्त्ती आचार्यो ने कवि स्वभाव को ही उसका मुख्य आधार माना।

रीति और गुणों का सम्बन्ध

वामन से पूर्ववर्ती भामह और दण्डी ने काव्य में अलङ्कारों को सबसे अधिक महत्त्व दिया, परन्तु वामन ने अनुभव किया कि काव्य में अलङ्कारों से भी सूक्ष्म अन्य कोई तत्त्व है, जिसके बिना काव्य की रचना सफल नहीं हो सकती और वह तत्त्व रीति है। यह रीति

ही काव्य की आत्मा है। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित अवश्य है तथा उसका सौन्दर्य काव्य मे चमत्कार उत्पन्न करता है। परन्तु जब तक पदों की संघटना या संनिवेश में औचित्य नहीं होगा काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकेगा। वामन के अनुसार पदों की यह संघटना ही रीति है तथा संघटना गुणविशिष्ट होनी चाहिये।

रीतियों का सम्पादन गुणों द्वारा होता है। वामन ने 20 गुणों का निर्वचन किया। वामन से पूर्व भरत ने 10 काव्यगुण प्रतिपादित किये। यद्यपि भामह ने तीन गुणों – माधुर्य, ओज और प्रसाद का कथन किया था, तथापि दण्डी ने भरतोक्त 10 गुणों का कथन करके उनकी परिभाषा दी और दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा वामन ने भरत के इन 10 गुणों को तो स्वीकार कर लिया, परन्तु प्रत्येक गुण को दो विभागों में करके उनके संख्या 20 कर दी (10 शब्दगुण और 10 अर्थगुण)। परन्तु वामन के गुणों के लक्षण भरत और दण्डी से कुछ भिन्न हैं। जैसे कि भरत ने ओज की परिभाषा दी है –

समासवद्भिर्विविधैविचित्रैश्च पदैर्युतम्।

सा तु स्वरैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।। नाट्यशास्त्र 16.19।।

दण्डी की ओज की परिभाषा है –

'ओजः समासभूयस्त्वम्।।'

वामन ने ओज की परिभाषा है।

शब्दगुण – **गाढबन्धत्वमोजः।।** काव्यालङ्कारसूत्र 3.1.5।।

अर्थगुण – **अर्थस्य प्रौढिरोजः।।** काव्यलङ्कारसूत्र 3.2.21।।

शब्दगुण – ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, माधुर्य सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति।

अर्थगुण – ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति।

वामन ने गुणों का सम्बन्ध साक्षात् रूप से रीतियों से स्थापित किया।

वैदभी रीति में समस्त गुण समाविष्ट होते हैं, गौडी रीति में विशेषतः ओज और कान्ति गुण आते हैं तथा पाञ्चाली रीति में विशेष रूप से माधुर्य और सुकुमारता का समावेश होता है। वामन से पूर्व रीति या मार्ग का सम्बन्ध भौगोलिक रूप से प्रतिपादित किया गया। वामन ने इसको स्वीकार तो किया, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने रीतियों को देशविशेष से ही न बाँधकर काव्य के व्यवहार के रूप में भी प्रतिपादित किया।

वामन के इस रीति के लक्षण को प्रायः सभी उत्तरवर्ती आचार्यो ने स्वीकार किया तथा गुणों के साथ रीतियों का साक्षात् सम्बन्ध माना परन्तु रुद्रट ने समास का सम्बन्ध भी रीतियों के साथ स्थापित किया। ध्वनिवादी आचार्यो ने वर्ण–विन्यास को भी रीतियों के साथ संयुक्त कर दिया और उन्होंने गुणों को रस का धर्म माना, रीति का नहीं तथा वामन के दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणो का इन गुणों – माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही अन्तर्भाव कर दिया। कुछ गुण केवल दोषाभाव रूप है कुछ दोष हो जाते हैं, अतः गुण तीन ही हैं दस नहीं।

रीति के नियामक तत्त्व

रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वामन ने रीति के नियामक तत्त्वों की व्याख्या नहीं की। परन्तु ध्वनि के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने पदसंघटना रूप रीति के लिये चार नियामक तत्त्वों की व्यवस्था की। उनके अनुसार रसौचित्य वक्त्रोचित्य, वाच्यौचित्य और विषयौचित्य द्वारा पदसंघटना का नियमन किया जाना चाहिये।

रीति और शैली

शैली शब्द अंग्रेजी भाषा के स्टाइल पद का हिन्दी अनुवाद है। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी शैली शब्द का प्रयोग हुआ था, किन्तु भिन्न अर्थ में। इसका प्रयोग व्याख्यान पद्धति आदि के प्रसङ्ग में हुआ। साहित्यिक अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में यह प्रयोग प्राचीन काल में नहीं किया गया। आधुनिक युग में समालोचना के लिए शैली को रीति का समानार्थक कह दिया जाता है, परन्तु शैली और रीति में कुछ भेद है। ये दोनों एक नहीं है। अभिव्यक्ति की पद्धति या गुण को शैली कहते हैं। शैली में वस्तुतत्त्व और व्यक्तितत्त्व ये दो मूल तत्त्व होते हैं। शैली का वस्तु–तत्त्व जो कि शब्दों के विन्यास आदि से सम्बन्धित है, रीति, हो सकता है। परन्तु व्यक्तितत्त्व रीति से भिन्न है। पाश्चात्त्य आलोचकों ने शैली (स्टाइल) के व्यक्तितत्त्व को प्रधानता दी है। परन्तु भारतीय रीति वस्तु (विषय

प्रधान होने से व्यक्तित्त्व को पूर्णतः प्रकट नहीं करती। अतः शैली को पूर्णतया रीति से अभिन्न नहीं माना जा सकता, अपितु रीति को शैली के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

रीतियों की परस्पर श्रेष्ठता

वामन ने गौडी, वैदर्भी और पाञ्चाली इन तीन रीतियों को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया। इन तीनों रीतियों में भी उसने वैदर्भी रीति को अधिक सहृदयाह्लादक कहा। इसका हेतु यह दिया कि वैदर्भी रीति गुणों के स्फुटत्व एवं समग्रगुणयुक्त होने से सबसे श्रेष्ठ है। वैदर्भी रीति में एक ऐसा सहृदयाह्लादक अलौकिक पाक उदित होता है, जिसको पाकर शब्दसौन्दर्य चमकने लगता है।

वामन से पूर्व तथा वामन के पश्चात् भी प्रायः सभी आलोचकों ने वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता सम्पादित की।

वामन से पहले दण्डी ने वैदर्भ तथा गौड, इन दोनों मार्गों में वैदर्भ मार्ग को उत्तम तथा गौड मार्ग को निकृष्ट बताया। इसका हेतु उन्होंने यह दिया, क्योंकि वैदर्भ मार्ग में दसों गुण विद्यमान रहते हैं।

वामन के पश्चात् भी अधिकांश समालोचकों और कवियों ने वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। राजशेखर ने वैदर्भी रीति को सबसे श्रेष्ठ बताया क्योंकि विदर्भ देश के वत्सगुल्म नगर में कामदेव का क्रीडावास है एवं सरस्वती के पुत्र काव्यपुरुष ने यहाँ काव्यवधू से विवाह किया। यह वैदर्भी वाणी श्रोत्रलेह्य मधुरिम मधु को प्रवाहित करती है।

कालिदास को काव्य रचना के लिये इतना महान् यश इसी कारण प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होंने वैदर्भी रीति में काव्य की रचना की। दण्डी ने कालिदास के वैदर्भ मार्ग की निम्न शब्दों में प्रशंसा की थी –

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विष्टया गिरः।

तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्।।

परिमलगुप्त ने वैदर्भ मार्ग को खड्ग की धारा के समान बताया जो कि प्राचीन कवियों – कालिदास, भर्तृमेण्ठ आदि द्वारा प्रदर्शित किया गया।

धनपाल ने **'तिलकमञ्जरी'** में वैदर्भी रीति के प्रति अधिक पक्षपात अभिव्यक्त किया है। बिल्हण ने भी वैदर्भी रीति की प्रचुर प्रशंसा की। यह रीति कानों में अमृत बरसाती है, सरस्वती के विलासों की जन्मभूमि है और किन्हीं भाग्यशाली कवियों को प्राप्त होती है।

श्रीहर्ष ने वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की। उनकी नायिका दमयन्ती वैदर्भी ही थी। वह वैदर्भी धन्य थी, जिसने अपने उदार गुणों से नैषध (काव्य तथा काव्य का नायक नल) को आकृष्ट कर लिया।

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यथा समाकृष्यत नैषधोऽपि।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। (नैषधीय 3.116)

वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुये नीलकण्ठ दीक्षित ने यहाँ तक कहा है कि यह आस्वाद्य पदार्थों में प्रथम है, इस पर आरोहण करना कवियों के कौशल की पराकाष्ठा है, यह सरस्वती का निःश्वास है, इसमें शृङ्गार आदि नवों रस अत्यन्त स्वादिष्ट लगते हैं। पाञ्चाली रीति तो कवियों की निरी परम्परा है। यदि कवि की वाणी में वैदर्भी है, तो स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द भी कुछ नहीं है।

केवल कुन्तक ही ने रीतियों में उत्तम मध्यम या अधम भाव को स्वीकार नहीं किया। संस्कृत के केवल समालोचकों ने ही नहीं अपितु कवियों ने भी वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की पर कुन्तक का अभिमत ही उचित है।

रीति काव्य की आत्मा

अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य के मूल रूप का अधिक उत्तम रूप से विश्लेषण किया। इन आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से संयुक्त करके कहा कि कवि अपने स्वभाव के अनुसार विषय के अनुकूल पदों की योजना जिस प्रकार से करता है, वही रीति है। काव्य के तत्त्व की समीक्षा को अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता से करने में ये आचार्य अलङ्कारवादी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुये।

यद्यपि वामन के पश्चात् एवं ध्वनि युग के आरम्भ में रीति को काव्य की आत्मा के रूप में महत्त्व प्राप्त नहीं रह गया, तथापि वामन के टीकाकार **तिप्पभूपाल** एवं **'अलङ्कारसंग्रह'** के रचयिता **अमृतानन्द योगी** ने रीति को पुनः वही महत्त्व दिलाने का प्रयत्न किया।

दण्डी ने काव्य की शोभा के आधायक सभी तत्त्वों को अलङ्कार कहा था। इस प्रकार उनके मत में गुण भी अलङ्कारों के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु वामन ने गुणों और अलङ्कारों के पार्थक्य को स्पष्ट किया। उन्होंने काव्य की शोभा को करने वाले तत्त्वों को

गुण तथा उस शोभा के अतिशय को आपादित करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार नाम दिया। इस प्रकार गुण और अलङ्कार के भेद को प्रदर्शित कर वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व दिया। गुण काव्य में नियत रूप से रहते हैं और उनके बिना काव्य में शोभा उत्पन्न नहीं हो सकती। जिस प्रकार यौवन से रहित अङ्गना के शरीर में अलङ्कारों द्वारा शोभा नहीं आ सकती उसी प्रकार गुणों से रहित काव्य भी केवल अलङ्कारों की योजना से रुचिकर एवं आकर्षक नहीं बन सकता। इस प्रकार वामन ने गुणों को काव्य का अन्तरंग साधन प्रतिपादित किया और वे ध्वनिवादी आचार्यों के अधिक समीप पहुँच सके। ध्वनिवादी भी गुण को काव्य का नित्य धर्म तथा रस और गुण का नित्य सम्बन्ध मानते हैं।

वामन की पदरचनारूप रीति की विशिष्टता पदगत तथा पदार्थगत सौन्दर्य से अनुप्राणित है और शब्दगत एवं अर्थगत गुण इसके आधार तत्त्व हैं। ये गुण वस्तुतः काव्य की शैलियाँ ही हैं, जिनके आधार पर कवि काव्य की रचना करता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने जिस ध्वनि को काव्य की मूल आत्मा प्रतिपादित किया। वामन ने अपने काव्य में रस के महत्त्व को तो स्वीकार किया, परन्तु उन्होंने इसका समावेश कान्ति नाम अर्थगुण में किया। कान्ति का लक्षण है – **दीप्तरसत्वं**। शृङ्गार आदि रस जहाँ उद्दीप्त होते है, वहाँ कान्ति नामक गुण होता है। रसों का अन्तर्भाव गुणों में ही करके वामन ने भामह और दण्डी के समान रसवद् आदि अलङ्कारों का विधान नहीं किया। इस प्रकार रस का गुण में अन्तर्निवेश करके वामन ने काव्य में रस की महत्ता स्वीकार की।

वामन के अनन्तर न तो अलङ्कारवादी आचार्यों ने और न ही ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा माना। उन्होंने रीति की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुये भी उसको काव्य के बहिरंग साधन के रूप में सिद्ध किया।

ध्वनितत्त्व की स्थापना हो जाने पर काव्य में रीति को वह महत्त्व तथा स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त नहीं हो रहा, जिसका प्रतिपादन वामन ने किया। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना और रीति ही काव्य के अन्य तत्त्वों की नियामक थी। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य का बहिरंग तत्त्व प्रतिपादित करके रस को उसका मुख्य नियामक माना। रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से नियमित करके आनन्दवर्धन ने रीति को परतन्त्र बना दिया।

रीति का यह पारतन्त्र्य सर्वथा समुचित था। काव्यों में सबसे अधिक महत्त्व रस और ध्वनि का है। उनके रहने पर ही सहृदय काव्य में आह्लाद का अनुभव करता है। काव्य की रचना उसी के निमित्त से की जाती है। पदसंघटनारूप रीति, जो कि उक्तिविशेषमात्र है, रस आदि के उत्कर्ष का कारण हो सकती है, स्वयं में काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। आनन्दवर्धन ने काव्य में रीति के महत्त्व को तो स्वीकार किया, परन्तु केवल साधन के रूप में ही, साध्य के रूप में नहीं। रीति काव्य के आत्मा रूप ध्वनि के उत्कर्षण का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं है। इसलिये आनन्दवर्धन ने कहा कि रीतिवादियों ने अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्य तत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर रीतियों का प्रवर्तन किया था।

परन्तु रीतियों को काव्य का बहिरंग मानते हुये भी विश्वनाथ ने उनके महत्त्व का अनुभव किया। परन्तु विश्वनाथ ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया, अपितु इसको रसों के उपकारक के रूप में प्रतिपादित किया। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इसके एक पग और आगे बढ़कर कहते हैं कि वर्णरचनारूप रीतियाँ माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यञ्जक कहीं जा सकती हैं न कि वे रसों की अभिव्यञ्जक हैं।

इस प्रकार काव्य में रीति का महत्त्व तो निश्चित रूप से है, परन्तु यह साधन के रूप में है, साध्य के रूप में नहीं। कवि का कार्यत्व तो उसमें निहित सहृदयहृदयाह्लादकत्व में होता है, जो कि रसादि ध्वनि में है। पदों की संघटनारूप रीतियाँ इन रसादि तत्त्वों के उन्मीलन करती है, उनका उपकार करती हैं। साधनरूप इन रीतियों को काव्य का सर्वस्व, आत्मरूप मान लेना उचित नहीं है। इनका महत्त्व काव्य के अङ्गी रूप में न होकर अङ्ग रूप में ही है।

रीति को काव्य का बहिरंग साधन मान कर भी काव्य की समालोचना में वामन के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। अलङ्कारवादियों की अपेक्षा वामन काव्य के आत्मत्व के अधिक निकट पहुँच गये। प्रथम बार उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि काव्य का आत्म तत्त्व क्या है? वामन ने रीतियों का भव्य प्रासाद गुणों के आधार पर निर्मित किया। काव्य की शोभा के आधायक गुण रस के अनिवार्य धर्म हैं, जो कि रस की स्थिति में स्थिर रूप में रहते हैं एवं उपस्थित रस का नियत रूप से उपकार करते हैं। बिना गुणों के काव्य में काव्यत्व नहीं रह सकता। अतः रीति को काव्य की आत्मा न मानने पर भी उसका महत्त्व असन्दिग्ध है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर आचार्य कुन्तक ने काव्य की समालोचना के मार्ग में एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया। प्राचीन आचार्यों के मार्ग से कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हुये उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व प्रतिपादित किया।

आचार्य कुन्तक का कथन था कि साहित्य की रचना के दो प्रकार के मार्ग होते है। (1) शास्त्र आदि की रचना का मार्ग है, जिसमें लेखक प्रसिद्ध शब्दों को सामान्य व्यवहार के अर्थो में प्रयुक्त करता है। (2) काव्य की रचना का मार्ग है। इसमें कवि सामान्य व्यवहार में प्रचलित शब्द – अर्थ प्रयोग से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करता है। शास्त्र एवं लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द – अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन ही काव्य में विचित्रता उत्पन्न करके सौन्दर्य का आधान करता है। यह विचित्रता वक्रोक्ति कहलाती है **'विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते'**। यह वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है, क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता।

वक्रोक्ति का उद्भव एवं विकास

काव्य साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह दो पदों "वक्र + उक्ति" से बना है। इसका अभिप्राय है कि सामान्य लोकव्यवहार की अपेक्षा शब्द के अर्थ को कुछ टेढ़े रूप मे, भिन्न रूप में कहना। प्राचीन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग वाक्छल, परिहासकथन वचन, विदग्धता, क्रीडालाप आदि अर्थो में किया। कालिदास, बाणभट्ट, अमरुक आदि के काव्यों में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इन अर्थो में दृष्टिगोचर होता है।

वक्रोक्ति शब्द का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सबसे पहले भामह ने किया। भामह का कथन था कि काव्य का सौन्दर्य–आधायक तत्त्व अलङ्कार है और किसी भी अलङ्कार का अस्तित्व वक्रोक्ति के बिना नही हो सकता।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।

वक्रोक्ति से रहित वाक्य में काव्यत्व नहीं होता, यह वार्तामात्र होता है। हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह ने इसीलिए अलङ्कार नहीं माना, क्योंकि इसमें वक्रोक्ति नहीं है। सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्य रूप में मानी –

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः'

भामह के विवेचन से वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं तथा अतिशयोक्ति का उन्होने लक्षण दिया है – **"लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्"**। अर्थात् सामान्य लोक के कथन का अतिक्रमण करने वाला वचन अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति है। इस प्रकार भामह की दृष्टि में काव्य में वक्रोक्ति का आधिपत्य रहता है।

दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल माना, परन्तु उनका वक्रोक्ति का प्रतिपादन भामह से कुछ भिन्न है। दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया – स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति। पदार्थो के अनेक अवस्था वाले रूप को स्वाभाविक रूप से कथन करने को दण्डी ने स्वभावोक्ति या जाति अलङ्कार माना तथा उसको प्रथम अलङ्कार कहा। वक्रोक्ति का प्रयोग स्वभावोक्ति के विपरीतार्थ में किया। वक्रोक्ति को उन्होंने किसी अलङ्कार–विशेष का नाम नहीं दिया, अपितु उपमा आदि सभी अलङ्कारों का वक्रोक्ति के रूप में प्रतिपादन किया। इस वक्रोक्ति की शोभा श्लेष से बढ़ती है। वक्रोक्ति श्लेष पर आधारित भाषण की चमत्कारपूर्ण पद्धति है। **'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'**। दण्डी ने भी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल कहा।

भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को अलंकारसामान्य के रूप में अति व्यापक रूप में लिया। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यो ने वक्रोक्ति के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर दिया। इन्होंने वक्रोक्ति को एक अलंकारविशेष ही माना। वामन के अनुसार वक्रोक्ति अर्थालंकार है। 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।' वामन का वक्रोक्ति का यह लक्षण प्राचीन परम्परा से भिन्न है तथा दण्डी के समाधि नामक गुण के अन्तर्भूत होता है।

वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार प्रतिपादित किया था, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यो ने इसकी गणना शब्दालंकारों के अन्तर्गत की। रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालंकार है, जो वाक्छल पर आश्रित है। श्लेष और काकु के अनुसार इसके दो भेद होते है। 'अग्निपुराण' में भी वक्रोक्ति को काकु तथा भंगश्लेष के भेद से दो प्रकार का माना गया हैं।

ध्वनिवादी आचार्यो में आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक मानते हुये इनको काव्यसौन्दर्य का अभिव्यञ्जक माना। उनके अनुसार सभी अलंकार अतिशयोक्तिगर्भित होते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित यह अतिशयोक्ति काव्य में अनिर्वचनीय शोभा का पोषण करती हैं। इस कथन के अनन्तर आनन्दवर्धन ने भामह के **"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः"** पद्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। अभिनवगुप्त ने भी लोचन टीका में आनन्दवर्द्धन के दृष्टिकोण का समर्थन किया और वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों में सामान्य बताया – **'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानं इत्ययमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तरभावः। लोकोत्तरेण**

चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्।' (ध्वन्यालोकलोचन टीका, पृ0 208)

मम्मट में यद्यपि वक्रोक्ति को शब्दालंकार मान कर उसके श्लेष तथा काकु विशेषता से दो भेद किये तथापि विशेष नामक अलंकार के विवेचन में वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का प्राण प्रतिपादित किया तथा उसके पश्चात् भामह के **"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः"** पद्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया।

अन्य आलंकारिकों की तुलना में भोज ने वक्रोक्ति को और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होंने साहित्य को दो भागों में विभक्त किया वचन और काव्य। शास्त्र तथा लोक में जो अवक्र–वचन हैं, वह वचन है। अर्थवाद आदि में जो वक्रता है वह काव्य है। भोज के अनुसर अतिशय वक्रता से युक्त काव्य वचन में भी अतिशय होता है, उसी को ध्वनि कहते हैं। अलंकारों में वक्रोक्तिमूलता का अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि सभी अलंकार वक्रोक्ति शब्दवाच्य होते हैं।

वक्रोक्ति के व्यापक रूप को प्रतिपादित करते हुये भी भोज ने भामह और दण्डी की तुलना में इसको कम व्यापक बताया है। भामह ने स्वभावोक्ति एवं रसवदादि अलंकारों सहित सभी अलंकारों का समावेश अतिशयोक्ति में कर दिया। दण्डी ने यद्यपि वक्रोक्ति से स्वभावोक्ति का मार्ग अलग कर दिया, तथापि रसवदादि अलंकार इसमें सम्मिलित रहे थे। परन्तु भोज ने रसादि का भी वक्रोक्ति से पृथक् करके काव्य वाङ्मय को तीन वर्गों मे विभक्त किया– स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति। इस प्रकार भोज की वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और रसोक्ति से भिन्न सभी अलंकारों का ग्रहण हो जाता है।

कुन्तक और भोज लगभग समकालीन थे, परन्तु काव्य का समीक्षण इन दोनों ने स्वतन्त्र रूप से ही किया। भोज ने अपनी रचनाओं में वक्रोक्ति की व्याख्या बहुत विस्तार से की तथा इसको काव्य में प्रचुर महत्त्व दिया। परन्तु इनकी रचनाओं में अन्य विषयों का प्रतिपादन इतना अधिक था कि उनमें वक्रोक्ति का विचार कुछ दब सा गया।

कुन्तक ने वक्रोक्ति पर विशद रूप से विचार किया और वक्रोक्ति का प्रतिपादन करने के लिये **'वक्रोक्तिजीवित'** ग्रन्थ की रचना की। इनके ग्रन्थ का मुख्य विषय ही वक्रोक्ति है, अतः वक्रोक्ति के निरूपण के सम्बन्ध में कुन्तक को ही सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। वक्रोक्ति की विशद समीक्षा करके कुन्तक ने इसको काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित किया।

कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य में वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया और इसका काव्यशास्त्र में समावेश एक शब्दालंकार के रूप में होने लगा। विशेष अलङ्कार का विवेचन करते हुये यद्यपि मम्मट ने अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को सभी अलङ्कारों का प्राण कहा तथापि इसका वर्णन एक शब्दालङ्कार के रूप में ही किया। मम्मट के पश्चात् प्रायः सभी आचार्य हेमचन्द, जयदेव विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के रूप में ही माना। रुय्यक, अमृतानन्द योगी आदि ने वक्रोक्ति की गणना अर्थालङ्कारों में की।

वक्रोक्ति को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना के क्षेत्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। उन्होंने काव्य के सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर दिया परन्तु कुन्तक का यह अभिमत इनके पश्चात् अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। काव्यशास्त्र के इतिहास में केवल उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी।

वक्रोक्ति का स्वरूप

कुन्तक का काव्य का लक्षण है– **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।**
बन्धे व्यवस्थिते काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

वक्रोक्तिजीवित – 1.7

काव्य को मर्म को जानने वाले सहृदयों को आह्लादित करने वाले वक्र कवि–व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

कुन्तक के मत में शब्द और अर्थ के साहित्य से काव्य का शरीर निष्पन्न होता है। परन्तु इस शब्द और अर्थ में दो विशेषताएं होनी चाहियें– (1) कवि की उक्ति प्रसिद्ध वचनव्यापार से भिन्न वक्रता से युक्त होती है और (2) वह उक्ति सहृदयों का आह्लादित करने में समर्थ होती है। इस प्रकार कुन्तक ने काव्य को अनिवार्य रूप से वक्रोक्ति से युक्त माना।

कुन्तक का वक्रोक्ति का लक्षण है – **वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।**

वक्रोक्तिजीवित 1.1

और इसकी व्याख्या कुन्तक ने निम्न शब्दों में की –

वक्रोक्ति : प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशो वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः? वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छितिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है। प्रसिद्ध कथन से विलक्षण प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति है। यह कथन वैदग्ध्य की भङ्गिमा से युक्त होता है। वैदग्ध्य का अभिप्राय है – विदग्ध का भाव, निपुण कवि के काव्य–रचना रूप कर्म का कौशल उसकी भङ्गी अर्थात् विच्छित्ति – चमत्कार। उसके द्वारा कथन वक्रोक्ति है। यह विचित्र अभिधा या उक्ति ही वक्रोक्ति है। विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति की तीन प्रकार से व्याख्या कुन्तक ने तीन स्थानों पर की है –

(1) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द–अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग।

(2) लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्द – अर्थ का प्रयोग।

(3) लोक में प्रसिद्ध शब्द – अर्थ के व्यवहार के मार्ग को अतिक्रान्त करने वाला शब्द–अर्थ का प्रयोग

वर्णन की शैली दो प्रकार की होती है। एक तो लोक, शास्त्र आदि में सामान्य अर्थ में होती है और दूसरी उससे भिन्न लोकोत्तर चमत्कारी होती है। लोकोत्तर चमत्कारी वर्णन शैली ही विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति जिस वर्णन में होती है, वही काव्य होता है।

कुन्तक की वक्रोक्ति की इस परिभाषा का उत्तरवर्ती आचार्यो ने समर्थन किया। '**व्यक्तिविवेक**' के रचयिता महिमभट्ट का कथन है कि शास्त्र आदि के प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके चमत्कार की सिद्धि के लिए उसी अर्थ को जब दूसरे प्रकार से कहा जाता है, उसी को वक्रोक्ति कहते हैं। ध्वनिवादी आचार्यो ने भी काव्य को लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म बताया है।

'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म'

वक्रोक्ति में दो विशेषतायें अनिवार्य रूप से निहित रहती हैं –

(1) प्रसिद्ध कथन की शैली से भिन्न लोकोत्तर शब्द–अर्थ का प्रयोग

(2) सहृदयाह्लादकारित्व।

वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद

कुन्तक के वक्रोक्ति के भेदों और प्रभेदों का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप से विवेचन किया। कुन्तक ने वक्रता के मुख्य 6 प्रकार बताये

(1) वर्णविन्यासवक्रता	**(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता**	**(3) प्रत्ययवक्रता**
(4) वाक्यवक्रता	**(5) प्रकरणवक्रता**	**(6) प्रबन्धवक्रता**

(1) वर्णविन्यासवक्रता – वर्णविन्यासवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने व्यञ्जन वर्णो के सौन्दर्य के प्रकारों का विवेचन किया है। रचना में एक, दो या दो से अधिक व्यञ्जक वर्णो का स्वल्प अन्तर से पुनः उपनिबन्धन वर्णविन्यासवक्रता है। अनुप्रास एवं यमक अलङ्कारों का, तीनों वृत्तियों का और रीतियों का अन्तर्भाव इसी वक्रता में हो जाता है।

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता – शब्द की रचना धातु या प्रातिपादिक रूपपद एवं प्रत्यय के संयोग से होती है। पहले को पद पूर्वार्द्ध या प्रकृति कहते है और दूसरे को परार्द्ध या प्रत्यय कहते हैं। प्रकृति या पूर्वार्द्ध का विन्यास–वैचित्र्य पदपूर्वार्द्धवक्रता या प्रकृतिवक्रता है। इसके कुन्तक ने 9 भेद किये हैं –

(क) रूढिवैचित्र्यवक्रता (ख) पर्यायवक्रता (ग) उपचारवक्रता (घ) विशेषण वक्रता (ङ) संवृत्तिवक्रता (च) वृत्तिवक्रता (छ) भाववैचित्र्यवक्रता (ज) वैचित्र्य वक्रता और (झ) क्रियावैचित्र्यवक्रता।

इनमें रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने ध्वनिवादियों की अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि का और उपचारवक्रता के अन्तर्गत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का समावेश कर लिया है।

(3) प्रत्ययवक्रता – इसको पदपरार्द्धवक्रता भी कहते हैं। पद के उत्तरार्द्ध में स्थित सुप्, तिङ् आदि प्रत्ययों के विन्यास सौन्दर्य का इसमें अन्तर्भाव होता है इसके प्रमुख भेद 6 हैं–

(क) कालवैचित्र्यवक्रता (ख) कारकवक्रता (ग) वचनवक्रता (च) पुरुषवक्रता (ङ.) उपग्रहवक्रता और (च) प्रत्ययवक्रता।

(4) वाक्यवक्रता – पदसमूह या वाक्यविन्यास के सौन्दर्य का नाम वाक्य वक्रता है। इसको वस्तुवक्रता भी कहा गया है। कुन्तक

ने इसके दो रूप कहे हैं – **सहज और आहार्य**। अपने से पूर्ववर्ती सभी आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट उपमा आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव इस वक्रता में करने का कुन्तक ने प्रयत्न किया है। इसी के अन्तर्गत रसवद् आदि अलङ्कार आ जाते हैं।

(5) **प्रकरणवक्रता** – प्रबन्ध के एक देश को प्रकरण कहा जाता है। प्रकरणों के परस्पर सहयोग से प्रबन्ध की उत्कृष्टता होती है। प्रकरण के लोकोत्तर विन्यास से प्रकरणवक्रता का सम्पादन होता है। प्रकरण में यह वक्रता 9 प्रकारों से लाई जा सकती है।

(क) **पात्रों के चरित्र के वैशिष्ट्य से।**

(ख) **नवीन प्रसङ्ग का उत्पादन करके।**

(ग) **प्रकरण को प्रधान कार्य प्रबन्ध के प्रति उपकारक के रूप में रखने से।**

(घ) **भावपूर्ण स्थल का विस्तार करने से।**

(ङ.) **रोचक ग्राह्य वर्णनों - प्रकृति-चित्रण आदि के विस्तार से।**

(च) **प्रधान रस के उत्कर्षक प्रकरण की कल्पना से।**

(छ) **प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिये नूतन प्रसङ्गों की अवतारणा करने से।**

(ज) **गर्भाङ्क के विधान से।**

(झ) **प्रकरणों में पूर्वापर के अन्विति क्रम में मुख आदि सन्धियों का विधान करने से।**

(6) **प्रबन्धवक्रता** – सम्पूर्ण प्रबन्ध की दृष्टि से विन्यास सौन्दर्य को प्रबन्धवक्रता कहा जाता है। इसके 6 भद बताए हैं

(क) **मूलरसपरिवर्तनवक्रता** (ख) **समापनवक्रता**

(ग) **कथाविच्छेदवक्रता** (घ) **आनुषङ्गिकफलवक्रता**

(ङ.) **नामकरणवक्रता और** (च) **तुल्यकथावक्रता**

साथ ही कुन्तक का यह भी कहना है कि वक्रताओं के अन्य भी प्रकार हो सकते हैं। जिस प्रकार प्रतिभा के अनन्त प्रकार हैं उसी प्रकार वक्रताओं के भी अनन्त प्रकार हैं।

स्वभावोक्ति में लोकोत्तरता तथा सहृदयहृदयाह्लादकता निहित होने से अधिकांश आचार्यों ने इसको अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया, परन्तु कुन्तक इसको अलङ्कार न मानकर अलङ्कार्य ही मानते हैं।

कुन्तक यद्यपि चमत्कारवादी आचार्य है और विचित्र अभिधारूप वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानते हैं, तथापि उन्होने काव्य में रस को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। काव्य के प्रयोजन, लक्षण, गुण आदि में उन्होंने रस का प्रतिपादन किया था।

काव्य के विभिन्न अङ्गों के प्रतिपादन तथा वक्रताओं के स्वरूप के निरूपण में कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया। प्रबन्धवक्रता के प्रकरण में उनका कथन है कि कवि की वाणी निरन्तर रसों को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों पर अवलम्बित रहती है न कि कथामात्र पर।

काव्य की वस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया। वर्ण्यमान वस्तु दो प्रकार की होती है – स्वभावप्रधान और रसप्रधान। इनमें रसप्रधान वस्तु उत्कृष्ट है।

अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में रस की उपस्थिति को रसवद् अलङ्कार मान कर इसको गौण स्थान दिया। परन्तु कुन्तक ने ध्वनिवादी आचार्यों के समान रस को अलङ्कार्य माना।

काव्य में रस को सबसे अधिक महत्त्व देकर भी और इसको परमतत्त्व मान कर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित क्यों माना, रस को क्यों नहीं। यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर यही हो सकता हैं कि काव्य में रस की निष्पत्ति वक्रता के बिना नहीं रह सकती, अपितु रस के बिना काव्य में वक्रता रह सकती है। अतः रस के वक्रोक्ति के आधीन होने के कारण कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित कहा।

वक्रोक्ति और अलङ्कार

सामान्य रूप से वक्रोक्ति और अलङ्कार एक ही प्रतीत होते है तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलङ्कार सिद्धान्त का ही रूपान्तर समझा जा सकता है। वक्रोक्ति का लक्षण करते हुये कुन्तक ने शब्द–अर्थ को अलङ्कार्य मानकर वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रूप वक्रोक्ति को उनके अलङ्कार रूप माना।

अधिकांश अलंकारशास्त्रियों ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही माना है किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति का क्षेत्र अलङ्कार से कहीं अधिक व्यापक है। वक्रता के अनेक रूप यदि अलङ्कार रूप हैं, तो अनेक रूप अलङ्कार के विषय नहीं है, वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस को परम तत्त्व मानकर रसवत् को अलङ्कार कहा गया है, जबकि अलङ्कार सिद्धान्तों में रसवत् एक सामान्य अलङ्कार ही है। अलङ्कार सिद्धान्त में स्वभावोक्ति एक सामान्य अलङ्कार है जबकि वक्रोक्ति में यह एक उत्कृष्ट अलङ्कार्य रूप है। अलङ्कार का चमत्कार काव्य के बाह्य सौन्दर्य को प्रतिभासित करता है, परन्तु वक्रोक्ति काव्य के सूक्ष्म तत्वों का उन्मीलन करती है। इस प्रकार वक्रोक्ति का सिद्धान्त अलङ्कार के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यापक और पूर्ण है।

वक्रोक्ति और रीति-गुण

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना। परन्तु कुन्तक के मत में रीति भी वक्रता का ही एक भेद है। रीति के लिए कुन्तक ने मार्ग पद का प्रयोग किया। उन्होंने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग और पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया। कुन्तक से पूर्व रीति का आधार प्रायः भौगोलिक समझा जाता था, परन्तु कुन्तक ने इस आधार को नितान्त अवैज्ञानिक कह कर तीनों मार्गो का आधार कवि–स्वभाव को प्रतिपादित किया। कवि स्वभावों के अनन्त होने पर भी उन्होंने इनको तीन वर्गो में विभाजित किया। कुन्तक ने गुण दो प्रकार के बताए – **सामान्य और विशेष।**

सामान्य गुण दो है – (1) औचित्य और सौभाग्य।

विशेष गुण चार हैं – (1) माधुर्य, (2) प्रसाद (3) लावण्य और (4) आभिजात्य।

सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से रहता है जबकि विशेष गुण प्रत्येक मार्ग में भिन्न–2 होते हैं।

वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति का क्षेत्र केवल पदों की संघटना तक है, जो कि वक्रोक्ति के वर्णवक्रता, प्रकृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता तथा वाक्यवक्रता तक पूरा हो जाता है। वक्रोक्ति में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता रसनिष्पत्ति का संकेत करते हैं।

वक्रोक्ति और औचित्य

आचार्य कुन्तक ने काव्य में औचित्य को भी बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया था। काव्य के लक्षण से लेकर प्रबन्धवक्रता तक उन्होंने औचित्य को वक्रता का प्राण माना है। उनकी वक्रता कहीं–2 तो औचित्य रूप ही हो गई है। कुन्तक का मत है कि जिस प्रकार काव्य के प्रत्येक अङ्ग में – पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलङ्कार, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन आदि में वक्रता निहित रहती है, उसी प्रकार औचित्य को भी विद्यमान रहना चाहिए।

औचित्य को इतना अधिक महत्त्व देने पर भी कुन्तक वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित मानते हैं

वक्रोक्ति और ध्वनि

वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्तक, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से निश्चित रूप से परिचित थे।

कुन्तक की वक्रोक्ति और ध्वनिकार की ध्वनि में एक ओर जहाँ कुछ समानता परिलक्षित होती है, वहाँ विषमता भी प्रचुर है। दोनों में ही लोक में प्रसिद्ध शब्द अर्थ का अतिक्रमण होता है, वैचित्र्य अभिप्रेत है तथा वैचित्र्य के प्रतिपादन के लिए कवि की अलौकिक प्रतिभा अनिवार्य हेतु मानी गई है। परन्तु कुन्तक वक्रोक्ति को अभिधा व्यापार मानते हैं, जो कि विचित्र अभिधा रूप वृत्ति से वाच्य ही होती है।

कुन्तक के वाचक शब्द ने व्यञ्जक शब्द को और व्यङ्ग्य अर्थ को भी अपने अन्तर्गत कर लिया। कुन्तक का कथन है कि द्योत्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थो के प्रत्यय होने से उपचार से वे भी वाच्य हैं तथा द्योतक और व्यञ्जक शब्द भी वाचक हैं। इस प्रकार कुन्तक ध्वनिकार के व्यङ्ग्य–व्यञ्जक का समावेश वाच्य वाचक के अन्तर्गत कर लेते हैं।

कुन्तक ने ध्वनि के अनेक विशिष्ट भेदों को वक्रोक्ति के विशिष्ट प्रकारों के अन्तर्गत समेट लिया। पदपूर्वार्द्धवक्रता के रूढ़िवैचित्यवक्रता के अन्तर्गत लक्षणा मूल अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि, पर्यायवक्रता में पर्यायध्वनि, उपचारवक्रता के अन्दर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि, वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि, वाच्यवक्रता में अलङ्कार ध्वनि का और प्रबन्धवक्रता में प्रबन्धध्वनि का समावेश किया है।

कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया। उनके कथनानुसार काव्य के विचित्र मार्ग में वाच्य–वाचक वृत्ति से अतिरिक्त वाक्यार्थ की प्रतीयमानता भी विद्यमान रहती है। अलङ्कारों में भी कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया।

कुन्तक के अनुसार अलङ्कारों के दो रूप है – वाच्य तथा प्रतीयमान। प्रतीयमान अलङ्कार वाच्य न होकर व्यङ्ग्य द्वारा प्रस्तुत होते है। रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, उपमा आदि अलङ्कार वाच्य होने के साथ साथ प्रतीयमान भी होते हैं।

ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों में इतना साम्य होने पर भी कुन्तक को ध्वनि – विरोधी आचार्यो में गिना जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि ध्वनिकार ने जिस ध्वनि तत्त्व को व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपादित करके प्रतीयमान माना, कुन्तक ने उसका विवेचन अभिधा वृत्ति से अभिधीयमान प्रतिपादित किया।

वक्रोक्ति काव्य की आत्मा

वक्रोक्ति के सिद्धान्त की स्थापना करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना का एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया। कुन्तक के समय तक भारतीय समालोचना शास्त्र के प्रवाह में रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्पद्राय का क्रमशः प्रतिपादन हो चुका था। आनन्दवर्धन ने अपने पूर्व तक के सभी सिद्धान्तों का सम्यक्तया अध्ययन करके ध्वनि के साम्राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने ध्वनि पर होने वाले सभी आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के तर्को तथा प्रमाणों का और उनसे भी पूर्ववर्ती आचार्यो के सिद्धान्तों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके प्राचीन साहित्य से वक्रोक्ति को खोज निकाला और इसको काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया।

कुन्तक ने सबसे पहले अलङ्कारवादियों के मत का खण्डन किया कि शब्द और अर्थ में अलङ्कार के योग से काव्यत्व नहीं होता अपितु अलङ्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। रसवत् अलङ्कार को अलङ्कार न मानकर कुन्तक ने अलङ्कारवादियों पर दूसरा प्रहार किया। कुन्तक के अनुसार 'सभी अलङ्कारों का समावेश वक्रोक्ति में हो जाता है।

कुन्तक ने रस सिद्धान्त पर भी आक्षेप किया और रस को काव्य की आत्मा नहीं माना। यद्यपि उन्होंने काव्य में रस की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया और रस को अलङ्कार्य कहा तथापि रस को वक्रोक्ति द्वारा सम्पादित माना और रस को वक्रोक्ति के अधीन कर दिया।

कुन्तक का सबसे महान् प्रयास यह था कि उन्होंने ध्वनि का समावेश भी वक्रोक्ति के अन्दर करने का साहस किया। वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों में ध्वनि के विभिन्न भेदों का समावेश हो जाता है, यह कुन्तक की मान्यता थी। अतः जबकि ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है, तो वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानना उन्होंने अधिक उपयुक्त समझा।

उनकी दृष्टि में वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रूप वक्रोक्ति इन तीनों – रस, ध्वनि, औचित्य को आत्मसात् कर लेती है एवं काव्य में इनका प्रतिपादन वकोक्ति के द्वारा ही हो सकता है। रस, ध्वनि और औचित्य ये तीनों वक्रोक्ति के आवश्यक अङ्ग तो है, परन्तु अनिवार्य नहीं हैं। ये वक्रोक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि अवश्य करते हैं, परन्तु इनके बिना भी काव्य में काव्यत्व रह सकता है। परन्तु वक्रोक्ति से रहित काव्य में काव्यत्व न होकर वह केवल वार्त्ता मात्र होता है। इसीलिये कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

वक्रोक्ति का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने के उपरान्त भी कुन्तक का यह सिद्धान्त अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। कुन्तक के द्वारा ही इसका जन्म हुआ और कुन्तक के साथ ही वह समाप्त हो गया। कुन्तक के पश्चात् प्रसिद्ध ध्वनिवादी समालोचकों ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार विशेष के रूप में प्रतिपादित करके इसकी महनीयता, व्यापकता समाप्त कर दी।

ध्वनिवादी आचार्यो द्वारा वक्रोक्ति सिद्धान्त को अमान्य कर देने पर भी काव्य की समालोचना के इतिहास में कुन्तक का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कुन्तक ने काव्य के शरीर और आत्मा को अलग–अलग न मान कर उनको वक्रता के अन्तर्गत समेट लिया तथा वर्ण से प्रबन्ध तक की रचना वक्रता के अन्दर समाविष्ट हो गई। कुन्तक के विवेचन में विलक्षण वैज्ञानिकता है जिससे कि वे महान् समालोचकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। कुन्तक यद्यपि अभिधावादी आचार्य हैं, तथापि उनकी यह अभिधा सामान्य कोटि की नहीं है। यह अभिधा विचित्र रूप होकर लक्षणा और व्यञ्जना को भी अपने अन्दर समेटे हुये है। अतः कुन्तक को केवल देहवादी आचार्य मान लेना समुचित नहीं है। कुन्तक के इस महत्त्व को न समझ कर ही उत्तरवती आचार्य उनके प्रतिपादन का मूल्याङ्कन नहीं कर सके। 'वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने वक्रोक्ति तत्त्व का जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, वह वस्तुतः महनीय है, स्तुत्य है और विचारणीय है।

औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य सिद्धान्त का प्रवर्तन

औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र को माना जाता है। वस्तुतः आचार्यो ने इस तथ्य की ओर सदा दृष्टि रखी है कि विभिन्न तत्त्वों का विनियोजन औचित्य से युक्त होने पर काव्य में सौन्दर्य का आधायक होता है। जिस प्रकार लोक में औचित्य से युक्त व्यवहार

एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है तथा व्यवहार के अनौचित्य से वही व्यक्ति अनादर तथा हास्यास्पदता का भागी होता है, उसी प्रकार काव्य में रस, अलङ्कार, गुण, रीति आदि तत्त्व उसी अवस्था में चमत्कार या रमणीयता के उत्पादक होते हैं, जब कि उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है।

औचित्य का विकास

यद्यपि औचित्य तत्त्व की प्रतिष्ठा काव्य की आत्मा के रूप में क्षेमेन्द ने ही की, तथापि काव्य के इस तत्त्व के महत्त्व और अनिवार्यता से प्राचीन आचार्य परिचित थे।

काव्य में औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी आचार्यो ने किया। भरत का मन्तव्य था कि नाटक के अभिनय में लोक से सिद्ध धर्मो का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि प्रकृतियों के शील अनेक प्रकार के होते हैं और वे नाट्य में प्रतिष्ठित होते हैं, अतः नाट्य में उनका प्रयोग लोक प्रामाण्य से करना ही उचित है।

नानाशीलाः प्रकृतयः शीलं नाट्ये प्रतिष्ठितम्।

तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।।

'नाटयशास्त्र' में यद्यपि औचित्य पद का व्यवहार नहीं किया गया है, तथापि नाटक के अभिनय के लिये जो निर्देश भरतमुनि ने दिये हैं उनमें औचित्य का क्रियात्मक महत्त्व दृढ़ता से प्रतिपादित किया गया है। भरत के अनुसार नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनके देश और आयु के अनुरूप होनी चाहिये। जो वेश देश के अनुरूप नहीं है, वह शोभा का आधायक नहीं हो सकता, जैसे कि वक्ष और मणिबन्ध पर मेखला को पहनना उपहास का कारण होता है। अभिनय में वेशभूषा आयु के अनुसार होनी चाहिये, गति एवं क्रियायें वेश के अनुसार होनी चाहियें, संवाद आदि गति प्रचार के अनुरूप होने चाहियें और अभिनय को संवाद आदि के अनुरूप होना चाहियें।

भामह का मानना था कि काव्य में औचित्य सबसे बड़ा गुण है। सबसे बड़ा दोष उन्होंने अनौचित्य को माना। दोषों का विचार करते हुए वे लिखते है कि दुष्ट उक्ति भी सन्निवेश की विशेषता से उसी प्रकार शोभाजनक हो जाती है जिस प्रकार मालाओं के मध्य में गूँथा गया नीला पलाश शोभाजनक होता है। गुण और दोष के विधान में औचित्य और अनौचित्य की कारणता को दण्डी ने भी प्रतिपादित किया। उनका कथन है कि समुदायार्थ शून्य वाक्य में तो अपार्थ दोष होता है, परन्तु उन्मत्तों, मत्तों और बालकों के आलाप में यह दोष नहीं रहता। परस्पर विरुद्ध अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य में व्यर्थदोष होता है, परन्तु किसी वस्तु के अत्यधिक आसक्ति के प्रसङ्ग में यह गुण हो जाता है। देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम से विरूद्ध कथन को काव्य में दण्डी ने विरोध दोष बताया है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में कविकौशल के कारण यह विरोध भी गुण बन जाता है।

भामह और दण्डी के कथन का तात्पर्य यही हैं कि गुण स्वयं में गुण नहीं हैं और दोष भी स्वयं में दोष नहीं हैं। परन्तु औचित्य का विधान होने पर गुणों को गुण समझना चाहिये तथा अनौचित्य के होने पर ही दोषों में दोषत्व होता है।

अलङ्कारवादी आचार्य काव्य की रचना में औचित्य को विशेष महत्त्व देते है। अनुप्रास अलङ्कार के प्रयोग का आधार उन्होंने औचित्य को ही स्वीकार किया है। यमक अलङ्कार के प्रयोग में भी उन्होंने औचित्य को महत्त्व दिया। यमक अलङ्कार का प्रयोग वही कवि कर सकता है, जो औचित्य का पारखी होता है।

रुद्रट ने दोषों की विवेचना करते हुये यह बताया कि ये अनौचित्य के कारण ही होते हैं। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान और पात्रों के व्यवहार, आकार, देश और वचनों में अनौचित्य का होना ही ग्राम्यत्व दोष है। परन्तु विशिष्ट अवस्थाओं में इस ग्राम्यत्व दोष का अपहार हो जाता है और यह गुणों की कोटि में आ जाता है।

आनन्दवर्धन ने काव्य में औचित्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया। अलङ्कार, गुण, रीति, रस आदि सभी तत्त्वों के नियोजन में औचित्य की अनिवार्यता को उन्होंने प्रतिपादित किया। क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के विवेचन से ही औचित्य सिद्धान्त की प्रेरणा ग्रहण की और अपने **'औचित्यविचारचर्चा'** ग्रन्थ में इस सिद्धान्त को पल्लवित किया था।

काव्य में अलङ्कारों का निवेश रस के औचित्य की दृष्टि से ही होना चाहिये। काव्य में रस ही प्रधान अलङ्कार्य है तथा रस आदि के तात्पर्य से विनियोजित अलङ्कार ही अलङ्कारत्व को सिद्ध करते हैं।

आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों के साथ ही गुण, रीति, वृत्ति, संघटना, प्रबन्ध और रस के औचित्य का भी प्रतिपादन किया। आनन्दवर्धन की दृष्टि में गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से है। गुण रस के धर्म हैं। ऐसी अवस्था में वर्णो तथा शब्दों का विनियोजन इस प्रकार करना चाहिये, जिससे कि प्रकृत गुण तथा रस के साथ उनका सामञ्जस्य हो सके।

वृत्ति के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का कथन है कि रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो औचित्यपूर्ण व्यवहार है, वह [illegible] प्रकार की वृत्ति है। ये वृत्तियाँ या रीतियाँ यदि अनुचित रूप से नियोजित होती हैं तो रसभंग का कारण होती हैं। रीतियों का नियमन रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से होता है।

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध के लिये भी औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। प्रबन्ध में कथानक दो प्रकार का होता है - [illegible] उत्प्रेक्षित। दोनों में ही औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है।

काव्य में रस ध्वनि के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण आनन्दवर्धन ने रस के औचित्य की विशेष रूप से व्यञ्जना की। अलंकार, गुण, रीति, संघटना और प्रबन्ध इन सभी का नियोजन रस के औचित्य की दृष्टि से किया जाता है। वही रचना शोभा से युक्त होती है, जिसमें कि रस के निबन्धन के योग्य औचित्य होता है। रस के अनुकूल शब्द और अर्थ का विनियोजन ही महाकवि का मुख्य कर्म होता है।

आनन्दवर्धन ने एक ओर जहाँ अलङ्कार, गुण, रीति आदि के विनियोजन को रस के औचित्य की दृष्टि से करने का विधान किया वहीं रस के विनियोजन के लिए भी उन्होंने औचित्य का विधान किया। उन्होंने कहा कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है तथा प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण करना ही रस का परम रहस्य है।

"अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।

आनन्दवर्धन के पश्चात् अभिनवगुप्त ने भी काव्य में औचित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। उनका मत था कि अलङ्कार रस को उचित रूप से सुशोभित करने वाले अलङ्कारों का ही काव्य में औचित्य होता है। रस–ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध तथा औचित्य रस–ध्वनि का प्राणभूत है।

भोज ने अपने दोनों ही ग्रन्थों **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** और **'शृङ्गारप्रकाश'** में औचित्य की आवश्यकता प्रतिपादित की। औचित्य सिद्धान्त का यद्यपि स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन नहीं किया, तथापि गौण रूप से उसकी अनिवार्यता बताई। गुण, दोष और अलङ्कार के प्रसङ्ग में इसके निर्धारण के लिए अनेक स्थानों पर औचित्य को आधार माना गया है। काव्य एवं नाटक में वक्ता के अनुरूप पदों का व्यवहार न करना ही 'अपद' दोष होता है। रस का अनौचित्य ही 'विरस' दोष है। देश विरोध, कालविरोध, लोकविरोध, अनुमानविरोध आदि अनेक 'विरुद्ध' नामक दोष के भेद हैं तथा ये अनौचित्य पर आधारित हैं।

भोज का कथन है कि विषय, वक्ता, काल और देश के औचित्य के अधार पर कवि को भाषा का प्रयोग करना चाहिये।

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त होने के कारण ही क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व को काव्य की आत्मा या जीवित कहा। औचित्य को काव्य का जीवित कहने का रहस्य यही है कि रस में रसत्व, अलङ्कार में अलङ्कारत्व, गुण में गुणत्व और रीति में रीतित्व तभी होते है, जबकि इनका संविधान औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में ये तत्त्व विरसता ही उत्पन्न करेंगे तथा रस काव्य में काव्यत्व नहीं होगा।

औचित्य काव्य के प्रत्येक अङ्ग में व्याप्त रहता है, इस विषय में किसी आचार्य ने अपना विमत प्रकट नहीं किया है। औचित्य की व्यापकता का प्रदर्शन महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी शास्त्री ने ग्राफ द्वारा किया जो निम्न है –

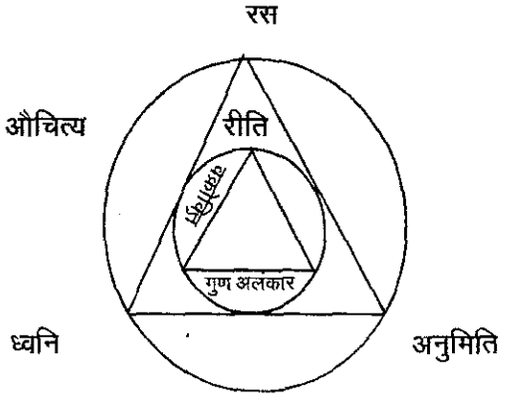

काव्य में किस स्थान पर गद्य का प्रयोग हो, कहाँ पद्य का प्रयोग हो और कहाँ मिश्र प्रयोग हो इसका विधान भी औचित्य के आधार पर किया। दोषों के परिहार का प्रतिपादन भी औचित्य के आधार पर किया। प्रबन्ध काव्य में रस, अलङ्कार आदि का विनियोग भी औचित्य के आधार पर होना चाहिये।

कुन्तक ने **'वक्रोक्तिजीवित'** में वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिपादित करते हुये भी औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की। कुन्तक ने सभी रचनाओं में दो गुणों – औचित्य तथा सौभाग्य की उपस्थिति अनिवार्य मानी। औचित्य गुण का लक्षण इस प्रकार किया –

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येनपोष्यते। प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम्।।

यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते।।

वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन, यथानुरूप कथन ही औचित्य नामक गुण है। इससे स्वभाव के महत्त्व का पोषण किया जाता है। वक्ता या श्रोता के अत्यन्त रमणीय स्वभाव द्वारा वाच्य वस्तु को सर्वथा आच्छादित कर दिया जाना भी औचित्य है।

विविध प्रकार के वक्रताओं का आधार औचित्य को माना है। वर्णवक्रता में वृत्त्यौचित्य, रीत्यौचित्य, अलंकारौचित्य आदि की आवश्यकता तथा प्रत्ययवक्रता, लिङ्गवक्रता आदि में भी औचित्य की आवश्यकता मानी है।

विविध वक्रताओं का प्रतिपादन करते हुये कुन्तक ने कहा कि रस, वस्तु आदि में अनौचित्य का त्याग करके औचित्य का सम्पादन करना चाहिये। अनेक स्थलों पर औचित्य और वक्रता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। काव्य में शब्द और अर्थ की विशिष्टता को कुन्तक ने **'शब्दपारमर्थ्य'** तथा **'अर्थपारमर्थ्य'** नाम दिया। वही **पदौचित्य** और **अर्थौचित्य** है। इसी में प्रकृति–औचित्य का भी समावेश हो जाता है।

विभिन्न काव्य सिद्धान्तों की चर्चा करते हुये महिमभट्ट ने औचित्य को काव्य के लिए अनिवार्य बताया। उनका मत है कि काव्य के स्वरूप का निरूपण यथार्थ से सिद्ध होने से औचित्य का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है।

महिमभट्ट ने रस के अनौचित्य को काव्य का सर्वातिशायी दोष माना। यह दोष काव्य में दो प्रकार से होता है – अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। शब्द विषयक दोष बहिरङ्ग है और अर्थविषयक दोष अन्तरङ्ग होता है।

'दशरूपक' में धनञ्जय ने औचित्य की आवश्यकता का संकेत किया है। उनका कथन है कि नाटक में नायक या रस के प्रति जो विरुद्ध हो, अनुचित हो, उसका या तो परित्याग कर देना चाहिये या उसकी अन्य प्रकार से कल्पना करनी चाहिये।

उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य में औचित्य को बहुत महत्त्व दिया था। उनके मत में काव्य के उत्कर्ष के आधान के लिए रस, गुण आदि के विनियोजन में औचित्य का ध्यान रखना परम आवश्यक है। काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश रस के औचित्य की दृष्टि से किया जाता है। रस–दोषों का विवेचन करते हुये मम्मट का कथन है कि ये दोष तभी होते है, जबकि रस के संविधान में अनौचित्य होता है। परन्तु इन ध्वनिवादी आचार्यो ने काव्य में औचित्य को अनिवार्य मानकर भी इसका प्रतिपादन रस के अङ्गरूप में ही किया। औचित्य की प्रतिष्ठा क्षेमेन्द्र ने भगवान् विष्णु के माध्यम से ही। विष्णु ही परम औचित्य के प्रतिष्ठापक हैं। काव्यगत औचित्य का विचार करने के लिए ही क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रन्थ की रचना कर औचित्य सिद्धान्त को पल्लवित किया।

औचित्य का लक्षण

औचित्य का लक्षण क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार किया – 'जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते है उचित का जो भाव है, वह औचित्य कहलाता है

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

यह औचित्य काव्य में ही नहीं लोक में भी सब स्थानों पर व्याप्त है।

क्षेमेन्द्र का मन्तव्य है कि औचित्य ही काव्य का प्राणरूप है। जिस काव्य में उसका जीवितभूत औचित्य नहीं है, उसमें अलङ्कारों तथा गुणों का विनियोजन सर्वथा व्यर्थ है।

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः। यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

अलङ्कार तो अलङ्कार ही हैं और वे बाह्य उपकरण हैं। गुण यद्यपि अन्तरङ्ग तत्त्व हैं, तथापि वे गुण ही हैं और प्राणों के प्रतिष्ठाता नहीं है। परन्तु रसों से निविष्ट काव्य का स्थिर जीवित तत्त्व तो औचित्य ही है। अलङ्कारों का अलङ्कारत्व तभी होता है, जबकि उनका विन्यास उचित स्थान पर होता है। गुणों का गुणत्व भी तभी होता है, जबकि वे औचित्य की सीमा से बाहर नहीं आते।

अलङ्.कारास्त्वलङ्.कारा गुणा एव गुणाः सदा। औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

उचितस्थानविन्यासादलङ्.कृतिरलङ्.कृति। औचित्यदच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।।

औचित्य के भेद

काव्य के प्रत्येक अङ्.ग में औचित्य निहित रहता है। इस दृष्टि से औचित्य के भेद अनन्त होते हैं और उनकी गणना नहीं की जा सकती पर कुछ प्रमुख भेदों – 27 भेदों का विवेचन क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में किया है –

(1) पद, (2) वाक्य, (3) प्रबन्ध, (4) गुण (5) अलङ्.कार, (5) रस, (7) क्रिया (8) कारक (9) लिङ्.ग (10) वचन (11) विशेषण (12) उपसर्ग (13) निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) व्रत (18) तत्त्व (19) सत्त्व (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) सारसंग्रह (23) प्रतिभा (24) अवस्था (25) विचार (26) नाम और (27) आशिष्। इनके उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी दिए है। इनसे अतिरिक्त के लिए क्षेमन्द्र का कथन है कि उनकी कल्पना विचारक को स्वयं कर लेनी चाहिये।

औचित्य का काव्य के अन्य प्रमुख तत्त्वों से सम्बन्ध

(1) औचित्य और रस

क्षेमेन्द्र ने काव्य में रस को सबसे अधिक उत्कर्ष का आधायक तत्त्व माना और औचित्य को रससिद्ध काव्य का भी जीवित सिद्ध किया। इस प्रकार उनकी दृष्टि में औचित्य व्यापक एवं रस व्याप्य है। औचित्य से युक्त रस ही सहृदयों के चित्त का आह्लादित करने में समर्थ होता है।

आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रस के भंग का एकमात्र कारण बताया तथा औचित्य विधान को रस का परम रहस्य प्रतिपादित किया। काव्य में रसगत औचित्य का प्रतिपादन न करने से ही अनेक प्रकार के रसदोष उत्पन्न होते हैं।

(2) औचित्य और अलङ्.कार

क्षेमेन्द्र का मत है कि अलङ्.कारों में अलङ्.कारत्व तभी होता है, जबकि उनके नियोजन में औचित्य का ध्यान रखा जाता है। यदि वे उचित स्थान पर नियोजित नहीं हैं, तो उनको अलङ्.कार नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कण्ठ में मेखला, नितम्बों पर हार हाथ में नूपुर और पैरों में केयूर धारण किय जाने पर वे उन अङ्.गों की शोभा को नहीं बढ़ाते, क्योंकि वहाँ धारण करना अनौचित्य से पूर्ण होता है, उसी प्रकार औचित्य के बिना काव्यगत अलङ्.कार भी काव्य में शोभा की वृद्धि के आधायक नहीं होते।

(3) औचित्य और रीति

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में रीतियों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया और न ही औचित्य के भेदों में रीति नामक भेद की गणना की।

(4) औचित्य और वक्रोक्ति

कुन्तक की पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की वक्रताओं में औचित्य के विधान को अनिवार्य समझा गया है। इस कारण अनेक स्थानों पर औचित्य और वक्रता में अभेद प्रतीत होता है। कुन्तक की पदवक्रता, लिङ्.गवक्रता, कालवक्रता आदि में तथा क्षेमन्द्र के पदौचित्य, लिङ्.गौचित्य कालौचित्य आदि में सर्वथा एकरूपता प्रतीत होती है। परन्तु इस साम्य के प्रतीत होने पर भी वक्रोक्ति तथा औचित्य एक नहीं है। कुन्तक के ही अनुसार औचित्य को विविध वक्रताओं का आधार माना गया है। इस प्रकार वक्रता की सिद्धि में औचित्य एक साधन है। परन्तु काव्य में रस निष्पत्ति ही मुख्य प्रतिपाद्य होने से वक्रोक्ति और औचित्य दोनो ही उसके साधन के रूप में अवस्थित होते हैं।

(5) औचित्य और ध्वनि

वस्तुतः औचित्य का महत्त्व रसादि ध्वनि की दृष्टि से है। उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। रसादि ध्वनि यदि काव्य की आत्मा है तो औचित्य उसका जीवन है। जिस प्रकार आत्मा के बिना जीवन नहीं हो सकता, उसी प्रकार रसादि ध्वनि के अभाव में औचित्य की सत्ता भी असम्भव है।

क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक को ही अपनी रचना का आधार बनाया होगा। यद्यपि इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने स्वयं नहीं किया, तथापि औचित्य सिद्धान्त के प्रतिपादन में इस तथ्य की अभिव्यञ्जना स्थान – स्थान पर होती है। रस आदि के निबन्धन में आनन्दवर्धन ने औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की और औचित्य को रस का परम रहस्य माना था। आनन्दवर्धन ने यह भी प्रतिपादित किया कि शब्द, अर्थ, संघटना आदि सभी का प्रतिपादन रस के औचित्य की दृष्टि से होना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य को काव्य का प्राणभूत मानकर अपने सिद्धान्त के प्रासाद की रचना की थी।

औचित्य तत्त्व के प्रतिपादन में क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन का अनुकरण किया था। आनन्दवर्धन ने लिखा कि सुप्, तिङ्., वचन, सम्बन्ध, कारक शक्ति, कृत्, तद्धित, निपात आदि के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गय रसादि रूप अर्थ अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार पद, वाक्य और प्रबन्ध भी रसादि रूप अर्थ के व्यञ्जक होते हैं। क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन की इस उक्ति के अनुकरण में पद, वाक्य, प्रबन्ध, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि के औचित्य के भेद से काव्य में चमत्कार को स्वीकार किया।

ध्वनि एवं औचित्य के परस्पर समन्वय में औचित्य से ही काव्य की रमणीयता पुष्ट होती है।

औचित्य काव्य की आत्मा

क्षेमेन्द्र ने लोकमर्यादा के आधार पर औचित्य को काव्य की आत्मा (जीवित) प्रतिपादित किया। जिस प्रकार लोक व्यवहार में मर्यादा के पालन तथा सुव्यवस्था की रचना के लिये औचित्य का निर्वाह करना परम आवश्यक होता है, उसी प्रकार काव्य की मर्यादा को बनाये रखने और उसमें सौन्दर्य का चमत्कार लाने के लिए औचित्य का पालन करना भी परम आवश्यक है। काव्य में अलङ्कार, गुण, रस, रीति, वृत्ति आदि तत्त्वों के नियोजन में औचित्य की मर्यादा का पालन करना परम अनिवार्य है, क्योंकि इस एक औचित्य के अभाव में काव्य के सभी गुण निरर्थक हो जाते हैं। आचार्यों ने काव्य में औचित्य को राशि बताया है। इस औचित्य के अभाव में गुणों का पूरा समूह विष के तुल्य उद्वेजक हो जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का यह मन्तव्य है कि औचित्य सर्वलोक में व्याप्त है तथा इसी क्रम से काव्य के प्रत्येक अङ्ग में भी यह व्याप्त है। अतः इसको काव्य का जीवित मानना चाहिये। लोक व्यवहार में औचित्य का पालन न करने वाला व्यक्ति उपहास का पात्र होता है, इसी प्रकार काव्य में औचित्य का पालन न होने पर वह काव्य भी उपहास का पात्र होता है। जिस प्रकार रमणी के वक्ष पर मोतियों की माला उसके सौन्दर्य में वृद्धि करती है, परन्तु वही माला पैरों पर डाल देने से उपहसनीय हो जाती है, उसी प्रकार काव्य में अलङ्कार उसके उत्कर्षक तो होते हैं, परन्तु उचित स्थान में विनियोजित किये जाने पर ही। विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक अलङ्कार का विनियोजन निश्चय ही उसका अपकर्षक हैं। मनुष्य के लिए शौर्य, औदार्य, कारुण्य आदि गुण बहुत अच्छे हैं, परन्तु औचित्य की मर्यादा में ही रहकर। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों में माधुर्य गुण को निहित करना तथा शृङ्गार आदि कोमल रसों की अभिव्यक्ति में ओज गुण का विनिवेश करना काव्य के अपकर्ष के हेतु होते हैं।

रसों के विनियोजन में औचित्य का विधान परम आवश्यक है। जिस प्रकार लोक में मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रस पाचक द्वारा भोज्य पदार्थों में उचित रूप में नियोजित किये जाकर भोजन की रसनीयता में वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य में रसों का नियोजन उचित रूप में किया जाकर ही उसकी रमणीयता, आह्लादकता की सृष्टि करता है। शृङ्गार रस रसराज कहा जाता है परन्तु असमय में इसका विनियोग भी विरसता को उत्पन्न करने वाला है, उदाहरण के लिए 'वेणी संहार' में दुर्योधन का प्रेम–प्रसंग। किसी रस की पुनः पुनः अभिव्यक्ति भी औचित्य की सीमा को लांघ लेने पर विरसता का कारण बन जाती है यथा 'कुमार सम्भव' में रति के शोक रूप स्थायी भाव की पुनः–पुनः दीप्तिः। उपभुक्त रस का पुनः–पुनः परिपोष अनुचित होता है। क्षेमेन्द्र ने रससम्भृत काव्य में भी औचित्य को उसका आत्मा या जीवित सिद्ध किया।

इस प्रकार काव्य की आत्मा के रूप में औचित्य का संविधान तो क्षेमेन्द्र ने अवश्य किया, परन्तु इसी से औचित्य का काव्य–आत्मत्व सिद्ध नहीं हो जाता। औचित्य यद्यपि काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, तथापि वह काव्य की आत्मा नहीं है। इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है। औचित्य साधन है या साध्य। यदि साध्य है, तो उसी अवस्था में इसको काव्य की आत्मा माना जा सकता है। यदि साध्य नहीं है तो काव्य की आत्मा नहीं है, अपितु काव्य के साध्य आत्म तत्त्व के उत्कर्ष का साधनमात्र है। कवि काव्य की रचना रस आदि की आनन्दात्मक अनुभूति के लिये करता है, औचित्य के लिये नहीं। रस आदि का औचित्य उसके उत्कर्ष का कारण अवश्य है, परन्तु वह औचित्य ही कवि का साध्य या उद्देश्य नहीं है। दूसरे शब्दों में रसानुभूति के लिये ही औचित्य की अनिवार्यता होती है, औचित्य के लिये रस आदि की नहीं। अतः काव्य में औचित्य की अपेक्षा रस आदि की प्रधानता होती है।

गुण–अलङ्कार आदि के औचित्य के लिये भी यही स्थिति है। गुण, अलङ्कार आदि की योजना औचित्य के लिये नहीं है, अपितु औचित्य ही इनके उत्कर्ष के लिये साधन रूप से रहता है। इस प्रकार काव्य में औचित्य का अस्तित्व साधन के रूप में निहित होता है, वह साध्य नहीं है। इसलिये काव्य में रसध्वनि, अलङ्कार, गुण आदि की तुलना में औचित्य को आत्मा स्वीकार करना उचित नहीं है।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि रससिद्ध काव्य का जीवित औचित्य है। आचार्यों ने काव्य के अनेक भेद किये हैं – उत्तम, मध्यम और अधम। अधम काव्य, जो कि चित्र काव्य है, उसमें रस को महत्त्व नहीं दिया गया तथा वह रससिद्ध नहीं है। ध्वनि काव्य में भी रस ध्वनि को ही रससिद्ध कहा जा सकेगा। इस प्रकार काव्य के अनेक भेदों के रससिद्ध न होने से उनमें औचित्य की क्या व्यवस्था होगी? उन काव्यों में औचित्य को काव्य का जीवित कहा जा सकेगा या नहीं, इसका उत्तर क्षेमेन्द्र ने नहीं दिया है।

औचित्य को रससिद्ध काव्य का जीवित प्रतिपादित करते हुये क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार उचित रूप स धातुवाद रसरसिद्ध (पारस रस से सिद्ध) औषधि का प्रयोग शरीर में जीवन स्थिर रखता है, उसी प्रकार शृङ्गार आदि रसों से सिद्ध काव्य म औचित्य उसके जीवन को स्थिर रखता हे।

क्षेमेन्द्र का यह कथन स्वयं सिद्ध करता है कि काव्य का जीवित कोई अन्य तत्त्व है, तथा औचित्य उस जीवित को स्थिर रखने वाला तत्त्व है। जिस प्रकार पारद रस से सिद्ध औषधि जीवन नहीं है अपितु जीवन का स्थिर रखने वाली वस्तु है उसी प्रकार काव्य का जीवन तो रस आदि ध्वनि है और औचित्य उसको स्थिर रखने वाला तत्त्व है।

निष्कर्ष रूप में काव्य में औचित्य का महत्त्व अनिवार्य तो अवश्य है परन्तु उसको काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता औचित्य को सभी आचार्यो ने किसी न किसी रूप में काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में मान्यता दी थी और अपनी – अपनी दृष्टि से उसका विवेचन किया था। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के इस महत्त्व को अनुभव करके उसको काव्य के जीवित के रूप में प्रतिपादित किया परन्तु ध्वनि ही साध्य होने से काव्य की आत्मा है और औचित्य अङ्गभूत है।

ध्वनि सम्प्रदाय

काव्यशास्त्र के इतिहास के क्रम के रस, अलंकार, रीति सम्प्रदायों के पश्चात् ध्वनि सम्प्रदाय आता है। वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदाय ध्वनि के बाद आते हैं। तथापि वक्रोक्ति एवं औचित्य सम्प्रदाय को ध्वनि सम्प्रदाय से पहले तथा ध्वनि सम्प्रदाय का सबसे अन्त में इस कारण लिया गया है, क्योंकि काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि ही अधिक मान्य हुआ और ध्वनि की प्रतिष्ठापना के पश्चात् अधिकांश आचार्यो ने अन्य तत्त्वों की अपेक्षा ध्वनि को ही अधिक महत्व दिया।

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रारम्भ

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार और रीति, इन तीन सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हो चुका था। विभिन्न आचार्यों ने काव्य के इन तीन तत्वों में से किसी एक को काव्य कह आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। परन्तु आनन्दवर्धन ने समर्थ युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया कि ये सभी तत्त्व काव्य के अगभूत है। केवल ध्वनि को ही सर्वव्यापक होने के कारण काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ध्वनि का मूल प्रतीयमान अर्थ है, जो कि महाकवियों की वाणी में कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रुप में काव्य में विभिन्न अगों – गुण, अलंकार आदि से भिन्न होकर शोभायमान होता है। यही अर्थ सहृदयो के हृदयों को आनन्दित करने वाला होता है। यही अर्थ काव्य की आत्मा है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है–रस, अलंकार और वस्तु। इसी आधार पर ध्वनि के भी तीन भेद किय गय रस ध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुये भी और उसको काव्य में सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हुये भी ध्वनिकार न अलंकार गुण, रीति, वृत्ति आदि तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की। काव्य में उनका भी उचित स्थान निर्धारित किया गया। परन्तु ध्वनिकार का मत था कि ये सभी तत्त्व काव्य में ध्वनि के उत्कर्षक के रुप में रहते हैं। उन्होंने काव्य में ध्वनि को केन्द्रबिन्दु माना और गुण, अलंकार आदि का विधान इनके उपकारक के रूप में किया।

ध्वनि की प्राचीनता तथा विकास

यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनिकार के नाम से स्मरण किया जाता है और उनको ध्वनि की प्रतिष्ठापना का श्रेय प्राप्त है। परन्तु प्राचीन प्रमाणों से यह पुष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि को काव्य के प्रमुख तत्त्व के रुप में स्वीकृति प्राप्त थी।

स्वयं आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही इस तथ्य को प्रकट किया कि विद्वज्जन ध्वनि का काव्य की आत्मा क रुप में प्रतिपादित कर चुके हैं– **काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यग् आ समन्तात् प्रकटितः।।** – ध्वन्यालोक 1.1 की वृत्ति।।

इस में "बुधैः" पद के बहुवचन से यह स्पष्ट है कि यह प्रतिपादन किसी एक ही विद्वान् ने नहीं किया, अपितु अनेक विद्वानों ने किया। 'ध्वन्यालोक' की अन्य कारिकाओं तथा उनकी वृत्ति से भी ध्वनि की यह प्राचीनता लक्षित होती है। एक स्थान पर ध्वनिकार ने लिखा

है कि यदि ध्वनि का लक्षण पूर्व आचार्यो ने कर दिया है तो इससे हमारे पक्ष की सिद्धि ही होगी। – **लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।।** –ध्वन्यालोक 1.19

ध्वनिकार का यह भी कथन है कि रीतिवादी आचार्यो को भी इस ध्वनि रूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था, परन्तु वे इस तत्त्व की समुचित रूप से व्याख्या नहीं कर सके और उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित कर दिया।

आनन्दवर्धन के कथनानुसार ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित नहीं हैं, अपितु महान् कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि भी इससे परिचित थे, क्योंकि उनकी कृतियों में ध्वनि तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, यद्यपि काव्य लक्षणकारों ने पहले उसका उन्मीलन नहीं किया।

ध्वनि के आधार प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलंकारवादी भी परिचित थे। भामह आदि आचार्यो ने अलंकारो को काव्य की शोभा का आधायक मानते हुए भी अनेक अलंकारों में–पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया। इसी आधार पर अलंकारवादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया। उद्भट ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया–**तथा चान्येन कृत एवात्र**

श्लोक : **यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृति व्युत्पन्नैः रचितं न चैव वचनैर्वक्रोतिशून्यं च यत्।**
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टं स्वरूपं ध्वनेः।
ध्वन्यालोक 1.1 की वृत्ति।

समालोचकों में ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पूर्व भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी, यह तथ्य इस बात से भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख करके इनका खण्डन किया। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही ध्वनिविरोधी तीन मतों–अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का एवं इनके विभिन्न पक्षों का ध्वनिकार ने उल्लेख किया है और प्रबल युक्तियों से इनका खण्डन किया है।

ध्वनिविरोधियों के खण्डन के प्रसंग में ध्वनिकार ने किसी प्रबल ध्वनिविरोधी का एक श्लोक उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसका नाम मनोरथ था, **'अन्येनेति ग्रन्थकृत समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना'** प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित है। राजतरंगिणी के श्लोक के अनुसार मनोरथ को राजा जयापीड का मन्त्री बताया गया है। श्लोक में यह बताया गया है कि मनोरथ ने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितादित्य का उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। मनोरथ का समय 800 ई. के लगभग रहा होगा। मनोरथ के श्लोक में ध्वनि का विरोध होने और ध्वनिविरोधियों का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से काफी पहले ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा होने लगी होगी। यद्यपि यह निश्चित सा है कि ध्वनि के सिद्धान्त का प्रचलन आनन्दवर्धन के पूर्व ही हो गया था, तथापि यह भी यथार्थ है कि इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने और निस्सन्दिग्धता से प्रतिपादित करने का कार्य आनन्दवर्धन ने ही किया। ध्वनिकार ने पहले कारिकाओं मे ध्वनि का अति संक्षिप्त परिचय दिया और इसके पश्चात् वृत्ति और उदाहरणों के द्वारा इसके स्वरुप की विस्तृत व्याख्या की। ध्वनिकार के कथन से यह भी स्पष्ट है कि ध्वनि के मार्ग का निर्माण उन्होंने किया नहीं अपितु इसको दिखाया भर था तथा ध्वनि के तत्त्व की केवल व्याख्या की थी। परन्तु यह व्याख्या इतनी स्पष्ट एवं युक्तिसंगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार का अधिकार एवं ध्वन्याचार्य का प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि का सुस्पष्ट एवं निस्सन्दिग्ध प्रतिपादन कर दिया था, तथापि उत्तरवर्ती कुछ समालोचकों ने ध्वनि के खण्डन का प्रयास किया जिनमें भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट प्रमुख थे। भट्टनायक ने तो व्यञ्जनावृत्ति को ही स्वीकार नहीं किया, कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा बताया तथा महिमभट्ट ने व्यञ्जनावादियों के व्यंग्य अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया। इन आचार्यों की ध्वनि विरोधी युक्तियों का खण्डन अभिनवगुप्त और मम्मट ने किया। क्षेमेन्द्र ने भी काव्य में ध्वनि की अपेक्षा औचित्य को अधिक महत्त्व दिया, परन्तु उसका मत भी अधिक प्रचलित नहीं हो सका। आचार्य मम्मट की प्रबल युक्तियों ने ध्वनिविरोधियों को पूर्णरुप से परास्त कर दिया। इसके पश्चात् ध्वनि का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। मम्मट के पश्चात् सभी प्रमुख आचार्यो – रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने निस्सन्दिग्ध रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

ध्वनि सिद्धान्त की मूल प्रेरणा ध्वनिवादियों को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से प्राप्त हुई। ध्वनि के लक्षण (1.13) में "सूरिभिः कथितः" पदों की व्याख्या करते हुये आनन्दवर्धन का कथन है कि यह ध्वनिविद्धान्त यों ही अप्रामाणिक रुप से प्रचलित नहीं हो गया है, परन्तु

विद्वानों ने इस उक्ति को प्रारम्भ किया। सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण हैं, जो कि सुनाई देने वाले पदों में ध्वनि संज्ञा का व्यवहार करते हैं। वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थतत्त्ववित् समालोचकों ने उनके ही अनुसार वाच्यवाचकसंमिश्र (व्यंग्य अर्थ), व्यञ्जना व्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा – **सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यकमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।।** (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति) ध्वनि की प्रेरणा ध्वनिवादियों ने वैयाकरणों से ली तथा इसक पुष्टि मम्मट ने भी की। काव्यप्रकाश म "बुधैः कथितः" पदों की व्याख्या "बुधैः" से तात्पर्य वैयाकरणों से लिया है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यंग्य को अभिव्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा था। तदनन्तर उनके मत का अनुकरण करने वाले साहित्यशास्त्रियों ने भी वाच्य अर्थ का अतिशयित करने वाले व्यंग्य अर्थ के व्यंजक शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा– **'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।** (काव्यप्रकाश 1.4 की वृत्ति)

वैयाकरणों ने सुनाई देने वाले शब्दों को ध्वनि माना था ध्वनिवादियों ने शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा। ध्वनि का आधार स्फोटवाद है। स्फोट का अर्थ है–**"स्फुटयति अर्थः अस्मादिति स्फोटः" या 'स्फोटयति अभिव्यनक्तिः अर्थ इति स्फोटः'** इससे अर्थ स्फुटित होता है, अतः यह स्फोट है। स्फोटवाद के अनुसार शब्द नित्य होता है।

पतंजलि के अनुसार शब्दों का ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है। यह श्रोत्र द्वारा ग्राह्य हैं और आकाश इसका स्थान है। हमारे कर्ण देश में जो आकाश है, उसी में शब्द की प्राप्ति होती है। शब्द की रचना वर्णों से होती है। शब्द का उच्चारण करने पर क्रमशः वर्णों का उच्चारण होता है और वे वर्ण क्रमशः कर्ण के आकाश में पहुँचते हुये बुद्धि द्वारा ग्राह्य होते हैं। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुँचने के पश्चात द्वितीय वर्ण के पहुँचने पर प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द के उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। इस अन्तिम वर्ण से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है ?

"अन्तिम वर्ण का अनुभव पूर्व वर्णों के संस्कार के साथ मिलकर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है

पतंजलि के अनुसार यह शब्द स्फोट है और ध्वनि इसका गुण है।

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप को भर्तृहरि ने और अधिक स्पष्ट किया। उनके अनुसार–

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजायते। स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।। – वाक्यपदीय।

"जो इन्द्रियों (जिह्वा आदि) के संयोग और वियोग से उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है और इस स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न शब्द को ध्वनि कहा गया है।"

इसका और अधिक स्पष्टीकरण भर्तृहरि ने इस प्रकार किया–

प्रत्ययैरनपारूपयैर्ग्रहणानुग्रहणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।। –वाक्यपदीय।

अनिर्वचनीय और व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा स्फोटरूप शब्द के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है। इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं स्फोट व्यंग्य है तथा ध्वनि व्यंजक है। वैयाकरणों के अनुकरण में ध्वनिवादी काव्यशास्त्रवित् आचार्य शब्द और अर्थ इन दोनों के व्यंजक होने के कारण शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहते हैं। इन आचार्यों ने प्रसिद्ध अभिधा एवं लक्षणा नामक व्यापार से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यंजक व्यंजना व्यापार को भी ध्वनि कहा। क्योंकि ये सभी तत्त्व काव्य में समुदाय रूप से रहते हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा गया।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है।

(1) ध्वनति इति ध्वनिः। (2) ध्वन्यते इति ध्वनिः। (3) ध्वननं ध्वनिः।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंग्य अर्थ ध्वनि है। तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंजना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियों क्योंकि काव्य में रहती हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है– आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार दी है–

वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।। –ध्वन्यालोक 1.13 की वृति।।

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति - व्यंगयोऽपि ध्वनिः, ध्वनयत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधारूपः, अपित्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्।।–ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति की लोचन टीका।

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ"। व्यंड्.क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

–ध्वन्यालोक 1.13।।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यंक्तः काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

इन पाँचों ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है।

"इसलिये वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है क्योंकि दोनों का व्यंजकत्व ध्वनन व्यापार करता है, विभाव, अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्दन शब्द, अर्थात शब्द का व्यापार भी ध्वनि है, जो कि अभिधा आदि के स्वरूप वाला नहीं है, अपितु आत्मभूत है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं।

इस प्रकार शब्द, अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पॉचों को ध्वनि की संज्ञा दी गई है। आचार्य विश्वेश्वर ने इन पाँचो में ध्वनित्व का प्रदर्शन इस प्रकार किया है–

(1) **ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः।** जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(2) **ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः।** जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(3) **ध्वन्यते इति ध्वनिः** जो ध्वनित किया जावे, वह व्यंग्य अर्थ ध्वनि है। इसमें रस, अलंकार और वस्तु ये तीनों प्रकार के व्यंग्य अर्थ आ जाते हैं।

(4) **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः**। जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार व्यंजना शक्ति का बोध होता है।

(5) **ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः**। जिसमें वस्तु, अलंकार रस आदि ध्वनियां विद्यमान रहती हैं, वह काव्य ध्वनि है।

जहाँ वाच्य अर्थ अपने आपको और वाचक शब्द अपने को एवं अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान एवं वाच्य अर्थ के अतिशय के आधार पर ध्वनि का लक्षण किया जाना चाहिये। काव्य में दो प्रकार के सहृदय–श्लाघ्य अर्थ होते हैं–वाच्य और प्रतीयमान। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित होता है, तो वह काव्य ध्वनि कहलाता है। यदि वह अतिशयित नहीं है, तो उस काव्य को गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं।

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यग्यं अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यही है कि जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ में चमत्कार का चारुत्व अधिक होता है। वाच्य और व्यंग्य अर्थों में प्रधानता या अतिशयता उनके चारुत्व के अतिशय के आधार पर होती है।

इस चारुत्व के अतिशय के आधार पर ध्वनिकार ने काव्य के दो भेद किये–ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य। जिस काव्य म प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं होती अपितु शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये ही कवि कविता की रचना करता है, वह चित्रकाव्य होता है।

आनन्दवर्धन के ध्वनि काव्य के लक्षण को ही उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यो ने स्वीकार कर लिया। मम्मट के अनुसार भी।

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिर्बुधैः कथितः।"– काव्यप्रकाश 1.4

जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अतिशयित होता है, तो वह उत्तम काव्य कहलाता है। इसको ही ध्वनि कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए कहा।

"न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः"

वाच्य अर्थ को तिरस्कृत करने वाले व्यंग्य अर्थ को व्यञ्जित करने में समर्थ शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा जाता है।

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये। जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय है, वह उत्तम काव्य, जहाँ वह अतिशय नहीं हैं, वह गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य और जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं शब्दालंकारों या अर्थालंकारों के चमत्कार का प्रदर्शन है, वहाँ चित्रकाव्य होता है।

ध्वनिकाव्य का लक्षण करने में विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धन का अनुसरण किया था और प्रतीयमान अर्थ के अतिशय को समका आधार बनायां। उन्होंने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य दो ही भेद किये।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ध्वनि काव्य का लक्षण करने में प्राचीन आचार्यो का अनुकरण किया था और प्रतीयमान अर्थ के अतिशय को उसका आधार बनाया। जहाँ शब्द और अर्थ अपने आप को गुणीभूत करके व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करत हे, वह उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य जहाँ व्यंग्य अर्थ अप्रधान ही रहकर चमत्कार उत्पन्न करे, वह गुणीभूतव्यंग्य नाम का उत्तम काव्य, जहाँ व्यग्य अर्थ का चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलंकार चमत्कृति हेतु है, वह तीसरा अर्थचित्र नाम का मध्यम काव्य, जहाँ अर्थ के चमत्कार से उपकृत, शब्दालंकार का चमत्कार हो। वह चतुर्थ शब्दचित्र नाम का अधम काव्य है।

वाच्य एवं व्यंग्य अर्थ के अतिशय के भेद से ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्यों की पृथकता प्रतिपादित करने पर भी आनन्दवर्धन ने कहा कि जब रस आदि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन किया जाता है तो गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनिकाव्य म भेद नहीं रह जाता। अतः रस आदि के तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूत व्यंग्य काव्य भी ध्वनिरूपता को ही प्राप्त करता है।

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्। धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।। (ध्वन्यालोक ३.३

ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनि के मुख्य रूप से तीन भेद किये–वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। आनन्दवर्धन की दृष्टि म काव्य के ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य भेदों की स्थिति वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि में ही हो सकती है। जहाँ रसध्वनि है अर्थात जहां काव्य की रचना रस आदि के तात्पर्य से की जा रही है, वहाँ सदा ध्वनिकाव्य ही होता है। इस बात को विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है।

ध्वनिकाव्य के भेद

यद्यपि पारमार्थिक रूप से ध्वनि एक ही है तथापि व्यवहारिक दृष्टि से आचार्यो ने ध्वकिाव्य के अनेक भेद कर दिये हैं। ध्वनिकाव्य के प्रारम्भिक भेद दो है–अविवक्षितापरवाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल)। अविवक्षितापरवाच्य ध्वनि मे वाच्य अर्थ बाधित रहता है, उसकी विवक्षा नहीं होती । विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित तो नहीं होता, परन्तु वह व्यग्यपरक रहता है।

अविवक्षितापरवाच्य ध्वनि के दो भेद है– अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद है–असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्य और व्यंग्य अर्थो के क्रम का बोध नहीं होता। यह रस भाव आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। इसके अनन्त भेद हो सकते हैं, जिससे इसको एक ही मान लिया गया है।

सलंक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं – शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं–अलंकाररूप और वस्तुरूप।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 12 भेद हैं। इसको पहले तीन वर्गो में विभक्त किया जा सकता है–स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इनमें से प्रत्येक के क्रमशः दो–दो भेद–वस्तुरूप व्यंजक अर्थ और अलंकाररूप व्यंजक अर्थ होते हैं। इस प्रकार इसके 6 भेद हो जाते हैं। अब इनमें से प्रत्येक भेद के पुनः दो दो भेद होते हैं। वस्तुरूपव्यंग्य अर्थ और अलंकाररूप व्यंग्य अर्थ। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि 12 प्रकार की हो जाती है। उभयशक्त्युदव ध्वनि एक ही प्रकार की होती है।

मम्मट ने ध्वनि के 18 मुख्य भेद काव्यप्रकाश में प्रदर्शित किये हैं, जिन्हें इस प्रकार चार्ट के द्वारा दिखाया जा सकता है।

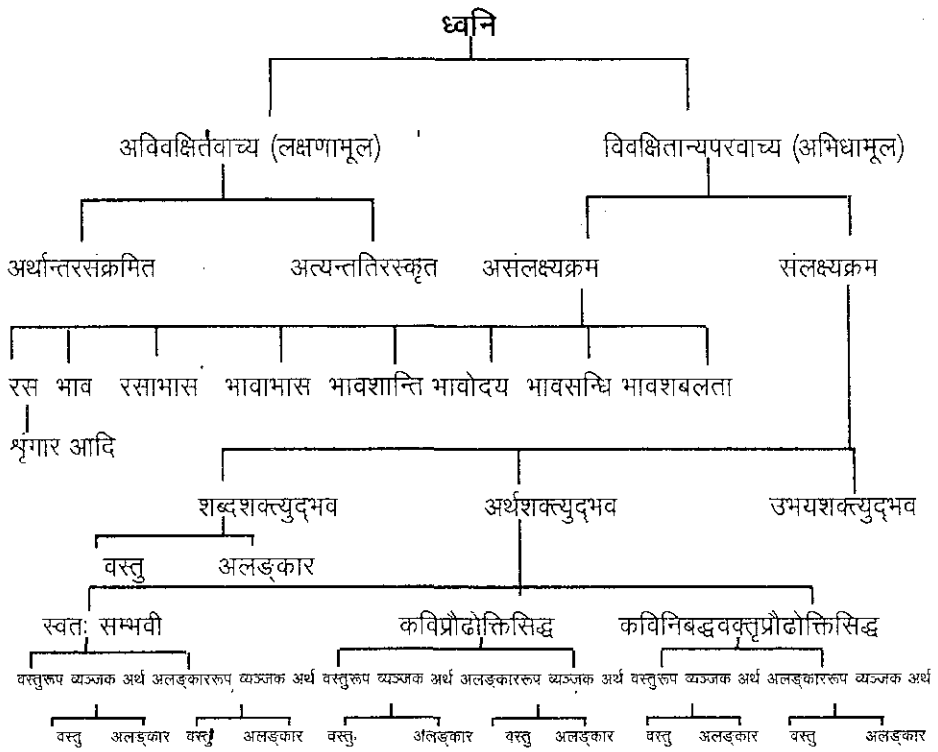

पुनः वाक्य, पद, प्रबन्ध आदि के भेद से पुनः तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणा करने पर 10455 भेद हो जाते है। विश्वनाथ के अनुसार भी प्रथम 18 पुनः 51 और पुनः 5355 भेद हो जाते हैं।

ध्वनिविरोधी आचार्य

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना सर्वथा निर्भ्रान्त रूप से की थी, परन्तु इस सिद्धान्त का विरोध आनन्दवर्धन से पहले भी होता रहा और बाद मे भी हुआ। अपने से पूर्ववर्ती ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान तो आनन्दवर्धन ने स्वयं ही कर दिया। परन्तु आनन्दवर्धन के पश्चात् होने वाले ध्वनिविरोधियों की युक्यिों का समाधान अभिनवगुप्त ने और मम्मट ने मुख्य रूप से किया। उनके पश्चात् यह ध्वनि सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ।

ध्वनि का विरोध करने वाले आचार्यों के मतों को तीन मुख्य वर्गो में विभक्त किया जा सकता है– (1) पहले आनन्दवर्धन से पूर्व के ध्वनि विरोधी (2) दूसरे आनन्दवर्धन के पश्चात् के ध्वनिविरोधी (3) तीसरे जिनका उल्लेख जयरथ ने अलंकाररसर्वस्व की टीका में किया।

(1) आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती ध्वनिविरोधी-

आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के तीन मतों को और उनकी युक्तियों को प्रस्तुत किया है। ये तीन मत हैं—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी।

(क) **अभाववादी**—अभाववादी ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके मत में काव्य में ध्वनि का अस्तित्व है ही नहीं। ध्वनिकार ने इनके तीन पक्षों को प्रस्तुत किया।

(1) पहले अभाववादियों का पक्ष हैं कि काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ से होती है, इसलिये इनके सौन्दर्य के आधायक तत्त्व ही काव्य की आत्मा हो सकते हैं। शब्द के सौन्दर्य का आधान अनुप्रास आदि शब्दालंकार और अर्थ के सौन्दर्य का आधान उपमा आदि अलंकार करते हैं। ये अलंकार प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित किये जा चुके हैं। वर्णो और संघटना के सौन्दर्य को प्रतिपादित करने वाले माधुर्य आदि गुण भी कहे जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों और वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन हो चुका है। काव्य में सौन्दर्य का आधान ये ही तत्त्व करते हैं। इनसें भिन्न ध्वनि नाम का अन्य कोई तत्त्व काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं है।

(2) दूसरे अभाववादियों ने परम्परा का आश्रय लिया है। उनका कथन है कि सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ की काव्य की रचना करते हैं। काव्य की रचना और सौन्दर्य का ही मार्ग प्राचीन परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। इस मार्ग से भिन्न किसी अन्य मार्ग से काव्य का चारुत्व सम्भव नहीं है। ध्वनि की कल्पना तो अभी ही ध्वनिवादियों ने की है, परन्तु यदि काव्य के चारुत्व का हेतु ध्वनि को स्वीकार करें, तो विद्वज्जन उसको स्वीकार नहीं करेंगें।

(3) तीसरे अभाववादियों का कथन है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं है। यदि कोई है भी तो उसका अन्तर्भाव पहले कहे अलंकार आदि चारुत्व के हेतुओं में किया जा सकता है। इन अलंकारों में से किसी एक का नाम ध्वनि रख देने से कोई विशेष बात सिद्ध नहीं हो जायेगी। प्राचीन अलंकारवादियों ने वाणी के अनन्त भेद होने से अनेक प्रकार के अलंकार को प्रदर्शित किया। यदि किसी अलंकार विशेष का नाम न भी रखा हो और ध्वनिवादी उसको ध्वनि नाम दे दे, तो यह कोई विशेष बात नहीं होगी।

अभाववादियों के इन तीनों मतों का सारांश यही है कि वे अभिधा या वाच्यार्थ में ही ध्वनि का अन्तर्भाव मान लेते हैं। उनके अनुसार सब अर्थो की प्रतीति अभिधा से हो जाती है।

(ख) **भक्तिवादी** – यद्यपि इन आचार्यो ने ध्वनि शब्द का उच्चारण करके उसके लिये भाक्त या गुणवृत्ति पद का व्यवहार नहीं किया तथापि उन्होंने काव्य में लक्षणा व्यापार के व्यवहार का प्रदर्शन करके ध्वनि मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया। इस प्रकार लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन करके उन्होंने व्यंजनावादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित की है।

(ग) **अलक्षणीयतावादी** – अलक्षणीयतावादी आचार्यो का अभिमत है कि ध्वनि के तत्व की व्याख्या शब्दों से नही की जा सकती। वह सहृदयों के हृदय द्वारा केवल संवेद्य है। अतः ध्वनि की परिभाषा करना उचित नहीं है।

आनन्द ने इन ध्वनिविरोधी पक्षों की युक्तियों का सम्यक् प्रकार से खण्डन करके ध्वनि की स्थापना की। परन्तु आनन्दवर्धन के पश्चात भी अनेक आचार्यो ने ध्वनि का विरोध करके अपने पक्षों की स्थापना की।

(2) आनन्दवर्धन से उत्तरवर्ती ध्वनिविरोधी-

आनन्दवर्धन से उत्तरवर्ती जिन आचार्यो ने ध्वनि का विरोध करके नये पक्षों का प्रतिपादन किया, उनमें चार आचार्य प्रमुख हैं—भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र।

(क) **भट्टनायक** – भट्टनायक का समय आनन्दवर्धन के बाद का और अभिनव से पहले का है। भट्टनायक के पक्ष का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया। अभिनवगुप्त के अनुसार इन्होंने ध्वनि का खण्डन किया था। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि हृदयदर्पण में ध्वनि का खण्डन किया गया है।

भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया। वे रस के आस्वादन को तो स्वीकार करते थे, परन्तु इसके लिये व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते थे। इसके आस्वादन के लिये उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक व्यापारों की उद्भावना की।

(ख) **महिमभट्ट** ने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयास किया। वे ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं।

उन्होंने व्यंग्य–व्यंजक भाव के स्थान पर लिंग–लिंगीभाव का समर्थन किया और आनन्दवर्धन के ध्वनि के उदाहरणों में प्रतीयमान अर्थ को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में **'भम धम्मिअ वीसत्थो'** उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है।

महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन द्वारा की गई ध्वनि की परिभाषा **"यत्रार्थः शब्दो वा"** का भी खण्डन किया और उसकी कठोर आलोचना की।"

(ग) **कुन्तक** ने ध्वनिकार के प्रभेदों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया। उन्होंने काव्य में रस की महत्ता को तो अवश्य स्वीकार किया, परन्तु रस को वक्रता से भिन्न नहीं माना। रस को वक्रोक्ति में सम्मिलित करके कुन्तक ने उसको अलंकार मान लिया।

कुन्तक ने आनन्दवर्धन की लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित भेद को पदपूर्वार्द्धवक्रता के रुढिवैचित्र्यवक्रता में और अत्यन्ततिरस्कृत भेद को उपचारवक्रता में समाविष्ट किया।

कुन्तक ने व्यंजना व्यापार की स्वतन्त्र सत्ता और प्रतीयमान अर्थ की विद्यमानता को स्वीकार नहीं किया।उनके अनुसार वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ही काव्य में प्रसिद्ध होते हैं और ये ही परमार्थ रूप से काव्य का निर्माण करते हैं। व्यंग्य अर्थ भी वस्तुतः वाच्य होता है।

(घ) **क्षेमेन्द्र** – क्षेमेन्द्र को वास्तविक रूप में तो ध्वनिविरोधी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को उसकी आत्मा प्रतिपादित किया, अतः ध्वनिविरोधियों में इनकी गणना कर ली जाती है।

(3) **जयरथ द्वारा रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व की टीका में जयरथ में ध्वनिविरोधी 12 मतों का उल्लेख किया है -**

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिति द्विधा। अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः।।

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्। द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतित्तयः।

ध्वनि से सम्बन्ध की ये 12 विप्रतिपत्तियाँ कही जाती हैं।

(1) **तात्पर्य**–यह तात्पर्या वृत्ति मानने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसक आचार्यो का अभिमत है।

(2) **अभिधा** – यह मत तात्पर्या वृत्ति न मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसक आचार्यो का है।

(3 और 4) **लक्षणा**– तीसरा और चौथा मत लक्षणावादियों का है। लक्षणा दो प्रकार की है–जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था। लक्षणावादी इन लक्षणा व्यापारों द्वारा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति प्रतिपादित करते है।

(5 और 6) **द्विधा अनुमिती**–अनुमान के दो भेद है–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । शंकुक, महिमभट्ट आदि आचार्यो ने इन दो प्रकार के अनुमानों द्वारा ध्वनि को अनुमेय प्रतिपादित किया। उनके अनुसार त्रिविध व्यंग्य अनुमेय ही है।

(7) **अर्थापत्ति**–यह मत उन ध्वनिविरोधी मीमांसको का है, जो अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा व्यंग्य अर्थ को प्रतिपादित करते हैं। यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है। श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति।

(8) **तन्त्र** – अनेक अर्थो को जतलाने की इच्छा से एक ही पद का उच्चारण करना तन्त्र कहलाता है। तन्त्रवादियों के मत में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध की इच्छा से तन्त्र का प्रयोग करने से व्यंग्य अर्थ का बोध हो जाता है।

(9) **समासोक्ति आदि अलंकार** – ये प्राचीन अलंकारवादी आचार्य हैं। जो समासोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति पर्यायोक्त, अपह्नुति, अन्योक्ति, भाव, व्यतिरेक आदि अलंकारों में ध्वन्यर्थ का अन्तर्भाव मानते हैं। इनका खण्डन स्वयं आनन्दवर्धन ने किया था।

(10) **भोग** – भट्टनायक ने रस को भोज्य माना था। उन्होंने रस की उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया था। अभिनवगुप्त ने इनके मत का खण्डन किया है।

(11) **व्यापारान्तरबाधन**–यह पक्ष किसका है इसमें मतभेद है। डॉ. राघवन के अनुसार यह वक्रोक्तिवादियों का है क्योंकि वक्रोक्ति व्यापार ध्वनि को अपने अन्तर्गत कर लेता है। परन्तु महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी के अनुसार यह मत अलक्षणीयतावादियों का है। वे कहते है कि वक्रोक्ति तो अलंकारों में सम्मिलित है। कुन्तक ने भी ध्वनि को स्वीकार अवश्य किया है, यद्यपि उसका समावेश वक्रोक्ति में कर लेते है और उसको काव्य की आत्मा नहीं मानते।

ध्वनिविरोधी इन विभिन्न पक्षों का उत्तर आनन्दवर्धन और उनके उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने दिया। ध्वनिविरोधियों की युक्तियों को देखकर खण्डन का भी विवरण संक्षेप में करना उचित है।

(1) कुछ विद्वान् ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

(2) अन्य आचार्यों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ तो है, परन्तु उसकी प्रतीति अभिधा से हो जाती है तथा इसके लिए व्यजना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है।

(3) अन्य आचार्य व्यंजनावादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा कर लेते है।

ध्वनि विरोधी युक्तियों का खण्डन निम्न आधार पर किया गया है –

(1) अलंकारवादियों का कथन है कि शब्दार्थगत चारुत्वहेतु अनुप्रास उपमा आदि अलंकारों तथा गुण, वृत्ति, रीति आदि से भिन्न ध्वनि कोई अलग मार्ग नहीं उचित नहीं है। अलंकार आदि का विषय अलग है तथा ध्वनि का विषय अलग है।

अंलकारवादियों का यह कथन है कि प्रसिद्ध अलंकार के मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग का अवलम्बन करने से काव्यत्व की हानि होगी उचित नहीं है। ध्वनि का मार्ग केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं हुआ, परन्तु उत्तम काव्यों की परीक्षा करने पर उनमें ध्वनि ही सहृदयाह्लादक तत्त्व सिद्ध होता है।

अलंकारवादियों का यह भी कथन है कि ध्वनि चारुत्व का हेतु है और अलंकार भी चारुत्व के हेतु है, अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में ही हो जायेगा यह भी उचित नहीं है। अलंकार केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेकर रहते हैं परन्तु ध्वनि का आश्रय व्यंग्य व्यंजक भाव है। अलंकार अंगरूप हैं और ध्वनि अंगीरूप है। अलंकार स्वल्प विषय है और ध्वनि महाविषय है इसलिय ध्वनि का अन्तर्भाव अंलकारों में नहीं हो सकता।

(1) ध्वनि अलक्षणीय भी नही है। ध्वनि के सामान्य तथा विशेष लक्षण उत्तम प्रकार से प्रतिपादित किये गये है, अतः इसका अलक्षणीय नहीं माना जा सकता है।

(2) ध्वनि अभिधेय नही हो सकती। ध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद हैं–अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इनमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल है और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल है। यदि प्रतीयमान अर्थ को वाच्य मान भी लें, तो इसमें विवक्षित वाच्य ध्वनि का समावेश नही हो सकेगा। इसका कारण यह है कि अभिधा के विफल हो जाने पर ही लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध होकर तदनन्तर प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है। अतः ध्वनि को अभिधा व्यापार का विषय नहीं बनाया जा सकता। इसको लक्षणा के अन्तर्गत

भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में अभिधा के विफल न होने से लक्षणा के प्रयोग का अवसर ही उपस्थित नहीं होता और भी लक्षमा का स्वरूप भिन्न है और ध्वनि का भिन्न।

(3) वाच्य और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं होते अतः प्रतीयमान अर्थ अभिधा का विषय नहीं हो सकता। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में बोद्धा, स्वरूप संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय आदि के भेद के कारण भिन्नता होती है।

(क) बोद्धा – बोद्धा के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ भिन्न होते हैं। वाच्य अर्थ का बोध शब्द और अर्थ का अनुशासन करने वाले कोश, व्याकरण आदि से हो सकता है, परन्तु प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों को ही होती है।

(ख) स्वरूप – वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में स्वरूप का भी भेद होता है। वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर भी कहीं प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप हो सकता है। वाच्य अर्थ के निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ कहीं विधि रूप हो सकता है। कहीं वाच्य अर्थ के विधि या निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ अनुभय रूप हो सकता है। कहीं वाच्य अर्थ के संशयात्मक होने पर भी प्रतीयमान अर्थ निश्चयात्मक हो सकता है।

(ग) संख्या – वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में संख्या की दृष्टि से भी भेद हो सकता है। वाच्य अर्थ सभी श्रोताओं के लिये एकरूप होता है, परन्तु व्यंग्य अर्थ विभिन्न श्रोताओं के लिये अलग–अलग हो सकता है। वाच्य अर्थ के साक्षात् संकेतित होने से इसका स्वरूप तथा स्वभाव नियत होता है, परन्तु प्रकरण आदि के कारण व्यंग्य अर्थ अनियतरूप तथ अनियत स्वभाव का होता है।

(घ) निमित्त – वाच्य अर्थ का बोध शब्दज्ञान से तथा प्रकरण आदि की सहायता से हो जाता है, परन्तु व्यंग्य अर्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रतिभा की निर्मलता से होती है।

(ङ) कार्य – वाच्य अर्थ का कार्य केवल वस्तु का ज्ञानमात्र कराना है, परतु व्यंग्य अर्थ से आनन्दरूप चमत्कार का आस्वादन होता है।

(च) प्रतीति – वाच्य अर्थ की प्रतीति शब्दबोधमात्र है, परन्तु व्यंग्य अर्थ प्रतीति शब्दमय होने के साथ चमत्कारमय भी होती है।

(छ) काल – वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले होती है और व्यंग्य अर्थ की प्रतीति उसके पश्चात् होती है। यह कालभेद अवश्य विद्यमान होता है, चाहे वह संलक्ष्यक्रम हो या असंलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम में यह कालभेद होने पर भी प्रतीत नहीं होता है।

(ज) आश्रय – वाच्य का आश्रय शब्द या पद होता है, परन्तु व्यंग्य का आश्रय शब्द, शब्द का अर्थ, शब्द का एक अंश, वर्ण, सरंचना आदि सभी हो सकते हैं।

(झ) विषय – वाच्य अर्थ का विषय नियत होता है, जो कि बोध्य व्यक्ति के लिये ही होता है। परन्तु व्यंग्य अर्थ का विषय नियत भी हो सकता है, अनियत और सम्बद्ध भी।

इस प्रकार इन हेतुओं की भिन्नता के कारण वाच्य और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं हो सकते और ध्वनि का समावेश अभिधा में नहीं किया जा सकता।

(4) अभिधा के द्वारा अन्वित वाच्य अर्थ का ही बोध होता है, अनन्वित का नहीं परन्तु प्रतीयमान अर्थ अनन्वित भी हो सकता है।

(5) संयोग आदि द्वारा अभिधा का नियन्त्रण हो जाने से अनेकार्थक शब्दों से अभिधा द्वारा एक ही वाच्य अर्थ का बोध होता है। परन्तु अनेक बार इनसे दूसरे अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है। यह दूसरा अर्थ सदा व्यंग्य होता है।

व्यंग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती, इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में भी नहीं हो सकता। प्रयोजनवती लक्षणा में लक्षणा द्वारा पहले लक्ष्य अर्थ का बोध होकर पुनः व्यंजना द्वारा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह व्यंग्य अर्थ ही प्रयोजन रूप होता है।

(1) लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ एक नहीं हो सकते।

(क) व्यंग्य अर्थ के समान लक्ष्य अर्थ यद्यपि अनेक प्रकार का हो सकता है, तथापि लक्ष्य अर्थ सदा वाच्य से सम्बद्ध होता है। लक्ष्य अर्थ वाच्य अर्थ से कभी अनियत सम्बन्ध नहीं होता। व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से नियत सम्बन्ध भी हो सकता है, अनियत सम्बन्ध भी हो सकता है और सम्बद्ध सम्बन्ध भी हो सकता है।

(ख) लक्ष्य अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थबाध होने पर लक्षणा के प्रयोग की अवस्था मे ही होती है। व्यंग्य अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थबाध के न होने तथा लक्षणा के अभाव में भी हो सकती है।

(ग) लक्षणा के व्यापार में प्रयोजन की प्रतीति के लिये अन्य व्यापार व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़ता है परन्तु व्यञ्जना के व्यापार में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार की आवश्यकता नहीं होती।

(घ) जिस प्रकार अभिधा साक्षात् संकेत पर निर्भर करती है, उसी प्रकार लक्षणा को मुख्यार्थबाध आदि तीन हेतुओं की अपेक्षा होती है। परन्तु व्यंजना को व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराने के लिये किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं हैं।

(ड) लक्षणा का व्यापार व्यंजना के व्यापार से भिन्न है। लक्षणा में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के अनन्तर होती है। परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। अभिधा के आश्रय से भी, बिना लक्षणा व्यापार के व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। लक्षणा एवं अभिधा इन दोंनो के बिना भी अवाचक वर्णो से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। वर्णो के बिना भी केवल आँख आदि के संकेत से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार लक्षणा व्यापार और लक्ष्य अर्थ के क्रमशः व्यञ्जना व्यापार और व्यंग्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता।

(1) रस आदि का अनुभव अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता, इसके लिए व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना ही होगा। अभिधा और लक्षणा से उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, जो प्रत्यक्ष आदि द्वारा पूर्वसिद्ध हों। परन्तु रसरूप वस्तु के अनुभव से पहले विद्यमान न होने से उनमें पूर्वसिद्धता नहीं होती है। इसलिए उसका अनुभव अभिधा या लक्षणा द्वारा भी नहीं हो सकेगा।

व्यंग्य अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा भी नहीं हो सकती अतः व्यंग्य अनुमेय नही हैं। 'भम धम्मिअ' में महिमभट्ट का यह मत स्वयं खण्डित हो जाता है। वही हेतु अपने साध्य का अनुमान करा सकता है, जो ऐकान्तिक हो, अविरुद्ध हो, नियत हो और सिद्ध हो। भय के कारणभूत सिंह की उपलब्धि रूप हेतु में अनैकान्तिकता, विरुद्धता, अनियतता और असिद्धता ये सभी दोष विद्यमान हैं भीरु व्यक्ति भी गुरु या स्वामी के आदेश से भय का कारण होने पर भी भय के स्थान पर भ्रमण कर सकता है। अतः यह हेतु अनैकान्तिक है । कुत्ते के स्पर्श से डरता हुआ भी वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता अतः यह हेतु विरुद्ध है। गोदावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति किसी प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध नहीं हैं, अतः यह हेतु अनियत है। सिंह की उपस्थिति पुंश्चली स्त्री के वचन से सिद्ध होती है और उसके वचन की कोई प्रामाणिकता नहीं है। अतः यह हेतु असिद्ध भी है। इस प्रकार सभी दोषों से युक्त होने के कारण इस हेतु से धार्मिक के गोदावरी के तीर पर अभ्रमण रूप अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा नहीं हो सकती। इसके लिए व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना ही होगा।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है कि व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होने वाले व्यंग्य अर्थ रस आदि की प्रतीति कराने में अनुमान समर्थ नहीं होता। रस के अनुमेय होने में अनुमितिवादियों ने जो हेतु दिये हैं, वे हेतु नहीं हैं, हेत्वाभास हैं।

प्रतीयमान अर्थ अनुमेय हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में अत्यन्त विस्तार से दिया है, किन्तु संक्षेप में काव्यों में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होने पर उसके सत्य और असत्य होने की परीक्षा असत्य प्रमाणों से नहीं की जाती । अतः लिङ्ग

गी की प्रतीति ही सब स्थानों पर व्यङ्ग्य की प्रतीति है, ऐसा कहना उचित नहीं है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में प्रतीयमान अर्थ के अनुमेय होने का खण्डन किया। आनन्दवर्धन के पश्चात् महिम भट्ट ने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत लाने का जो प्रयास किया, उसका खण्डन मम्मट आदि आचार्यो ने किया। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यंग्य प्रतीति सर्वत्र अनुमेय नहीं हो सकती और इस कारण ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमिति में भी नहीं हो सकता।

आनन्दवर्धन ने काव्य की समालोचना के लिये ध्वनि के जिस मार्ग का प्रतिपादन किया, उसका समर्थन उत्तरवर्ती आचार्यो ने किया और यह मार्ग काव्यों की समालोचना के लिये अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व और उनके पश्चात् भी ध्वनि विरोधियों ने विभिन्न युक्तियों द्वारा ध्वनि के मार्ग का खण्डन किया, परन्तु पहले तो आनन्दवर्धन ने और उनके पश्चात् उनके अनुयायियों ने ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान किया तथा ध्वनि के मार्ग की निर्विवाद रूप से स्थापना की।

ध्वनि के तीन रूप – वस्तु, अंलकार और रस होने पर भी रसध्वनि को सबसे श्रेष्ठ और काव्य की विशिष्ट आत्मा स्वीकार किया गया। आनन्दवर्धन और उनके उत्तरवर्ती आचार्यो ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया।

'ध्वन्यालोक' की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त ने स्थान–स्थान पर यह प्रतिपादित किया है कि ध्वनि के अनेक भेद होने पर भी रसध्वनि को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा समझना चाहिये।

मम्मट ने इन तीनों प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि को ही सबसे प्रधान प्रतिपादित किया था। काव्यगत गुणों का लक्षण करते हुये उन्होंने रस को काव्य में अङ्गीभूत आत्मरूप माना था।

पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि यद्यपि ध्वनि पाँच प्रकार की होती है, तथापि रस के परम रमणीय होने के कारण रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

ध्वनि का अन्य काव्य तत्त्वों से सम्बन्ध

ध्वनि और अलंकार

ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर काव्य के अन्य अंगो–गुण, रीति, अलंकार आदि का निरुपण ध्वनि के अंग के रूप में किया जाने लगा। अब काव्य में अलंकार की स्थिति दो प्रकार की मानी गई व्यंग्य और वाच्य। जब अलंकार वाच्य न होकर व्यंग्य होता है तो अलंकारध्वनि होती है। यह अलंकारध्वनि वस्तुतः अलंकार नहीं है, अपितु अलंकार्य है। ब्राह्मणश्रमणन्याय से इसको अलंकार कह दिया जाता है।

काव्य में अलंकारों की दूसरी स्थिति वाच्य है। जब अंलकार वाच्य होते हैं तो वे स्वयं मुख्य न होकर रस आदि के उत्कर्षक के रूप में ही चारुत्व के हेतु होते हैं। जिस प्रकार आत्मा से रहित शव को कनक, कुण्डल आदि आभूषण अलंकृत नहीं करते, उसी प्रकार रसरहित काव्य के ये वाच्य अलंकार चारुत्व के हेतु नहीं हो सकते। रस आदि की अपेक्षा से आयोजित किये जाकर ही अलंकार काव्य के चारुत्व में वृद्धि करते हैं। अलंकारो की योजना रस को प्रधान मान कर करनी चाहिए। इनका निबन्धन प्रधान रूप से कभी नहीं करना चाहियै

ध्वनि और रीति

वस्तुतः रीति का क्षेत्र बहुत सीमित है और ध्वनि का व्यापक है। इसलिये रीति में ध्वनि का समावेश न होकर ध्वनि में रीति का समावेश होता है। यह सत्य है कि रीतियों का सम्बन्ध काव्य के अन्तर्भूत गुणों के साथ जोड़ने के कारण रीतिवादी आचार्य अलंकारवादी आचार्यो की अपेक्षा ध्वनि के अधिक समीप पहुँच सके।

ध्वनि और वक्रोक्ति

कुन्तक ने अलंकारों में भी प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया। प्रतीयमान अलंकार व्यंग्य के द्वारा ही होते हैं। रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, उपमा आदि अलंकार वाच्य होने के साथ प्रतीयमान भी होते हैं।

कुन्तक के प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि अभिधा से वाच्य अर्थ का बोध हो जाने पर भी विभिन्न वक्रताओं की प्रतीति के लिये उन्होंने जो विचित्र अभिधा को माना है, वह एक प्रकार से व्यंजना वृत्ति को ही स्वीकार करना है। इस प्रकार कुन्तक वक्रोक्ति का प्रतिपादन करते हुये ध्वनि का विरोध करके भी उसका विरोध नहीं कर सके। ध्वनिवादी आचार्यो ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार तो किया, किन्तु केवल एक विशिष्ट अलंकार के रूप में, यद्यपि उन्होंने भामह के अनुकरण में वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल भी मान लिया था।

ध्वनि और औचित्य

रस आदि के निबन्धन में आनन्दवर्धन ने औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। उनका मन्तव्य था कि महाकवि का मुख्य कार्य यही है कि रस आदि विषय के अनुसार वह वाच्य और वाचक का औचित्य रूप से निबन्धन करे। अनौचित्य को उन्होंने रसभंग का एकमात्र कारण माना और औचित्य को रस का परम रहस्य। क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य को काव्य का प्राणभूत मानकर अपने औचित्य के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।

आनन्दवर्धन ने औचित्य के महत्त्व को प्रतिपादित करके भी उसको काव्य की आत्मा नहीं माना। उन्होंने इसको काव्य के आत्मरूप ध्वनि के सहायक का स्थान दिया। इसका अभिप्राय यह है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में औचित्य का महत्त्व स्वय की दृष्टि से नहीं है, अपितु रसध्वनि की दृष्टि से है। अभिनवगुप्त का यह कथन ठीक ही है कि उचित शब्द से रसविषयक औचित्य को ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये औचित्य को रसध्वनि का जीवित कहा गया है। रसध्वनि के अभाव में यह औचित्य किसके प्रति होगा।

काव्य में औचित्य रस ध्वनि के अंग रूप में रहता है। यद्यपि यह औचित्य रसध्वनि का अनिवार्य गुण है, तथापि यह उसका सहायक ही है। इसलिये काव्य में औचित्य को आत्मस्थानीय न मानकर ध्वनि को आत्मा स्वीकार करना सर्वथा उचित है

ध्वनि काव्य की आत्मा

काव्यशास्त्र में ध्वनि के सिद्धान्त का प्रारम्भ वैयाकरणों के स्फोटवाद से अनुप्राणित होकर विकसित हुआ। काव्य में ध्वनि ही प्रधानतम तत्त्व है, इस विचार का उदय आनन्दवर्धन से पूर्व ही यद्यपि हो चुका था, तथापि समालोचना जगत् में इसको पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी। आनन्वर्धन ने ध्वनि आचार्यो की युक्तियों का खण्डन करके ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप प्रतिष्ठित किया। उन्होंने ध्वनि के विभिन्न अंगों का विस्तार से प्रतिपादन किया। आनन्वर्धन के पश्चात् कुछ ध्वनिविरोधी आचार्यो ने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करके अन्य सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, परन्तु अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यो ने इन ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का प्रबलता से खण्डन किया। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को दृढता से प्रस्थापित करके ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद निर्विरोध रूप से प्रदान किया।

ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद प्राप्त होने पर काव्य के सभी अंग–गुण, अलंकार, रीति, औचित्य आदि ध्वनि के अग के रूप में प्रतिपादित हो गये यहाँ तक कि उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, पद, समास, वाक्य, प्रबन्ध आदि का समावेश भी ध्वनि के अधिकार क्षेत्र में हो गया। रस को भी ध्वनि का अंग मान लिया गया। अब ध्वनि के तीन मुख्य भेद माने गये– वस्तु,

अलंकार और रस। रस के अभाव में भी वस्तु और अलंकार में ध्वनि तत्त्व को मानने से उनमें भी काव्यत्व की मान्यता रहीं और इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र व्यापक हो गया।

रसवादियों का मत था कि रस के अभाव में वस्तु और अलंकार में काव्यत्व मानना उचित नहीं है।रस के बिना ये उक्तिमात्र ही होते हैं। परन्तु रस की मुख्य रूप से विवक्षा न होने पर भी उक्ति के सौन्दर्य के कारण वस्तु आदि में काव्यत्व होता ही है। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने से इन वस्तु और अलंकार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व प्राप्त हो जाता है। यदि केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना जाये तो काव्य का बहुत बड़ा अंश काव्यत्व से वञ्चित हो जाता है। यह बात भी समालोचकों को इष्ट नहीं होगी। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर और वस्तु, अलंकार तथा रस ध्वनि इन तीनों का इसमें समावेश करके आनन्दवर्धन ने वस्तु एवं अलंकार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व की सीमा में समाविष्ट कर लिया है।

यह सत्य है कि काव्य का अधिक सौन्दर्य रसध्वनि के कारण होता है। **'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'** कहकर आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को अधिक महत्व दिया भी। परन्तु केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा उन्होंने इसलिये नहीं कहा कि इससे अन्य रसापेक्षारहित काव्यों में अकाव्यत्व प्रतिपादित न किया जाने लगे। वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि वाच्य अर्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं तथा उनमें काव्यत्व निश्चित रूप से है, इसीलिये आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

ध्वनिवादी आचार्यों ने रसध्वनि के प्रति अधिक आग्रह तथा आसक्ति रखते हुये भी सिद्धान्तरूप में ध्वनिमात्र को जो काव्य की आत्मा माना, उसका कारण यही है कि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि भी काव्य में काव्यत्व की सिद्धि करती है। अतः त्रिविध ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना अधिक उचित है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र में ये ही छः सम्प्रदाय या सिद्धान्त मुख्य रूप से माने जाते हैं। महिमभट्ट का अनुमितिवाद विशेष समर्थन नहीं प्राप्त कर सका।